हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला—९७

प्रतीक-शास्त्र

लेखक

श्री परिपूर्णानन्द वर्मा

हिन्दी समिति, सूचना विभाग

उत्तर प्रदेश, लखनऊ

प्रथम संस्करण
१९६४

मूल्य
दस रुपये

मुद्रक—ओम्प्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, (बनारस) ६२५९–२०

प्रकाशकीय

साधारण व्यवहार में लोग प्रतीक, चिह्न, संकेत और लक्षण का समान अर्थ में प्रयोग करते हैं। किन्तु इन शब्दों में सूक्ष्म अन्तर है, जिसकी मीमांसा इस ग्रन्थ में भली-भाँति की गयी है। प्रतीक का विषय बहुत ही रोचक है और इस शब्द के व्यापक अर्थ पर विचार करने पर संसार के अनेक विषय, जैसे विज्ञान, भूगोल, खगोल, जीव जन्तु-शास्त्र——इसमें आ जाते हैं। तन्त्रशास्त्र से गूढ़ से गूढ़ बातें प्रकट होती हैं, जिनको साफ-साफ लिखने का साहस सब नहीं कर पाते। प्रस्तुत पुस्तक में एतदर्थ सराहनीय प्रयत्न किया गया है।

यह पुस्तक श्री परिपूर्णानन्द वर्मा की दस वर्षों की साधना का परिणाम है। इसमें तन्त्र-शास्त्र पर भी विशेष ध्यान दिया गया है। प्रतीकों पर विचार करते हुए लेखक ने दर्शन, मनोविज्ञान, राजनीति, धर्म, अन्धविश्वास और स्वप्न के प्रतीकों के सम्बन्ध में पठनीय सामग्री दी है। इसमें पाश्चात्य विद्वानों के सिद्धान्तों की चर्चा एवं आलोचना भी की गयी है, जिससे इसकी उपयोगिता और भी बढ़ गयी है।

सुरेन्द्र तिवारी
सचिव, हिन्दी-समिति

विषय-सूची

अध्याय		पृष्ठ
	निवेदन	१
१.	प्रतीक की व्याख्या	३
२.	मूर्त्ति	५
३.	प्रतिमा	६
४.	संकेत	७
५.	चिह्न और संकेत	८
६.	चिह्नक	११
७.	भाषा और चिह्न	१३
८.	विचारों का प्रतीक	१८
९.	स्वस्तिक तथा ॐ कार	१९
१०.	स्वस्तिक का पौराणिक रूप	२२
११.	प्रतीक भावनाप्रधान होता है	२६
१२.	धर्म का प्रतीक	२९
१३.	तंत्र-प्रतीक	३५
१४.	माता का प्रतीक	३९
१५.	एक जाति, एक धर्म	४१
१६.	बिन्दु	४४
१७.	चीन में प्रतीक	४५
१८.	प्राचीन रोम तथा मिस्र के प्रतीक	४६
१९.	भारतीय तंत्र-शास्त्र तथा संकेत-विद्या	४९
२०.	तंत्र-शास्त्र की प्रामाणिकता	५१
२१.	तंत्रों की शाखाएँ	५२
२२.	तंत्र का अर्थ तथा लक्ष्य	५३
२३.	शक्ति की परिभाषा	५५
२४.	वर्ण-प्रतीक	५७
२५.	मंत्र के अवयव	५९
२६.	कामकला	६४
२७.	मातृका का महत्त्व	६६
२८.	अंक-प्रतीक	६९
२९.	चक्र-प्रतीक	७१

३०. शिव-तत्त्व ७८
३१. प्राकृतिक प्रतीक ८३
३२. प्रतिमा तथा प्रतीक ८७
३३. मूर्त्ति तथा अवतार ६२
३४. विज्ञान के अनुसार सृष्टि का विकास ६६
३५. मूर्त्तिकला तथा प्रतीक १०२
३६. मूर्त्ति का निर्माण ११२
३७. प्रतिमा-निर्माण-कला तथा विज्ञान ११६
३८. वैदिक देवता १२१
३६. पश्चिमी विचारधारा में वाणी १२७
४०. मन, बुद्धि तथा विचार १३८
४१. पश्चिमी विचार में मन-वचन-प्रतीक १५८
४२. प्राचीन देशों की समान विचारधारा १६६
४३. वृक्ष-प्रतीक १७३
४४. सूर्य-प्रतीक १८१
४५. सूर्य तथा अग्नि १६६
४६. चन्द्रमा २०४
४७. सर्प-प्रतीक और उपासना २१६
४८. वृषभ अथवा नन्दी २२६
४६. कमल, कौड़ी तथा घण्टा २३८
५०. त्रिशूल २४५
५१. स्वस्तिक २६३
५२. लिंग-प्रतीक २७१
५३. अंधविश्वास-प्रतीक ३००
५४. स्वप्न-प्रतीक ३०७
५५. प्रतीक और अज्ञात मानस ३१८
५६. अनेक विद्वानों के विचार ३४६
५७ राजनीतिक प्रतीक ३६४
५८. समाज तथा प्रतीक ३८०
५६. उपसंहार ४१२
सहायक ग्रन्थावली ४१६

चित्र-सूची

१.	स्वस्तिक, आर्य प्रतीक	१८
२.	स्वस्तिक, हिटलरी प्रतीक	१८
३.	गणपति का बीजाक्षर	२०
४.	गणपतिका का बीजाक्षर	२०
५.	गणपतिका का बीजाक्षर	२०
६.	प्रतीक का रूप बदला	२०
७.	स्वस्तिक का पौराणिक रूप	२३
८.	क्रास का प्रतीक	२३
९	क्रास का मिस्री रूप, आँख नामक प्रतीक	२३
१०.	आँख प्रतीक का हिब्रू रूप	२४
११.	मेस्क्सिको वालों का प्रतीक	२४
१२.	यूनानियों में कामदेव का प्रतीक	२४
१३.	तरंगका आकार	३९
१४.	तरंगों का रूप	३९
१५.	तरंग का उलटा रूप M, मा	४०
१६.	,, ,, ,, ,, W, पत्नी	४०
१७.	नाद-सूत्र में बीज	६२
१८.	बीज के सूक्ष्म अवयव	६३
१९.	,, ,, , बीज तथा ईकार	६३
२०.	बिन्दु और यंत्र	७१
२१.	मानव जीवन का प्रतीक, त्रिकोण	७१
२२.	तिर्यग् रेखा तथा पार्श्व रेखा	७२
२३.	दो रेखाओं का योग—सन्धि	७२
२४.	तीन रेखाओं का योग—मर्म	७३
२५.	यंत्र के बाहर चतुरस्र या भूपुर	७४
२६.	व्याघ्रमुख चतुरस्र	७४
२७.	साधारण यंत्र	७५
२८.	त्रिशूल पर आधारित यंत्र	७६
२९.	मण्डल के बीच में बीजस्थापित (शिव-तत्त्व)	८२
३०.	वाणीका प्रतीक	१३०
३१.	विचार, शब्द और वस्तु का सम्बन्ध	१३५
३२.	उपासना के तीन यंत्र	१४२
३३.	शिव, विष्णु, ब्रह्मा के अण्ड-प्रतीक	१५४
३४.	अंडप्रतीक के भीतर क्रास, त्रिशूल आदि	१५४
३५.	आत्मा, बुद्धि, मन का त्रिकोण	१५५
३६.	उंगुलियों द्वारा बनाया गया सितारे का चित्र	१६६

३७. नवग्रहों के प्रतीक २०२
३८. अर्द्धचन्द्र का प्रतीक २०५
३९. मिस्र में मंगल का प्रतीक २०८
४०. मृत्यु का प्रतीक २०८
४१. मिस्र में शनिका प्रतीक (हंसिया) २०८
४२. नारवे में सूर्य का प्रतीक २१०
४३. डेनमार्क में सूर्य का प्रतीक २१०
४४. सूर्य के रथ के पहिये का प्रतीक २१०
४५. चन्द्र, सूर्य तथा स्वस्तिक का सम्मिलित प्रतीक २११
४६. चक्र, स्वस्तिक, चन्द्र तथा सूर्य का सम्मिलित प्रतीक २११
४७. स्विटजर लैण्ड के अन्य प्रतीक २११
४८. ,, ,, ,, २११
४९. मित्र देवता का प्रतीक, सर्प लपेटे हुए २१९
५०. वन्द कलिका २२५
५१. कुण्डलिनी २२५
५२. इंग्लैण्ड में प्राप्त शिवलिंग २३६
५३. फ्रांस में प्राप्त शिवलिंग २३७
५४. मिस्री पिरामिड का त्रिकोण २४६
५५. उत्पादन-शक्ति का द्योतक मेक्सिको का प्रतीक २४६
५६. इसी का मिस्री प्रयोग २४६
५७. आइसिसका डंडा २४७
५८. वेनस का प्रतीक २४७
५९. यहूदी क्रास २४७
६०. ईसाई कब्र पर क्रास का प्रतीक २५०
६१. सुपार्श्वनाथ का प्रतीक २६४
६२. यूनानी लिपि में स्वस्तिक २६४
६३. इंग्लैण्ड में स्वस्तिक का रूप २६५
६४. स्वेडन में स्वस्तिक का रूप २६५
६५. यारकन्द में प्राप्त मोटी लकीर का स्वस्तिक २६५
६६. स्वेडन में स्वस्तिक के चारों ओर गोलाई २६५
६७. कोल्हापुर शिलालेख में स्वस्तिक २६५
६८. स्विटजरलैण्ड में प्राप्त राशिमंडल युक्त शिवलिंग २६८
६९. श्री दुर्गा पूजा का यंत्र (पृ० ३४१ के सामने)
७०. संकेत, निर्दिष्ट वस्तु और समझनेवाला ३८८

निवेदन

प्रतीक-शास्त्र के प्रकाशन के साथ मेरे लघु जीवन के दस वर्ष की साधना तथा तपस्या की पूर्णाहुति हो रही है। सन् १९५० की महाशिव-रात्रि की ही बात है। भगवान् शंकर की पूजा करते समय मुझे अंग्रेज़ी लेखक कटनर की एक पुस्तक का ध्यान आ गया। उन्होंने सिद्ध किया था कि शिवलिंग का पूजन केवल "सृष्टि की रचना" तथा स्त्री-पुरुष सम्बन्ध का प्रतीक है। उनके उस भयंकर अज्ञान से मैं विचलित हो उठा। मन ही तो है। पूजा-पाठ के समय सबसे अधिक भागता है। वह चंचल मन कई पाश्चात्य लेखकों की रचनाओं की ओर भाग गया। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने सर्प की पूजा तथा सर्प के प्रतीक को वासना से सम्बन्धित कर दिया है। हावेल लेखक ने बौद्ध मन्दिरों पर उलटे कमल का उलटा ही अर्थ लगाया है। स्वस्तिक के विषय में तो अज्ञान भरी पुस्तकें विदेशी भाषाओं में भरी पड़ी हैं। किन्तु इसमें उनका दोष नहीं है। इस संसार में कितने ऐसे व्यक्ति हैं, जो संसार की वास्तविकता अथवा विचित्रता से परिचित हैं? कितने ऐसे व्यक्ति हैं, जो उसकी रहस्यमयी रचना की जानकारी रखते हैं। इस जगत् में सत्य क्या है? यह कौन कह सकता है? हम जो कुछ करते या कहते हैं, वह भी तो प्रतीकमय है। हमने क, ख, ग अक्षर या ध्वनि को देखा नहीं है। उनकी पहचान के लिए वर्णमाला बना ली। हमने भगवान् को देखा नहीं है—उसकी पहचान के लिए मूर्ति बना ली। मैं हाड़-माँस का लोथड़ा हूँ। मुझे पहचानने के लिए और दूसरे प्राणियों से अन्तर करने के लिए मेरा नाम रख दिया गया है। यह सब प्रतीक ही तो हुए।

प्रश्न यह अवश्य उठता है कि यह चीज़ें चिह्न हैं, संकेत हैं या प्रतीक हैं। इन तीनों में सूक्ष्म अन्तर है—पर कितना भी सूक्ष्म अन्तर हो, यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। क्या और कितना अन्तर है, इसकी मीमांसा तो इस ग्रन्थ में ही मिलेगी। अंग्रेजी में चिह्न को "साइन" कहते हैं। संकेत का वास्तविक अंग्रेजी अनुवाद "इंडिकेशन" होगा। किन्तु, प्रतीक "सिम्बल" को कहते हैं। "सिम्बल" का आध्यात्मिक तथा विश्व-व्यापी रूप, पाश्चात्य दार्शनिकों में, सबसे पहले कैसिरर ने समझा था।

प्रतीक का विषय बड़ा ही रोचक है। इसमें पैठने पर संसार के सभी विषय चाहे विज्ञान हो, भूगोल हो, जीव-जन्तु-शास्त्र हो—सब कुछ इसमें आ जाता है। अतएव

एक बार इस विषय पर लिखने का प्रयत्न करते ही अथाह समुद्र में कूद पड़ना पड़ता है। किनारा दिखाई नहीं देता। गूढ़ से गूढ़ बातें निकलती आती हैं। तंत्र-शास्त्र की गूढ़ बातों को साफ-साफ लिखने का साहस भी नहीं होता। फिर भी यथाशक्य प्रयत्न तो यही किया गया है कि ज़रूरी बातें न छूटने पावें।

यह विषय रोचक है, रहस्यमय भी है। अतएव बहुत चेष्टा करने पर भी कहीं-कहीं पर जटिलता आ ही गयी है। पाठकों को ज़रा ध्यान से पढ़ना पड़ेगा। प्रारम्भ के अध्यायों को ध्यान से पढ़ने पर पिछले अध्यायों में समूचा विषय स्पष्ट हो जायगा। तब पाठक अनुभव करेंगे कि इस सम्बन्ध में कुछ लिखना कितना आवश्यक था।

प्रतीक-शास्त्र से सम्बन्धित हिन्दी में एक पुस्तक मैंने और देखी है। पर, जिस मीमांसा की आवश्यकता तथा अपेक्षा थी, सम्भवतः वह इसी ग्रन्थ में मिले। यदि इस पुस्तक में किसी के निश्चित विश्वास के विपरीत कोई सिद्धान्त मिले तो मैं उसके लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ। किसी विषय के वैज्ञानिक विवेचन में ऐसा करना ही पड़ता है। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि मैं किसी अन्य के सिद्धान्त के प्रति पूरी श्रद्धा तथा आदर नहीं रखता। यह पुस्तक धर्मग्रन्थ या आध्यात्मिक ग्रन्थ नहीं है। शुद्धतः मनोवैज्ञानिक भी नहीं है। एक कम बुद्धिवाले लेखक का एक अनन्त विषय पर प्रकाश डालने का प्रयास मात्र है। दस वर्ष पूर्व के संकल्प से उत्पन्न अध्ययन का परिणाम मात्र है।

—परिपूर्णानन्द वर्मा

प्रतीक-शास्त्र

(संकेत, लक्षण, चिह्न तथा मुद्रा का रहस्य)

'प्रतीक' की व्याख्या

सहज रूप में "प्रतीक" शब्द की व्याख्या करना कठिन है। इस शब्द के प्रयोग से हमारा जो तात्पर्य है, उस अर्थ में इस विषय पर देशी या विदेशी भाषाओं में कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। अंग्रेजी भाषा में एक शब्द है "सिम्बल"। किन्तु जितने अर्थों में इस शब्द का प्रयोग हुआ है, उससे तो "सिम्बल"[१] के अनेक अर्थ हो सकते हैं, जैसे "संकेत, लक्षण, चिह्न तथा मुद्रा" इत्यादि। चिह्न के लिए अंग्रेजी भाषा में "साइन"[२] शब्द है। किन्तु संकेत आदि के लिए यों पर्यायवाची शब्द अनेक मिल जायँ, पर वैज्ञानिक दृष्टि से उस भाषा में "सिम्बल" के अलावा दूसरा शब्द नही है।

किन्तु प्रतीक न तो संकेत है, न लक्षण है और न चिह्न है। फिर भी हम अगले अध्यायों में इन सब भिन्न अर्थवाली चीजों पर विचार करेंगे। यदि प्रतीक से तात्पर्य उस निशानी से है जो किसी अदृश्य, सामने न दिखाई पड़नेवाले दृश्य, वस्तु, देव, देवी का आभास है तो यह कहना स्यात् उचित न हो, क्योंकि व्याकरण के अनुसार "आभास" का अर्थ "मिथ्या" भी होता है, जैसे हेत्वाभास यानी मिथ्या न्याय। ब्राह्मणाभास यानी मिथ्या ब्राह्मण। अमरकोश में प्रतीक का अर्थ है—"अङ्गःप्रतीको अवयवः"[३]। अङ्ग, प्रतीक, अवयव, तीनों का समान रूप में अर्थ समझ लेना भी कठिन है।

अभिधानरत्नमाला में प्रतीक को पुंलिङ्ग वाचक शब्द "प्रतीयते प्रत्येति वा

१. SYMBOL.

२. SIGN.

३. हलायुद्धकोश—सरस्वतीभवन, वाराणसी।

इति"—एक देश:, अङ्ग:, अवयव:, अर्थ दिया है। इस शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में भी है[१]—वि सानुना पृथ्वी सस्र उर्वी पृथु प्रतीक मध्येधे अग्नि:। इसी का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने लिखा है—

तथाग्नि: पृथु विस्तीर्णं प्रतीकं पृथिव्या अवयवं

यदि "उस अग्नि का विस्तार कर" पृथु ने पृथ्वी का प्रतीक, अवयव बनाया तो प्रतीक उसे कहेंगे, जो किसी का अंग हो, अवयव हो। हमारे शास्त्रकारों का मत है कि २०० करोड़ वर्ष पूर्व सूर्य से पृथ्वी बनी। पृथु नामक विद्युत् आकाश-गंगा से निकल कर पृथ्वी को घेरे हुए है। पृथ्वी सूर्य से १२०० गुनी छोटी है, अण्डाकार है और १८½ मील प्रति सेकण्ड की गति से सूर्य की परिक्रमा कर रही है[२]। अतएव पृथ्वी सूर्य का अङ्ग है, अवयव है, प्रतीक है।

१. ऋग्वेद—७ : ३६ : १।

२. कुण्डलिनीयोगतत्व—प्रकाशक, मास्टर खेलाड़ीलाल एण्ड संस, वाराणसी।

मूर्त्ति

क्या प्रतीक मूर्त्ति है? मूर्त्ति देवता का अंग या अवयव है, यह कौन कहेगा? मूर्त्ति स्त्रीलिंग शब्द है। मनु ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है।[१] इस शब्द का अर्थ शरीर, देह, गात्र, कलेवर, प्रतिमा तथा स्वरूप है। स्वरूप के अर्थ में जैसे 'पिता प्रजापति की मूर्त्ति है', 'आत्मा सब प्राणियों की मूर्त्ति है', 'बहन दया की मूर्त्ति है', इत्यादि।[२]

मूर्त्ति के लिए अंग्रेजी में "आइड्ल (idol) शब्द है। अज्ञानवश पश्चिमी लोग हिन्दू को "आइड्ल वर्शिपर" यानी मूर्त्ति-पूजक कहते हैं, पर मूर्त्ति तो वह चीज़ है, जो किसी का स्वरूप हो, देह हो, तस्वीर की तरह से नक़ल करके बनायी गयी प्रतिमा हो। किन्तु कोई भी सच्चा हिन्दू यह नहीं कहेगा कि चार भुजा-वाले विष्णु या जीभ निकाले हुई काली को देखकर, चित्रकार ने उनकी तस्वीर खींच ली। कुम्हार ने उनकी मूर्त्ति बना ली अथवा इस प्रकार से नकल करके, सामने देखकर मिट्टी या पत्थर से तस्वीर बना दी। बुद्ध की प्रतिमाओं का जिक्र करते हुए आदि शंकराचार्य ने अपने वेदान्त दर्शन में "पौत्तलिक" यानी "पुत्तली" या पुतली की उपासना करनेवालों का ज़िक्र किया है।[३] ऐसी कला को पुतली कहना उचित होगा। मूर्त्ति उसी को कह सकते हैं जो स्वरूप मात्र हो, जैसे पिता प्रजापति का स्वरूप है। बहन दया स्वरूप है। यानी उनके गुणों का प्रतिविम्ब है, छाया है, आकार है। सजीव प्राणी मूर्त्ति हो सकता है। गुण तथा प्रतिमा मूर्त्ति का रूप ग्रहण कर सकती है, पर जिसे हम लोग साधारण तौर पर मूर्त्ति कहते हैं वह मूर्त्ति नहीं, मूर्त्ति-सदृश वस्तु है, प्रतिमा है।

१. मनुस्मृति १२, १२० "गाश्च मूर्तिषु।"

२. आचार्यो ब्रह्मणो मूर्त्तिः पिता मूर्त्तिः प्रजापतेः।
दयाया भगिनी मूर्त्तिर्धर्मस्यात्मातिथिः स्वयम्।
अग्नेरभ्यागतो मूर्त्तिः सर्वभूतानि चात्मनः।—भागवत, ६. ७. २९-३०।

३. देखिये वेदान्तदर्शन, अध्याय २, ३।

प्रतिमा

प्रतिमा स्त्रीलिंग शब्द है। प्रतिच्छाया, प्रतिकृति, प्रतिबिम्ब, प्रतिरूप, प्रतिनिधि आदि इसके पर्यायवाची शब्द हैं।[1] इसलिए किसी देवी-देवता की प्रतिमा की, उसके प्रतिबिम्ब की पूजा की जाती है, पुतली या मूर्त्ति की नहीं। शिव-लिंग को शंकर की मूर्त्ति तो कह ही नहीं सकते। प्रतिरूप भी नहीं कह सकते। उसे प्रतिमा केवल इसलिए कह सकते हैं कि वह उनका, महादेव का, "प्रतिनिधि" है। हनुमान्, राम, कृष्ण, सूर्य, चन्द्र आदि की प्रतिमाएँ हो सकती हैं। इनके गुणों के कारण इनकी मूर्त्ति सी बन सकती है पर, विष्णु, शंकर, काली आदि, जो अवतार लेकर मनुष्य के रूप में स्वयं कभी नहीं दिखाई पड़े, जिनको अपनी आँखों से शंकराचार्य ने भी नहीं देखा[2], उनकी जिस रूप में हम उपासना करते हैं, वह उनका अवयव, अंग यानी प्रतीक हो सकता है। गीता में ग्यारहवें अध्याय में भगवान् के जिस रूप का वर्णन है, वह भी तो परब्रह्म का एक प्रतीक मात्र है। प्रतीक शब्द का इसी रूप में प्रयोग वेदान्तदर्शन में शंकराचार्य ने किया है। "प्रतिमा" शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के दसवें मण्डल में तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् के अध्याय ७, श्लोक ६ में है।

न देखी हुई चीज़ की निशानी भी प्रतीक नहीं कही जा सकती, क्योंकि उसमें कल्पना का दोष आ जायगा। किसी ने १ अंक का स्वरूप नहीं देखा। एक का आकार किसी ने नहीं देखा, पर उसका रूप बना लिया गया। अतएव एक का १ प्रतीक हुआ; यह तर्क भी भ्रमपूर्ण होगा। एक का **संकेत** १ है, प्रतीक नहीं। साधारण आँख से न दिखाई पड़नेवाली, पर अध्ययन तथा अनुभव से बोधगम्य वस्तु के अंग और अवयव को इङ्गित करनेवाली, संकेत करने वाली वस्तु प्रतीक है। इसलिए वह संकेत से ऊँचे उठकर समझने वाली चीज़ है।

१. गिरिपृष्ठं तु सा तस्मिन् स्थिता स्वसितलोचना।
विभ्राजमाना शुशुभे प्रतिमेव हिरण्मयी॥—महाभारत, १, १७२, २७।

२. शंकराचार्य ने कहीं नहीं लिखा है कि भगवान् से उनका साक्षात्कार हुआ, उसे देखा, उसका अमुक रूप था।

संकेत

"रस-संग्रह" में "संकेत-प्रिय-शङ्कया निजपतिं प्रावोचदध्वश्रमम्"—जिस पुंलिंग शब्द का प्रयोग किया गया है, उसका अर्थ है "स्वाभिप्रायव्यञ्जकचेष्टाविशेष.", अपने अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए जो विशेष चेष्टा की जाय, जैसे किसी काम को मना करने के लिए आँख से इशारा करना।[1] संकेत का अर्थ है परिभाषा, शैली, प्रज्ञप्ति, समय। इन सब अर्थों में प्रतीक का उपयोग नहीं हो सकता। संकेत को लक्षण नहीं कह सकते। प्रतीक को लक्षण नहीं कह सकते। जिससे देखा जाय और जाना जाय, वह लक्षण है।[2] जैसे, "यह बात कार्य-सिद्धि का लक्षण है।" "उस आदमी के लक्षण अच्छे नहीं हैं।" इसलिए किसी के आँख मटकाने के संकेत से उसके चरित्र का लक्षण जाना जा सकता है। किसी लक्षण से कोई संकेत प्राप्त हो सकता है। पर यह दोनों शब्द एक-दूसरे के पूरक हो सकते हैं, पर्यायवाची नहीं। इसलिए लक्षण **प्रतीक** नहीं हो सकता।

१. संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्॥—साहित्यदर्पण, ८.२२।

२. लक्ष्यते, ज्ञायते अनेनेति।

चिह्न और संकेत

अब हमारे पास एक शब्द और बचा है--चिह्न, पर इस शब्द का अर्थ लक्षण है। फिर कलंक, अङ्क, लाछन आदि अर्थ में भी इसका प्रयोग करते हैं। लक्षण और चिह्न में थोड़ा अन्तर है। इस शब्द की व्याख्या के लिए हम पश्चिमी विद्वानों से भी सहायता लेना उचित समझते हैं। संकेत, हमारी व्याख्या के अनुसार वह लक्षण है, जिससे मार्मिक अर्थ, छिपा हुआ तात्पर्य समझा जा सके, जैसे आँख के इशारे से समझ जाना कि आओ या जाओ। पर, चिह्न और संकेत में अन्तर बतलाते हुए श्री लैंगर ने लिखा है कि "चिह्न किसी वस्तु या स्थिति के भूत, वर्तमान तथा भविष्य का द्योतक है, जैसे सड़क भींगी है, यानी पानी बरसा होगा। रेलगाड़ी ने सीटी दी, यानी ट्रेन छूटने वाली है। पर, संकेत अपने उद्देश्य का द्योतक या प्रतिनिधि नहीं है, उसकी भावना पैदा करने का साधन है। यदि हम किसी चीज की बात करते हैं तो हम चीज़ की नहीं, उसकी भावना की बात करते हैं। इसी प्रकार संकेत हमको उस चीज़ की भावना की तरफ ले जाते हैं।"[१] जैसे, आँख से इशारा करते समय यह स्पष्ट नहीं है कि चले जाओ या चले आओ। जाने या आने की भावना पैदा कर दी जाती है।

किन्तु ऐसे चिह्न की, जो भूत से लेकर भविष्य तक की घटना की ओर इशारा कर दे, व्याख्या करने की जरूरत पड़ेगी। बिना समझाने वाले के, बिना व्याख्या करने वाले के, चिह्न का अपना कोई महत्त्व नहीं होता। और इस व्याख्या के करने वाले, या यों कहिये कि चिह्न के समझने वाले, को उक्त कार्य करने के प्रति प्रेरणा मिलती है या प्रेरणा में रोक लगती है। अपनी सुन्दर पुस्तक में पियर्स ने इसे बड़ी अच्छी तरह से समझाया है।[२] सड़क पर मोटर दौड़ाये हम चले जा रहे हैं। हमने चौराहे पर लाल बत्ती देखी। मोटर

१. K. Sausanne Langer—"Philosophy in a New Key"—Pub. Harvard University Press, Cambridge, Mass. 1942, Pages 60-61.

२. Charles Sanders Peirce—"Collected Papers", Harvard University Press, 1934, Vol V, Page 476.

चलाये चलने की प्रेरणा को रोक लग गयी। हरी बत्ती मिली तो इस प्रेरणा को स्फूर्ति मिल गयी।

यहीं पर संकेत तथा चिह्न में भेद भी पैदा हो जाता है। चिह्न एक स्थिति का परिचायक है। हरी बत्ती का मतलब यही है कि अब रास्ते में कोई रुकावट नहीं है। लाल बत्ती उस समय के रास्ते के ख़तरे को बतला देती है। चिह्न तत्कालीन परिस्थिति को बतला देता है, जब पानी बरसा तभी सड़क भींगी होगी। पर, संकेत पहले के अनुभव से बनता है। प्रेमी को देखकर उसे आँख के इशारे से बुलाना प्रेम के अनुभव के साथ, उसके प्रति व्यवहार का संकेत हो सकता है। नदी किनारे पत्थर के घाट पर बना हुआ गढ़ा यह संकेत करता है कि उस स्थान पर घड़ा रखते-रखते गढ़ा हो गया है, अतएव यह संकेत घड़ा रखने के स्थान का अंग, अवयव बन गया, प्रतीक हो गया। नेसन ने अपनी पुस्तक में संकेत को अनुभव-जन्य माना है।[१]

इस सम्बन्ध में कुछ और स्पष्ट कर दिया जाय। तू-तू की आवाज़ देने से कुत्ता खाना पाने के लालच से आता है। तू-तू करने पर उसे खाना मिलता है, ऐसा उसका अनुभव है, इस दृष्टि से इसे सांकेतिक चिह्न कह सकते हैं। किन्तु, तू-तू करने वाला कुत्ते को खाना देगा या लात मारेगा, यह निश्चित नहीं है। लात भी मार सकता है। सीटी देने के बाद भी ट्रेन खड़ी रह सकती है। भूल से पुलिस-मैन सड़क पर सवारियों की भीड़ रहते हुए भी हरी बत्ती दिखा सकता है। इसीलिए चिह्न के साथ आभास भी मिला हुआ है। चिह्न झूठा भी हो सकता है। पर, खतरे की जगह पर, सड़क के बेढंगे मोड़ पर यदि मनुष्य की खोपड़ी की तस्वीर बनाकर लगा दी गयी हो तो वह अकाट्य संकेत है, और प्रतीक भी है। उस मोड़ पर तेज़ मोटर चलाने से मौत हुई है। जो भी तेज़ रफ्तार से चलेगा, वह ख़तरा उठा रहा है। अतएव मृत्यु का संकेत बना है। मृत्यु को किसी ने देखा नहीं है। उसका अङ्ग तथा अवयव है नर-मुण्ड, अतएव यह खोपड़ी मृत्यु का प्रतीक है। इस संकेत, इस प्रतीक में कोई भूल हो नहीं सकती। यदि तेज़ रफ्तार से मोटर चलाने पर भी वहाँ कोई नहीं मरा तो यह प्रतीक का दोष नहीं है। अनुभव बतलाता है कि अधिकांश लोग मरे—अतएव वह अनुभव उस संकेत का आधार है। चिह्न भूल कर सकता है, प्रतीक या संकेत नहीं।

१. Robert M. Yorkes and Henry W. Nessen—Chimpanzees Laboratory Colony—Yale University Press, New Haven, 1943. page 177.

संकेत तथा प्रतीक की बड़ी भारी विशेषता यह है कि यों देखने में वे किसी आवश्यकता की पूर्ति नहीं भी कर सकते । उदाहरण के लिए प्राचीन शिवालयों पर सबसे ऊपर उलटा हुआ कमल बना मिलेगा—कमल की नाल ऊपर होगी । बौद्धों के चैत्य में भी ऐसा ही मिलेगा, पर साधारण व्यक्ति इसे देख कर एक भूल ही कह सकता है । कमल को सीधा क्यों नहीं बनाया ? किन्तु इस महान् तथ्य को बिना समझे नहीं जाना जा सकता कि इस मानव शरीर के भीतर नाड़ियों ने उलटा कमल बना रखा है । वही पुरुष अपने जीवन को तथा परलोक को सार्थक करता है, जो योगाभ्यास द्वारा इस उलटे कमल को सीधा कर देता है । कमल की नाल को नीचे ले आता है । योग के इस महान् तत्त्व को हर शिवालय तथा बौद्ध चैत्य में बतलाया गया है पर बिना स्पष्ट किये उसे कोई नहीं समझ सकता । इस प्रकार यह उलटा कमल एक बड़े यौगिक तथ्य का प्रतीक है । उसका संकेत है । इसे चिह्न नहीं कहेंगे । चिह्न से कभी एकदम स्पष्ट बात नहीं मालूम हो सकती । क्या अच्छा वस्त्र किसी व्यक्ति की उच्चता का चिह्न है ? क्या मधुर कण्ठ अच्छे चरित्र का चिह्न है ? सड़क पर हरी बत्ती का मतलब निश्यचत: यह नहीं होता कि रास्ता साफ़ होगा, पुलिसमैन की भूल भी हो सकती है । मकान में खाने की घंटी बजने से खाना मिलना निश्चित नहीं है । हो सकता है कि घर में भोजन-सामग्री न हो, चाय पर ही काम चल जाय । चिह्न का परिणाम संशयात्मक होता है । उसका अर्थ अस्पष्ट होता है, इसीलिए बहुत से लेखक इस शब्द का उपयोग नहीं करते ।[१]

१. Charles Morris—Signs, Language and Behaviour—University of Chicago, Prentice Hall, Inc., New York

चिह्नक

चिह्न किसी आवश्यकता की पूर्ति करता है। यही चिह्न का आधार होता है।[1] खाना खाने की घंटी खाने की आवश्यकता की पूर्ति करती है। पर, भोजन के प्रतीक, नाज का चित्र, खाने का द्योतक मात्र है। खाने की आवश्यकता की पूर्ति वह नहीं करता। चिह्न कहाँ संकेत बन जाता है, इसकी व्याख्या करते हुए मौरिस कहते हैं कि जब किसी वस्तु के स्थान पर उसको व्यक्त करने के लिए एक चिह्न बना दिया जाता है और उस चिह्न से उस वस्तु का बोध होने लगता है तब वह चिह्न संकेत या प्रतीक बन जाता है। बोध कराने वाली क्रिया को चिह्न की संकेत-क्रिया कहेंगे। पर, जब चिह्न किसी कार्य की ज़रूरत को पूरा करता है, उसे केवल चिह्नक (अंग्रेज़ी में सिगनल) कहते हैं। संकेत वह चिह्न है जो किसी अन्य चिह्न की ओर संकेत करे, किसी अन्य चिह्न के बदले में हो। सभी चिह्न चिह्नक होते हैं। सभी संकेत चिह्नक नहीं होते।[2]

यहीं पर शंका होती है कि क्या सब चिह्नक किसी विचार या भाव के द्योतक होते हैं, जैसे रेल की पटरी पर सिगनल गिरा है, यानी ट्रेन जाने के लिए रास्ता साफ़ है। इस प्रकार ट्रेन के आने-जाने की सूचना देने का कार्य तो वह चिह्नक कर रहा है। स्वतः वह चिह्नक किसी विचार का परिणाम है, पर विचार का बोध कराने वाला नहीं है। एक बड़े लेखक का कहना है कि कोई व्यक्ति किसी चिह्न के विषय में अपने विचार, अपनी भावना, अपने अनुभव आदि की बातें कह सकता है। उसके लिए एक ही चिह्न के बारे में भिन्न-भिन्न अनुभव हो सकते हैं, जैसे किसी देश में हरी बत्ती का मतलब है अपने बायें से जाओ, पर कहीं दायें से जाओ। पर, चिह्न स्वयं इतना निर्जीव पदार्थ है कि उसके बारे में तो अनुभव प्राप्त किया जा सकता है, पर उससे स्वतः कोई अनुभव नहीं होता।[3] चिह्न किसी पदार्थ के लाभ के लिए होता है। रेलवे सिगनल ट्रेन के डब्बों के लिए कोई

१. वही, पृष्ठ ५६।

२. वही, पृष्ठ २५।

३. A Hofstandter—"Subjective Theology"-in "Philosophy and Phenomenological Research"—Vol. 2. 1941, pages 88-97.

अर्थ नहीं रखते। वे इंजिन-ड्राइवर को आदेश देते हैं, प्रभावित करते हैं। किसी पदार्थ या वस्तु को प्रभावित करने वाली वस्तु का नाम चिह्न है। बिना चिह्न बनाये या बने भी चिह्न की सत्ता हो सकती है।[१] सड़क पर कोई नहीं चल रहा है। इसका मतलब है कि किसी भयवश लोग मकान के भीतर छिपे हुए हैं। चिह्न जिस पदार्थ की ओर इशारा करता है उसका व्याख्याता, दुभाषिया है। पर वह केवल काम की ओर इशारा कर सकता है। काम होगा या नहीं, यह नहीं बतला सकता। खाने की घंटी बजी। इसका मतलब यह हुआ कि खाने का समय हो गया। पर खाना मिलेगा या नहीं, यह कौन कह सकता है। किन्तु किसी चीज को हम चिह्न तभी मानते हैं जब अधिकांश अवसरों पर उसके द्वारा इंगित बात सही निकले। घंटी दिन भर बज सकती है, पर अधिकांश अवसर पर खाने की घंटी बजते ही खाना मिलता है। कभी अगर न मिले तो चिह्न का तिरस्कार नहीं किया जाता। इसीलिए बिना विश्वसनीयता के चिह्न हो नहीं सकता। प्राय: हरी बत्ती का मतलब होता है कि रास्ता साफ़ है। अधिकांश चिह्न सभी अवसरों पर एक ही अर्थ रखते हैं। पर, कुछ चिह्न एक ही मौके के लिए होते हैं। चिह्न एकवाचक तथा बहुवाचक दोनों ही होते हैं।[२] लोग "घर" में रहें, यहां पर घर चिह्न का काम दे रहा है। चिह्न किसी एक काम की ओर ले जाता है। जहां पर शरीर द्वारा कोई कार्य जैसे सीटी बजाना, आँख मटकाना आदि चिह्न पैदा हो, उसे "शब्द-धारी चिह्न" कह सकते हैं। चिह्न से भाषा का, वाणी का, ध्वनि का काम बहुत हल्का हो जाता है। बार-बार किसी से "हटो-बचो" कहने के स्थान पर चिह्न के रूप में हरी बत्ती बड़ा काम देती है। अतएव क्या चिह्न भाषा का रूप भी ग्रहण कर सकता है? क्या भाषा चिह्न है?

१. Morris—pages 15-16-17.

२. वही, पृष्ठ २१-२२।

भाषा और चिह्न

भाषा भी चिह्न-स्वरूप है, पर बहुत से चिह्नों को मिलाकर भाषा बनती है। भाषा में प्रत्येक चिह्न की अपनी विशेषता है और उसके अनेक अर्थ हो सकते हैं। भाषा में जो चिह्न हैं वे अन्य चिह्नों से परस्पर सम्बन्धित होते हैं। अनेक प्रकार के गूढ़ चिह्नों के संयोग से भाषा बनती है। भाषा में चिह्न तथा प्रतीक दोनों ही होते हैं।[1] इस विषय में विद्वानों की भिन्न-भिन्न राय है कि चिह्न किस सीमा तक भाषा का काम करता है या भाषा किस सीमा तक चिह्न है। साधारण जीवन में हमारा जो आचरण समाज से सम्बन्ध नहीं रखता, वह व्यक्तिगत आचार कहलाता है। नित्य की क्रिया, शौच इत्यादि शुद्ध व्यक्तिगत आचार हैं। यों तो व्यक्ति के हर एक आचरण का समाज पर किसी-न-किसी रूप में प्रभाव पड़ता ही है, पर व्यक्तिगत और सामाजिक आचार की मर्यादा सदैव भिन्न होगी। जब हम भाषा का उपयोग करते हैं तो उससे अपनी व्यक्तिगत आवश्यकता ही नहीं पूरी करते, समाज की जरूरत भी पूरी करते हैं। मनुष्य को सामाजिक प्राणी बनने के लिए भाषा का उपयोग करना सीखना ही होगा। पर जिस समय भाषा का जन्म नहीं रहा होगा, चिह्न तथा संकेत से ही वह अपने अभिप्राय व्यक्त करता रहा होगा। मुंह से शब्द निकाल कर एक व्यक्ति अपनी बात, अपना विचार, अपना मनोभाव दूसरे को सुनाता है, बतलाता है। दूसरा उसे ग्रहण करता है। मुंह से हम जो कुछ कहते हैं उसे दूसरा भी उसी भाव से सुनता है जिस भाव से हमने कहा, यह संदेह की बात है। हमने प्रेमवश अपने बच्चे को उपदेश दिया। उसे उपदेश के भीतर छिपा प्रेम न भी दिखाई दे। उसके लिए वह फटकार ही बन जायगा। चिह्न जिस सीमा तक सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति करता है, वहाँ तक वह भाषा बन जाता है। पर भाषा के अनेक अर्थ हो सकते हैं। उससे भाव, कुभाव बन सकता है। चिह्न अपने इशारे पर अटल है। वह जो कहना चाहता है, उसको उसी रूप में ग्रहण करना होगा। इसलिए मोटे तौर पर यह मान लिया गया है कि भाषा चिह्नों का समुच्चय है, पर भाषा के साथ भाव का जो तादात्म्य है, वह चिह्न के साथ नहीं हो सकता।

१. G. H. Mead—"Concerning animal perception"—Psychological Review—14-1907, pages 383-90.

भाषा और संकेत

यहाँ पर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या भाषा के चिह्न संकेत और प्रतीक का काम देते हैं ? मौरिस का कहना है कि बोले हुए शब्द बोलने वाले और सुनने वाले दोनों के लिए संकेत तथा प्रतीक का काम देते हैं ।[१] बहुत से व्यक्ति अपरिचित भाषा में कही गयी बात का तात्पर्य समझ लेते हैं । पर उस भाषा को बोल नहीं सकते । यह समझ केवल उस अज्ञात भाषा के "संकेत" से प्राप्त हुई ।[२] मीड नामक लेखक का कहना है कि पहले से ही निश्चित, सीधे-सादे चिह्नों से ही भाषा के संकेत बन जाते हैं ।[३] नहीं की निशानी सर हिलाना है । 'नहीं' कहते हुए चाहे अंग्रेजी में 'नो', जर्मन में 'निख्त' कुछ भी कहे, अस्वीकृति का एक संकेत बन जाता है । हर एक व्यक्ति के जीवन में जो अनुभव होते हैं, उन्हीं के आधार पर, उन्हीं को लेकर भाषा के संकेत बन जाते हैं । और चूंकि इन संकेतों के साथ सबका निजी अनुभव मिला हुआ है, इन्हें समझने में किसी को कठिनाई नहीं होती । इसी प्रकार आकृति भी संकेत तथा भाषा का काम करती है । आकृति देखकर हमें जो संकेत प्राप्त होता है, वह हमारे अनुभव की बात है । किसी को दाँत पीसते हुए देखकर हम समझ जाते हैं कि वह क्रुद्ध है । फिर, उसके साथ कैसा व्यवहार किया जाय, इसका हम निर्णय करते हैं । पर, सभी का दांत पीसना क्रोध का द्योतक नहीं हो सकता । आचरण में जो चिह्न बनते या मिलते हैं, वे ज्यादातर आदतन होते हैं ।[४] किसी को आँख मटकाने की आदत ही होती है । पर, मन में भाषा की कल्पना करके, मन ही मन भाषा का उपयोग करके मनुष्य भाषा का नहीं, भाषा के संकेत का उपयोग कर रहे हैं । मन के भीतर सोचना, मन ही मन बातें करना, अपने से बातें करना, यह सब भाषा का उपयोग नहीं है, भाषा के संकेत का उपयोग है ।[५] भाषा वास्तव में भाषा तब होती है जब वह किसी को सुनाने के लिए, किसी दूसरे के कान

१. Morris: Signs, Language and Behaviour—page 34.
२. वही, पृष्ठ २५३ ।
३. G. H. Mead—"Mind, Self and Society", Pub. University of Chicago, 1938—page 54.
४. Morris, page 310.
५. वही, पृष्ठ ४८-४९ ।

तक पहुँचाने के लिए बोली जाती है। बहुत-सी भाषाएँ ऐसी हैं जो शुद्ध सांकेतिक हैं या चिह्न-स्वरूप हैं।[१] चीनी भाषा में जो लिपि है, वह सांकेतिक है। पक्षी शब्द के लिए पक्षी का चित्र बना देने से काम चल जाता है। चीन के महान् देश में हज़ारों भाषाएँ हैं, पर लिपि एक ही है। युगों तक चीन एक ही सम्राट् के अधीन था, अतएव एक लिपि चालू रही। फलतः चीन के हर कोने का आदमी अपने परिचित पड़ोसी, अपरिचित भाषा-भाषी के पत्र को समझ सकता है। पक्षी का चित्र सामने यदि है तो 'बर्ड' 'चिड़िया' कुछ भी कहिए, लिखावट से एक ही चीज़ निकलेगी।

अस्तु, चिह्न का मानव-जीवन में बड़ा भारी महत्त्व है।[२] आधुनिक वैज्ञानिक अनुसन्धानों ने इस महत्त्व को प्रमाणित कर दिया है। चिह्न के महत्त्व पर हम आज नया विचार नहीं कर रहे हैं। यूनानी सभ्यता के समय से इस विषय पर खोज और शोध जारी है। मनोविश्लेषकों ने आज सिद्ध कर दिया है कि बहुत से मानसिक रोगियों की व्याधि चिह्नों के कारण पैदा हुई है।[३] चिह्न मोटे तौर पर किसी ऐसी वस्तु के प्रति ध्यान आकृष्ट करता है, किसी ऐसे काम के प्रति प्रेरित करता है जिसकी ओर उस समय ध्यान नहीं गया हो। ऐसा चिह्न देखकर तथा उसका अर्थ निकाल कर जब कोई वैसा ही दूसरा चिह्न बनाता है जो समानार्थक हो, जैसे किसी ने दरवाज़े पर कोई निशान बनाकर उस स्थान पर आने को मना किया और जिसे मना किया गया, उसने उसका उत्तर आँख से इशारा करके दिया कि मैं जा रहा हूँ तो आँख का यह इशारा संकेत कहलाएगा। सभी संकेत भाषा के पूर्व की स्थिति हैं या भाषा के बाद की स्थिति हैं।[४] "मैं जा रहा हूँ" न कहकर आँख से इशारा करके उठ जाना, यह भाषा के पूर्व की स्थिति हुई। किसी चिह्न को देखकर शरीर के किसी अंग से जो क्रिया बनती है, वही संकेत है।[५] इसलिए यह कहना भी अनुचित न होगा कि चिह्न से संकेत बनते हैं।

मॉरिस ने इसी विषय पर विचार करते हुए लिखा है कि संकेत तथा चिह्न उस सीमा तक एक ही समान हैं जहाँ तक वे किसी कार्य के लिए प्रेरित करते हैं या उसमें रोक लगाते

१. W. H. Grant—"An Experimental Approach to Psychiatry"—American Journal of Psychiatry—92, 1936, pages 1007-1021.

२. मॉरिस, पृष्ठ २।

३. मॉरिस, पृष्ठ १।

४. मॉरिस, पृष्ठ ३५४-३५५।

५. वही, पृष्ठ ३०६।

हैं। शरीर के किसी अवयव से या किसी वस्तु से उत्पन्न होने वाला संकेत ही चिह्न बन जाता है या किसी चिह्न के स्थान पर काम देता है। पर, चिह्न तथा संकेत में एक बहुत व्यापक अन्तर है। पशु चिह्न समझ सकता है, बना नहीं सकता। पशु संकेत समझ सकता है, संकेत कर नहीं सकता। मनुष्य के लिए चिह्न एक सहज क्रिया हो सकती है। पर संकेत के साथ बुद्धि का भी सहयोग होना चाहिए। चिह्न एक यंत्रीय ढंग से अपने लक्ष्य को बतलाता रहता है। संकेत बुद्धि से उत्पन्न होता है और बुद्धि से ही ग्रहण किया जा सकता है। यही बात ब्रिल ने[१] अपनी पुस्तक में लिखी है। ब्रिल के अनुसार किसी अन्य वस्तु को व्यक्त करने वाला "संकेत" होता है। पर, किसी अन्य वस्तु को, जो हमारे सामने नहीं है, व्यक्त करने वाली वस्तु "प्रतीक" है, केवल संकेत नहीं है। जो वस्तु सामने नहीं है, उसका रूप प्रदर्शित करने वाली या उसका बोध कराने वाली वस्तु "प्रतीक" है। पर, अंग्रेजी में दोनों शब्दों के लिए एक ही शब्द है "सिम्बल"। इसका एक कारण है। किसी भाषा में शब्द तब बनते हैं जब उस भाव की कल्पना की जाती है। कल्पनामय वस्तु के "प्रतीक" को अंग्रेजी में "इमेज"[२] कहते हैं। हम लोग इमेज का अनुवाद "मूर्त्ति" करते हैं जो गलत है। प्रतीक और मूर्त्ति में बड़ा अन्तर है, यह हम बतला चुके हैं।

पश्चिमी विद्वान् प्रतीक पर विचार करते-करते काफ़ी छिछले पानी में चले गये। उन्होंने भ्रमवश प्रतीक को छोड़ दिया और संकेत को पकड़ बैठे। यही भूल अर्नेस्ट जोन्स ऐसे विद्वान् ने भी की।[३] स्वप्न में हमको जो कुछ दिखाई पड़ता है वह निश्चयतः किसी घटना या भाव या भविष्य का प्रतीक है। पर, फ्रायड ने इसे सदैव 'संकेत' के रूप में समझा। वे जीवन की हर एक चीज को कामवासना से सम्बद्ध समझते थे। उनके लिए जीवन में और कुछ नहीं, केवल वासना ही है। इसीलिए हमें स्वप्न में जो कुछ दिखाई पड़ता है, उसका वे किसी-न-किसी रूप में कामवासना से सम्बन्ध जोड़ देते थे।[४] मॉरिस ने शायद ऐसे ही लोगों के लिए, फ्रायड ऐसे विद्वानों के लिए, लिखा है कि

१. A. A. Brill—"The Universality of Symbols"—The Psycho-analytic Review—30, 1943-1-18.
२. Image—यह शब्द—Imagination—कल्पना का जनक है।
३. Earnest Jones—"The Theory of Symbolism—"British Journal of Psychology—9. 1917, 19, 184.
४. Freud—Inter-pretation of Dreams, and "Introductory Lectures on Psycho-analysis".

वातावरण के अनुकूल, बिना किसी चिह्नक के भी प्रतीक बन जाता है। किसी चीज़ को देखकर उसके वातावरण के अनुसार कोई कार्य आप-से-आप प्रतीक बन जाता है। एक अनहोनी घटना को देखकर यदि किसी के नेत्र भय या विस्मय में फैल गये तो उन नेत्रों की स्थिति समूची घटना का प्रतीक बन जाती है। पर ऐसी दशा में बिना चिह्नक के जो चिह्न बनते हैं, बिना वातावरण को समझे जो प्रतीक प्रतीत होता है उस पर पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता। मॉरिस के कथनानुसार प्रतीक अविश्वसनीय पदार्थ है। विष्णु भगवान् का प्रतीक उनकी चतुर्भुजी मूर्त्ति है। पर यह कौन कह सकता है कि निश्चयतः विष्णु का यही प्रतीक है?

इसी प्रकार शरीर के किसी भी अंग का या सृष्टि के किसी भी पदार्थ का हर एक कार्य, उसका चिह्न या चिह्नक प्रतीक या संकेत नहीं कहा जा सकता। एक व्यक्ति अपने हाथ की नाड़ी को गिनकर अपने स्वास्थ्य की स्थिति जान सकता है। नाड़ी की गति केवल चिह्नक है। उस गति को देखकर वह जो अर्थ निकालेगा और उसे मुंह से कहेगा, वही संकेत होगा। चिह्नक ने विचार उत्पन्न किया, विचार से संकेत बना, पर सभी शब्द या वाक्य या ध्वनि—नाड़ी से पैदा होनेवाली गति के कारण उत्पन्न शब्द भी—चिह्नक नहीं है। बहुत-से विचार या शब्द जब तक लिखित शब्दो के रूप में नहीं आते, संकेत नहीं कहे जा सकते।[१]

१. मॉरिस—पृष्ठ २५ से २७ तक

विचारों का प्रतीक

हर एक मनुष्य, हर एक समाज, हर एक सभ्यता के विचार तथा भाव अलग-अलग होते हैं। विचार तथा प्रतीक का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है यह प्रतीकों के अध्ययन से ही समझा जा सकता है। प्रतीक से सभ्यता का अध्ययन हो सकता है। इसीलिए एक ही बात के लिए भिन्न सभ्यताओं में भिन्न प्रतीक बन जाते हैं। साधारण सी मिसाल लीजिए। हाथ, पैर, मुंह में गोदना गोदाने की बड़ी पुरानी प्रथा है। जंगली लोगों तथा सभ्य समाज में भी यही प्रथा है। कोई अपने हाथ पर वृक्ष या फूल-पत्ते बनवा लेता है और कोई भगवान् का नाम गोदा लेता है। भिन्न जातियों के ऐसे भिन्न प्रतीक इतिहास में भरे पड़े हैं। किन्तु जाति, सभ्यता, धर्म, संसार हर एक के लिए, सबको एक सूत्र में पिरो देनेवाला प्रतीक भारत की आर्य सभ्यता के अलावा और किसी को न सूझा। इसीलिए भारत की आर्य तथा आर्ष सभ्यता संसार की मुकुटमणि है। हमारे दो प्रतीक ऐसे हैं, जो हर एक को भावना, भाव, सृष्टि, इतिहास तथा सभ्यता का एक साथ बोध करा देते, साथ ही सृष्टि के बड़े गूढ़ तत्त्वों का दिग्दर्शन भी कराते हैं। वे हैं ॐ तथा स्वस्तिक। इसी स्वस्तिक को हिटलर ने जर्मनी में उलटे रूप में अपनाया था।

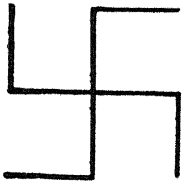

स्वस्तिक, आर्य प्रतीक

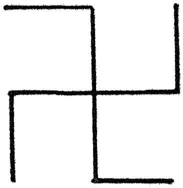

हिटलरी प्रतीक

स्वस्तिक तथा ॐकार

हमारे ऋषियों ने सृष्टि की आदि से लेकर कल्पना की । उसका रूप पहचाना । आज सभी यह स्वीकार करते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में केवल नाद था, ध्वनि थी । ध्वनि से शब्द बने, जिसे पाणिनि ने अपने व्याकरण में "अ इ उ ण" आदि के रूप में पिरो दिया है । ईसाई मज़हब ने भी, जो प्राचीन धर्मों में सबसे नया है (मुसलिम मज़हब को छोड़कर), आरम्भ में नाद (शब्द) की सत्ता स्वीकार की है । इसी नाद को हमारे ऋषियों ने सृष्टि के आदि से लेकर अन्त तक सर्वव्याप्त माना । उसे परब्रह्म की व्याख्या तथा परिभाषा स्वीकार किया । भूत, वर्तमान तथा भविष्य में जो कुछ भी है, उसी नाद का स्वरूप माना । आदि, अनादि, अन्त, अनन्त में इसी नाद की, शब्द की सत्ता स्वीकार की । उस नाद का, शब्द का स्वरूप "ॐकार" है । माण्डूक्योपनिषद् का पहला ही मंत्र है—

ओमित्येतदक्षरमिद ँ सर्वं तस्योपव्याख्यानम् ।
भूतं भव्यं भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव, यच्चान्यत्त्रि-
कालातीतं तदप्योङ्कार एव ।

इस ॐ को यदि सभ्यता, सृष्टि, नाद, ब्रह्म—हर एक का सम्मिलित, सामूहिक प्रतीक नहीं कहेंगे तो और किस रूप में उसका सम्बोधन होगा ? हमारे यहाँ किसी भी कार्य के प्रारम्भ में ओंकार शब्द का उच्चारण होना ही चाहिए । स्मृति का आदेश है—

ओङ्कारपूर्वमुच्चार्य ततो वेदमधीयेत ।

पहले ॐकार का उच्चारण करे, तब वेद-पाठ करे । मनु ने भी—

प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओङ्कारमर्हति (२–७५)

ॐ की मर्यादा अक्षुण्ण सिद्ध की है । हम यहाँ पर ॐकार की महिमा या महत्त्व की व्याख्या नहीं करना चाहते । यह तो दूसरा ही विषय है । पर ॐ को संसार का श्रेष्ठ प्रतीक तथा अति गम्भीर अर्थवाला प्रतीक कहना चाहते हैं ।

इसी प्रकार हमारा दूसरा, अतिगूढ़ अर्थवाला, प्रतीक स्वस्तिक है । इस शब्द के अनेक अर्थ हैं । पुंलिग शब्द है । सूचिपत्र, पर्णक, कुक्कुट, शिखा—यह शब्द इसी स्वस्तिक

के अर्थ तथा पर्यायवाची हैं। साँप के फन के ऊपर एक नील रेखा होती है। उसे भी स्वस्तिक कहते हैं।[१] हलायुधकोश में इसे "चतुर्विंशतिचिह्नान्तर्गतचिह्नविशेष:"—चौबीस चिह्नों में एक विशेष चिह्न माना है। किन्तु, उसी कोश में स्वस्तिक का अर्थ चतुष्पथ यानी चौराहा भी लिखा है। यदि स्वस्तिक चार मार्गों का द्योतक है तो चिह्न हो सकता है। पर वे चार मार्ग क्या हैं? स्वस्तिक का अर्थ क्या है?

हम हर एक मंगल कार्य में मंत्र पढ़ते हैं—

गणानां त्वा गणपति **हवामहे**

गणों के गणपति यानी राष्ट्रपति का हम आवाहन करते हैं, नमस्कार करते हैं।

ग्वं पूरक स्वर है। गणपति का पूरक स्वर है। गँ—गणपति का प्रतीक है। यह गँ ही गणपति का बीजाक्षर 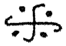 रूप है।

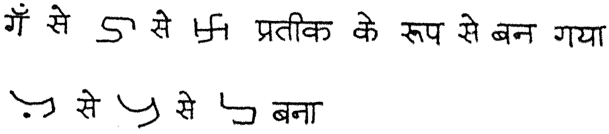

प्रतीक इसी प्रकार बनते हैं और उसका रूप, समूचे मंत्र का रूप 卐 बन गया। चतुष्पथ यानी चौराहा का भी चिह्न अवश्य है। वह चार रास्ते का है? प्राचीन तथा अर्वाचीन विश्वास के अनुसार सूर्य-मण्डल के चारों ओर चार विद्युत् केन्द्र हैं, जिनमें—

१. पूर्व दिशा में वृद्धश्रवा इन्द्र
२. दक्षिण दिशा में वृहस्पति इन्द्र
३. पश्चिम दिशा में पूषा विश्ववेदा इन्द्र
४. उत्तर दिशा में स्ताक्षप अरिष्टनेमि इन्द्र

१. शिरोभिः पृथुभिर्नागा व्यक्तस्वस्तिकलक्षणैः।
वमन्तः पावकं घोरं ददंशुर्दशनैः शिलाः॥—वाल्मीकि० १. १९५।

इन चारों से घिरे स्थान का नाम वेदों में कल्याणवाची स्वस्तिक मण्डल है।[1] यजुर्वेद का मंत्र है—

हरिः ॐ॥ स्वस्तिन इन्द्रो वृद्धश्रवा ˙˝ स्वस्तिन ÷
पूषा विश्ववेदा ˙(.॥ स्वस्तिनस्ताक्ष्यों अरिष्टनेमि ˙(. स्वस्ति
नो बृहस्प्पतिर्द्दधातु॥ १॥[2]

मानव समाज के कल्याण का यह प्रतीक है। "वसो मम"—मेरा कल्याण करो—का भी यही प्रतीक है।

१. यास्कीय निरुक्त अ० ११, खण्ड ४५।
२. यजुर्वेद अ० २५, मं० १९।

स्वस्तिक का पौराणिक रूप

संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् पं० रामचन्द्र शास्त्री बझे ने स्वस्तिक को प्रतीक मानते हुए उसकी बड़ी निश्चयात्मक व्याख्या की है। उनके कथनानुसार स्वस्तिक कमल का पूर्वरूप है। किन्हीं लोगों के मत से विष्णु भगवान् के वक्षस्थल पर विराजमान कौस्तुभ मणि स्वस्तिकाकार है। सगुण मूर्त्ति का अलंकारयुक्त, कामनापूर्वक आराधना का आरम्भकाल ही इसका आरम्भकाल है। ज्यों-ज्यों जनसमूह में सांसारिक भाव, सांसारिक मोह, विषय और उसकी सामग्री के प्रति लालसा बढ़ती गयी, लक्ष्मी की आराधना भी बढ़ती गयी। लक्ष्मी का आसन कमल है। इसलिए कमल भी उपासना का विषय बन गया। कमल का खिला हुआ फूल प्रसन्नता तथा हर्ष का प्रतीक माना जाने लगा। अतएव कल्याण (लक्ष्मी के द्वारा) तथा प्रसन्नता का प्रतीक कमल का फूल बन गया। कमल का पूर्वरूप स्वस्तिक जैसा होता है। इसलिए कमल का प्रतीक स्वस्तिक हो गया—"सर्वारम्भास्तंडुलप्रस्थमूला:" इस व्यावहारिक न्याय से भी प्रत्येक मंगल कार्य में, प्रारम्भ में, स्वस्तिक को विशेष स्थान प्राप्त हुआ। प्रसन्नता तथा कल्याण का द्योतक स्वस्तिक हो गया।

गणपति के उपासकों के लिए, गाणपत्य लोगों के लिए स्वस्तिक बिन्दुरूप है। जीवन, संसार, सृष्टि सबको बिन्दुरूप में प्रदर्शित करनेवाला प्रतीक है। कई विद्वानों की सम्मति में स्वस्तिक की निश्चित व्याख्या कठिन है। परन्तु यह एक प्रकार का "सर्वतोभद्र" मंडल है, यानी चारों ओर से समान है। भारतीय संस्कृति में अनेक प्रकार के मंडलों की चर्चा वैदिक काल से ही चली आयी है। मंडल को ही यंत्र कहते हैं। तांत्रिक उपासना में यंत्र का बड़ा महत्त्व है। इन मंडलों या यंत्रों के साथ ज्यामिति[१] के गूढ़ सिद्धान्त मिले हुए हैं।

धुरंधर पण्डित बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते की एक व्याख्या विचारणीय है। उनके अनुसार श्राद्ध आदि क्रियाओं में पितृमंडल ○ गोल होता है। देवता का मंडल □ चौखूटा होता है। इससे कल्पना होती है कि चौखूटा यानी चतुरस्र का फल शुभ माना

१. Geometry.

गया है। जिस प्रकार सैनिक कैम्प के सामने बंदूकें मिलाकर खड़ी की जाती हैं, उसी प्रकार किसी भी कार्य के प्रारम्भ में काम के कैम्प के सामने, स्वस्तिक रखकर, विघ्न के विरुद्ध किलेबंदी कर दी जाती है। विघ्न-विनाशक गणपति हैं। गणपति का बीजाक्षर गं का चतुरस्र मंडल ही (देखो चित्र, पृष्ठ २०, पंक्ति १०) स्वस्तिकाकार होने के कारण सर्वथा मंगलप्रद माना गया है। ब्राह्मी लिपि की पद्धति से भी यह स्वस्तिक मंगल-प्रद प्रतीक सिद्ध होता है।

किन्तु, स्वस्तिक के इस महान् अर्थ को न समझ कर उसे भ्रष्ट अर्थ या रूप देने में कुछ पश्चिमी विद्वानों ने कम परिश्रम नहीं किया है। कटनर ने अपनी पुस्तक में स्वस्तिक ऐसे प्राचीन प्रतीकों को केवल स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध का द्योतक माना है। उनको, फ्रायड की तरह, हर उपासना में, उपासना के हर प्रतीक में, केवल स्त्री-पुरुष-प्रसंग ही दीख पड़ता था। कटनर के अनुसार क्रास—> का प्रतीक स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का द्योतक है। उसी का मिस्र देश में प्राप्त रूपान्तर यह है

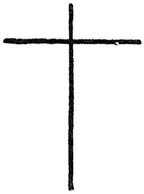

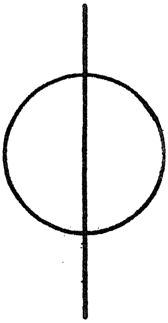

जिसे "बार आव आइसिस"[१] कहते हैं। मिस्री भाषा में इस ⌀ प्रतीक को आंख[२] कहते थे। हिब्रू लोगों का भी यही धार्मिक प्रतीक था, पर उसका

१. Bar of Isis.
२. ANKH.

रूप यह था[1] —>

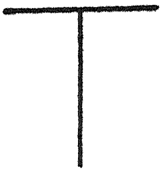

तथा मेक्सिको के प्राचीन निवासियों का यही प्रतीक

इस रूप में था।

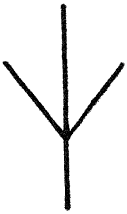

यूनानियों के कामदेव (वीनस) का प्रतीक था[2] —> और वही बदलकर हिन्दुओं का स्वस्तिक 卐 हो गया।[3]

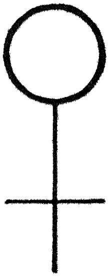

पर हर देश में यह प्रतीक भिन्न रूप में स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का प्रतीक था। भारत में कौड़ी भी स्त्री की योनि का प्रतीक है। बहरहाल, कटनर यह मानने को कदापि तैयार नहीं होंगे कि ऋषि-कालीन भारत ने जिस मंगलसूचक स्वस्तिक की कल्पना की थी, वही भिन्न रूपों में संसार की अन्य बड़ी सभ्यताओं द्वारा अपना लिया गया।

१. Hebrad Tan Cross.
२. Symbol of Venus.
३. H. Cutner—"A Short History of Sex Worship", 1940—1st Edition, page, 158.

भारतीय सभ्यता को इतना महान् स्थान वे देने को तैयार नहीं हैं—अधिकांश पश्चिमी विद्वान् भी तैयार नहीं हैं। इसलिए अपनी मोटी बुद्धि से उन्होंने केवल कामवासना का प्रतीक समझकर एक परम कल्याणकारी प्रतीक की भर्त्सना कर दी।

स्वस्तिक के विषय में एक महान् तथ्य और है। अशोक के समय क अक्षर का + लिखते थे। उसका यही रूप था। क का अर्थ है ब्रह्मा। क का अर्थ है सुख, इसलिए सुख का बोधक + यदि 卐 के रूप में आ गया तो वैदिक व्याख्या आदि छोड़कर, इतनी सीधी व्याख्या भी क्यों न मान लें?

प्रतीक तथा संकेत की व्याख्या करते-करते हमने ऊपर ॐ तथा स्वस्तिक का उदाहरण इसीलिए दिया है कि यह स्पष्ट हो जाय कि जरा-सी नासमझी से प्रतीक के अर्थ का कितना अनर्थ हो सकता है। इसीलिए व्याख्या करनेवाले को कितनी कठिनाई से अपना तात्पर्य स्पष्ट करना पड़ता है।

प्रतीक भावनाप्रधान होता है

जिस वस्तु का आधार भावना है, उसकी व्याख्या करना सरल नहीं है। इस संसार में जो कुछ दिखाई पड़ता है वह सत्य है, उसको जिस रूप में हम देख रहे हैं वही है, यह कहना बुद्धि के लिए कठिन है। प्लेटो ने लिखा था कि हम संसार में जो कुछ देखते हैं, वह छाया मात्र है; वास्तविकता नहीं है।[1] विज्ञान के महान् पण्डित आईंस्टीन ने लिखा था कि संसार में जो कुछ है, उसे समझने के लिए अन्तःप्रेरणा सबसे अधिक महत्त्व की बात है।[2] विज्ञान के तराजू पर ही तौलकर हर एक असलियत को नहीं पहचाना जा सकता। एक विद्वान् ने लिखा है कि "विज्ञान वास्तविकता तक पहुँचने के लिए एक द्वार मात्र है। वह एक महत्त्वपूर्ण द्वार अवश्य है, पर उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण मार्ग धर्म तथा नैतिकता है।" उसी विद्वान् ने लिखा है कि "प्राकृतिक विज्ञान के सांकेतिक नियमों के सामने किसी वस्तु का मूल्यांकन उसकी व्यापकता तथा उपयोगिता पर निर्भर होता है। उस वस्तु का कार्य-क्षेत्र जितना ही अधिक बढ़ता जायगा, उसकी उपादेयता जितनी ही अधिक होगी, उतना ही उसका मूल्यांकन भी होगा।"[3]

हर एक देश के दार्शनिकों ने इस मूल्यांकन का प्रयत्न किया है। सबसे बड़ा मूल्यांकन मनुष्य के जीवन का ही है। जीवन वही है जो सार्थक हो, जिससे कल्याण हो। इस कल्याण का संकेत क्या है? कल्याण किसे कहते हैं? इस पर आदि-काल से बहस होती चली आ रही है। बृहदारण्यक में मैत्रेयी ने कल्याण-श्रेयस के मार्ग को आत्म-ज्ञान का मार्ग बतलाया है।[4] यानी, उसी के जीवन की सार्थकता का मूल्यांकन होगा, जिसने जितनी अधिक मात्रा में आत्मज्ञान प्राप्त किया है। मैत्रेयी के अनुसार संसार में कुछ भी सुख नहीं है। जिसे हम सुख समझते हैं वह क्षणिक है। याज्ञवल्क्य संसार में एक मात्र सुख का साधन आत्मा को मानते हैं। संसार के सुखों की नश्वरता तथा जीवन की भी अन्ततः

१. Plato—Republic.

२. Einstein in his preface to Planch's—"Where is Science Going".

३. Dynamics of Morals—pages 210-215.

४. बृहदा० ४-५-३।

समाप्ति और धूल में मिल जाने की याद दिलानेवाला, उसका रूप बतलानेवाला प्रतीक भस्म है जिसे साधु लोग शरीर पर लगाते हैं। भस्म जीवन की नश्वरता का प्रतीक है। पर इस नश्वरता का बिना बोध हुए केवल भस्म को देखकर कोई उसका अर्थ नहीं समझ सकता। भस्म को प्रतीक का रूप देते समय उसके साथ भाव भी जोड़ दिया गया है। इसीलिए प्रतीक को भाव-प्रधान कहते हैं। जिसकी जैसी भावना होगी वह प्रतीक का वैसा अर्थ लगा लेगा। कुछ लोग भस्म को प्रतीक नहीं मानते। शरीर में भस्म रमा लेने से सर्दी या गर्मी कम लगती है, बस वे इतनी दूर तक पहुँचते हैं। प्रतीक के सामने यही सबसे बड़ी कठिनाई है। अपनी भावना के अनुसार उसके अर्थ का अनर्थ होता रहता है। शंकर भगवान् के चित्र में सर्प को देखकर केवल प्राण लेनेवाले साँप का बोध होता है। नागपूजा तथा सर्प के स्थान-स्थान पर प्रतीक को देखकर केवल मृत्यु का चिह्न या प्राण लेनेवाले सर्प देवता समझकर हम बुद्धि को और आगे बढ़ने नहीं देते। पर शरीर के भीतर इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना नाडियों की जिन्हें जानकारी है, जो शरीर के भीतर सर्पाकार कुण्डलिनी को जानते हैं तथा उसे यौगिक क्रियाओं से जाग्रत कर जीवन का परम सुख प्राप्त करने की बात समझते हैं, वह शंकर ऐसे योगी के मस्तक या गले में सर्प देखकर, मंदिरों पर सर्प बना देखकर यदि उसे कुण्डलिनी का प्रतीक सिद्ध करते हैं तो कौन सत्य तक वास्तव में पहुँच गया है, इसका निर्णय हर एक अपनी-अपनी भावना से करेगा।

मनोविज्ञान का विद्यार्थी जानता है कि हममें से अधिकांश व्यक्ति मन में जो कुछ सोचते हैं वह तस्वीरों में सोचते हैं। मन की यह कमजोरी है, पर कम लोग इस कमजोरी के ऊपर उठ पाते हैं। मैं जब यह कहता हूँ कि "मैं घर जाऊँगा" तो अपने घर की तस्वीर मन के एक कोने में सामने आ जाती है। "मैं भोजन करूँगा" कहनेवाले के मन में भोजन का नक्शा खिच जाता है। किन्तु घर या भोजन की पूरी तस्वीर नहीं बनती। केवल उनका प्रतीक बन जाता है, इसलिए हमारी भावना के अनुसार प्रतीक बनते रहते हैं। प्रतीकों में ही सोचना मनुष्य की बुद्धि की विशेषता है।[१] किन्तु मानव स्वभाव तथा प्रकृति में इतनी विभिन्नता है कि एक ही वस्तु का हर व्यक्ति अपनी भावना के अनुसार भिन्न अर्थ लगायेगा।[२] हमने ऊपर सर्प को मानव-शरीर के भीतर कुण्डलिनी का प्रतीक

१. Dr. Padma Agrawal—"A Psychological Study in Symbolism—" Manovigyan Prakashan, Varanasi, 1955—page 53.

२. वही, पृष्ठ ५३।

बतलाया है। पर सभी इसे ऐसा नहीं मानते। फ्रायड के मतानुसार सर्प का अधिकांशत: प्रयोग पुरुष के लिंग का बोध कराने के लिए होता है और सपने में यदि सर्प देख लिया तो समझ लेना चाहिए कि पुरुष का लिंग देखा। फ्रायड की काम-वासनामय बुद्धि की यानें हर चीज को, हर बात को, हर व्यवहार को तथा हर प्रतीक को कामवासना से सम्बन्धित बताने की बुद्धि की कटु आलोचना जुंग तथा फ़िशर[१] ऐसे विद्वान् मनोवैज्ञानिकों ने की है; जुंग ने लिखा है—"प्रतीक का निश्चयात्मक अर्थ नहीं होता। कुछ प्रतीक बार-बार सामने आते हैं, पर हम उनका मोटे तौर पर ही अर्थ लगा पाते हैं। उदाहरण के लिए, यह कहना बिलकुल गलत है कि सपने में सर्प देखने से केवल पुरुष-लिंग का बोध होता है।"[२] प्रिस्टर ने सपने में सर्प देखने को बीबी की जहरीली जबान का परिचायक तथा प्रतीक माना है।[३]

भावना एक दिन में या एक जन्म में ही नहीं बनती। कैलिफोर्निया के विट्टिन रुडोल्फ फॉन अर्बन ने कहा है कि हर एक प्राणी, चाहे पशु हो या मनुष्य, जन्म के समय कुछ परम्पराएँ, संस्कार तथा भावनाएँ लेकर आता है। ऐसी ही संस्कार-वश प्राप्त भावना माता का प्रेम है। मांटेगू ने मातृ-प्रेम को मानव-जीवन के समूचे सम्बन्ध का मौलिक आधार माना है। यदि हम मातृ-प्रेम को मनुष्यता का प्रतीक कहें तो क्या अनुचित होगा? पर यह प्रतीक न तो चिह्न के रूप में है और न संकेत के रूप में। यह अन्तर्निहित है। सभी प्रतीक द्रष्टव्य तथा नेत्रों से देखने योग्य नहीं होते। संकेत और चिह्न आँख से दिखाई पड़ते हैं। प्रतीक नहीं भी दिखाई देता। यह एक बड़ा अन्तर है जिसे समझ जाने से हम प्रतीक का महत्त्व समझ सकते हैं। प्रतीक भावना-प्रधान है।

१. V. E. Fisher—An Introduction to Abnormal Psychology, 1937.
२. C. G. Jung—"Collected Papers on Analytical Psychology—1920 Chapt., VII—pages 217-218.
३. Prister The Psycho.-Analytic Method 1917, p. 292.

धर्म का प्रतीक

यदि भावना से प्रतीक बनते हैं तो भावना का आधार या सर्जनकर्ता बुद्धि है। बुद्धि संस्कार से बनती है। संस्कार कर्म के अनुसार बनता है, हिन्दू धर्म कर्मानुसार जन्म मानता है। कौषीतकी उपनिषद् में कीट-पतंग से लेकर सिंह तक का जन्म इसी कर्म के अनुसार माना गया है।[१] कर्म आचरण से बनते हैं, आचरण धर्म से बनता है। धर्म क्या है?

यह इतना बड़ा प्रश्न है जिसका उत्तर देने के लिए एक समूची पुस्तक ही लिखनी पड़ेगी, फिर भी सन्तोषजनक व्याख्या नहीं की जा सकेगी। फिर, हमारे ग्रन्थ का यह विषय भी नहीं है। हमें तो इस प्रश्न को वहीं तक छू लेना है जहाँ तक यह हमारे "प्रतीक" विषय से सम्बन्धित है। धर्म शब्द का पर्यायवाची शब्द भी संसार की किसी भाषा में नहीं है। अंग्रेजी में जिसे 'रेलिजन' कहते हैं, उर्दू में जिसे 'मज़हब' कहते हैं, वह 'धर्म' का समानान्तर नहीं है। पश्चिम के विद्वान् इसकी कल्पना भी ठीक से नहीं कर सकते। रैंक[२] ने धर्म को परवशता की भावना से उत्पन्न वस्तु माना है। पश्चिमी मनोवैज्ञानिकों का विश्लेषण है कि सभ्यता के आरम्भ में मनुष्य का जीवन बड़ा संकटमय था। उसे बार-बार अपनी तुच्छता का अनुभव होता था और इसी तुच्छता की, हेयता की, भावना ने मनुष्य के मन में अपने से बड़ी किसी 'महत्त्व की शक्ति' की भावना का प्रादुर्भाव किया। दूसरे ढंग से सोचनेवाले मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि आरम्भ में बच्चा अपने पिता पर निर्भर करता है। बड़ा हो जाने के बाद निर्भरता की यही भावना पिता से परमात्मा को प्राप्त होती है, प्रदान की जाती है। यानी, ईश्वर में विश्वास पिता-पुत्र के सम्बन्ध का प्रतीक मात्र है।[३] पिता की, पितृत्व की, कामना ही परमपिता की कामना का कारण

१. स इह कीटो वा पतंगो वा मत्स्यो वा शकुनिर्वा सिंहो (१०२)।

२. Otto Rank—"Religion has its origin in the feeling of dependence" —"इस विषय में दो पुस्तकें जरूर देखनी चाहिये—(क) Sausane K, Langer—"Philosophy in a New Key"—1942 और (ख) J. H. Leuba—Psychology of Religious Mysticism

३. देखिए Totem and Taboo—Sigmund Freud लिखित।

है। इसलिए बहुत-से पश्चिमी विद्वान् चाहे पिता की कामना से हों या अपने को तुच्छ समझने की भावना से हों, परमात्मा के प्रति विश्वास को मानव-स्वभाव की अपने को हेय समझनेवाली प्रेरणा का परिणाम मानते हैं।

किन्तु मनुष्य की बुद्धि का आधार तुच्छता तथा हेयता की भावना समझ लेना मनुष्य मात्र को बहुत नीचे गिरा देना है। हर एक मानव के हृदय में ऐसी अन्तश्चेतना वर्तमान है जो उसे अनायास इस विश्वास की ओर प्रेरित करती है कि एक ऐसी परा शक्ति है जो सृष्टि का सञ्चालन कर रही है। स्वयं उस व्यक्ति का सञ्चालन कर रही है। ईश्वर के प्रति आस्था तथा विश्वास बुद्धि-गम्य नहीं होता, आत्म-गम्य होता है। जन्म लेने के बाद हर बच्चे को ईश्वर में विश्वास करना सिखलाया नहीं जाता। ऐसी आस्था स्वतः पैदा हो जाती है। जुंग ने धर्म को अन्तःप्रेरित भावना माना है। यहाँ पर धर्म का अर्थ ईश्वर में विश्वास मात्र से है। लूबा ने इसे अन्तःप्रेरित भावना ही नहीं माना है, अपितु उसके कथनानुसार अनुभव तथा जानकारी से आन्तरिक प्रेरणा की नींव पर, धार्मिक भावना का क्रमशः विकास होता है। दोनों ही दशाओं में अन्तरात्मा या आन्तरिक प्रेरणा ही वह मुख्य वस्तु है जिससे धर्म की भावना पैदा होती है। जिनमें यह भावना आ गयी या जिन्होंने धर्म को पहचान लिया, उन्होंने दूसरों में ऐसी पहचान आसानी से पैदा करने के लिए, आन्तरिक प्रेरणा या अन्तर्ज्ञान में सहायता देने के लिए तथा दुर्बल-हृदय लोगों के मार्गदर्शन के लिए धार्मिक प्रतीक, मूर्त्ति आदि की रचना की जिसे शंकराचार्य ने "प्रतीकोपासना" कहा है। अन्तर्ज्ञान प्राप्त करने के लिए चित्त को एकाग्र करना ज़रूरी होता है। ऐसी एकाग्रता में सहायता देने के लिए तथा वास्तविक जानकारी कराने के लिए ऐसे धार्मिक प्रतीक बने होंगे जिनमें मूर्त्तियाँ सबसे अधिक महत्त्व रखती हैं। शिवलिंग का पूजन करने से शंकर भगवान् के दर्शन प्राप्त करने की कथाएँ पढ़ी जाती हैं। शंकर भगवान् लिंग के रूप में नहीं, अपने रूप में प्रकट हुए। इसलिए शिव का बोध करानेवाला लिंग स्वयं शंकर नहीं, शंकर की मूर्ति नहीं, शंकर का प्रतीक है।

किन्तु धर्म मानव-स्वभाव की विचित्र गति का द्योतक है। जिसका जैसा स्वभाव हुआ, वह धर्म को उसी रूप में बना लेगा, गढ़ लेगा, इसीलिए मनुष्य को चारों तरफ़ भटकने से बचाने के लिए, उसे सच्ची बात बतलाने के लिए ही मैत्रेयी ने बृहदारण्यक में कहा है कि श्रेयस का, कल्याण का मार्ग आत्मज्ञान है। याज्ञवल्क्य ने आत्मा को परम सुख का साधन माना है। मनु ने गृहस्थ का जीवन और गार्हस्थ्य धर्म को श्रेष्ठ सिद्ध

किया है।[१] याज्ञवल्क्य ने धर्म और समाज में, आत्मा और संसार में झगड़ा बचाने के लिए उपदेश दिया है कि धर्म के अनुकूल होते हुए भी समाज के विरुद्ध काम मत करो।[२] आपस्तम्ब ने अपने धर्मसूत्र में "समय और रीति, जो सज्जनों को स्वीकार हो," उसे ही धर्म कहा है। शेष अधर्म है। इसीलिए लिखा है कि जो करने योग्य है, वह धर्म है और जो न करने योग्य है, वह अधर्म है। इस प्रकार कर्मों का विभाग करने के लिए धर्म और अधर्म को जुदा-जुदा किया है। धर्म का फल सुख और अधर्म का फल दुःख, यह विवेचना की—

कर्मणाञ्च विवेकार्थं धर्म्माधर्मौ व्यवेचयत्।
द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः॥ १–२६

आर्य धर्म ने समाज और धर्म को मिलाकर चलने की बात कही है। दुष्ट को दण्ड देना धर्म है, पर यदि हर एक व्यक्ति दुष्ट को दण्ड देने का काम अपने हाथ में ले ले तो समाज कैसे चलेगा? इसलिए धर्म अन्तःप्रेरणा तथा बुद्धि का विषय है। पर इसे कोरी भावुकता नहीं कह सकते, जैसा कि मैक टगार्ट ने लिखा है। उनके विचारों से धर्म 'एक भावना मात्र है जो अपने तथा संसार के बीच एकस्वरता पैदा करने के विश्वास से पैदा हुई है।"[३]

यदि धर्म एक भावना मात्र ही है तो भी वह बड़े तार्किक रूप से निर्धारित है। ईसाई मज़हब पर प्रकाश डालते हुए हार्नक ने लिखा था कि उसके सिद्धान्त बड़े तर्कपूर्ण ढंग से व्यवस्थित किये गये हैं। उनके द्वारा ईश्वर तथा उसके संसार की जानकारी होती है। ईश्वर ने मनुष्य की मुक्ति के लिए क्या प्रबन्ध किया है, उसका बोध होता है।[४] मतलब यह कि ईसाई धर्म में जो उपासना-पद्धति है, वह ईश्वर का बोध कराने के लिए है। बोध मन में होता है। इसलिए धर्म में जो भी कुछ पद्धति होगी, मन के लिए, मन की जानकारी के लिए होगी। जो कुछ बतलाना है, सिखाना है, मन को ही। इसीलिए हमारे उपनिषदों ने मन को ही सब का, सब प्राणियों का स्वामी माना है। मन हृदय के भीतर रहता है, जैसे धान के भीतर चावल।[५] पुरुष मन है, मनः-स्वरूप है।

मनोमयोऽयं पुरुषो

१. मनुस्मृति—६-८९।
२. याज्ञवल्क्यस्मृति—५-१५६।
३. Mc Taggart—"Some Dogmas of Religion".
४. Harnach—History of Dogmas—Vol. I, Chapter I.
५. Dr. E. Roer, The Twelve Principles of Upnishads, Vol. II, 1931.

हृदय के भीतर बैठा मन जैसा करता है, कराना चाहता है, वैसा मनुष्य करता है, पर आत्मा उस मन के विकार या विवेक से अछूती है । हमारे शास्त्रकारों ने जीवन के दो रूप माने हैं—एक है जीवन का सुख-दुःख भोग करनेवाला तथा दूसरा तटस्थ रूप में बैठा, द्रष्टा । इसी महान् सत्य को संकेत के रूप में मुण्डकोपनिषद् में समझाया गया है—"दो पक्षी, जो सदा एक साथ रहते, तथा परस्पर मित्र हैं, एक ही वृक्ष पर बैठे हुए हैं । एक पक्षी उस वृक्ष के मीठे फलों को भोग रहा है, दूसरा केवल साक्षी के रूप में बैठा है ।"[१]

इस वर्णन में दो पक्षी जीव तथा आत्मा के प्रतीक हैं । एक के फल खाने तथा दूसरे के चुपचाप देखने को संकेत द्वारा उनके भिन्न कार्यों की व्याख्या कर दी गयी है । पर प्रतीक तथा संकेत के इस मिले-जुले उदाहरण को वही समझ सकेगा, जिसकी भावना ऐसे विषयों में समझने के योग्य हो, वरना चित्र के रूप में एक वृक्ष बनाकर उस पर दो पक्षी बिठा देने का कोई प्रयोजन नहीं निकलेगा । इसलिए प्रतीक भाव-प्रधान तथा ज्ञान-प्रधान भी होते हैं ।

किन्तु धर्म इतनी आसानी से समझ में आ जानेवाली चीज नहीं है । वैशेषिक-सूत्र में धर्म की व्याख्या की है—"जिससे लोक में सबसे ज्यादा उत्कर्ष हो एवं अन्त में मोक्ष-सिद्धि हो, वह धर्म है ।"

यतोभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः ।

जिससे अपना अभ्युदय और कल्याण हो, वही धर्म है, ऐसा समझ लेने से ही काम नहीं चलेगा । कल्याण का प्रतीक स्वस्तिक है । यदि स्वस्तिक का अर्थ ठीक से न समझा जाय, यदि कल्याण की व्याख्या ठीक से समझ में न आवे तो लोग चोरी, जुआ आदि में भी धर्म की तलाश करने लगेंगे और मनुष्य का जीवन एकदम उच्छृंखल हो जायेगा । प्रतीक का ठीक अर्थ न समझने से इसी प्रकार अनर्थ होता है । कटनर ने स्वस्तिक को पुरुष-स्त्री संभोग तथा संभोग का चिह्न समझ लिया है ।[२] वे उसके महान् कल्याण-

१. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिशस्वजाते
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अवश्नन्योऽभिचा कशीति
—मुंडकोपनिषद् ३—१ ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् का यह मंत्र भी मनन के योग्य है :—
यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः ।
देव एकः स्वमावृणोति स नो दधातु ब्रह्मा व्ययम् ॥ ६—१०१

२. H. Cutner, A Short History of Sex Worship—pages 158-159.

कारी अर्थ तक पहुँचे ही नहीं। प्राचीन मन्दिरों की दीवारों पर, प्राचीन चित्रों में या शिलालेखों में कुम्भ (घड़ा) बना देखकर बहुत से पश्चिमी विद्वान् यह समझेंगे कि प्राचीन भारतीय बर्त्तन की बड़ी मर्यादा समझते थे। उसकी तस्वीर बना देते थे। पर, जिसे हम साधारण लोग केवल कुम्भ समझकर देखते हैं वह वास्तव में ज्ञान का कोष है। विद्या का भण्डार है। प्राचीन भारत में कुम्भ सरस्वती, विद्या की देवी, का प्रतीक था।[१]

प्राचीन काल के लोगों के धर्म तथा उनकी धार्मिक पद्धतियाँ उतनी जंगली तथा विवेक शून्य न थीं, जितना पश्चिमी विद्वान् समझते हैं। उनका ऐसा विश्वास है कि जादू-टोने के द्वारा प्रकृति को, वर्षा, धूप, बिजली आदि के प्रत्येक प्राकृतिक उपद्रव को अपने वश में करने के लिए कुछ पद्धतियाँ लोगों ने बनायीं और यही पद्धतियाँ क्रमशः विकसित तथा उन्नत होती हुई धार्मिक पद्धतियाँ बन गयीं। "स्पष्ट है कि हमारे इस युग के प्रारम्भिक कुछ सौ वर्षों तक तत्कालीन साहित्य में धर्म और दर्शन का जो कुछ रूप था, उसके भीतर प्रारम्भिक जादू-टोना आदि की क्रियाओं की एक व्यापक भीतरी धारा बह रही थी।"[२] प्राचीन धर्म और उसकी पद्धतियों के विषय में ऐसा ही विचार या इसी प्रकार का विचार मैलिनोस्की तथा फ्रेज़र जैसे विद्वानों का भी है।[३] ऐसी भावना की लपेट में हिन्दू धर्म भी आ गया है। उसकी अनेक पद्धतियाँ तथा क्रियाएँ जादू-टोना तथा प्रकृति पर अधिकार प्राप्त करने के प्रयत्न मात्र ऐसे विद्वानों के लिए रह जायेंगे।

जो बात समझ में न आये, उसे जादू या अद्भुत कह देना साधारण सी बात है। बच्चों को बिना दाँत का मुंह और बिना किसी कारण के झुकी हुई कमर भी अद्भुत मालूम होती

१. Jitendra Nath Bannerjee—"The Development of Hindu Iconography"—Pub.-Calcutta University, 1941-page 213. Icon-ikon—from Greek Fikon—A figure representing a deity or saint in painting etc.—मूर्त्ति, प्रतिमा।

२. Sir William Cecil Dampier—"A History of Sciences and its Relations with Philosophy and Religion"—Pub.-Cambridge University—1948-4th Edition. page 63.

३. देखिए—J. B. Frazer—"The Golden Bough"—3rd, part V—"Spirits of the Corn and Wild—" Vol. II-page 167. अपने ग्रन्थ "Foundations of Faith and Moral," Oxford, 1936—में Malinoski ने भी यही प्रतिपादित किया है।

है। करोड़ों ऐसे देहाती भाई मिलेंगे, जिनको हवाई जहाज अद्भुत प्रतीत होते हैं। इसीलिए वैज्ञानिकों को यदि दो हजार वर्ष का प्लॉटिनस या ईसाई धर्म-प्रचारक आगस्टीन की दैवी चमत्कार के विरोध में कही गयी बातें सही मालूम पड़ें, हिप्पॉलिटस का पुराने जादू-मंत्र का, ज्योतिष-शास्त्र का प्रचण्ड विरोध अधिक तर्कसंगत प्रतीत हो तो इसमें ज्योतिष शास्त्र का दोष नहीं है। उसे न समझने वाली बुद्धि का दोष है। प्राफिरी तथा इयाम्ब्लिकस ने तथा उनके दो सौ वर्ष बाद जेरोमी और टूर्स निवासी ग्रेजरी ने दैवत्व तथा ज्योतिष शास्त्र दोनों का घोर समर्थन किया था। पश्चिमी विद्वान् इन समर्थकों की निन्दा करने से नहीं चूके।[१]

प्रतीक को समझने के लिए धार्मिक संस्कार की आवश्यकता होती है। ऐसी बुद्धि होनी चाहिए, जो पिछले विचार के ऊपर उठकर चीजों को समझे। जिन प्राचीन प्रतीकों को हम जादू-टोना आदि का प्रतीक समझते हैं, जादू-टोना आदि समझते हैं, उनका कितना व्यापक अर्थ है, महत्त्व है, यह हम आगे चलकर सिद्ध करेंगे।

१. A History of Sciences, pages 64-65.

तंत्र-प्रतीक

विदेशी लोग "पिता के भय से उत्पन्न परम पिता की भावना" का तो वर्णन करते हैं और भय से भगवान् की उत्पत्ति मानते हैं, पर माता की ममता से उत्पन्न, मातृत्व की कल्पना से उत्पन्न, जगदम्बा की भावना वे क्यों नहीं स्वीकार करते ? बच्चा पिता से अधिक माता को, पिता से पहले अपनी माता को पहचानता है । इसलिए यह क्यों नहीं स्वीकार किया जाय कि परम पिता के पहले परम माता आयी ? जगदम्बा की उपासना, शक्ति की उपासना सबसे पुरानी है और त्रिकोण आदि उसी शक्ति के प्रतीक हैं । मातृत्व की उपासना, भगवती की उपासना उस समय से है, जब समूचा पश्चिम देश वीरान पड़ा हुआ था । महेंजोदारो और हड़प्पा में जो खुदाई हुई है, उससे आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व सिन्ध देश में भारतीय सभ्यता का उज्ज्वल प्रमाण मिलता है । वहाँ भी राजा की मुहर पर देवी की मूर्ति बनी हुई है ।[१] माता को, शक्ति को सृष्टि में प्रधान वस्तु मानकर उपासना करना हजारों वर्षों पूर्व हमने सीखा था । शक्ति की उपासना को साधारणतः तांत्रिक उपासना कहते हैं । तंत्र पुराने हैं या वेद, इस विषय में विद्वानों का भिन्न मत है । आगम (तंत्र-शास्त्र) और वेद, हमारे आध्यात्मिक ज्ञान के ये ही दो आधार हैं । मनुष्यरूपी बच्चे के लिए ये माता तथा पिता के समान हैं । आगम व्यवहार-शास्त्र है, तंत्र की साधनाएँ इतनी प्रभावशाली हैं कि वे सद्यः सिद्धि प्रदान करती हैं । वेद यानी निगम सिद्धान्त हैं, आगम व्यवहार है । तंत्र द्वारा प्रकृति और पुरुष, शक्ति और शिव का योग होकर संसार और परमार्थ दोनों ही बनते हैं । योग-क्रियाओं में सबसे बड़ा योग राजयोग है, जिसमें अष्ट सिद्धियाँ हैं । भोग और योग को एक साथ मिलाकर चलने वाला आगम है, तंत्र-शास्त्र है । आर्ष ग्रन्थ "तंत्रराजतंत्र" ने इस विषय का बड़ा सुन्दर निरूपण किया है ।

"तंत्रराजतंत्र" की टीका करते हुए सर जॉन उडरफ़ ने लिखा है कि मनुष्य में अद्भुत परमाणुक शक्ति छिपी हुई है । उसे जाग्रत कर, उसको उसकी वास्तविक शक्ति

१. R. E. M. Wheeler—"Five Thousand Years of Pakistan"—Pub. Christopher Johnson Ltd., London, 1950—page 28.

का परिचय कराने के लिए रहस्यमय क्रियाओं के द्वारा वह उस महान् मंत्र को समझ लेता है, जिसे लोग बड़ी कठिनाई से समझ पाते हैं। वह मंत्र है "सहम्"—वह (शक्ति) मैं हूँ। इसे समझने के बाद वेदान्त का महान् मंत्र "सोऽहम्"—वह (शिव) मैं हूँ"—यह भी ज्ञान हो जाता है।[१] यदि मूर्ख विद्वान् इस सहम् तथा सोऽहम् को जादू का मंत्र समझें तो क्या चारा है। ये मंत्र उस ज्ञान के प्रतीक हैं, जिसकी थाह लगाना असम्भव है।

इसी पराशक्ति का, माता का, जगदम्बा का बोध रहस्यमय ढंग से बिन्दुरूप में कराया गया है। सृष्टि के आरम्भ में संसार में कुछ नहीं था, शून्य था। शून्य भी बिन्दु-रूप है, बिन्दु इस शून्य का प्रतीक है। महा अंधकार में शब्द का प्रादुर्भाव हुआ। शब्द का, नाद का प्रतीक बिन्दु है। सर्वप्रथम और सदैव और प्रलयपर्यन्त हृदय में तथा सृष्टि में ॐ का नाद होता रहता है। ॐ का प्रतीक बिन्दु है। एक बूंद वीर्य से ही मनुष्य का, प्रत्येक प्राणी का निर्माण हुआ है। केवल एक बूंद वीर्य में ही रूप, स्वभाव, संस्कार, आकृति, वंश, कुल, परम्परा—सभी कुछ तो है। यह बिन्दु ⊙ ही उस पराशक्ति का प्रतीक है। महानिर्वाणतंत्र में लिखा है—

या काली ब्रह्मणा प्रोक्ता महामायार्यकाक्षका।
विश्वामात्रार्थको नादो बिन्दुर्दुःखापहारकः ।
तेनैव कालिकां देवीम् पूजयेत् दुःखशान्तये ।।[२]

अतएव तंत्र में बिन्दु को सर्वानन्दमय कहा है। तंत्र में यंत्रों (प्रतीकों) का सिरमौर श्री यंत्र है। उसमें केन्द्र में बिन्दु विराजमान है। यह बिन्दु ही ललिता है। परम मंगलकारी भगवती है—"आद्या नित्या ललिता"। तंत्रशास्त्र में रहस्यभरी उपासना भिन्न-भिन्न प्रतीकों के द्वारा होती है। यह प्रतीक ही यंत्र है। सर जान उडरफ़ के अनुसार तंत्र में ९६० प्रकार के यंत्र हैं,[३] यानी प्रतीक हैं। हम इस विषय में आगे चलकर एक पूरा अध्याय देंगे।

साधक अपने कार्य की सिद्धि के लिए भिन्न प्रतीक द्वारा भिन्न उद्देश्य से उपासना करता था। तंत्रराजतंत्र में तीसरे अध्याय में भगमालिनी की उपासना है। उनका रक्त वर्ण है, परम सुन्दरी हैं। मुस्कराता चेहरा है। तीन नेत्र हैं। कमल पर बैठी हैं।

१. Sir John Woodroffe—"Tantraraj-Tantra—A Short Analysis"—Pub.-Ganesh & Co., Madras, 1954—page XVIII.

२. महानिर्वाणतंत्र—बीजविधान। सम्पादक जगमोहन तर्कालंकार, पृष्ठ ३२१।

३. Tantraraj Tantra—A Short Analysis—page 97.

उनका उपासक "वनिताजनमोहिनी" की कृपा से अपनी पत्नी तथा प्रेयसी को तथा संसार को वश में कर लेता है।[१]

पर ये ऐसी सिद्धियाँ है जिनके दुरुपयोग से बड़ा अनर्थ भी हो सकता है। बच्चे के हाथ में नंगी तलवार नहीं दी जा सकती। इसलिए बड़ी सावधानी बरतने की जरूरत है। इसीलिए बड़े रहस्यमय ढंग से मंत्र बनाये गये हैं। पद्धतियाँ बतलायी गयी हैं। "गोपनीयम्, गोपनीयम्"—गुप्त रखो, गुप्त रखो—की पुकार बार-बार लगायी जाती है। यहाँ तक कह दिया गया है कि—

"अन्तः शाक्ता बहिः शैवाः सभामध्ये तु वैष्णवाः।"

भीतर से शाक्त शक्ति के उपासक रहे, बाहर से शैव मालूम पड़े, पर चार आदमियों के बीच वैष्णव प्रतीत होना चाहिए। उपासना के इस क्रम को गुप्त रखने के लिए तंत्रराज-तंत्र में व्याकुलिताक्षर (श्री० ७९ से ९० तक) दिये गये हैं जिनको बिना ठीक से हिसाब समझे निरर्थक समझा जा सकता है और पश्चिमी लोग जादू-टोना समझेंगे। उदाहरण के लिए देखिए—

वं वु ते स ष्वे रे तु वा बे त् त्ता कं र्व्वा पि प
र स

अब इसी को पढ़ने के लिए आठवें अक्षर को पहला अक्षर कर दीजिये, चौथे अक्षर को दूसरा, छठे अक्षर को तीसरा, इस प्रकार नीचे लिखी संख्या से गिनकर अक्षर बिठाइये:—

८ ४ ६ २ ७ ३ ५ १

तब पहली पंक्ति बनेगी—

वासरेषु तु तेष्वेवं सर्व्वापत्तारकं पिबेत्।[२]

तंत्रशास्त्र आसानी से समझ में नहीं आता। उसकी पद्धति गुप्त क्यों रखी गयी, इसका विवेचन हम यहाँ नहीं करना चाहते। तांत्रिक प्रतीकों की व्याख्या भी कुछ अधिक विस्तार के साथ अगले अध्याय में की जायगी। यहाँ पर तो हम प्रतीक की परिभाषा में तांत्रिक प्रतीक का थोड़ा जिक्र कर देना चाहते थे। यह अवश्य ध्यान रहे कि मनो-

१. वही, पृष्ठ ३६—श्री० ३१।
२. वही, पृष्ठ ३७।

विज्ञान के गम्भीर पण्डितों ने ही तांत्रिक साधनाएँ निर्धारित की हैं ।[१] वे हंसी खेल नहीं हैं ।

माता की उपासना से ही पिता की उपासना की ओर अनेक महान् धर्मों की गति के अनगिनत प्रमाण भरे पड़े हैं । मुसलिम तथा ईसाई धर्म में भी, जहाँ पिता परमेश्वर ही प्रधान है, माता की मर्यादा कम नहीं है । सभी प्राचीन धर्म शिव और शक्ति की किसी-न-किसी रूप में पूजा करते थे ही । सभी सभ्यताओं के इस समन्वय पर लेखक ऊली ने लिखा है कि ऊर की खुदाई में प्राप्त सामग्री हो या इब्रानी (हिब्रू) लिपि हो, मिस्र में प्राप्त प्राचीन सामग्री हो या बैबीलोनिया में प्राप्त सामान हों, किसी से भी ऐसी कोई बात नहीं मिलती जिससे हमारे धर्मग्रन्थ बाइबिल के कथनों का खण्डन होता हो ।[२] सभी देश-काल में माता सर्वोपरि रही है, इसीलिए माता का प्रतीक चारों ओर मिलेगा ।

१. वही, पृष्ठ ११ ।
२. C. L. Wolley—"The Excavations at Ur and Hebrew Record"—page 52.

माता का प्रतीक

माँ का महत्त्व, शक्ति का महत्त्व स्त्री जाति का महत्त्व है। संसार में जो कुछ सत्य, शिव तथा सुन्दर है, वह स्त्री जाति के कारण है। एक ईसाई पादरी ने लिखा है कि महिलाओं का समुदाय अपनी साधु आत्मा से संसार को पवित्र कर रहा है। गुण तथा धर्म का, पवित्रता तथा स्नेह का प्रतिबिम्ब स्त्री है। चाहे किसान की सन्तान हो या राजा की, हर एक के बच्चे को इनके द्वारा उदारता तथा पवित्रता की शिक्षा मिलती है। बन्दियों का सुधार इनके द्वारा होता है। रोगियों को शान्ति इनके द्वारा मिलती है। जीवन के तूफ़ानों से टकराते हुए प्राणियों को ये शान्ति प्रदान करती हैं। आहत तथा पतित को इन्हीं से सान्त्वना मिलती है।[1]

माँ कहिए, माता कहिए, महिला कहिए या अंग्रेजी में मदर कहिए, हमारे जीवन में सबसे प्यारा शब्द माता, सबसे प्यारा अक्षर म है। बच्चा पैदा होते ही, किसी भी देश तथा सभ्यता का रहनेवाला हो, म अक्षर का उच्चारण करता है। मिस्र के प्राचीन लोगों का विश्वास था कि सृष्टि के आरम्भ में केवल तरंगें थीं—तरंग का आकार

इस प्रकार हुआ। आकाश और जल की तरंगों से पृथ्वी बनी। तरंगों का रूप

था। नवजात शिशु के मुख से पहला अक्षर म निकला। तरंगों का आकार ही बदलकर M म बन गया। मिस्री भाषा में पहला अक्षर M है तथा दूसरा अक्षर W वही तरंगों

१. "Edmund Ignatius Rice and Christian Brothers—By a Christian Brother. Pub. M. H. Gill & Sons, Dublin, 1926—page 9.

का उलटा स्वरूप है । 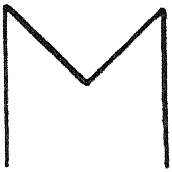 से अंग्रेजी शब्द Mother माता

बना । 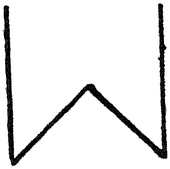 से अंग्रेजी शब्द Wife पत्नी बना । माता और

पत्नी ही संसार में प्रधान रस हैं । जीवन में प्राण के समान हैं । अनेक विद्वानों का मत है कि आरम्भ में सभ्य संसार में दो भाषाएँ ही प्रचलित थीं—संस्कृत तथा सुमिरियन, हिब्रू यानी इब्रानी भाषा भी सुमिरियन से बनी है । इब्रानी में भी M म अक्षर है । रूसी भाषा के अक्षर अंग्रेजी अक्षरों को उलट देने से बहुत-कुछ बन जाते हैं, जैसे p को q । अस्तु, माता सृष्टि के आदिकाल की तरंगों का प्रतीक है । म अक्षर उन तरंगों का द्योतक है ।

एक जाति, एक धर्म

प्रत्येक देश की, सभ्यता की, समाज की उपज मनुष्य के रूप, रंग, स्वभाव में भेद हो सकता है, पर जीवन की मौलिक कामनाएँ एक समान हैं। माँ की ममता और पिता का भय, स्त्री का प्रेम और सन्तान की इच्छा—यह सबमें है। मानव जाति की शाखाएँ भिन्न हो सकती हैं। पर ये शाखाएँ वृक्ष की शाखाओं के समान नहीं हैं जो कभी नहीं मिलतीं। एक शाखा दूसरी से जुदा रहती है। जिस प्रकार बादलों के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, फिर मिलते हैं, फिर अलग होते रहते हैं, उसी प्रकार मानव जातियाँ भी हैं। यदि डॉ० कुक और प्रो० गायकी[1] का यह कथन सत्य है कि पृथ्वी पर से बर्फ के पिघलने और प्राणियों का जीवन प्रारम्भ हुए ८०,००० वर्ष हो गये, या प्रो० औसबोर्न के अनुसार ६०,००० वर्ष हो गये—तो इतने हजार वर्षों में भी मनुष्य के अन्तरतम भावों में कोई अन्तर नहीं आया है। यदि आन्तरिक भाव समान हैं तो हर एक का प्रतीक भी समान अर्थ वाला होगा। केवल उसको समझने की चेष्टा करनी चाहिए। आज हम भारतीय विश्वास की खिल्ली उड़ाते हैं कि सतयुग १७,२८,००० वर्ष तक था, त्रेतायुग १२,६६,००० वर्ष तक, द्वापर ८,६४,००० वर्ष और ४,३२,००० वर्ष का कलियुग ईसा से ३१०२ वर्ष पूर्व, १८ फरवरी, शुक्रवार को शुरू हुआ है तो कौन जाने कल हमको इस पर भी विश्वास हो जाय। पहले तो हमारे वेदों को भी प्राचीन रचना नहीं माना जाता था। अब जोन्स उसे ईसा से १२०० वर्ष पूर्व, हैंग २४०० वर्ष पूर्व तथा लोकमान्य तिलक ने ४००० वर्ष पूर्व सिद्ध कर दिया है। ६००० वर्ष पुराना ही सही, वेद संसार का सबसे प्राचीन ग्रंथ तो मान लिया गया, तब यह भी मान लेना चाहिए कि हमारी आर्य सभ्यता ही संसार की सबसे पुरानी सभ्यता है तथा संसार में चारों ओर यह फैली हुई थी। संसार में एक जाति थी—आर्य जाति। एक सभ्यता थी—आर्य सभ्यता।

आर्य लोगों की एक खास पहचान थी—उभड़ी हुई, लम्बी नाक। एच० जी० वेल्स

१. Prof. Geikie

ने लिखा है कि भूरे लोगों की नाक भी ऐसी ही थी । सर आर्थर कीथ ने उनको आर्य जाति का ही कहा है । मिस्र, बैबीलोन, मेसोपोटामिया—सभी देशों के प्राचीन निवासी भूरे रंग के आर्य थे । मेसोपोटामिया के निकट सुमेर लोगों का निवासस्थान था । इनकी सभ्यता बड़ी पुरानी मानी जाती है । ऊली ने इनके विषय में एक बड़ी पुस्तक ही लिखी है । उनका कहना है कि सुमेर लोगों के नरेशों की कथाएँ दन्तकथाएँ नहीं हैं । वास्तव में वे नरेश हुए थे और उनका इतिहास है ।[१] तब, हमारे पुराणों तथा वाल्मीकि-रामायण में वर्णित सुमेरगिरि और सुमेरियन लोगों को एक ही क्यों न माना जाय ? पुराने यूनानी इतिहासकारों ने भी लिखा है कि भारतवर्ष के बाहर दो भारतीय राष्ट्रीय रहते हैं यानी भारतीय जाति के लोग रहते हैं । हेरोडेटस ने भी यही लिखा है । अन्तरीप आर्बु के ऊपर हिंगहाज का मंदिर शुद्ध भारतीय मन्दिर है । मिस्र की नील नदी का "काली", "कृष्णा" नदी के नाम से वर्णन भी पुराणों में मिलता है । सुमेरगिरि की सभ्यता तो एकदम भारतीय थी । ईसा से २००० वर्ष पूर्व खम्मूराबी ने सुमेर नरेश क्रौच को परास्त कर बन्दी बनाया और उनकी सभ्यता नष्ट-भ्रष्ट कर दी । अन्यथा आज भारत से लेकर अरब तक एक सभ्यता, एक समाज रहता । सुमेर नरेश बारती इतिहास-प्रसिद्ध हैं । यह बारती (भारती) शब्द भारत से ही बना है । उनके एक नरेश का नाम उखुर या लेकुक्ष दिया हुआ है । यह और कुछ नहीं इक्ष्वाकु थे जिनका सुमेरगिरि पर भी राज्य था । ईसा से ३१०० वर्ष पूर्व उनके एक नरेश का नाम जिन-भुजेन था । महाभारत-काल में हमारे जनमेजय (परीक्षित के पुत्र) यही थे ।

ऐतिहासिक अनुसन्धान के अनुसार सुमेरगिरि या सुमेर लोगों की सभ्यता की जो जानकारी होती है, उससे हमारी सभ्यता का ही पता चलता है । वहाँ के निवासी पुनर्जन्म में विश्वास करते थे । मरने के बाद बायें करवट लिटाकर मुर्दा दफ़नाते थे । लड़के-लड़कियों की शादी घर का बड़ा-बूढ़ा तय करता था । वंध्या स्त्री को तलाक दे सकते थे । एक पुरुष कई विवाह कर सकता था । पर भरण-पोषण की कानूनी जिम्मेदारी केवल पहली पत्नी की ही थी । दूसरी स्त्री भी जायज़ थी, पर उसका ओहदा पहली पत्नी के बाद का ही होता था । विवाह में पत्नी अपने पिता के घर से जो कुछ ले आती थी, वह स्त्री-धन होता था । उस पर पति का अधिकार नहीं होता था, इत्यादि।

उन्हीं के इतिहास से पता चलता है कि ईसा से २००० वर्ष पूर्व असीरिया देश की महारानी सामाराापिय ने नौसेना द्वारा, समुद्री मार्ग से भारत पर हमला किया । हिन्दुस्तान

१. C. L. Wolley—"Sumerians"—page 30

के हाथियों की सेना को डराने के लिए वे नौका पर लकड़ी के बड़े-बड़े हाथी भी ले आयी थीं। पर स्तब्रोवतीस ने इस सेना को परास्त कर दिया। यह स्तब्रोवतीस और कोई नहीं, वीरसेन स्थवरपति ही थे।[१]

इन बातों का एक ही अर्थ निकलता है—वह यह कि इन सब जगहों में एक ही सभ्यता, एक ही विचार-धारा व्याप्त थी। इसलिए हमारे प्रतीक भी एक ही समान थे। मिस्र में भी प्रसन्नता, कल्याण तथा पवित्रता का प्रतीक कमल था। वह राजचिह्न बन गया। भारत में भी कमल इन्हीं बातों का प्रतीक रहा है। इसलिए तंत्र पुराना है या वेद, इस तर्क में न पड़कर यह मानना पड़ेगा कि चूंकि वेद सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है और आगम व्यवहार तथा पद्धति का, अतएव तांत्रिक प्रतीक संसार में सबसे पुराने प्रतीक हैं और ससार के हर कोने में, विशेषकर जहाँ आर्य सभ्यता थी, विपुल मात्रा में पाये जाते हैं। पर इनको समझने के लिए बड़े गहरे अध्ययन की आवश्यकता है।

१. प्राचीन सभ्यताओं के साथ भारत के सम्बन्ध का अध्ययन करने के लिए दो पुस्तकें अवश्य पढ़नी चाहिये—(क) T. S. Forbal—"The Travels and Settlements of Early Man", (ख) Peak and Fleura—"Priest and King"—Clarendon Press, London—1927.

बिन्दु

हमने 'बिन्दु' प्रतीक का ऊपर ज़िक्र किया है । इस बिन्दु की व्याख्या करने के लिए पृथक् पुस्तक ही लिखनी पड़ेगी । तब, बिन्दु के प्रतीक को लोग, विशेषकर पाश्चात्य लोग कैसे समझ सकेंगे ? ऋग्वेद का सबसे प्रथम मंत्र 'अग्निमीले पुरोहितम्' से अकार—अ—लिया गया । यजुर्वेद के सर्वप्रथम मंत्र 'इषेत्वो जेत्वा' से इकार—इ—लिया गया ।

सामवेद के सर्वप्रथम मंत्र 'अग्ने आपाहिवीतये' से अ लेकर इ मिलाकर ऐ बना । यही बिन्दुरहित वाग्भव बीज ऐं हुआ । यही वाग्भव बीज श्री विद्या के मंत्रों में सर्वश्रेष्ठ, कादि विद्या के प्रथम कूट 'पञ्चाक्षरी कूट' का मूल मंत्र बना । अब 'ऐं' कितना महान् प्रतीक है, यह बात सरल बुद्धि के लिए नहीं है ।

बहुत-से लोग 'ऐं' के प्रतीक की खिल्ली उड़ाते हैं । किसी बात को न समझना और बात है और उसका मज़ाक उड़ाना और बात है । देहातों में पैर पर पैर रखकर सोना या बैठना दुर्भाग्य का प्रतीक मानते हैं । हम इसे कोरा अंधविश्वास समझते हैं । सामुद्रिक शास्त्र में पैर-से-पैर रगड़ना मना है । सामुद्रिक के अनुसार लक्ष्मी का वास पैर में है । वहाँ से सम्पदा आयी । इसलिए पैर पर पैर रखना अशुभ है । दारिद्र्य का लक्षण है । एक बात और है, विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि सर से शक्ति रूपी विद्युत् आती और जाती है । हाथ से आती है, पैर से जाती है । किसी का पैर छूकर हम उस व्यक्ति की शक्ति अपने हाथों से समेट लेते हैं । इसीलिए बहुत-से लोग अपना पैर छूने नहीं देते । जिन्हें इतनी बातें नहीं मालूम हैं वे पैर से पैर रगड़ने को दरिद्रता का प्रतीक कैसे समझेंगे ?

चीन में प्रतीक

आर्य सभ्यता की मातृत्व तथा पितृत्व की कल्पना, शिव तथा शक्ति, पुरुष तथा प्रकृति की भावना ने सभी प्राचीन सभ्य देशों को प्रभावित किया था। चीन में भी यही भाव फैल गया था। प्राचीन चीनी धर्म तथा कर्त्तव्य-शास्त्र पुरुष तथा प्रकृति के महान् संयोग का द्योतक है। परम पुरुष को चीनी धर्म में यांग कहते थे तथा प्रकृति को यिन। चीनी आचार-शास्त्र के यही देवता आधार हैं। चीन का प्राचीन धर्मग्रन्थ यि वास्तव में देववाणी समझा जाता है। यह समूचा ग्रन्थ भाषा में न होकर प्रतीकों में है। चीन के महान् नैतिक विधान के आधार यही प्रतीक हैं। इस धर्मग्रंथ में ६४ षट्कोण तथा ३८४ मात्रो यानी वे पंक्तियाँ हैं जिनसे षट्कोण बनते हैं। हर सामाजिक आचार का भिन्न प्रतीक है। सिजु[१] के कथनानुसार ऋषियों ने इन प्रतीकों की अपने अनुभव से रचना की है।[२] चीनी धर्म प्रतीक-शास्त्र के विद्यार्थी के लिए बड़े महत्त्व का है। चीनी प्रतीक केवल धर्म के ही बोधक नहीं हैं, आचार-शास्त्र के भी बोधक हैं।

१. Hsi Tzu.
२. Dr. Fung-Yu-Lan—"The Spirit of Chinese Philosophy"—page 89 and "A Short History of Chinese Philosophy"—pages 80-97.

प्राचीन रोम तथा मिस्र के प्रतीक

माँ की पूजा, पुरुष तथा प्रकृति की पूजा, शिव-शक्ति की पूजा प्राचीन आर्य धर्म की सबसे बड़ी देन है और यह पूजा संसार में चारों ओर फैल गयी। रोमन लोग 'परम शक्तिशाली माता'—सिवेली की पूजा करते थे। यह सिवेली भारतीय शिवा या शिवाली का अपभ्रंश है। मातृ-पूजा के साथ जो रहस्यमय उपासना होती है उसे पश्चिमी या पूर्वी ग़ैर-जानकार लोग 'कामवासना' से मिला देते हैं। इसीलिए मैलिनोस्की ऐसे विद्वानों ने योनिपूजा को, मातृत्व की पूजा को, कामवासना समझा है। कीफ़र ने स्वीकार किया है कि रोम की सिवेली देवी जिसको 'मैग्नामेटर' 'शक्तिशाली माँ' कहते थे, अरब के देश की तरफ़ से रोम में आयीं, यानी प्राचीन एशियाई सभ्यता की देन हैं। पर कीफ़र इनकी भी उपासना को 'वासना की उपासना' मानते हैं।[1] देवी की उपासना के साथ, बाद में चलकर कुछ ऐसे आडम्बर लग गये तथा अर्थ का ऐसा अनर्थ हो गया कि ऐसी क्रियाएँ भी उपासना का अंग बन गयीं जो भ्रष्ट भी कही जा सकती हैं। पर हर एक देश में मूर्त्ति-पूजा का यह दोष पाया जाता है। भक्ति अंध-विश्वास का रूप ग्रहण कर लेती है। पर मौलिक सत्य छिपा नहीं रहता है। मिस्र देश में महादेवी 'आइसिस' की पूजा होती थी। यह पूजा भी पूर्वीय देशों से आयी।[2] मिस्र में शक्ति की उपासना के लिए आइसिस देवी थीं। आइसिस शब्द भी 'अस्मिता' तथा 'शिव' का अपभ्रंश है। शिव के रूप में, आइसिस के पति ओसिरिस—सिरापिस—'ॐशिव'—'सर्पयुक्त' देवता थे। इन देवी-देवताओं का और उनकी उपासना की पद्धति का दायोदोरस ने अपने इतिहास में अच्छा वर्णन किया है। इन प्राचीन उपासनाओं की समाप्ति ईसा से २४० वर्ष पूर्व, बर्बर जातियों के आक्रमण के कारण हुई। सिसली के लोगों ने ईसा से ३०० वर्ष पूर्व कार्थेज की महान् सभ्यता तथा शक्ति को नष्ट किया था। पर, उनकी सभ्यता का प्रभाव सिसली में रह गया था। पर ईसा से २४० वर्ष पूर्व दास-युद्ध

१. Otto Kiefer—Sexual life in Ancient Rome—Standard Literature Co., Calcutta, 1951, page 123.

२. वही पृष्ठ, १२८।

में सिसली का नाश हो गया और ये दास लोग चारों तरफ़ फैलकर उस सभ्यता को नष्ट-भ्रष्ट करने लगे।[१] दायोदोरस ने ही लिखा है कि आइसिस देवी का आदेश था—

"मैंने ही सर्वप्रथम मनुष्यों को इतना साहस दिया कि वे समुद्रों की यात्रा करके उसे पार कर सकें। मैंने उन्हें शक्ति दी कि वे अपने जीवन-यापन का विधान बनाकर अपना शासन करें। मैंने पुरुषों को स्त्रियाँ दीं ताकि सृष्टि हो सके।"[२]

इस कथन की व्याख्या करते हुए कीफ़र लिखते हैं[३] कि "कानून बनाने या देने का सिद्धान्त माता के सिद्धान्त से सम्बन्धित है, वही माता जो संतान देती है और कठिन यात्राओं में रक्षा करती है। जो माता पुरुष तथा स्त्री को एक साथ मिलाकर दस महीने में संतान देती है, उसी को नियम बनाने का अधिकार है···हम यहाँ देखते हैं कि माता ही उच्चतम न्याय का प्रतीक है···माता शान्ति, मेल, स्नेह तथा धन-धान्य की अभिव्यक्ति है।" यही माता आइसिस की पूजा इटली के नीचे के हिस्से से होते हुए रोम में पहुँची। वहाँ पर इनको बृहस्पति की पत्नी के रूप में स्थापित किया गया। वे कृषि तथा सम्मृद्धि की देवी हो गयीं। उनका स्थान 'अन्नपूर्णा' देवी का था।

आइसिस की पूजा में रोम में प्रति वर्ष बड़ा उत्सव मनाया जाता था। उनके सम्मान में एक जुलूस निकलता था। इस जुलूस में तरह-तरह के प्रतीक निकाले जाते थे। न्याय का प्रतीक होता था एक बायाँ बेढंगा हाथ जिसकी उँगलियाँ फैली रहती थीं। इसका मतलब यह था कि न्याय आदतन धीमी गति से चलता है। वह न तो मक्कार होता है और न तिकड़मी। दायें हाथ से अधिक वह न्याय के निकट है।[४] अन्नपूर्णा देवी यानी माता आइसिस की प्रतिमा के स्थान पर गाय होती थी। गाय ही 'भोजन तथा अन्न' देनेवाली देवी का प्रतीक थी। गाय को भगवती का प्रतीक मानना एक बहुत ऊँचा विचार है। आइसिस के पति देवता की मूर्त्ति चमकते हुए स्वर्ण का एक ऐसा स्तम्भ होता था जो बीच में से खोखला रहता था। उसकी शक्ल किसी जानवर, पक्षी या मनुष्य से नहीं मिलती थी। अजीब शक्ल थी। उसके हाथ में एक टेढ़ी छड़ी होती थी जिसमें सर्प लिपटे रहते थे। इतने वर्णन से यह स्पष्ट है कि यह मूर्त्ति रुद्र की थी। शिव-लिंग से मिलती-जुलती थी, सर्प (कुण्डलिनों के स्वामी) शंकर का प्राचीन शृंगार है। जुलूस

१. Diodorus—"Historia"—i, 27.
२. वही, पृष्ठ ३४।
३. कीफर, पृष्ठ ८९।
४. कीफर, पृष्ठ १३०।

का इतना वर्णन करने पर कीफर लिखते हैं कि इससे तो कामवासनामय पूजा का कोई प्रमाण नहीं मिलता।[१]

माँ की रोमन-यूनानी उपासना का ज़िक्र प्लूटार्क[२] ने भी किया है। वे लिखते हैं कि रोमनों की एक देवी हैं जिन्हें वे "अच्छी मा" कहते हैं। यूनानी उन्हें स्त्रियों की देवी कहते हैं। फाइरिजियन कहते हैं कि यह उनके नरेश मिदास की माता हैं। देवी-उपासना में कुछ कामुकता आ गयी हो, पर देवी की उपासना कामुक लोगों की उपासना थी, यह बात ओटो कीफर भी नहीं मानते। वे साफ लिखते हैं कि "कुछ अति हो सकती है, पर उपासना का क्रम कामुक रहा होगा, यह मैं नहीं मानता।"[३]

यह पुस्तक तंत्र-उपासना पर नहीं है। केवल तांत्रिक प्रतीकों का परिचय कराने के सम्बन्ध में हमने उस पर किंचित् विचार किया है। इस विषय में अंग्रेजी में दो अज्ञानी लेखकों की पुस्तक पढ़ने से विचारशील पाठक यह समझ सकेंगे कि विषय को न समझने से भी कितनी भयंकर भूलें हो सकतीं हैं।[४] हांस लिख्त ऐसे अज्ञानी लेखकों ने यहूदी-ईसाई धर्म के इस विश्वास की कि मानव-शरीर तपस्या के लिए है, काफ़ी खिल्ली उड़ायी है। वे उनके इस विश्वास को समझ भी नहीं सके हैं कि मरने पर स्वर्ग में वासना-रहित परियों के साथ निवास करने को मिलेगा।[५] यूनान के महान् देवता ज्यूस और उनकी पत्नी हेरा तथा देवी अफ्रोदतीज़ की वासना की वैसी ही भ्रष्ट कथाएँ लिख्त ने दी हैं, जैसी हम शिव-पार्वती की विलासिता के बारे में भी पढ़ लेते हैं। ज्यूस को पुरुष-मैथुन-प्रेमी तक सिद्ध किया गया है। उनकी उपासना की क्रियाओं का वैसा ही रूप बतलाया गया है।

१. वही, पृष्ठ १३१।
२. Plutarch Caeser—9.
३. कीफर, पृष्ठ १३३।
४. देखिये James—"The Varieties of Religious Experiences" (1902) तथा Starluch—"The Psychology of Religion" (1899)
५. Hans Licht—"Sexual life in Ancient Greece—Standard Literature Co., Ltd., Calcutta—1952,.page 180.

भारतीय तंत्र-शास्त्र तथा संकेत-विद्या

प्रतीक तथा संकेत-शास्त्र के विद्यार्थी को भारतीय तंत्र-शास्त्र तथा प्रतीक और संकेत का सम्बन्ध किसी रूप में समझ ही लेना चाहिए। भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का पर्यालोचन करनेवाले जिज्ञासु पुरुष का ज्ञान तब तक अधूरा ही रह जायगा, जब तक वह भारतीय तंत्र या आगम-शास्त्र का परिचय न प्राप्त कर ले। सर जान उडरफ़ ने तो यहाँ तक लिख डाला था कि—

"वह व्यक्ति हिन्दुत्व को तब तक यथार्थतः नहीं जानता, जब तक तंत्र-शास्त्र को नहीं जानता।"

तंत्र क्या है? भारतीय ज्ञान की धारा दो रूपों में प्रवाहित हुई है। एक प्रकट तथा दूसरी गुप्त। पहले को हम वेद तथा दूसरे को तंत्र या आगम कहते हैं। वस्तुतः ये दोनों मूलतः भिन्न नहीं हैं। कश्मीरी आचार्यों ने "भैरवागम" को वेद का बीज तथा फल दोनों कहा है।[1] कुछ आचार्यों ने परम्परा से आनेवाला शास्त्र यानी "आगम" के ही भेदों में वेद को स्थान दिया है। स्थान-स्थान पर वेद और आगम दोनों परस्पर के पर्याय या पूरक रूप में प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार वेद प्राचीन गुरु-परम्परा-प्रणाली के कारण यानी गुरुओं द्वारा शिष्यों को सिखाये जाने के कारण सुरक्षित रहे, याद रहे, प्रचलित रहे, उसी प्रकार आगम भी परम्परा के कड़े पहरे में फैलते रहे, फूलते रहे, सुरक्षित रहे। इस प्रकार आगम के दिव्य ज्ञान की धरोहर गुरु तथा शिष्य की शृंखला में चलती आयी, चली आ रही है। **त्रिपुरारहस्य** में वेद और आगम के पर्याय रूप का बड़े अच्छे शब्दों में विवेचन है।[2] आगम की विद्या की गुरुता उसके रहस्यमय रूप के कारण और अधिक हो गयी। उसके लिखित रूप से कहीं अधिक महान् "कान से कान द्वारा सुना हुआ" रहस्य रूप है। केवल अधिकारी पुरुष को ही, जिसे गुरु ने योग्य तथा पात्र

१. यन्मूलं वेदवृक्षस्य सम्पूर्णानन्तशाखिनः।
फलं तस्यैव यं प्राहुस्तं वन्दे भैरवागमम्॥

२. वेदो ह्यागमभागः स्यात् शब्दराशिस्तथागमः।
कर्णात्कर्णोपदेशेन सम्प्राप्तमवनीतलम्॥

समझा हो, गोप्यता का, रहस्य का पता चल सकता है। अति गोप्यता के कारण ही तंत्र-शास्त्र की परम्परा प्रायः लुप्त हो चली है। एक दृष्टि से इस "रहस्य" तथा "गुप्तता" से लाभ भी हुआ है। जो लोग ठीक से अधिकारी नहीं होते, वे मद्य-मांस के सेवन को ही तंत्र-शास्त्र समझ लेते हैं। वे शरीर के भीतर की कुण्डलिनी के स्थान पर बाहरी मैथुन में प्राण दे देते हैं।

तंत्र-शास्त्र की प्रामाणिकता

हमारे देश के आचार्यों ने तंत्र-शास्त्र की प्रामाणिकता दो भिन्न धाराओं द्वारा सिद्ध की है। कुछ विद्वान् तो तंत्रों को स्वतः प्रमाण मानते हैं, विशेषकर कश्मीरी शैवाचार्य। आचार्य अभिनवपाद गुप्त कहते हैं कि "आगम महेश्वर का स्व-प्रकाश ज्ञान ही है।"[१] इसलिए तंत्र की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए और प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

दक्षिण के श्रीकंठ शिवाचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र के श्रीकंठभाष्य में लिखा है कि शिवागम तथा वेद दोनों में कोई अन्तर नहीं है। वेद को भी शिवागम कहा जा सकता है। ऐसी श्रुतियाँ भी हैं जो वेद तथा तंत्र दोनों का एक ही कर्त्ता "शिव" को सिद्ध करती हैं। "ईशानः सर्वविद्यानाम्।" इसलिए शिवागम के ही दो विभाग किये जा सकते हैं। एक त्रैवर्णिकों के लिए यानी ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के लिए तथा दूसरा सब लोगों के लिए है।

इस सम्बन्ध में वेदानुयायी मीमांसक पंडितों की भी अपनी राय है। इनमें राघव भट्ट तथा प्रसिद्ध विद्वान् श्री भास्करराव दीक्षित आदि प्रमुख हैं। इनका कहना है कि तंत्रों की प्रामाणिकता वेद से ही है। जैसे मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्र वेद के कर्मकाण्ड का अंग हैं। वेद का प्रायोगिक रूप, क्रियात्मक रूप, तंत्रों के आकार में परिणत हुआ है। वेदान्त को कार्यरूप में परिणत करने की क्षमता तांत्रिक उपासना में ही है।[२]

१. "आगमस्तु अनवच्छिन्न प्रकाशात्मक माहेश्वर-विमर्श-परमार्थः॥"

२. वेदे च पूर्वकाण्डस्य शेषभूततया आश्वलायनादिकल्पसूत्राणां
मन्वादिस्मृतीनाञ्च प्रवृत्तिवत् उपनिषत्-काण्डशेषत्वेन परशुरामादि-
कल्पसूत्राणां यामलादितन्त्राणाञ्च प्रवृत्तिः।

—सेतुबन्ध टीका—भास्कर राव।

तंत्रों की शाखाएँ

तंत्रों के अनेक भेद तथा उपभेद हैं। इनकी अनेक शाखाएँ तथा उपशाखाएँ हैं, जिनमें से आज कुछ ही उपलब्ध हो रही हैं। प्राचीन भारत में प्रत्येक हिन्दू के घर में किसी-न-किसी रूप में तांत्रिक उपासना होती थी। उस उपासना का रूप देश तथा काल के अनुसार बराबर बदलता गया। पुरानी पद्धतियों से जिस प्रकार पूजा-पाठ होता था, वह तो समाप्त हो गया है। उनका रूपान्तर रह गया है। इसी को आज हम लोग "कुलधर्म", "कुलाचार", "कुलदेवता" या "कुल की रीति" आदि नामों से पुकारते हैं।

बहुत घरों में, विशेषकर महाराष्ट्र में, मकान के सामने "चौक" पूरने का रिवाज है। शुभ अवसरों पर कौड़ी के उपयोग का रिवाज है। नरक चतुर्दशी को यम-दीपक यानी यमराज को मार्ग बतलानेवाला दीपक दरवाजे के बाहर रखने का रिवाज है। स्त्रियों की गोद में, उनके अंचल में, नारियल रखने का रिवाज है। ऐसे अनगिनत रिवाज हैं। पर क्या इनका कोई आधार नहीं है? क्या इनका कोई रूप नहीं है? क्या इनका कोई अर्थ नहीं है? यह आसानी से साबित किया जा सकता है कि यह सब तांत्रिक क्रियाओं का रूपान्तर है और विशिष्ट कार्यों का प्रतीक मात्र है। हम इस विषय पर आगे लिखेंगे।

आगम या तंत्र का नाम सुनकर साधारणत: लोगों को अघोरियों या कापालिकों की रीति का ही बोध होता है। पर यह नितान्त भ्रम है। तंत्र-शास्त्र का क्षेत्र वहीं तक सीमित नहीं है। यह सत्य है कि कापालिक तथा अघोरी, दोनों का तंत्र से घना सम्बन्ध है, दोनों उसी के अंग हैं। यह भी सत्य है कि पंच मकार यानी मद्य, मांस आदि से की जानेवाली उपासना भी तंत्र का अंग है। पर तंत्रों का क्षेत्र अत्यन्त विशाल है। देवता की उपासना, यंत्र की रचना, काल-चक्र-विज्ञान, योग की क्रियाएँ, ये सभी विषय तंत्र में पाये जाते हैं। तंत्रों के अनेक भेद हैं, जैसे—

यामल, डामर, संहिता, रहस्य, तंत्र, अर्णव, आगम आदि।

तंत्र का अर्थ तथा लक्ष्य

"तंत्र" शब्द का अर्थ करने में भी लोग बड़ी भूल करते हैं। "तन्" धातु का अर्थ "विस्तार" है। जिसमें विस्तार के साथ अनेक विषयों का संग्रह है, वही तंत्र है। "आगम" के लक्षण से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है—

> सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां तथाऽर्चनम्।
> साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च ।।
> षट्कर्म साधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः।
> सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तं विदुर्बुधाः ।।

तंत्र-शास्त्र के अनुसार प्राणियों की भिन्न रुचि को देखकर भगवान् शंकर ने भिन्न तंत्रों की रचना की या सृष्टि की।[1] "सौन्दर्यलहरी" में आदि शंकराचार्य जी ने लिखा है कि "विभिन्न प्राणियों की अभिरुचि के अनुसार फल देने के लिए ६४ तंत्रों को बनाया, जिससे वे अपने अभीष्ट कार्य कर सकें। आपके ही आग्रह से सारे पुरुषार्थों को देनेवाले 'स्वतंत्र तंत्र'—शक्ति-उपासना को इस पृथ्वी पर श्री शिव ने उतारा है।"

इस जीवन में पूर्णत्व की प्राप्ति, पराहंता की उपलब्धि या स्वयं महेश्वर हो जाना ही तांत्रिक उपासना का चरम लक्ष्य है। छोटे-मोटे प्रयोग या षट्कर्म तंत्रों में बहुत मिलते हैं, पर उच्च कोटि के उपासक उनको महत्त्व नहीं देते। क्षुद्र सिद्धियाँ असली लक्ष्य तक पहुँचने में बाधक होती हैं। जो उपासक ब्रह्म-विद्या को प्राप्त करना चाहता है, वह कभी छोटी-मोटी सिद्धियों के पचड़े में नहीं पड़ता। शंकराचार्य ने ब्रह्म-विद्या की महत्ता सिद्ध करते हुए लिखा है—"वर्णाश्रम के बंधनों से रहित यदि सच्चा ब्रह्म-विद्या-उपासक

१. चतुःषष्ट्या तंत्रैः सकलमभिसंध्याय भुवनं,
स्थितस्तत्तत्सिद्धिः प्रसवपरतंत्रः पशुपतिः।
पुनस्त्वन्निर्बंधादखिलपुरुषार्थैक: घटनात्,
स्वतंत्रं ते तंत्रं क्षितितलमवातीतरमिदम् ॥
—सौन्दर्यलहरी—श्री शंकराचार्य।

हो तो वही आचार्य हो सकता है। देवगुरु बृहस्पति के ज्येष्ठ भ्राता महर्षि सेवर्त ऐसे ही कोटि के पुरुष थे। उनको मरुत्त नामक राजा ने अपने यज्ञ में अध्वर्यु बनाया था।"[१] इस उक्ति में तांत्रिक उपासना का संकेत स्पष्ट है।

ऐसे आगम, ऐसे तंत्र की परम्परा निश्चयत: बहुत सुरक्षित तथा शृंखलाबद्ध थी। इस शास्त्र में विषय का विवेचन संकेतों के द्वारा होता था। संकेत प्रतीक का रूप धारण कर लेते थे। जो वास्तव में उपासक होता था, अधिकारी होता था, वही उन संकेतों से लाभ उठा सकता था। वही प्रतीक को समझ सकता था। इस महान् शास्त्र में एक बात और थी। उसमें कुछ विषय ऐसे भी थे, जो प्रतीक के द्वारा ही स्पष्ट हो सकते थे। अपनी यह बात समझाने में हमको प्रतीक की परिभाषा स्पष्ट करने का भी अवसर मिलेगा। प्रतीक की स्वत: कोई सत्ता नहीं है। वह तो किसी सत्ता की छाया है। संक्षिप्त आकार ही है। इसलिए प्रतीक तथा उसका आधार साथ ही साथ चलते हैं।

१. ब्रह्मसूत्र—शांकर भाष्य।

शक्ति की परिभाषा

हम तंत्र-उपासना में "प्रतीक" से परिचय प्राप्त करना चाहते हैं । पर तंत्र-उपासना का मौलिक अर्थ क्या है ?––शक्ति की उपासना करना । यों तो उपासना मात्र ही शक्ति की उपासना है, चाहे वह जिस रूप में हो, अन्तर इतना ही है कि कहीं पर प्रत्यक्ष रूप से शक्ति या आत्म-शक्ति की उपासना है तो कहीं अन्य देवता की या शक्ति के प्रतीक की उपासना होती है ।

प्रश्न हो सकता है कि शक्ति क्या है ? सबसे सरल तथा बोधगम्य व्याख्या यह हो सकती है कि परम शिव का सृष्टि के प्रति उन्मुख होना, ऊर्ध्वमुख होना, उत्सुक होना–– इसी का नाम शक्ति है ।

"शक्तिः परमशिवस्य जगत्सिसृक्षा ।"[1]

परम शिव तरंगरहित सर्वव्यापक समुद्र के समान हैं । उनमें कहीं से चलनेवाली हवा की तरह एक चेतना उत्पन्न हुई, जिससे क्षण मात्र में ही अनन्त कल्लोल दिखाई पड़ने लगा । यही अनन्त कल्लोल है वह शक्ति-संघट्ट जो सर्वथा अनन्त है । शक्ति का अर्थ "शक्यते जेतुमनया" भी है । हलायुधकोश में शक्ति का अर्थ "प्राण" भी है ।

आगम-शास्त्र तीन शक्तियों का निर्देश करते हैं । इनमें सबसे महत्त्व की इच्छा-शक्ति है, जिसके द्वारा ज्ञान तथा क्रिया, दोनों की प्रगति होती है ।[2] समूचा विश्व शक्ति से ही उत्पन्न है, शक्तिरूप ही है । शिव में से "इ" निकाल देने से, शक्ति निकाल देने से, परम कल्याणकर शिव "शव" अकल्याणकर मुर्दा बन जाता है, इसलिए संसार में जो कुछ भी है, शक्ति है । उसी की उपासना के लिए "प्रतीकं" का बड़ा महत्त्व है । संकेतों या प्रतीकों के द्वारा जटिलतम, गूढ़तम उपासना-विधियों को सरल बना दिया गया है, ताकि

१. परशुराम-कल्पसूत्र ।

२. अनादिनिधनात् शान्तात् शिवात् परमकारणात् ।
इच्छाशक्तिर्विनिष्क्रान्ता ततो ज्ञानं ततः क्रिया ॥
(कुलमूलावतारतंत्र)

बिना अधिक कठिनाई या परिश्रम में पड़े, पूजा का काम हो सके। इसीलिए भगवान् शंकर ने इन संकेतों तथा प्रतीकों की स्तुति की है, उनसे प्रार्थना की है--

यः कुण्ड-मण्डल-कमण्डलु-मंत्र-मुद्रा-
ध्यानार्चनस्तुतिजपाद्युपदेशयुक्त्या
भोगापवर्गदमनुग्रहमानतानां
व्यानञ्ज रञ्जयतु स त्रिजगद्गुरुर्वः ।।[१]

प्रतीक अथवा संकेत के रूप भी भिन्न होंगे ही, क्योंकि उनका कार्य-क्षेत्र बड़ा व्यापक है। मोटे तौर पर, उपासना के काम में आनेवाले प्रतीकों की पाँच श्रेणियाँ हुईं—

१. वर्ण-प्रतीक
२. अंक-प्रतीक
३. चक्र-प्रतीक
४. मुद्रा-प्रतीक
५. पूजा-प्रतीक

१. स्तुतिकुसुमांजलि—जगद्धर भट्ट।

वर्ण-प्रतीक

वर्ण पुंलिंग शब्द है। 'व्रियते इति वर्णः' वर्ण का अर्थ है अक्षर—जिसका कभी नाश न हो। कहते हैं कि प्रारम्भ में केवल शब्द था। शब्द ब्रह्म के माननेवाले इस विषय का बड़े रोचक ढंग से प्रतिपादन करते हैं। इसलिए वर्ण अनादि तथा अनन्त हैं—अनन्त ध्वनियाँ हैं। आगम या तंत्रों में वर्णों का विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सारी सृष्टि मातृकामय है। मातृका का अर्थ है उत्पादन करनेवाली शक्ति, सारी सृष्टि, चौदहों भुवन और वाङ्मय —ये सब मातृका की ही प्रसूति हैं।[१] वेद का भी यही कथन है कि "भूः" कहते ही प्रजापति ने भूमि की उत्पत्ति की—

"स भूरिति भुवमसृजत"

शिव-सूत्र में मंत्र की व्याख्या है—"चित्तं मंत्रः" यानी जिसके मनन से त्राण मिले, वह है मंत्र। वर्ण ही मंत्र है या वर्ण के द्वारा ही मंत्र बनते हैं। मंत्र बनाये नहीं जाते। हमारे शास्त्र के अनुसार मंत्र "देखे" जाते हैं। ऋषियों ने मंत्र को देखा—इसलिए उन्हें मंत्र-द्रष्टा कहते हैं। वही तपस्वी ऋषि कहलाता है जो मंत्र को देखता है—"ऋषयो मंत्रद्रष्टारः"। हर एक साधु को ऋषि नहीं कहते। आजकल हम बिना समझे-बूझे जिसे चाहते हैं, ऋषि या महर्षि कह देते हैं। यह इस शब्द का तथा जिसके लिए प्रयुक्त हो, उसका अपमान है।

किन्तु, मंत्र या वर्णमयी सृष्टि का विचार करते हुए उसकी उत्पत्ति तथा विकास के क्रम को भी जान लेना चाहिए, समझ लेना चाहिए। आचार्य अभिनवपाद गुप्त ने तत्त्वों की उत्पत्ति बतलाते हुए मातृका वर्णों को एक-एक **प्रतीक** कहा है। वे कहते हैं कि परमेश्वर की तीन शक्तियाँ मुख्य हैं—१. अनुत्तर (अ), २. इच्छा (इ) तथा ३. उन्मेष (उ)। ये तीन वर्ण ही परमेश्वर के सूचक हैं, प्रतीक हैं। अनुत्तर की विश्रान्ति आनन्द

१. तयोत्पन्नानि भूतानि भुवनानि चतुर्दश।
वाङ्मयं चैव यत्किञ्चित्तत्सर्वं मातृकोद्भवम्॥

(आ) में हुई। इच्छा की ईशन (ई) में तथा उन्मेष की ऊर्मि (ऊ) में विश्रान्ति हुई। यहीं से **क्रिया-शक्ति** का प्रारम्भ होता है।

इसमें पूर्व भाग—अ, इ, उ प्रकाशात्मक होने से सूर्य-भाग है। उत्तर भाग—यानी पिछला हिस्सा यानी—आ, ई, ऊ—विश्रान्ति रूप होने से आनन्ददायक है, अतएव वह सोमात्मक है। इसीलिए "अग्निष्टोम" सृष्टि का मूल तत्त्व है। अभिनवपाद गुप्त ने इसी प्रकार आगे के वर्णों का क्रमशः विकास समझाते हुए उनका प्रतीकात्मक रूप समझाया है। यह बड़े अच्छे तथा गम्भीर ढंग से सोचने की बात है। प्रतीक का विज्ञान प्राचीन भारत में इतनी चरम सीमा पर पहुँच गया था कि प्रत्येक वर्ण से समूची सृष्टि के महत्त्वपूर्ण अंगों का बोध होता था। 'आ ई ऊ' परमात्मा की आनन्द-शक्ति का बोध कराते थे। इसी प्रकार और भी महत्त्व की चीजें हम आगे चलकर बतलायेंगे।

मंत्र के अवयव

मंत्रों के सूचक अक्षरों के लिए कतिपय मंत्र-कोष या बीज-कोष मिलते हैं, जिनके द्वारा साक्षात् या परम्परा से मंत्र सूचित किये जाते हैं। उदाहरण के लिए——

कामः	—	क
योनिः	—	ए
इन्द्रः	—	ल
अग्निः	—	र
क्रोधीशः	—	क्ष

क "काम" का प्रतीक हुआ। र "अग्नि" का। अब प्रतीक के इस गूढ़ रहस्य को कौन समझ सकेगा ? यहाँ पर शंका की जा सकती है कि 'र' से अग्नि का बोध होना या र को अग्नि का प्रतीक मान लेना, यह यदि कल्पना नहीं तो भावना मात्र है। किन्तु यह कोई तर्क नहीं है। यह सृष्टि, यह संसार, यह दृश्य जगत्, यह सब भी तो एक विशाल कल्पना है या भावना है। पति-पत्नी या पिता-पुत्र का सम्बन्ध भावना से ऊपर उठकर और कुछ है क्या ? भावना के आगे जो कुछ भी है वह अंधकार है या मिथ्या है। यह संसार एक स्वप्न है। एक भावना है। पर भावना महान् नहीं है, भाविक[1] महान् है। भाविक से ही भावना की सृष्टि होती है। यदि प्रत्येक अक्षर, यदि प्रत्येक वर्ण एक प्रतीक है तो यह भी सही है कि प्रत्येक अक्षर का अर्थ भी है। दोनों एक-दूसरे के साथ घुले-मिले हैं, यानी अक्षर और अर्थ,[2] वाणी और अर्थ,[3] वाक् तथा अर्थ[4]। अर्थ शम्भू

१. दृष्ट्वा स्वप्ने प्रियं यत्र मदनानल-तापिता।
करोति विविधान् भावान् तद्वै भाविकमुच्यते॥
(भरतनाट्यशास्त्र—२०, १५२)

२. रुद्रोऽर्थोऽक्षरस्सोमः। —अक्षर सोमदेव हैं। रुद्र अर्थ हैं—उपनिषद्-वाक्य।

३. अर्थः शम्भुः शिवा वाणी—पुराण-वाक्य।

४. वागार्थाविव संपृक्तौ—कालिदास।

भगवान् हैं। वाणी माता पार्वती हैं। भोज महाकवि ने शब्द-अर्थ को एक तत्त्व माना है। वैष्णव कवि पराशर भट्ट ने 'शब्दार्थ' को सगा भाई लिखा है। अर्थ किसे कहते हैं—जो मतलब हम निकाल लें। जो जिस शब्द का अर्थ नहीं जानता, वह अर्थ का अनर्थ करता है। ऐसे व्यक्ति के लिए गलत अर्थ ही सब कुछ होता है। फिर भी वह उसे ठीक समझता है, क्योंकि उसकी भावना वहीं तक है—"करणं च भावना। भावना भाव्यः।" स्वच्छ शब्दार्थ-दर्पण[1] में हममें से कितने अपना मुंह देखते हैं? यदि अनुकूल शब्दों का प्रयोग हो तो शब्दों से उत्पन्न होनेवाले संकेत तथा प्रतीक भी स्पष्ट हो जाते हैं। इसी अनुकूलता—शब्दों के ठीक चुनाव—से ही कविता जीवन में प्राण-सञ्चार कर देती है।

शब्दानुकूलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते।
—भामहालंकार ३—५४

इसलिए मंत्रों के ऊपर आजकल जो शंका की जाती है वह बुद्धि का फेर है। मंत्र-शास्त्र तो इतना महान् है कि मातृकान्यास में जिन-जिन अवयवों में जिन अक्षरों का न्यास हो, उनका नाम लेकर उस वर्ण को सूचित कर दिया जाता है। जैसे—

वाम नेत्र	—	ई	
वाम कर्ण	—	ऊ	
पेट	—	प	
पीठ	—	ब	
सिर	—	अं	इत्यादि

क्या इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि अक्षरों से प्रतीक का कितना बड़ा काम लिया गया है? एक और मार्के की बात है। व्याकरण की विभक्तियों के द्वारा सूचित करना—वर्ण प्रतीक का उपयोग करना। जैसे—"ङेन्तं नाम समुच्चरेत्"—'ङ्' से चतुर्थी विभक्ति सूचित होती है। इस प्रकार "महादेवङेन्तं' का अर्थ हुआ "महादेवाय"। कहीं-कहीं एक-दूसरे के पर्यायभूत संकेत मिलते हैं। जैसे—'द्विमन्तं मंत्रमुच्चरेत्"। इसका अर्थ होता है—ठःठः। यानी दो बार ठः ठः मंत्र पढ़े। परन्तु इसका संकेत 'स्वाहा' शब्द

१. स्वच्छे शब्दार्थदर्पणे। —इन्द्रराज।

के लिए है। कहीं पर "स्वाहा" का अर्थ होगा "ठः ठः"; अतएव कब स्वाहा समझें तथा तथा कब ठः ठः, इस बात का निर्णय अपने उपासना-सम्प्रदाय तथा गुरु की कृपा पर निर्भर करेगा। मंत्रों के विषय में यही बड़ी भारी कठिनाई है। उनकी दुर्ज्ञेयता के कारण ही मंत्र-शास्त्र का लोप हो रहा है। किन्तु मंत्रों के संकेत को, उनके द्वारा प्राप्त प्रतीक को संकेत से ही सूचित करने का प्रमाण ऋग्वेद से भी प्राप्त होता है——

> **कामो योनिः कमला वज्रपाणि-**
> **र्गुहा हसा मातरिश्वा अमिन्द्रः।**
> **पुनर्गुहा सकला मायया च**
> **पुरुच्येषा विश्वमातादिविद्या॥**

——ऋग्दवे।

उपरिलिखित सूत्र के द्वारा भिन्न-भिन्न नामों से मंत्र के अवयव बतलाकर "विश्व-माता" आदि विद्या को सूचित किया गया है। मंत्रों तथा वर्णों के सम्बन्ध में हमारे आचार्यों का ज्ञान चरम सीमा तक पहुँच गया था।

नाद-ब्रह्म की साकार प्रतिमा, शब्द-ब्रह्म के वास्तविक प्रतीक वर्ण-शास्त्र की पूरी व्याख्या करने का यहां पर स्थान नहीं है। किन्तु यह स्पष्ट है कि जिन वर्णों के या उनके 'सूक्ष्मतम तत्त्व को हम न तो कह सकते हैं और न उनका अनुभव ही कर सकते हैं, ऐसे वर्णों के विषय में भी प्रतीकों के द्वारा स्पष्टीकरण किया गया है। उदाहरण के लिए एक 'बीज' में होनेवाली अवस्था 'ओम्' को देखिए। कहाँ से कहाँ उसका रूप, उसका प्रतीक पहुँचा है। पर हम यदि इस विषय में और गहरे पैठें तो उसके दायरे के बाहर निकलना कठिन हो जायगा। ओम् की व्याख्या श्री भास्करराव ने बहुत अच्छे ढंग से की है।

> **हृल्लेखायाः स्वरूपं तु व्योमाग्निर्वामलोचना।**
> **विंद्वर्धचन्द्ररोधिन्यो नादनादान्तशक्तयः।**
> **व्यापिका समनोन्मन्य इति द्वादश संहतिः।**
> **विंद्वादीनां नवानां तु समष्टिर्नाद उच्यते॥**

——वखिस्यारहस्य, भास्करराव।

ओम् को समष्टिनाद का प्रतीक माना है। किन्तु साधारण व्यक्ति कैसे इस प्रतीक को समझ सकता है ? वर्णों का स्वरूप नाद में ही पर्यवसित होता है। अतः नाद सबकी समष्टि है। इस नाद-सूत्र में भी बीज पुरोया हुआ है—

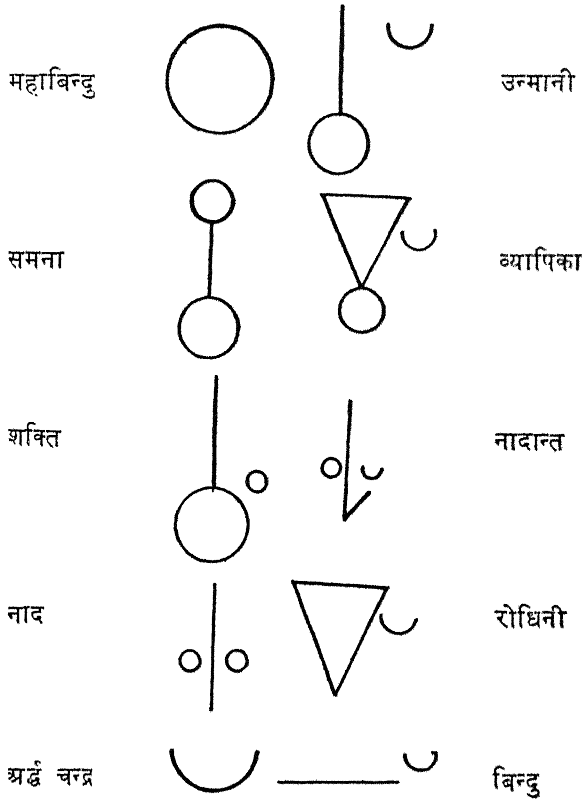

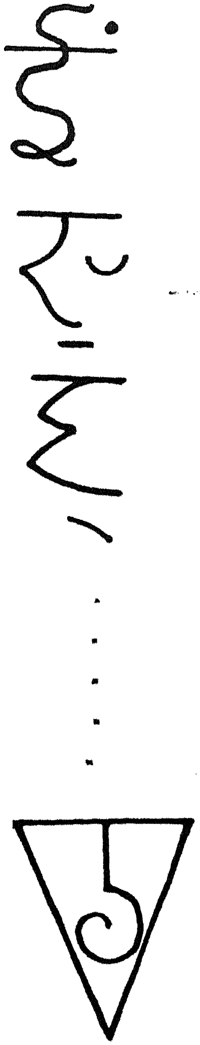

बीज के इन सूक्ष्मतम अवयवों को समझना तथा अनुभवगम्य बनाना योगियों का काम है। बड़े उत्कट विद्वान् साधकों, उपासकों का काम है। तंत्रशास्त्रों में इनमें से प्रत्येक का स्वरूप, उच्चारण का सूक्ष्मतम काल, परस्पर सम्बन्ध, अधिष्ठातृ देवता आदि का पूरा विवेचन है।[१] "उन्मना" का उच्चारण-काल एक मात्रा, यानी एक लघु अक्षर के उच्चारण-काल का पांच सौ बारहवाँ हिस्सा है। इस प्रकार वर्णविज्ञान गणित के आधार पर व्यवस्थित है।[२]

१. योगिनीहृदयदीपिका—अमृतानन्दनाथ तथा स्वच्छन्द तंत्र आदि।
२. वही।

कामकला

सृष्टि के मूलभूत तत्त्व को समझाने के लिए मंत्र-विज्ञान में "कामकला" का बड़ा महत्त्व है। इसका प्रतीक है—"ई कार"। इसमें भी मूलतः तीन बिन्दुओं की योजना है। इसे आकार में लिखने पर यह स्वरूप होगा—

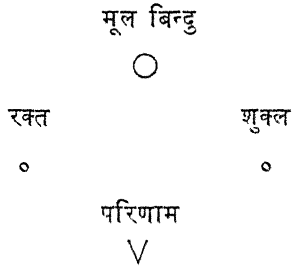

सृष्टि का मूल स्वरूप कामकला को माना गया है। इसका प्रतीक है "ई" वर्ण। वर्णों का आरम्भ और अंत "अ-ह" से होता है। अर्थात् "अहं" या पराहंता में ही वर्ण-राशि का पर्यवसान है। सारे विश्व में मातृका शक्ति अपने अस्तित्व को घोषित कर रही है।[१] कामकला-विज्ञान बड़ा गूढ़ है और भिन्न शास्त्रों से सम्बन्ध रखता है। मूलतः आगम के सिद्धान्त को लेकर विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में इसको प्रतीक के रूप में लिया गया है। उदाहरण के लिए ईसाइयों का "क्रॉस" या "क्रॉस" के रूप में आकार बनाना सम्भवतः

कामकला का ही रूप है। 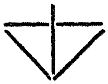

प्रायः शक्ति देवता के बीजों में "ई" कार प्रधान है। अतः सर्वसाधारण शक्ति-तत्त्व का यह प्रतीक है। आगमों में इसे कहीं-कहीं "शुद्ध विद्या" भी कहा है। "कामकला" को प्रायः शक्ति का सम्पूर्ण प्रतीक माना गया है। तीन बिन्दु तथा नीचे का भाग, जिसे हार्ध-कला भी कहते हैं, ये सब अंश मिलाकर परा शक्ति का अवयवात्मक शरीर भी बनता

१. "विश्वं व्याप्य चिदात्मनाऽहमित्युज्जृम्भसे मातृके" —शक्तिमहिम्नस्तोत्र—दुर्वासा।

है ।[१] ऊपर हमने तीन बिन्दु दिये हैं । ये तीन बिन्दु ⸪ तंत्र-शास्त्र के सार तत्त्व हैं । इन तीन बिन्दुओं से ही श्री देवी के शरीर के अवयवों की कल्पना की जाती है । भिन्न धार्मिक साम्प्रदायिक भावनाएं भी इन्हीं के आधार पर की जाती हैं । श्री भास्कर-राव दीक्षित ने लिखा है—

उध्र्व कामाख्यो बिन्दुरेकः,
तदधोऽग्नीषोमात्मको बिन्दुर्द्वितीयरूपोऽन्यः
तदधो हकारार्धरूपः कलाख्यस्तृतीयः ।
तदिह प्रत्याहारन्यायेन कामकलेत्युच्यते । शरीरेऽपि
त्रय एवाऽवयवाः शीर्षादिघटिकान्तः, कण्ठादिस्त नान्तो,
हृदयादिसीवन्यन्तश्चः. . .ततश्च यथाक्रम मक्षरावयवान्
देव्यवयवत्वेन परिणातान् विभाव्य देव्यक्षरयोरभेदं विचिन्तयेत्ः।

(सेतुबंध टीका)

कामकला को शक्ति का सम्पूर्ण प्रतीक माना गया है । शक्ति देवता के बीजों में "ई"कार प्रधान है । हम यहाँ पर "कामकला" का पूरा विवेचन नहीं कर सकेंगे ।[२] हमने तो केवल एकमात्र अक्षर "ई" का महत्त्व सिद्ध कर दिया है । तंत्र-शास्त्र में कहीं-कहीं एक ही अक्षर अनेक प्रकार की क्रियाओं, अर्थों, भावनाओं आदि का प्रतीक होता है या संकेतसूचक होता है ।

कश्मीर के शाक्तों की परम्परा में "परा-त्रीशिका" नामक ग्रन्थ है, जिसमें सिर्फ एक अक्षर-बीज की व्याप्ति तथा गम्भीर अर्थों को प्रकट करने के लिए अभिनव गुप्त पादाचार्य ने बड़ी विस्तृत टीका लिखी है । पर एक अक्षर या बीज को साधारण वस्तु नहीं समझ लेना चाहिए । शब्द-मातृका आगम-शास्त्र की कामधेनु है । वस्तुतः वाङमय मात्र की कुन्जी यही है । "अ"कार से लेकर "क्ष"कार तक उच्चारण की जानेवाली मातृका ही सप्तकोटि मंत्रों का रूप ग्रहण करती है ।

१. बिन्दुं संकल्प्य वक्त्रं तु तदधःस्थं कुचद्वयम् ।
तदधः सपरार्धं तु चिन्तयेत्तदधो मुखम् ॥
एवं कामकलारूपमक्षरं मत्समुत्थितम् ।
कामादिविपमोक्षणामालयं परमेश्वरि ।
तदेव तत्त्वप्रवरं निजदेहं विचिन्तयेत् ॥
—वामकेश्वरतंत्र

२. कामकला का विशेष विवरण जानने के लिए पुण्यानन्दनाथकृत "कामकला-विलास" को पढ़ना चाहिए ।

मातृका का महत्त्व

मातृका के लिए ही लिखा है--

सप्तकोटिमहामंत्रा महाकालीमुखोद्गताः ।।

महाकाली के मुख से ही निकले मंत्र--वर्ण--मातृका का महत्त्व तंत्र-शास्त्रों में भरा पड़ा है । वामकेश्वरतंत्र के आरम्भ में मातृका की स्तुति करते हुए उसे गणेश, ग्रह, नक्षत्र, योगिनी तथा राशि का रूप बतलाया गया है ।[1]

भिन्न देवताओं का समष्टि रूप मातृका को दिया गया है । प्रत्येक देवता का प्रतीक कुछ अक्षर हैं या यों कहिए कि "बीज " हैं । ग्रहों में सूर्य का संकेत "अं" से होगा । "क्षं" केतु का प्रतीक है । नक्षत्रों में अश्विनी नक्षत्र का प्रतीक "अं" "आं" से होगा । "इं" वर्ण से भरणी ली जायगी । "ईं उं ऊं" से कृत्तिका का बोध होगा । रेवती नक्षत्र का सूचक "कं क्षं अं अः" ये चार अक्षर हैं । इस प्रकार विभिन्न देवताओं के सूचक प्रतीक अनेक ग्रन्थों के प्रमाणों से निश्चित किये गये हैं ।

"भैपुरदर्शन" के अनुसार वर्णों के साथ तत्त्वों का सम्बन्ध इस प्रकार है:--

परावाक् का पहला विलास या उन्मेष "अ"कार है ।[2] वेदों में भी कहा है--"अकारो वै सर्वावाक्" । यही "अ"कार ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति के भेद से क्रमशः अन्तर्मुख होने पर "अं" अनुस्वार तथा बहिर्मुख होने पर "अः" विसर्ग होता है । भैपुरदर्शन के अनुसार तत्त्वों के अवतरण वर्ण नीचे लिखे प्रकार हैं--

क --	पृथ्वी	ख --	जल
ग --	तेज	घ --	वायु
ङ --	आकाश	च --	गंध
छ --	रस	ज --	रूप

१. "गणेश-ग्रह-नक्षत्र-योगिनी-राशिरूपिणीम् ।।

—वामकेश्वरतंत्र, षोढान्यास प्रकरण ।

२. वन्दे तामहमक्षय्यामकाराक्षररूपिणीम् ।

—वामकेश्वरतंत्र ।

झ —	स्पर्श	ञ —	शब्द
ट —	पायु (गुदा)	ठ —	उपस्थ (लिंग या योनि)
ड —	पाणि (हाथ)	ढ —	पाद
ण —	वाक्	त —	घ्राण
थ —	जिह्वा	द —	चक्षु
ध —	त्वक् (चमड़ा)	न —	श्रोत्र (कान)
प —	प्रकृति	फ —	अहंकार
ब —	बुद्धि	भ —	मन
म —	पुरुष	य —	कला
र —	अविद्या	ल —	शम
व —	काल	श —	शुद्ध विद्या
ष —	ईश्वर	स —	सदाशिव
ह —	शक्ति	क्ष —	शिव

विश्व के समूचे तत्त्व अक्षर मातृकाओं में वर्तमान हैं—प्रत्येक वर्ण एक महान् प्रतीक है, संकेत है और यह भी कहें तो क्या दोष है कि चिह्न है।

हमने ऊपर नक्षत्रों की प्रतीक मातृकाएँ बतलायी थीं। राशियों की सूचक मातृकाएँ भी देखिए—

१. मेष—अं आं इं ईं
२. वृषभ—उं ऊं
३. मिथुन—ऋं ॠं लृं ॡं
४. कर्क—एं ऐं
५. सिंह—ओं औं
६. कन्या—अं अः शं षं सं हं ऽ
७. तुला—कं खं गं घं ङंः
८. वृश्चिक—चं छं जं झं ञं
९. धनु—टं ठं डं ढं णं
१०. मकर—तं थं दं धं नं
११. कुम्भ—पं फं बं भं मं
१२. मीन—यं रं लं वं शं

सब में व्याप्त मातृका को मंत्र का रूप देकर उससे अपनी उपासना से सार्थक करने वाला तांत्रिक निन्दनीय नहीं, पूजनीय है। जब सब कुछ मातृका के अन्तर्गत है तो फिर देवताओं के वर्णन में भी मातृका विन्यास तो होगा ही। भगवान् शंकर के विषय में ही देखिए—

शम्भोर्दक्षिणमक्षिभूतविनते शोषे मकारं पटु
नेत्रं मध्यममुष्य लोकदहने जागर्त्ति रेफाक्षरं।
विश्वाप्यावककर्मठं पशुपते र्वामेक्षणं वाक्षरं
त्रैनेत्रं पदमाददाति जयतामेतत्त्रयं देहिनाम् ॥

—मातृकाचक्रविवेकटीका।

अर्थात्, भगवान् शंकर का दक्षिण नेत्र सूर्य है। सूर्य का स्वभाव शोषक है। अतः यह "यं" बीज है। भगवान् का मध्य नेत्र लोक-दाहक होने से "रं" बीज है। वाम नेत्र चन्द्रात्मक है, जो सारे संसार पर अमृत की वर्षा करता रहता है। अतएव वह "वं" बीज है।

अंक-प्रतीक

अंकों में भी प्रतीक होते हैं। प्रतीक-अंकों का तंत्र-शास्त्रों में बड़ा महत्त्व है। मंत्र-शास्त्र के रचयिता अंकों के द्वारा भी अपना आशय सूचित करते थे। अंक-यंत्रों का सबसे बड़ा संग्रह "शिव ताण्डव" तंत्र में है। उसमें यह दिखाया गया है—"भगवान् शिव ही स्वयं समस्त मंत्र-शास्त्रों के रचयिता हैं। वे जैसी-जैसी गतियों में नृत्य करते थे, उन गतियों के अनुसार कोष्ठकों में (शतरंज के खाने की तरह) अंक भरे गये हैं। ये अंक विभिन्न देवताओं के गुण-धर्म की संख्या, आयुध आदि के आधार पर हैं।" हम लोग प्रायः दूकानों में लिखे अंक-यंत्रों को देखते हैं। एक-एक खाने में एक-एक अंक भरा रहता है। ये अंक-यंत्र व्यापार में लाभ के लिए लिखे जाते हैं। उनका भी मूल आधार या शास्त्र शुद्ध गणित तथा प्रतीकवाद है। किन्तु अब ये अंकज्ञान तथा अंक-यंत्र आदि की परम्पराएँ टूट रही हैं—टूट गयी हैं। फिर भी, प्राचीन साहित्य इस विषय में काफ़ी जानकारी कराता है। मंत्रों की व्याख्या करते हुए भास्कराचार्य जी ने "छलाक्षरनामसूत्र" नामक किसी ग्रन्थ का उल्लेख किया है, जिसमें अक्षरों से अंक की सूचना दी गयी है।

२,३,४—इन अंकों का उपयोग द्वितारी, त्रितारी, चतुस्तारी आदि मंत्रों के लिए है, प्रतीक है। "तार" का अर्थ है प्रणव। परन्तु आगम-शास्त्र में पृथक् देवताओं के प्रणव या साधारण मंत्र भिन्न-भिन्न हैं। जैसे ह्रीं श्रीं की जगह केवल २ का उपयोग किया जाता है। इसी तरह अन्य मंत्रों में भी। पर जिसे अपनी उपासना-परम्परा तथा धर्म-सम्प्रदाय का ज्ञान होगा, वही इन अंकों को देखकर, पढ़कर, लाभ उठा सकेगा।

किसी बड़े मंत्र में कुछ बीज लिखे जाते हैं और कुछ बीजों के स्थान पर २,५,६,३,४ आदि अंक लिखे जाते हैं। इनके ठीक उच्चारण से ही मंत्र पूरा हो जाता है। जिसे मंत्र का अधिकार नहीं है, जो अज्ञानी है, वह न जान पाये, इसलिए अक्षर के स्थान पर अंक लिख देने की योजना बनायी गयी थी। उदाहरण के लिए एक जगह आता है—"नमस्ते ३ स्वाहा।" यहाँ पर तीन की संख्या को देखकर प्रायः लोगों ने यह अर्थ लगाया कि नमस्ते तीन बार पढ़ना (कहना) चाहिए। पर ऐसा समझनेवाले धोखा खा गये। संदर्भ देखने से पता चलता है कि वहाँ—"नमस्ते त्रिः स्वाहा" मंत्र है। एक हज़ार एकतीस

अक्षरों का (मालायंत्र)[१] एकतीसवाँ अक्षर है त्रिः। जब इस प्रकार समझाया जाय तभी मंत्रों का महत्त्व तथा अंकों का महत्त्व समझ में आ सकता है।

कहीं पर एक ही प्रतीक अनेक वस्तुओं का सूचक होता है--

"एवं भूशरमितभेदाढ्या विद्याराज्ञी माता त्वम्।"

--त्रिपुरा-रहस्य, महात्म्य खण्ड।

यहाँ पर भू-शर क्रमशः एक और पाँच संख्या के सूचक हैं। यदि क्रम से पढ़ें तो १५ संख्या आती है। यदि उलटकर पढ़ें तो ५१ संख्या आती है। "अंकानां वामतो गतिः" इस नियम के अनुसार उलटकर भी पढ़ा जा सकता है। अभिप्राय दोनों संख्याओं से है। १५ अक्षरों से एक महाविद्या का मंत्र, ५१ अक्षरों से मातृका और दोनों में वास्तविक अभेद, ये सब बातें इससे सूचित हुई। अंकों से प्रतीक बनते हैं, मंत्र अंक से सहायता प्राप्त करते हैं, यह बात तो सिद्ध हुई।

१. एकत्रिंशत्सहस्रानः त्रिलोकीमोहनक्षमः।
मालामंत्रो महाराज्याः सर्वसिद्धिप्रदायकः ॥
—ललितापरिशिष्ट-तंत्र

चक्र-प्रतीक

आगम-शास्त्र में अन्य वस्तुओं के साथ चक्र या यंत्र का भी बहुत ही महत्त्व है । "यम्" धातु से यंत्र शब्द बना है । इसका अर्थ होता है नियमन या परिच्छेद । सब जगह फैल जानेवाली मंत्र-शक्ति या तेज को निश्चित दायरे के भीतर बांध देना ही, प्रवाहित करा देना ही, यंत्र का प्रयोजन है । यंत्र दो प्रकार के होते हैं—अंक-यंत्र तथा रेखा-यंत्र । अंक-यंत्रों के बारे में हम पहले लिख चुके हैं । यहाँ पर रेखा-यंत्र पर कुछ प्रकाश डाला जायेगा ।

सभी देवताओं के लिए भिन्न-भिन्न मंत्र होते हैं । उसी प्रकार उनकी उपासना के लिए भिन्न-भिन्न यंत्र भी होते हैं । यंत्र तथा मंत्र दोनों ही सकाम तथा निष्काम दोनों प्रकार की उपासना करनेवाले साधकों के लिए होते हैं । यंत्र के निर्माण की विधि भी रेखागणित—ज्यामिति—के आधार पर है । यंत्र से जो प्रतीक तथा संकेत प्राप्त होते हैं, उन्हें हम नीचे स्पष्ट करेंगे ।

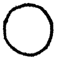

बिन्दु और ▽ त्रिकोण यंत्रनिर्माण का प्रारम्भ है । मूल-मौलिक दशा में बिन्दु ही रहता है । उसी से त्रिकोण की उत्पत्ति या उन्मेष होता है ।

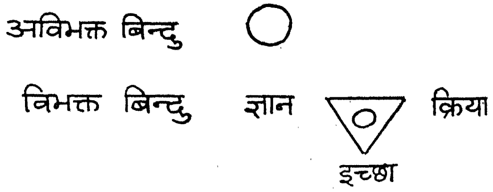

त्रिकोण मानव-जीवन की समूची पहेली का प्रतीक है, संकेत है । इसीलिए कहा गया है—

त्रिकोणरूपिणी शक्तिर्बिन्दुरूपः परः शिवः ।
अविनाभावसम्बद्धस्तस्माद् बिन्दुत्रिकोणयोः ।।

—(त्रिशती-ब्रह्माण्ड पुराण) ।

बिन्दु परम शिव का रूप है। त्रिकोण शक्ति का प्रतीक है। योनि (भग) मुद्रा भी त्रिकोणात्मक है। योनि ही सृष्टि की जननी है, माता है, सब कुछ है, शक्ति है। यंत्र के लिखने में पूर्व दिशा से प्रारम्भ करते हैं। इसी के अनुसार रेखाओं की परिभाषा भी बनती है।

ईशानी———————————आग्नेयी

प: इसे **तिर्यक्** रेखा कहते हैं।

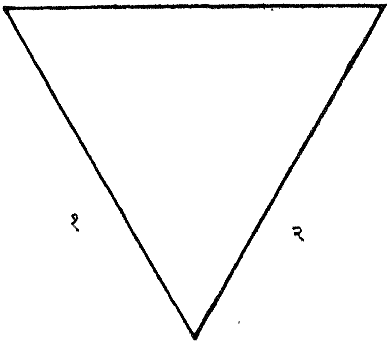

१, २ इसे **पार्श्व** रेखा कहा जाता है।

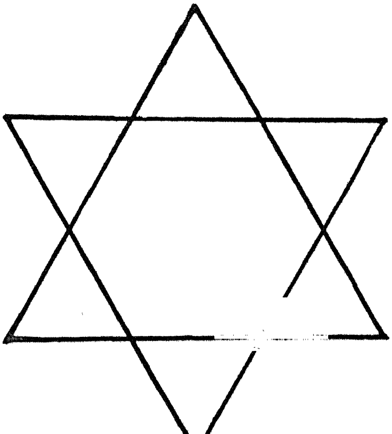

दो रेखाओं के योग को **संधि** कहते हैं।

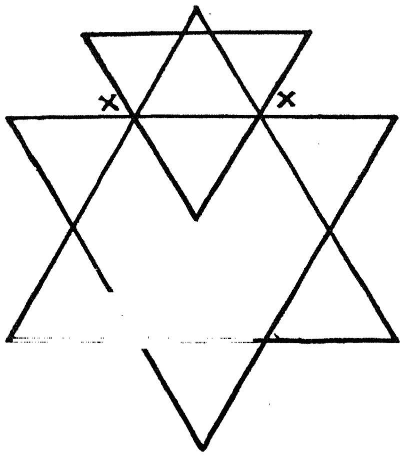

तीन रेखाओं के संयोग को **मर्म** कहते हैं।

अ—पृ० ७२ के दूसरे चित्र में ऊर्ध्वमुख (ऊपर की ओर मुख) त्रिकोण को 'शिव" या "वह्नि" कहते हैं।

ब—उसी चित्र में अधोमुख (नीचे की ओर मुख) त्रिकोण को "शक्ति" कहा जाता है।

किसी देवता का यंत्र छः कोण का, किसी का नौ कोण का, किसी का अन्य प्रकार का भी हो सकता है। प्रायः हर एक यंत्र में बीच में बिन्दु-त्रिकोण अवश्य ही रहता है। यह बीच का बिन्दु ○ इस बात का प्रतीक है कि वास्तव में, अन्ततोगत्वा शिव तथा शक्ति का एक ही रूप है। उनमें कोई भेद नहीं किया जा सकता। उसके आगे की रेखाएँ भिन्न देवी-देवता के अंग देवताओं की कमी-वेशी के अनुसार होती हैं। ये यंत्र या चक्र स्फटिक, पत्थर, सोना, ताँबा आदि पर बनाये जाते हैं।

यंत्रों के निर्माण का साधारण क्रम यह है—बिन्दु, त्रिकोण, षट्कोण (यदि विशेष भेद हो तो षट्कोण के स्थान पर और त्रिकोण भी बन सकते हैं)। अष्टदल कमल, द्वादश, षोडशदल कमल आदि भी होते हैं। यंत्र के बाहर चतुरस्र या भूपुर होता है। भूपुर कहने का मतलब यह है कि भूतल से प्रारम्भ कर एक-एक चक्र ऊपर उठा है—यह कल्पना करनी चाहिए।

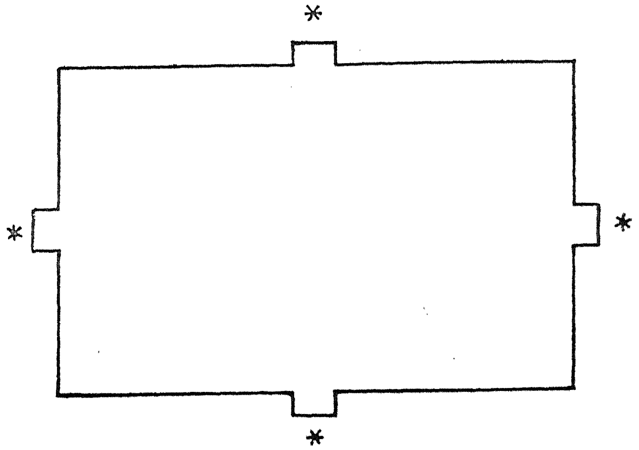

संन्यासी उपासक के लिए दूसरा चतुरस्र या भूपुर होता है। उसमें ऊपर उठे हुए हिस्से को "व्याघ्रमुख" कहते हैं :

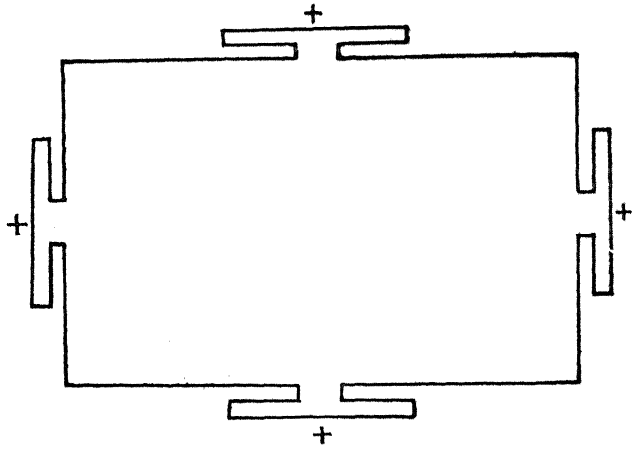

साधारण यंत्र में बिन्दु, त्रिकोण, षट्कोण, अष्टदल तथा भूपुर होता है। इनमें देवता का प्रतीक क्या-क्या है, यह यंत्र को, चक्र को, सावधानी से देखने से पता लगेगा। प्रत्येक देवता का यंत्र उसका "लोक" या अधिकार, राज्य है। देवी-देवता उसमें व्याप्त हैं। एक कोणात्मक यंत्र से लेकर असंख्य कोणात्मक यंत्र भगवान् की शक्ति के आधार

हैं। अन्ततः विश्व ही भगवान् का यंत्र है। इसी बात को अभिनवपाद गुप्त ने "तंत्रालोक" में इस प्रकार लिखा है—

एक वीरो यामलोऽथस्त्रिशक्तिश्चतुरात्मकः।
पञ्चमूर्त्तिः षडात्मायं सप्ताष्टकविभूषितः॥
नवात्मा दशदिक् शक्तिरेकादश निजात्मकः।
द्वादशारमहाचक्र-नायको भैरवः स्थितः॥
एवं यावत् सहस्रारे निःसंख्यारेऽपि वा प्रभुः।
विश्वचक्रे महेशानो विश्व-शक्तिर्विजृम्भते॥

तात्पर्य हम ऊपर दे चुके हैं। अब साधारण यंत्र देखिए—

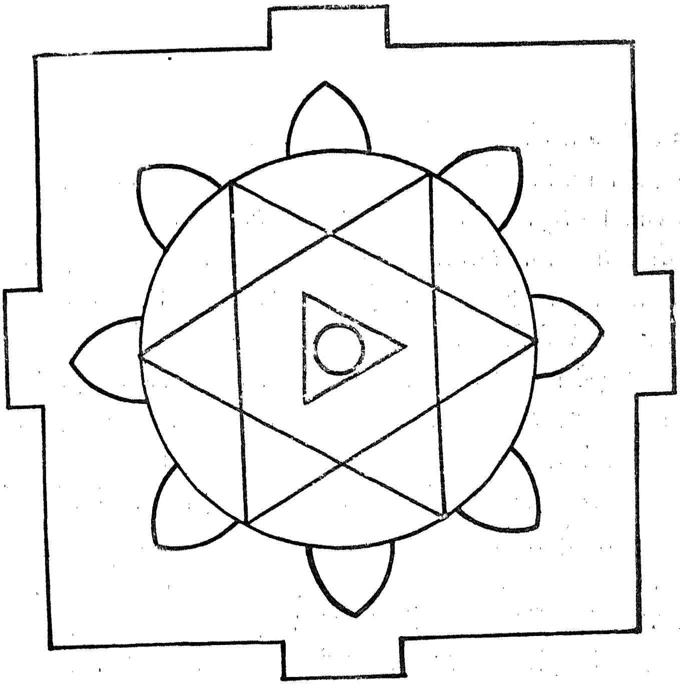

स्थान	देवता
बिन्दु-त्रिकोण	मूल देवता या उसकी शक्ति
षट्कोण	षडंग देवता
अष्टदल	ब्राह्मी आदि अष्ट मातृका
भूपुर	इन्द्रादि दस दिक्पाल

कश्मीर के शाक्तों के यंत्रों में कुछ विलक्षणता है। वहाँ प्रायः त्रिशूल या कमल के आधार पर यंत्र का निर्माण होता है। पराऽपरा, परा, अपरा—ये तीन शक्तियाँ प्रधान हैं। परा, अपरा और पराऽपरा ये क्रमशः त्रिकोण के अंग में अवस्थित हैं।

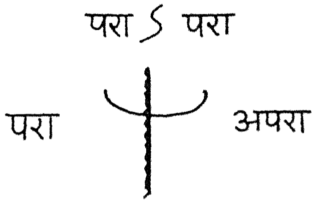

त्रिशूल के प्रतीक के सम्बन्ध में हम आगे चलकर बहुत कुछ विचार करेंगे, किन्तु यहाँ दो-एक बातें प्रसंगवश लिख देना जरूरी है। ज्ञान की तीन अवस्थाएँ हैं—प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय। त्रिशूल इन तीन अवस्थाओं का प्रतीक है। शंकर के हाथ में त्रिशूल है—यानी वे ज्ञान की चरम सीमा को, प्रमाता, प्रमाण तथा प्रमेय को मुट्ठी में किये हुए हैं। यों, मोटे तौर पर रीढ़ की हड्डी ही त्रिशूल का डण्डा है। उसके ऊपर के भाग में शरीर के तीन मोटे हिस्से किये जा सकते हैं। शरीर-रचना के विद्यार्थी इस उदाहरण से भी सहमत होंगे। ऊपर कमल की बात कही गयी है। मस्तक में सहस्रदल कमल की बात योगी तथा हठयोग के पंडित बराबर कहते आये हैं। उसी के ध्यान से, उसी में प्राण खींचकर ले जाने से योग पूरा होता है, ध्यान पूरा होता है। इसी प्रकार षट्कोण को भी मानव-शरीर का प्रतीक सिद्ध किया जा सकता है। दोनों कंधों से नाभि तक, कमर की दोनों हड्डियों से कंठ तक कोण बनाने से षट्कोण की रचना हो जायगी। मस्तक में स्थित सहस्रदल कमल को "शूलाम्बुज" कहते हैं। कहीं-कहीं एक त्रिशूल पर यंत्र बनता है, कहीं-कहीं तीन त्रिशूलों पर।

अस्तु, हमने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि जो सृष्टि में आज व्याप्त है, उसका मूल आकार बीज ○ रूप था और है। सृष्टि का प्रतीक ○ बीज ही है। इसे

शक्ति का, शिव का—महेश्वर का, जिसका भी प्रतीक चाहें, कह सकते हैं। देवताओं के प्रतीक, उनके संकेत शंख, चक्र, वज्र आदि तो सृष्टि के बहुत बाद के प्रतीक हैं।

न शंखांका न चक्रांका न वज्रांकाय तः प्रजाः।
लिंगांका च भगांका च, तस्माद् माहेश्वरी प्रजाः॥[1]

अर्थात् मनुष्य के उत्पन्न होने पर शंख, चक्र, बज्र आदि का कोई निशान नहीं रहता। सब लोग महेश्वर में ही व्याप्त हैं। बिन्दु ही, बीज ही, समूचे यंत्र तथा चक्र, वर्ण तथा यंत्र का केन्द्र आधार है। सब चक्रों या यंत्रों में श्रीचक्र प्रधान माना गया है। "सौन्दर्य लहरी" में श्रीचक्र के लिए लिखा है—

श्रीचक्रं वियत्-चक्रं

वियत् आकाश को कहते हैं। यानी समूची सृष्टि का प्रतीक श्रीचक्र है। श्री मंत्र अखिल ब्रह्माण्ड स्वरूप "श्री" के विराट् स्वरूप का प्रतीक है। अर्थात् यह पिण्ड का भी प्रतीक है। व्यष्टि, समष्टि तथा सभी तत्वों का सूचक है—जिसे यंत्र रूप में व्यवस्थित किया गया है।

चतुर्भिश्श्रीकण्ठैश्शिवयुवतिभिः पञ्चभिरपि,
प्रभिन्नाभिश्शम्भो नवभिरपि मूलप्रकृतिभिः।
चतुश्चत्वारिंशद्वसुदलकलाभस्त्रिवलयै-
स्त्रिरेखाभिः सार्धं तवशरणकोणे परिणताः।

यह यंत्रोद्धारक श्लोक है। श्रीयंत्र पराशक्ति का प्रतीक है।[2]

१. महाभारत, अनुशासनपर्व, मार्कण्डेय-उपाख्यान।
२. नवधातुरूपो देहो नवयोनिसमुद्भवः।
दशमो योनिरेकैव पराशक्तिस्तदीश्वरी॥

शिव-तत्त्व

ऊपर हमने तांत्रिक प्रतीकों पर बहुत ही थोड़ा प्रकाश डाला है। यह विषय इतना गूढ़ है, फिर इतना गुप्त भी है कि इस पर ज़्यादा लिखने का साहस नहीं होता। हमने स्थान-स्थान पर परा शक्ति तथा शिवतत्त्व का उल्लेख किया है। इसको थोड़ा और स्पष्ट करना होगा।

भारतवर्ष में धर्म तथा दर्शन का सदैव भाईचारा रहा है। दोनों की दृष्टि आध्यात्मिक है। जब कभी ऐसा समय आया कि धर्म अपने स्थान से डिगकर परम्परा की बेड़ी में जकड़ गया, किसी-न-किसी दर्शन-चिन्तक महापुरुष ने, चाहे वह बुद्ध हों, महावीर तीर्थंकर हों, व्यास या बादरायण हों, शंकर हों अथवा रामानुज, उसे परम्परा[1] तथा रूढ़ि से खींचकर मनीषा[2] की ओर उन्मुख किया है। धर्म तथा दर्शन के परस्पर प्रभाव के इस आदान-प्रदान के दो परिणाम हुए। धर्म ने दर्शन की मान्यताएँ अपनायीं और दर्शन ने धर्म के विचार और विश्वास, आस्था और परम्परा को प्रतीकात्मक नया अर्थ प्रदान किया। इस प्रकार प्रतीकवाद धर्म की पौराणिकता का दार्शनिक विवेचन है।[3]

उदाहरण के लिए शैव-दर्शन को लीजिए। यह समग्र विश्व परम तत्त्व अथवा शिव का उन्मेष है। समग्र पदार्थों की परम प्रतिष्ठा उसी में है। विश्व की समूची भावना का बोध या भास उसी शिव से होता है। शिव ही **चिति** है। प्रकाश और विमर्श उसका स्वभाव है। प्रतिविमर्श उसका स्वरूप—धर्म है।[4] स्वभावतः इसे परावाक् भी कहा जा सकता है। जीवन का समूचा व्यवहार वाक् से, वाणी से होता है। बिना वाणी के सब कुछ अधूरा है। एक प्राचीन साहित्यकार का कथन है कि बिना शब्द-ज्योति के समग्र लोक अंधकार में लीन रहेगा—

१. परम्परा को अंग्रेजी भाषा में Dogmatism and Tradition कहते हैं।
२. मनीषाको अंग्रेजी भाषा में Rationalism कहते हैं।
३. "Symbolism is the philosophical interpretation of religous myths."
४. चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता।

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिः संसारं नैव दीप्यते ।। ––काव्यादर्श

जड़ और चेतन के अन्तर का आधार ही विमर्श है । वह चाहे कितना ही सूक्ष्म तथा संकेत-निरपेक्ष क्यों न हो, पर शब्द आधारपीठ रहेगा । त्रिक-दर्शन ने परम तत्त्व और परा वाक् की इसी दार्शनिक एक-आत्मीयता के आधार पर वर्णों अथवा मंत्रों को शिव-रूप माना है ।[1] इसीलिए धार्मिक तथा दार्शनिक, दोनों के लिए वर्ण, वर्णात्मक मंत्र श्रद्धा के विषय हैं । दार्शनिक भी वर्णों को शिव की विभिन्न शक्तियों का रूप मानता है । वास्तव में शक्ति तथा वर्ण का तादात्म्य है । परा शक्ति के रूप में समस्त वर्णों में व्याप्त है । यदि परम शिव में द्वैत की––दो पृथक् की––कल्पना नहीं की जा सकती तो शक्ति और वाक् को एकरूप मानना ही होगा । इस प्रकार वर्णात्मक मंत्र का ध्यान परम तत्त्व का ही चिन्तन है । उपासक-साधक पराशक्ति तथा परावाक्, दोनों के ही ध्यान से मोक्ष-लाभ कर सकता है ।

कश्मीर के शैव-दार्शनिकों ने स्वर तथा व्यंजन-रूप समग्र वर्णों की दार्शनिक दृष्टि से व्याख्या की है । उन्होंने प्रत्येक वर्ण को किसी-न-किसी तत्त्व का प्रतीक माना है । त्रिक्-दर्शन के अनुसार ३६ तत्त्व हैं । उन्हें दो भागों में विभाजित किया जाता है––शुद्ध मार्ग तथा अशुद्ध मार्ग । शुद्ध मार्ग वह है, जिसमें "अहन्ता" की प्रधानता होती है । अशुद्ध मार्ग वह है, जिसमें माया-तत्त्व के कारण "इदन्ता" आ जाती है । शुद्ध मार्ग के तत्त्व शैव-दर्शन के अपने हैं और अशुद्ध मार्ग में वेदान्तियों की माया । शक्ति-पंचक में सांख्यदर्शन के पुरुष तथा प्रकृति के सभी विकारों को मिलाकर २५ तत्त्वों का संग्रह किया गया है । इन तत्त्वों का रेखाचित्र बड़ा महत्त्वपूर्ण तथा अध्ययन के योग्य है । इन्हें ध्यान से पढ़ना चाहिए । ज़रा-सा ध्यान देने से विषय स्पष्ट हो जायगा ।

(रेखाचित्र अगले पृष्ठ में देखिए)

१. मन्त्रा वर्णात्मकाः सर्वे सर्वे वर्णाः शिवात्मकाः ।
—"प्रत्यभिज्ञानहृदय" में उद्धृत, पृष्ठ ५७

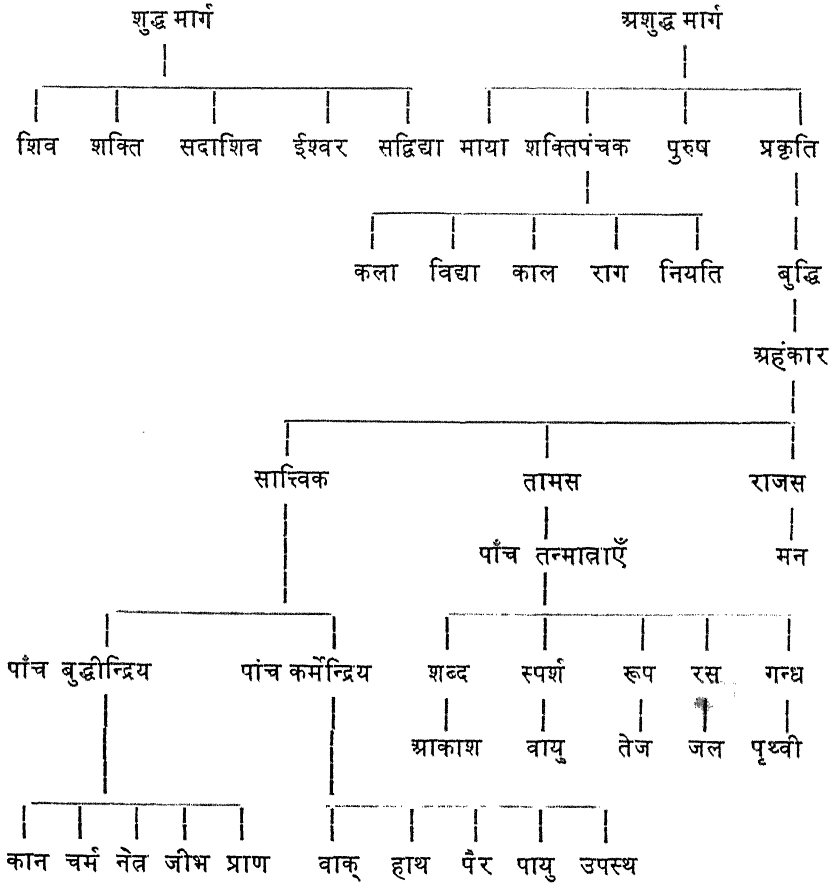

अशुद्ध मार्ग से, या यों कहिए कि माया से, सृष्टि का ऊपर लिखे प्रकार क्रमागत विकास हुआ। आज हमारी सत्ता ही अशुद्ध मार्ग के कारण है। किन्तु जीवन का ठोस सत्य भी तो इसी मार्ग के द्वारा प्रतिपादित होता है। अशुद्ध मार्ग के अन्तर्गत जिन पच्चीस तत्त्वों का वर्णन है, उनके प्रतीक वर्ण हैं, मातृकाएँ हैं। अभिनवपाद गुप्त ने इसका प्रतिपादन इस प्रकार किया है—

१. अ से लेकर विसर्ग अः तक शिव-तत्त्व का प्रतीक है।

२. क से लेकर ङ तक के वर्ण पृथ्वी-तत्त्व से लेकर आकाश-तत्त्व के प्रतीक हैं।

३. च से लेकर ञ तक गंध से लेकर शब्द तक तन्मात्राओं के प्रतीक हैं।

४. ट से लेकर ण तक के वर्ण पाद से लेकर वाक् तक, यानी पाँचों कर्मेन्द्रियों के प्रतीक हैं।

५. त से लेकर न तक के वर्ण घ्राण से प्रारम्भ कर श्रोत्र तक अर्थात् पाँच बुद्धीन्द्रियों के प्रतीक हैं।

६. प से लेकर म तक मन, अहंकार, बुद्धि, प्रकृति तथा पुरुष, इन पाँच के प्रतीक हैं।

७. य से लेकर व तक के वर्ण राग, विद्या, कला तथा माया तत्त्व के प्रतीक हैं।[1]

रहस्य विद्या में वर्णों का विभाग दो रूपों में मिलता है—बीज तथा योनि। स्वरों को बीज का तथा व्यंजनों को योनि का प्रतीक माना गया है। योनि इत्यादि के पूजन का तंत्र-शास्त्रों में जो विधान है, उसका लोग बहुत गलत अर्थ लगाते हैं। योनि बीज का प्रतीक है। यह परम शिव का प्रतीक है। परब्रह्म की कल्पना, परब्रह्म का प्रतीक यही बीज अथवा योनि में, सृष्टि के उत्पादन के यंत्र—"महद्योनि" का संकेत है। तांत्रिक उपासना के विषय में बहुत-सी भ्रान्तियाँ हैं। इन भ्रान्तियों का सबसे बड़ा कारण यह है कि उपासक अथवा साधक अपने क्रम को इतना गुप्त रखते हैं कि लोग ग़लत अर्थ लगा ही लेते हैं। एक आम भ्रान्ति है कि तांत्रिक उपासना का मतलब मदिरापान करना है। जिसके एक हाथ में पात्र हो और दूसरे हाथ में घट (मदिरा की बोतल) वही सच्चा तांत्रिक हुआ। वास्तविक उपासक के लिए कैसा पात्र हो और कैसी मदिरा हो, इसका पता इस श्लोक से लगेगा—

आधारे भुजगाधिराजतनये
पात्रं महीमण्डलं,
द्रव्यं सप्तसमुद्रवारिपिशितं
चाष्टौ च दिग्दंतिनः।
सोऽहं भैरवमर्चयन्प्रतिदिनं
तारागणैः रक्षितै-
रादित्यप्रमुखैः सुरासुरगणै-
राज्ञाकरैः किंकरैः।

शेषनाग को आधार यानी रखने का स्थान बनाकर उस पर समूची पृथ्वी को पात्र बनाकर रखे और उस पात्र में सातों समुद्रों का पानी उड़ेलकर उस मदिरा को पीना

१. अकारादि विसर्गान्त शिव-तत्त्व…राग-विद्या-कला-मायाख्यानि तत्त्वानि…परात्रिंशिका पर अभिनवपाद गुप्त की टीका, पृ० ११३।

चाहिए। यानी अपनी साधना में समूची सृष्टि की कल्पना कर ली गयी है। अब इस तत्त्व को बिना समझे लोग उसका मजाक उड़ायें तो किसका दोष है ? इसी प्रकार यंत्र-उपासना में समूची पृथ्वी का भास करके, मंडल बनाकर अपने देवता को स्थापित कर पूजा करने का विधान है। क्षुद्र भावनाओं को लेकर इतनी महान् कल्पना नहीं की जा सकती। मण्डल के बीच में बीज स्थापित है—उसे शिव-शक्ति का कितना महत्त्वपूर्ण संयोग बनाया गया है, यह कितना महान् प्रतीक है, यह बात केवल समझदार लोग ही समझ सकते हैं—

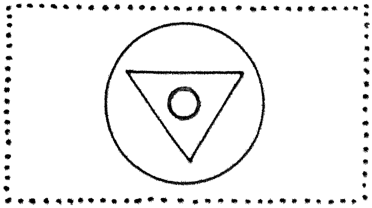

इसी में सूर्यमण्डल का भी आवाहन होता है। सूर्य का प्रतीक मिस्र से लेकर सभी पूर्वी देशों में बहुत अधिकता से पाया जाता है। पश्चिमी मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने सूर्य को उत्पादन-शक्ति का प्रतीक, स्त्री की योनि का प्रतीक माना है। सूर्य के प्रतीक पर हम आगे चलकर विचार करेंगे।

प्राकृतिक प्रतीक

किन्तु यहाँ पर इतना बतला देना उचित होगा कि प्राचीन ऋषिगण सृष्टि के मूल तत्त्वों का पूजा में संयोग कर तथा प्रतीक के रूप में हमारे सामने रखकर हमको स्वस्थ तथा सुखी जीवन का चिर संदेश देते रहे हैं। प्रश्नोपनिषद् में कहा है कि उदयकाल का सूर्य सारे जगत् का प्राण है।[1] ऋग्वेद में सूर्य को स्थावर-जंगम-आत्मा कहा है।[2] वेदवाक्य ही है कि सूर्य उदय होने के बाद, अस्त होने तक अपनी किरणों से रोग पैदा करनेवाले क्रिमियों का नाश करता है।[3] इस प्रकार वेदों में तथा आयुर्वेद में सूर्य को स्वास्थ्य का प्राण और रक्षक माना है। यदि सूर्य का प्रकाश न हो तो प्राणिमात्र रोगी होकर मर जायँ। इसलिए केवल यह सोचकर कि चूँकि सूर्य की किरणों से खेती की पैदा-वार होती है, इसलिए सूर्य उत्पत्ति का द्योतक है, यानी योनि का प्रतीक है, यह निहायत छोटी बुद्धि की बात हुई। पूर्वी देशों में सूर्य योनि का प्रतीक नहीं है, प्राणिमात्र का रक्षक तथा रक्षा के नियमों का प्रतीक है।

इसी प्रकार जल तथा वायु का भी प्रतीक होता है। शास्त्रों में "मित्र" शब्द का प्रयोग सूर्य के लिए भी हुआ है और प्राण वायु के लिए भी। शरीर के रोग का इन चीजों से सम्बन्ध वेदों में भी है। एक मंत्र में लिखा है कि सविता (सूर्य), वरुण (जल), मित्र (प्राण वायु) तथा अर्यमा (आक का पौधा) हाथ और पाँव की पीड़ा को हर ले।[4] वेदों में वरुण की—जल की—बड़ी महिमा है। लिखा है कि "सूर्य-किरणों से शुद्ध हुआ जल हमारा कल्याण करे।" रसों में सबसे अधिक कल्याणदायक रस जल है। उस

१. प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः।

२. सूर्य आत्मा जगतस्तस्तुषश्च।
प्राणेन विश्वतो वीर्यं देवाः सूर्यं समैरयन्॥

३. उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन हन्तु रश्मिभिः।

४. निररर्णि सविता साविषत्यदो निर्हस्तयोर्वरुणो मित्रो अर्यमा॥

५. असूर्यो उपसूर्ये याभिर्वा ? सूर्यः सहसा नो हिन्वन्त्यध्वरम्।

जल से हमें उसी तरह सुख मिले जिस प्रकार सन्तान को माता के दूध से पुष्टि मिलती है ।[१] वायु के महत्त्व में वेद मंत्र भरे पड़े हैं । ऋग्वेद ने तो वायु के लिए यहाँ तक लिख दिया है कि प्राकृतिक पदार्थों में वायु प्राणिमात्र के लिए औषधरूप है ।[२] लिखा है कि वायु और सूर्य के जानने योग्य गुणों का हम मनन करते हैं । ये दोनों समूचे संसार को तारनेवाले हैं । ये दोनों हमें पाप से बचावें ।[३] वायु तथा जल दोनों का महत्त्व बतलाते हुए कहा है कि "हे मित्र (वायु) और वरुण (जल), मैं आप दोनों का मनन करता हूँ । आप दोनों सत्य को बढ़ानेवाले और स्फूर्ति को देनेवाले हैं ।"[४] वरुण, वायु, सूर्य—इन तीनों का सम्मिलित प्रतीक मंगल-कलश है, जिसकी हर उपासना में स्थापना होती है । संसार के सभी वैभव, सभी देवी-देवता[५], सभी प्राकृतिक तत्त्व, पृथ्वी, समुद्र, वेद, पुराण—सब कुछ कलश में निहित हैं । कलश का पूजन कर लिया और सब कुछ पूजन हो गया । कलश की प्रार्थना से ही स्पष्ट है कि वह कितनी सम्मिलित चीजों का प्रतीक है—

कलशस्य मुखे विष्णुः कण्ठे रुद्रः समाश्रितः ।
मूले तस्य स्थितो ब्रह्मा मध्ये मातृगणाः स्मृताः ॥
कुक्षौ तु सागरास्सप्त सप्तद्वीपा वसुन्धरा ।
ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदो सामवेदो ह्यथर्वणः
अंगे च संहिताः सर्वे कलशन्तु समाश्रिताः ॥

अर्थात् कलश के मुख में विष्णु (पोषक शक्ति), कण्ठ में शिव (संहारक शक्ति), मूल में ब्रह्मा (सृष्टिकर्ता शक्ति), मध्य में षोडश मातृकाएँ तथा मातृशक्ति, बगल में सातों समुद्र तथा सातों महाद्वीप और पृथ्वी, अंग में सब वेद इत्यादि समाश्रित हैं । कलश इन सबका प्रतीक है । इसीलिए तांत्रिकी तथा अतांत्रिकी, हर प्रकार की सनातनी पूजा में कलश-स्थापन होता है और उसकी प्रार्थना के अन्त में कहते हैं—

पाशपाणे नमस्तुभ्यं पद्मिनीजीवनायकः ।
प्रधानपूजनं यावत्तावत्त्वं सन्निधौ भव ॥

१. यो वः शिवतमो रसः तस्य भाजयते हनः उशतीरिव मातरः ।
२. मरुतो मारुतस्य न आ भेषजस्य वहता सुदानवः ।
३. वायो : सवितुर्विदथानि मन्महे । —(ऋ० ८, २०२३)
यो विश्वस्य परिभू बभूवथुस्तौ मुन्त च मंहसः ।
४. मन्वे वां मित्रा वरुणावृतावृधौ सचेतसौ ।
५. व्याकरण की दृष्टि से देवता शब्द से देवी-देवता दोनों का बोध होता है ।

इस कलश की स्थापना या तांत्रिक पात्र या घट की स्थापना भी उसी यंत्र पर होती है जिसका चित्र हमने ऊपर दिया है—जिसे हमने वह्निमण्डल कहा है। ऐसे मण्डल पर स्थापन करके सर्व-वैभव-मूलक कलश का पूजन होता है। कलश का पूजन करने-वाले के लिए काफ़ी विधि-विधान है। पूजा में किस देवता की कहाँ स्थापना हो, इसका निश्चित क्रम है। यह क्रम प्रायः शैव तथा वैष्णव, दोनों उपासनाओं में समान रूप से पाया जाता है। मातृकान्यास में वर्णों का उपयोग शरीर के विभिन्न भागों के लिए विभिन्न रूप से होता है जैसे, करन्यास में—

ॐ अं ॐ आं अंगुष्ठाभ्यां नमः।
ॐ इं ॐ ईं तर्जनीभ्यां नमः।
ॐ एं ॐ ऐं अनामिकाभ्यां नमः।
ॐ ओं ॐ औं कनिष्ठकाभ्यां नमः।
ॐ अं ॐ अः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः॥

इन वर्णों का उपयोग निरर्थक नहीं है। प्रत्येक वर्ण एक प्रतीक है, यह हम ऊपर लिख आये हैं और आगे चलकर प्रसंगवश हम इस पर और भी प्रकाश डालेंगे। हमारे शास्त्रों ने शरीर के अंग-अंग को देवता का प्रतीक बना दिया है, मान लिया है। अंग-पूजन की विधि दुर्गार्चन सृति में दी गयी है। मालान्त पूजन के बाद अंगपूजा होती है। लिखा है—[1]

ॐ दुर्गायै नमः पादौ पूजयामि नमः	—	पैर
ॐ महाकाल्यै नमः गुल्फौ पूजयामि नमः	—	गुल्फ (घुटने)
ॐ मंगलायै नमः जानुद्वयं पूजयामि नमः	—	जंघाएँ
ॐ कात्यायन्यै नमः हृदयं पूजयामि नमः	—	हृदय
ॐ भद्रकाल्यै नमः कटिं पूजयामि नमः	—	कमर
ॐ कमलवासिन्यै नमः नाभिं पूजयामि नमः	—	नाभि
ॐ शिवायै नमः उदरं पूजयामि नमः	—	पेट
ॐ क्षमायै नमः हृदयं पूजयामि नमः	—	हृदय (दुबारा)
ॐ कौमार्यै नमः स्तनौ पूजयामि नमः	—	स्तन

१. दुर्गार्चनसृतिः—लक्ष्मीनारायण गोस्वामी, आगरा—
वंशीधर प्रेमसुखदास आयल मिल, माईथान, आगरा, सन् १९४४—पृष्ठ ४३।

ॐ उमायै नमः हस्तौ पूजयामि नमः — हाथ
ॐ महागौर्यै नमः दक्षिणबाहुं पूजयामि नमः — दाहिनी भुजा
ॐ रमायै नमः स्कन्धौ पूजयामि नमः — कंधे
ॐ महिषमर्दिन्यै नमः नेत्रे पूजयामि नमः — आँखें
ॐ सिंहवाहिन्यै नमः मुखं पूजयामि नमः — मुख
ॐ माहेश्वर्यै नमः शिरः पूजयामि नमः — सर
ॐ कात्यायन्यै नमः सर्वांगं पूजयामि नमः — सब अंग

कुमारी कन्या को पराशक्ति का प्रतीक माना गया है और यदि ब्राह्मणी कुमारी कन्या हो तो रजस्वला होने पर भी उसके पूजन में दोष नहीं है। सूतक में भी कुमारी कन्याके पूजन में दोष नहीं है।

सूतके पूजनं प्रोक्तं जपदानं विशेषतः
. . . .
रजस्वलां तथा शौचे ब्राह्मणैश्च सुपूजयेत्।

इस विषय को हम यहीं स्थगित करते हैं, समाप्त नहीं कर रहे हैं। प्रतीक की परिभाषा करते-करते हमने प्रतीक का तांत्रिक रूप, वैदिक रूप, आध्यात्मिक रूप तथा वर्णमाला का रूप पाठकों के सामने रख दिया है। वर्ण तथा प्रतीक का कोई सम्बन्ध हो सकता है, इसका इससे बढ़कर और क्या प्रमाण होगा कि आगम-शास्त्र ने मंत्र-यंत्र-तंत्र तीनों का समावेश मातृका में ही सिद्ध किया है। अब हम इस विषय से थोड़ा नीचे उतरकर यह अध्ययन करेंगे कि भारत में प्राप्त मूर्तियाँ भी क्या प्रतीकरूप में हैं या उनका कोई दूसरा अर्थ है।

प्रतिमा तथा प्रतीक

ऊपर हमने जो कुछ लिखा है, वह विषय यहीं समाप्त नहीं हो जाता। हमको इस सम्बन्ध में अभी बार-बार लिखना पड़ेगा। हमने बार-बार शिव, परम शिव, महेश्वर शब्द का प्रयोग किया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हम केवल शैव सम्प्रदाय का ही प्रतिपादन कर रहे हैं। परम शिव को शिव कहिए, विष्णु कहिए या ब्रह्मा कहिए, बोध एक ही विषय का होता है—परम ब्रह्म अथवा परमात्मा का सृष्टि के आरम्भ से लेकर देवता की उत्पत्ति का हिन्दू विज्ञान घूम-फिर कर एक ही बात कहता है, चाहे शैव सम्प्रदाय हो या वैष्णव। बहुत समय पूर्व कही हुई बातें आज के वैज्ञानिक खोज के युग में सही उतर रही हैं। उदाहरण के लिए विष्णुपुराण के द्वितीय अंश में, दसवें अध्याय में द्वादश सूर्य का ज़िक्र है। पौराणिक परम्परा के अनुसार वह श्लेष रूप में है, पर हम लोग १२ सूर्य की बात पर खिल्ली उड़ाते हैं। आज विज्ञान ने साबित कर दिया है कि १२ सूर्यों का पता चल गया है। जिसे हम आकाशगंगा कहते हैं, वह अनगिनत तारों तथा कम से कम १२ सूर्यों का बहुत दूर से आता हुआ प्रकाश मात्र है। विष्णुपुराण में ही लिखा है कि शिशुमार (गिरगिट या गोध) की तरह आकारवाला जो तारामयरूप देखा जाता है उसकी पूँछ में ध्रुव तारा स्थित है।[१] यह ध्रुव तारा घूमता रहता है और इसके साथ समस्त नक्षत्रगण भी चक्र के समान घूमते रहते हैं। सूर्य, चन्द्रमा, तारे, नक्षत्र तथा अन्य सभी नक्षत्रगण वायुमण्डलमयी डोरी से ध्रुव के साथ बँधे हुए हैं। इस शिशुमार स्वरूप के अनन्त तेज के आश्रय स्वयं भगवान् विष्णु हैं। इन सबके आधार सर्वेश्वर नारायण हैं। देव, असुर, मनुष्य आदि सहित यह सम्पूर्ण जगत् सूर्य के आश्रित है। सूर्य आठ मास तक अपनी किरणों से छः रसों से युक्त जल को ग्रहण करके उसे चार महीने में बरसा देता है। उससे अन्न की उत्पत्ति होती है और अन्न से ही सम्पूर्ण जगत् पोषित होता है।[२] अन्न को उत्पन्न करनेवाली वृष्टि ही इन सबको धारण करती है तथा उस वृष्टि की उत्पत्ति सूर्य से होती है। समस्त देव-समूह और प्राणिगण वृष्टि के ही

१. विष्णुपुराण, द्वितीय अंश, नवम अध्याय।

२. श्लोक ६—८।

आश्रित हैं। सूर्य का आधार ध्रुव है। ध्रुव का आधार शिशुमार है। शिशुमार के आश्रय भगवान् विष्णु हैं।[१] भगवान् विष्णु की ऋक्, यजु, साम नाम की सर्वशक्तिमयी परा शक्ति है। ये ही तीन वेद वेदत्रयी हैं जो उपासना के सूर्य को ताप प्रदान करते हैं।[२] दिन के पूर्वकाल में ऋक्, मध्याह्न में बृहद्रथन्तरादि यजुः तथा सायंकाल में सामवेद[३] सूर्य की स्तुति करते हैं।[४] वैष्णवी शक्ति त्रयीमयी है। ब्रह्मा, विष्णु और महादेव भी त्रयीमय हैं। ब्रह्मा ऋङ्मय हैं। विष्णु यजुर्मय। अन्तकाल में रुद्र साममय हैं।[५] रुद्र का काम है संहार करना। रात्रि संहार का प्रतीक है। अतएव रात्रि को संहारकाल मानकर तांत्रिक रात्रि में ही उपासना करता है। सामगान के समय—संहार के समय ऋक् तथा अजुर्वेद का पाठ मना है।[६]

समूची सृष्टि के त्राता और पोषणकर्ता विष्णु ही परब्रह्म के निकटतम प्रतीक हैं। ब्रह्म दो प्रकार का है–शब्द ब्रह्म और पर ब्रह्म। शास्त्र से प्राप्त ज्ञान से शब्द ब्रह्म में निपुण हो जाने पर विवेकीजन ज्ञान के द्वारा पर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। विद्या दो प्रकार की है। परा और अपरा। परा से अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति होती है और अपरा ऋग्वेद आदि वेदत्रयीरूपा है। जो अव्यक्त, अजर, अचिन्त्य, अज, अव्यय, अनिर्देश्य, अरूप, पैर-हाथ आदि अंगों से रहित, व्यापक, नित्य, स्वयं कारण-हीन है तथा जिससे सम्पूर्ण व्याप्य और व्यापक प्रकट हुआ है, वह परम धाम ही ब्रह्म है। मुमुक्षुओं को उसी का ध्यान करना चाहिए और वही भगवान् विष्णु का वेदवचनों से प्रतिपादित अति सूक्ष्म परम पद है।[७]

तदेव भगवद्वाच्यं स्वरूपं परमात्मनः।
वाचको भगवच्छब्दस्तस्याद्यस्याक्षयात्मनः॥

अर्थात् परमात्मा का यह स्वरूप ही "भगवत्" शब्द का वाच्य है। और भगवत् शब्द ही उस आद्य एवं अक्षय स्वरूप का वाचक है।[८]

१. श्लोक २०—२४, विष्णुपुराण, द्वितीय अंश, नवम अध्याय।
२. वही, अध्याय ११—श्लोक ७।
३. वही, श्लोक १०।
४. "ऋचःपूर्वाह्णे, दिवि देव ईयते यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः सामवेदेनास्तमये महीयते।"
५. श्लोक १२।
६. "न सामध्वनावृग्यजुषी"—गौतमस्मृति।
७. विष्णुपुराण, छठा अंश, ५वाँ अध्याय, ६४-६८ श्लोक।
८. वही, श्लोक ६८।

हम विष्णु "भगवान्" या शंकर "भगवान्" कहते हैं। हम लोग भग का साधारण अर्थ स्त्री की योनि लगाते हैं, जो सृष्टि का प्रतीक है। योनि तथा लिंग के योग से सृष्टि होती है। इसलिए भग-लिंग समूचे विश्व का प्रतीक है, महादेव है, शंकर है। पर, भग शब्द का अर्थ इतना ही नहीं है। सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—इन छः का नाम भग है।[1] उस अखिल भूतात्मा में समस्त भूतगण निवास करते हैं और वह स्वयं भी समस्त भूतों में विराजमान है इसलिए वह अव्यय परमात्मा ही "व-कार" का अर्थ है। इस प्रकार यह महान् "भगवान्" शब्द परब्रह्मस्वरूप श्री वासुदेव का ही वाचक है, जो समस्त प्राणियों की उत्पत्ति और नाश, आना और जाना, विद्या तथा अविद्या को जानता है, वही भगवान् कहलाने योग्य है—

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥

—विष्णु०, ६—५—७८।

विष्णु सबके आत्म-रूप में, सकल भूतों में विराजमान हैं, इसीलिए उन्हें वासुदेव कहते हैं।

सर्वाणि तत्र भूतानि वसन्ति परमात्मनि।
भूतेषु च स सर्वात्मा वासुदेवस्ततः स्मृतः॥

—विष्णु०, ६—५—८०।

जो-जो भूताधिपति पहले हो गये हैं और जो-जो आगे होंगे, वे सभी सर्वभूत भगवान् विष्णु के अंश हैं।[2] वे जनार्दन चार विभाग से सृष्टि के और चार विभाग से ही स्थिति के समय रहते हैं तथा चार रूप धारण करके ही अन्त में प्रलय करते हैं। एक अंश से वे अव्यक्तरूप ब्रह्मा होते हैं, दूसरे अंश से मरीचि आदि प्रजापति होते हैं, तीसरा अंश काल है और चौथा सम्पूर्ण प्राणी।[3] इस प्रकार चार प्रकार से वे सृष्टि में

१. ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसश्श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥
वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि।
स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः॥
—(विष्णुपुराण—६-५-७४, ७५)

२. विष्णुपुराण, प्रथम अंश, अध्याय २२, श्लोक १७।

३. वही २३—२४—२५।

स्थित हैं। शक्ति के तथा सृष्टि के इन चारों आदि कारणों के प्रतीक भगवान् विष्णु, चार भुजावाले विष्णु हज़ारों वर्षों से हमारे यहाँ पूजित हो रहे हैं। इनके मणि-माणिक्य-विभूषित, वैजयन्ती माला से भूषित, ऊपरी बायें हाथ में शंख, ऊपरी दायें में चक्र, नीचे के बायें में कमल तथा नीचे के दायें हाथ में गदा विराजमान है। इस मूर्त्ति की पूजा हज़ारों वर्षों से होती चली आ रही है। पर यह मूर्त्ति जिस महान् सत्य का प्रतीक है, उसका वर्णन, संकेत मात्र से, ऊपर हो चुका है। उनके हाथों में जो कुछ है तथा शरीर पर जो कुछ है, वह सब एक महान् तथा ध्रुव सत्य का प्रतीक है। विष्णु पुराण में ही लिखा है—

"इस जगत् की निर्लेप तथा निर्गुण और निर्मल आत्मा को अर्थात् शुद्ध क्षेत्रज्ञ-स्वरूप को श्री हरि कौस्तुभ मणि रूप से धारण करते हैं। श्री अनन्त ने प्रधान को श्रीवत्सरूप से आश्रय दिया है। बुद्धि श्री माधव की गदा रूप से स्थित है। भूतों के कारण राजस अहंकार इन दोनों को वे शंख और शार्ङ्ग धनुपरूप से धारण करते हैं। अपने वेग से पवन को भी पराजित करनेवाला, अत्यन्त चञ्चल, सात्त्विक अहंकार-रूप मन श्री विष्णु भगवान् के करकमलों में स्थित चक्र मुक्ता, माणिक्य, मरकत, इन्द्रनील और हीरकमयी जो पञ्चरूपा वैजयन्ती माला है वह पञ्च तन्मात्राओं और पञ्च भूतों का ही संधान है। जो ज्ञान और कर्ममयी इन्द्रियाँ हैं, उनको श्री भगवान् वाणरूप से धारण करते हैं। भगवान् जो अत्यन्त निर्मल खड्ग धारण करते हैं, वह[1] अविद्यामय कोश से आच्छादित विद्यामय ज्ञान ही है।

भूतानि च हृषीकेशे मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
विद्याऽविद्ये च मैत्रेय सर्वमेतत्समाश्रितम् ।।

यानी इस प्रकार पुरुष, प्रधान, बुद्धि, अहंकार, पञ्च भूत, मन, इन्द्रियाँ तथा विद्या और अविद्या, सभी श्री हृषीकेश में आश्रित हैं।[2] इस प्रकार भगवान् विष्णु की मूर्त्ति जिन चीजों की प्रतीक हुई वे यों है—

१. हृदय में कौस्तुभ मणि—निर्लेप, निर्मल, आत्मा,
२. गदा—बुद्धि।
३. शंख और शार्ङ्ग धनुष—तामस और राजस अहंकार।

१. विष्णुपुराण, अध्याय, २२, प्रथम अंश, श्लोक ६७ से ७४तक।
२. वही, ७५—गीता प्रेस की टीका, पृष्ठ १२३।

४. चक्र—अत्यन्त चंचल, सात्त्विक अहंकाररूप मन।

५. कमल—सृष्टि, प्रजा की उत्पत्ति, लक्ष्मी ।

६. वाण—ज्ञान और कर्मेन्द्रियां।

७. वैजयन्ती माला—पञ्च तन्मात्राएँ तथा पञ्चभूत ।

कलाकाष्ठानिमेषादिदिनर्त्वयनहायनैः।
कालस्वरूपो भगवानपापो हरिरव्ययः॥

विष्णु०, १—२२—७९।

अर्थात् कला, काष्ठा, निमेष, दिन, ऋतु, अयन और वर्ष-रूप से वे कालस्वरूप, निष्पाप, अव्यय श्री हरि ही विराजमान हैं।

मूर्त्ति तथा अवतार

मूर्त्ति का प्रतीक के रूप में अध्ययन अभी हमें और भी करना है। पर, हम यहाँ पर थोड़ा विषय बदल देना चाहते हैं। मूर्त्ति के प्रसंग में आगे बढ़ने के पूर्व हमको मूर्त्ति का वैज्ञानिक महत्त्व समझना होगा। प्रत्येक मूर्त्ति प्रतीकमय है, यह तो हमने थोड़ा-बहुत समझा दिया है। भगवान् बुद्ध तथा महावीर तीर्थंकर की मूर्त्तियाँ भी प्रतीकरूप में हैं। प्रत्येक मूर्त्ति के हाथों में कोई-न-कोई मुद्रा अंकित होती है। ऊपर को उठे हुए खुले हाथ अभय मुद्रा हैं। मध्यमा तथा अनामिका को मिलाकर त्रिकोण बनाकर योनि-मुद्रा या भग-मुद्रा बनती है। बुद्ध की मूर्त्ति में पृथ्वी को छूती हुई उँगली 'भूमि-स्पर्श-मुद्रा' है। अँगूठा तथा मध्यमा को मिला देने से पुष्प-मुद्रा बनती है। ये चिह्न नहीं हैं। मुद्राएँ हैं। मुद्रा वास्तव में इशारा है, किसी अन्य वस्तु की ओर संकेत करना है। प्रतीक है। इनको बिना गुरु के नहीं समझा जा सकता। तांत्रिकों के एक श्लोक की लोग बड़ी खिल्ली उड़ाते हैं—

"मातृयोनिं परित्यज्य...."

यानी माता की योनि को छोड़कर पुरुष के लिए प्रत्येक योनि में विहार करने का अधिकार है। यहाँ पर मातृयोनि से तात्पर्य अंगूठेकी बगलवाली उँगली से है। जप करने वाला उपासक उस उँगली पर जप न करे। इस प्रकार की बहुत-सी बातों को लोग समझते नहीं। मूर्त्ति की मुद्राएँ चिह्न नहीं हैं, प्रतीक हैं। निशान नहीं है, इशारे हैं।[1]

प्रतीक और चिह्न को मिला देने से ही अर्थ का अनर्थ होता है। ऊपर हमने विष्णु का परिचय दिया है, उनकी मूर्त्ति का प्रतीक बतलाया है। पर, उतने से ही न तो लेखक को सन्तोष है, न पाठकों को। विष्णु की जो मूर्त्तियाँ आज उपलब्ध हैं, वे पौराणिक युग की हैं,

१. चिह्न और प्रतीकमें बड़ा अंतर है। चिह्न के विषय में वात्स्यायन के कामसूत्र का श्लोक है—अधिकरण २, अध्याय ४, श्लोक ३१—"राग बढ़ाने में ऐसी दूसरी कोई वस्तु योग्य नहीं है जैसे कि नखों तथा दाँतों के निशान हैं।"—

नान्यत्पटुतरं किंचिदस्ति रागविवर्धनम्।
नखदन्तसमुत्थानां कर्मणां गतयो यथा॥

और उस युग की भी हैं जब धर्म ने जड़ता का रूप धारण कर लिया था, शैव अपने को महान् समझता था और शिव को ही श्रेष्ठ देवता मानता था, वैष्णव विष्णु को, इत्यादि। आज के पाँच सौ वर्ष पूर्व यह जड़ता बहुत बढ़ गयी थी, हानिकारक सिद्ध हो रही थी। नारदपञ्चरात्र में तो यहाँ तक लिखा है कि "वैष्णव को अपनी किसी भी कामना के लिए ब्रह्मा, रुद्र, दिक्पाल, गणेश, सूर्य, उनकी शक्तियों आदि की उपासना नहीं करनी चाहिए। जिस गाँव में विष्णु मंदिर न हों, वहाँ जल भी नहीं ग्रहण करना चाहिए।"

ऐसी मूर्खता की बातें मिलती तो हैं पर ऐसी बातें कम हैं। महत्त्व की बातें कहीं अधिक हैं। शिव-लिंग को छोड़कर प्रायः हर प्रकार की मूर्त्ति या देव-प्रतीक पौराणिक युग की रचना हैं, सूर्य आदि तत्त्वों को छोड़कर। वेदों में विष्णु का वह वर्णन नहीं मिलता जिसको हम पुराणों में पाते हैं। "वैष्णवमसि विष्णवेत्त्वा" इस प्रकार के मंत्र मिलते हैं। ऋक् वेद में जिस 'उरुक्रम', 'उरुगाय', 'त्रिविक्रम' का वर्णन मिलता है वह 'तीन पग' से विश्व को नाप लेना है।[१] वेदों के एक प्राचीन टीकाकार ने इन तीन पगों की व्याख्या इस प्रकार की है कि सूर्य देवता के विश्व के तीन विभागों में तीन प्रकार के रूप होते हैं। पृथ्वी पर अग्नि, वायुमण्डल में इन्द्र या वायु तथा आकाश में सूर्य–विष्णु के इन तीन रूपों के प्रतीक सूर्य हैं। पौराणिक विष्णु के इस तीन पग को दशावतार में वामनरूप, वामनावतार में दर्शाया गया है। सृष्टि के पालक विष्णु हैं। इसलिए सृष्टि के विकास-क्रम को भी अवतार के रूप में दिया गया है। विष्णु की तीन शक्तियाँ हैं—इच्छाशक्ति, भक्तिशक्ति और क्रियाशक्ति।[२] उनके छः गुण हैं—ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज। विष्णु की मूर्त्ति यदि इन छः गुणों को प्रकट नहीं करती तो उसे शुद्ध मूर्त्ति नहीं मानना चाहिए। इन छः गुणों तथा तीन शक्तियों को मिलाकर विष्णु की चतुर्मूर्त्ति या चतुर्व्यूह बनता है, जिसमें वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध हैं। इस चतुर्व्यूह की कल्पना, मूर्त्तिकला के पंडितों के अनुसार, ईसा से २०० वर्ष पूर्व यानी आज से २२०० वर्ष पूर्व हुई थी।[३] तीन शक्तियों तथा छः गुणों का प्रतीक चतुर्व्यूह बना। गुप्त-शासन-काल में विष्णु के व्यूह[४] की संख्या २४–चतुर्विंशति मूर्त्ति–हो गयी। चार आदि मूर्त्तियाँ तो वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध की थीं—ये आदि व्यूह थे।

१. ऋग्वेद, १२२, अथर्ववेद ७—२६।४।
२. त्रिशूल की व्याख्या में इसका ध्यान रखना होगा।
३. पातंजलि महाभाष्य अ० ६-३-५ से सिद्ध होता है।
४. व्यूह का अर्थ मूर्त्ति समझना चाहिये।

वासुदेव में छः गुण वर्तमान हैं। संकर्षण में ज्ञान और बल। प्रद्युम्न में ऐश्वर्य तथा वीर्य। अनिरूद्ध में शक्ति तथा तेज है। ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व की इन चतुर्मूत्तियों के प्रमाण भी मिले हैं। हर एक मूर्त्ति का अपना ध्वज होता है। बेसनगर में प्राप्त विष्णु की मूर्त्ति में गरुड़ध्वज वासुदेव तथा तालध्वज संकर्षण एवं मकरध्वज प्रद्युम्न की मूर्त्तियाँ मिली हैं। उनका भी वही निर्माणकाल है—ईसा से २०० वर्ष पूर्व का। चतुर्विंशति मूर्त्तियाँ इसके तीन-चार सौ वर्ष बाद की हैं—गुप्त-साम्राज्य-काल की। शंख, चक्र, गदा तथा पद्मधारी मूर्त्तियाँ इसी युग की हैं। चतुर्विंशति मूर्त्तियों में चार के नाम हम दे चुके हैं। शेष हैं—

केशव, नारायण, माधव, गोविंद, विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर, हृषीकेश, पद्मनाभ, दामोदर, पुरुषोत्तम, अधोक्षज, नृसिंह, अच्युत, जनार्दन, उपेन्द्र, हरि तथा कृष्ण।[1]

किन्तु व्यूह तथा विभव में अन्तर है। विष्णु के 'विभव' से भागवत में तात्पर्य 'अवतार' से है। अवतार का अर्थ है किसी निश्चित उद्देश्य को लेकर भगवान् का संसार में मनुष्य या पशु-योनि में जन्म लेकर तब तक संसार में रहना जब तक उनका उद्देश्य पूरा न हो जाय। गीता में लिखा है—[2]

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि "हे अर्जुन, जब-जब संसार में धर्म की हानि होती है, मैं अधर्म के विनाश तथा धर्म के अभ्युत्थान के लिए जन्म लेता हूँ।" सब युगों के अवतार हो चुके, अब कलियुग का कल्कि अवतार बाकी है।

अवतारवाद केवल वैष्णव सम्प्रदाय की देन नहीं है। वह तो हर सम्प्रदाय में वर्तमान है। शैवों में भी है। शैवमतानुसार आदि शंकराचार्य शंकर के अवतार थे। दुर्गा-

१. पद्मपुराणमें आदि चार मूर्तियों को छोड़कर २१ नाम है जिनमें उपेन्द्र, हरि तथा कृष्ण का नाम नहीं है।

२. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ४, श्लोक ७-८।

सप्तशती में महिषासुर को मारने के लिए भगवती दुर्गा का अवतरण दिया हुआ है।[१] शुम्भ-निशुम्भ को मारने के लिए देवताओं ने अपनी-अपनी शक्ति को देकर एक पराशक्ति उत्पन्न की जिसके अनेक रूप थे।[२] पर वे सब एक ही शक्ति के रूपान्तर थे। जब शुम्भ ने ताना मारा कि बहुत-सी शक्तियों की सहायता लेकर मुझे मारने आयी हो तो भगवती ने कहा था—

एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।
पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः॥ अ० १०,५
ततः समस्तास्ता देव्यो ब्रह्माणीप्रमुखा लयम्॥—६.

देवी ने फिर कहा—

अहं विभूत्या बहुभिरिह रूपैर्यदास्थिता।—८

यानी, "मैं संसार में स्वयं एक हूँ। मेरे अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है। ···और ब्रह्माणी आदि सब देवियाँ भगवती के शरीर में विलीन हो गयीं···मैं अनेक विभूतियों के रूप में स्थित थी।"

इन श्लोकों में 'विभूति' शब्द का प्रयोग ध्यान रखने योग्य है। विष्णु के 'वैभव' अवतार हैं। देवी की 'विभूति' भिन्न शक्तियाँ हैं। ये दोनों ही देवी या विष्णु के प्रतीक हैं। 'विभूति' या 'वैभव' प्रतीक मात्र हैं। दुर्गासप्तशती में देवी के जिन प्रतीकों का प्रकट वर्णन है, वे पाँचवें अध्याय में स्पष्ट हैं।
उदाहरण के लिए—

१. ततोऽतिकोपपूर्णस्य चक्रिणो वदनात्ततः।
निश्चक्राम महत्तेजो ब्रह्मणः शंकरस्य च ॥१०॥ दुर्गासप्तशती, अध्याय २।
अन्येषां चैव देवानां शक्रादीनां शरीरतः।
निर्गतं सुमहत्तेजस्तच्चैक्यं समगच्छत ॥११॥
अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेवशरीरजम्।
एकस्थन्तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयन्त्विषा ॥१२॥
(सब तेजों को मिलाकर "एकस्थ"—एक नारी हो गयी)

२. या देवी सर्वभूतेषु विष्णुमायेति शब्दिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥ अ० ५. १५. १६
(सब प्राणियों में जो विष्णुमाया के नाम से प्रसिद्ध है।)

१.	या देवी सर्व भूतेषु	बुद्धिरूपेण	संस्थिता	—	बुद्धि
२.	,,	निद्रा	,,	—	निद्रा
३.	,,	क्षुधा	,,	—	क्षुधा
४.	,,	छाया	,,	—	छाया
५.	,,	शक्ति	,,	—	शक्ति
६.	,,	तृष्णा	,,	—	तृष्णा
७.	,,	क्षान्ति	,,	—	क्षान्ति
८.	,,	श्रद्धा	,,	—	श्रद्धा-भक्ति
९.	,,	लक्ष्मी	,,	—	लक्ष्मी, धन
१०.	,,	वृत्ति	,,	—	जीविका
११.	,,	दया	,,	—	दया, कृपा

इस प्रकार जीवन की सभी भावनाएँ देवी का स्वरूप हैं, प्रतीक हैं। हिन्दू धर्मशास्त्र में प्रतीक को निराकार भी माना गया है। बिना आकार का भी प्रतीक होता है। इसलिए प्रतीक तथा संकेत और चिह्न में बड़ा अन्तर है। इसी प्रकार अवतार भी देवता के वैभव हैं, अर्थात् प्रतीक हैं।

विष्णु के अवतार कितने हुए हैं, इस विषय में निश्चित संख्या देना कठिन है। महाभारत ने उनके तीन प्रारम्भिक अवतार गिनाये हैं—वाराह, वामन, नृसिंह।[१] उसके बाद वासुदेव कृष्ण, भार्गव राम (परशुराम), दाशरथी राम का जिक्र है।[२] किन्तु उसी अध्याय में[३] जो पूरी सूची दी गयी है, वह इस प्रकार है—

हंस, कूर्म, मत्स्य, वाराह, नारसिंह, वामन, राम (परशुराम), राम, सात्वत् (वासुदेव या बलदेव—दोनों एक ही जाति के हैं) तथा कल्कि।

इस प्रकार अवतार तो दस ही हुए, पर इनमें बुद्ध का नाम नहीं है। वायुपुराण में दशावतार का वर्णन है जिनमें पाँचवें अवतार का नाम नहीं है। वे दस नाम हैं—यज्ञ, नारसिंह, वामन, दत्तात्रेय, पञ्चम (नाम नहीं है), जामदग्न्य राम (परशुराम), दाशरथी राम, वेदव्यास, वासुदेव-कृष्ण और कल्कि।[४] बुद्ध का नाम इसमें भी नहीं है। भागवत-

१. महाभारत, द्वादश सर्ग, अध्याय ३४९—३७।
२. वही सर्ग, अध्याय ३८९, श्लोक ७७-९०।
३. श्लोक १०४।
४. वायुपुराण, अ० ९८, श्लोक ७१

पुराण में तीन स्थानों पर अवतारों का ज़िक्र है। प्रथम में[1] २२ की संख्या है, द्वितीय में[2] २३ है तथा तृतीय[3] में १६ है। प्रथम २२ में बुद्ध का नाम है—पुरुष, वाराह, नारद, नर और नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, यज्ञ, ऋषभ, पृथु, मत्स्य, कूर्म, धन्वन्तरि, मोहनी, नारसिंह, वामन, भार्गव राम, वेदव्यास, दाशरथी राम, बल राम, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि।

पुराणों के ही अनुसार ('अवतारा ह्यसंख्येया:') अवतार असंख्य हैं। पर मत्स्यपुराण ने लिखा है कि चूँकि भृगु ने अपनी पत्नी शुक्र की माता की हत्या करने के अपराध में विष्णु को शाप दिया था कि तुमको सात बार मनुष्य योनि में जन्म लेना पड़ेगा, इसलिए विष्णु के सात अवतार हैं।[4] पञ्चरात्रसंहिता, अहिर्बुध्न्यसंहिता आदि में भिन्न संख्याएँ दी गयी हैं। दूसरीवाली संहिता में विष्णु के ३९ अवतार हैं जिनमें ३८वाँ अवतार कल्कि का है तथा ३९वाँ 'पातालशयन' अवतार है।[5]

किन्तु विष्णु के दशावतार ही अधिक मान्य तथा प्रचलित और प्रसिद्ध हैं। वाराह तथा अग्निपुराण ने इनकी जो सूची दी है, वह प्राय: सर्वमान्य है। यह सही है कि वेदों में 'अवतार' का ज़िक्र नहीं है। जिन अति प्राचीन ग्रन्थों में 'प्रजा के कल्याण तथा सृष्टि के विकास के लिए 'अवतरित' होने का उल्लेख है, वे हैं 'शतपथ ब्राह्मण' तथा 'तैत्तिरीय संहिता'। इनमें लिखा है कि प्रजापति ने उपरि लिखित उद्देश्य से मत्स्य (मछली), कर्म (कछुआ) तथा वाराह (सूअर) का रूप धारण किया। कुछ संहिताओं ने विष्णु के अवतारों के दो भाग कर दिये हैं—१. मुख्य तथा २. गौण। इनके अनुसार ब्रह्मा, शिव, बुद्ध, व्यास, अर्जुन, परशुराम, वसु यानी पावक—अग्नि तथा कुबेर, ये गौण अवतार थे।

किन्तु विष्णु के दस अवतारों में जिन प्रारम्भिक अवतारों को शतपथब्राह्मण भी स्वीकार करता है, वे मत्स्य, कूर्म तथा वाराह और चौथा नृसिंह, फिर वामन—इत्यादि उस विष्णु के 'वैभव' हैं, जिसने सृष्टि को उत्पन्न किया तथा जो सृष्टि का पालन करने-

१. भागवत १-३-६-२२।
२. वही २-७-१।
३. वही ११-४-३।
४. मत्स्यपुराण—अध्याय ४७, श्लोक ४६।
५. F. O. Sarkar—"Introduction to the PANCĀRĀTRA AND AHIRBUDHNYA SAMHITA—pages 43–44.

वाला तथा विस्तार करनेवाला है । यहाँ पर हम यदि यह कहें तो क्या अनुचित होगा कि परमात्मा के प्रतीक विष्णु हैं और इस सृष्टि का विकास जिस प्रकार हुआ है, हर एक अवतार उस विकास का प्रतीक है । हमारा तात्पर्य दशावतार से है । प्रारम्भिक अवतार केवल सृष्टि के विकास के प्रतीक हैं और बोधक हैं । बाद के मानव-शरीरधारी अवतार महापुरुषों की ईश्वरी शक्ति के प्रतीक हैं । यह बात सिद्ध करने के लिए थोड़ा विषयान्तर तो होगा, पर हम आधुनिक विज्ञान के द्वारा निर्धारित सृष्टि का विकास समझ लें ।

विज्ञान के अनुसार सृष्टि का विकास

हजारों वर्षों से पश्चिमी विज्ञान सृष्टि के विकास की कहानी को ठीक तरह से समझने-समझाने का प्रयास कर रहे हैं। फिर भी यह कहानी अभी तक अधूरी है। अभी तक जितना पता चला है उससे यह अनुमान लगाया जाता है कि इस सृष्टिमण्डल में कम से कम ३,००,००,००,००,००० तीन अरब सूर्य हैं जिनके चारों ओर असंख्य तारे परिक्रमा कर रहे हैं। हिन्दू शास्त्र के अनुसार हर ग्रह पर देवताओं का वास तथा उनका राज्य है। आज का विज्ञान कहता है कि बहुत सम्भव है कि अनेक ग्रहों पर सजीव प्राणी हों और भूमण्डल से अधिक उन्नत सभ्यता भी हो। शुरू में केवल रजकण थे, गैस थी, अंधकार था। करोड़ों वर्ष पूर्व ये कण तथा परमाणु तारिकाओं से प्राप्त क्षीण प्रकाश के दबाव से एकत्रित होने लगे। वे शून्य ब्रह्माण्ड में भयंकर गति से परिक्रमा करते-करते, गुरुत्वाकर्षण के कारण कुछ स्थिरता प्राप्त करने लगे। भयंकर वेग से परिक्रमा करने के कारण, भयंकर संघर्षण से भयंकर ज्वाला उत्पन्न हुई। उसका एक अंश बहुत ही तीव्र ज्वाला का पिण्ड बनने लगा। इस प्रकार हमारे सूर्य का निर्माण प्रारम्भ हुआ। इस वृहत् कण-पिण्ड के और भी टुकड़े होते गये। इन्हीं बड़े-बड़े टुकड़ों ने ग्रहों का रूप धारण किया। हर एक ग्रह अपने आकर्षक से अनगिनत उपग्रहों को खींचता रहा पर सबसे बड़े अग्निपिंड-सूर्य के आकर्षण में सभी ग्रह-उपग्रह रहे। इस प्रकार सूर्य-मण्डल का जन्म ठोस रूप धारण करता रहा। ठण्ढा भी पड़ता रहा। हमारी पृथ्वी भी धीरे-धीरे शान्त हो चली, पर इसकी तह पर विशाल ज्वालामुखियों का ढेर था। उनसे विशाल वाष्प-पुंज निकल रहे थे। भाप ने भयंकर वर्षा तथा जल का रूप धारण किया। लाखों वर्षों तक वृष्टि होती रही। रासायनिक पदार्थ तथा नमक बह-बह कर जलागार समुद्र में जाने लगा। बड़ी-बड़ी नदियाँ तथा समुद्र बन गये। इस प्रकार भू-गर्भ के निर्माण में कम से कम एक अरब वर्ष समाप्त हो गये। अब गरम तथा खनिज और रासायनिक पदार्थ से संयुक्त जल के पेट में, यानी समुद्र के गर्भ में सजीव प्राणी का प्रादुर्भाव हुआ। प्रकाश तथा जल के संयोग से जीवन का स्रोत बना। जब अंधकार था, शून्य था, तब परब्रह्म का आदि रूप था। प्रकाश ही परम शिव है। जल ही परम

शक्ति है। शिव तथा शक्ति के संयोग से सृष्टि होने लगी। शिव लिंग पर जल चढ़ाना इसी सृष्टि-सर्जन का प्रतीक है।[१]

प्रकाश की महत्ता का प्रकट सत्य है। इसकी शक्ति महान् है। वर्षा के बाद इन्द्र धनुष को देखिए? वर्षा के करोड़ों बिन्दु सूर्य की किरणों के सातों रंगों के टुकड़े-टुकड़े करके बिखेरकर उन्हें समेट लेते हैं। सूर्यकिरणों के सात रंग को ही हमारे पुराणों में सूर्य के रथ के सात घोड़े कहा गया है। सृष्टि में कार्बन तत्त्व की बहुतायत है। इसके करोड़ों रूप तथा अवयव हैं। इस कार्बन के आधार से ही उस चीज़ का जन्म हुआ जिसे हम 'पोषक तत्त्व' या 'प्रोटीन' कहते हैं। इसी तत्त्व से जीवन की शृंखला प्रारम्भ हुई। यह जीवन पहले बुदबुदे की तरह, बिन्दु के रूप में प्रारम्भ हुआ। यही 'बीज' है। तांत्रिक मंत्र के भीतर बैठा हुआ 'बीज' ○ है। फिर उसने घास की तरह पौधे का रूप लिया। उन पौधों के पोषक तत्त्व से पहले मछली के आकार का बिना कान-आँख-नाक का कीड़ा बना। वह उभयलिंगी था, जैसे जोंक। पुरुष तथा स्त्री, दोनों एक साथ। धीरे-धीरे इसने मछली का रूप धारण किया। मछली से ही ऐसा जानवर बना जो पानी तथा सूखी भूमि, दोनों में ही रह सके। इस प्रकार सृष्टि के बीजारोपण के बाद पहला समूचा प्राणी बना मत्स्य यानी मछली। फिर उसके बाद कूर्म हुआ, यानी कछुआ। कछुआ, घड़ियाल इत्यादि जानवरों, दरिन्दों तथा परिन्दों के विकास की लम्बी कहानी देने का यहाँ पर स्थान नहीं है। पर, पशु-जगत् के विकास में उस समय बड़े पशुओं में कन्द,

१. देवीभागवत में सृष्टि का वर्णन इस प्रकार है—

आविर्भूता तिरोभूता सजला च पुनः पुनः ॥ १४ ॥
आविर्भूता सृष्टिकाले तज्जलोपर्युपस्थिता ।
प्रलये च तिरोभूता जलस्याऽभ्यन्तरे स्थिता ॥ १५ ॥
प्रतिविश्वेषु वसुधा शैलकाननसंयुता ।
सप्तसागरसंयुक्ता सप्तद्वीपसमन्विता ॥ १६ ॥
हेमाद्रिमेरुसंयुक्ता ग्रहचन्द्रार्कसंयुता
ब्रह्मविष्णुशिवाद्यैश्च सुरैर्लोकैस्तदाज्ञया ॥ १७ ॥
... ...
पातालसप्तं तदधस्तदूर्ध्वं ब्रह्मलोकतः ।
ध्रुवलोकश्च तत्रैव सर्वं विश्वं च तत्र वै ॥ १९ ॥

श्री देवीभागवत के ९वें स्कन्ध के ९वें अध्याय के ये श्लोक जल से पृथ्वी की उत्पत्ति, सात समुद्र, सात द्वीप, सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह आदि का विकास स्पष्ट करते हैं।

मूल पर जीवित रहनेवाले वाराह (सूअर) का आविर्भाव हुआ। फिर सिंह आदि का। फिर आधा पशु, आधा मनुष्य——नृसिंह और तब मनुष्य ने जन्म लिया जो पहले वामन के रूप में, बौना रहा होगा। बौने के बाद पूर्ण मनुष्य हुआ। ग्रहों पर क्या है, उपग्रहों की क्या सत्ता है, इन सबकी बात तो छोड़ दीजिए। केवल इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि सृष्टि के विकास की वैज्ञानिक खोज के साथ हमारे अवतारों की कथा तथा तांत्रिक यंत्रों का मेल कितने सुन्दर रूप में होता है। इसलिए यदि अवतार को सृष्टि के विकास का प्रतीक मान लें, यदि विष्णु के मुख्य तथा गौण रूप को सृष्टि के इतिहास तथा सभ्यता का द्योतक, संकेत, प्रतीक मान लें तो पौराणिक इतिहास में सन्निहित गूढ़ तत्त्व समझ में आ जाता है। किन्तु यह बात तब तक स्पष्ट न होगी जब तक हम देवताओं की मूर्त्ति का थोड़ा परिचय न प्राप्त कर लें।

मूर्त्तिकला तथा प्रतीक

शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी विष्णु की मूर्त्ति की कल्पना पहले पहल पुराणों द्वारा हुई, यह तो निर्विवाद प्रतीत होता है, पर उसकी रचना कब हुई, कब से शुरू हुई, यह कहना कठिन है। महेंजोदाड़ो तथा हड़प्पा की खुदाई से यह तय हो गया है कि ५००० वर्ष पहले देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ प्रचलित थीं। यह भी मान लें कि उससे दो हजार वर्ष पहले से मूर्त्ति का प्रचलन रहा होगा। पर, पुराणों से इस विषय में निश्चित जानकारी नहीं हो सकती। वेद में शिव-लिंग तथा शंकर के रूप का किंचित् वर्णन तो है, पर उससे मूर्त्तिकला सम्बन्धी काम नहीं चलता। महाभारत में मूर्त्ति का वर्णन मिलता है। पर एक ही व्यास ने समूचा महाभारत लिखा तथा सभी पुराण बनाये, यह सन्देहजनक है। देवीभागवत के अनुसार २८ व्यास हुए हैं।[१] फिर तो समयनिर्धारण बड़ा कठिन है। प्राचीन ग्रन्थों में केवल हयशीर्षसंहिता तथा वैखानससंहिता में मूर्त्ति का कुछ वर्णन मिलता है, पर उनका समयनिर्धारण कठिन है। एक लेखक के अनुसार ईसा के ६०० से ८०० वर्ष बाद यानी शताब्दी में कम-से-कम १४-१५ संहिताएँ लिखी गयीं थीं।[२] इसलिए इनमें प्राप्त वर्णन उतना पुराना नहीं हो सकता, जितनी पुरानी मूर्त्तियाँ मिलती हैं, पर एक विद्वान् लेखक के अनुसार वैष्णव आगम में सबसे पुराना ग्रंथ वैखानस संहिता है। इसमें विष्णु की ३६ मूर्त्तियों का वर्णन है। साधक की जैसी इच्छा हो, जैसी कामना हो, उस प्रकार की मूर्त्ति की उपासना करे। योग, भोग, वीर-अभिचारिका—भिन्न प्रकार के भगवान् के रूप हैं।[३] इसी लेखक के अनुसार शैवागम का सबसे प्राचीन ग्रन्थ कामिकागम तथा कारणागम हैं जो नवीं शताब्दी के बाद के हैं।[४] डॉ० जितेन्द्रनाथ बनर्जी के कथनानुसार शाक्त तंत्रों में वर्णित मूर्त्तियाँ

१. F. O. Schroedar—"Introduction to Pancarātra Ahirbudhnya-Samhita," page 19.

२. T. A. G. Rao—Elements of Hindu Iconography—Vol. I.

३. वही, खण्ड १, भाग १, पृष्ठ ७८-८०

४. वही, पृष्ठ ५६-५७

और भी बाद की हैं। शाक्त तंत्र के ऐसे ग्रन्थ ९वीं से १०वीं शताब्दी के भीतर के हैं।[१] डॉ० बनर्जी के अनुसार मूर्त्ति का वर्णन करनेवाले प्राचीन भारतीय शास्त्रीय ग्रन्थ ईसा से २०० से ४०० वर्ष पूर्व से अधिक पुराने नहीं हैं। इसी युग में और विशेष कर गुप्त साम्राज्य के युग में भारतीय मूर्त्तिकला बहुत उन्नति करने लगी थी जो बाद की दस शताब्दी तक सौन्दर्य तथा भावुकता में बहुत ऊँचे पहुँच गयी थी।

मत्स्यपुराण, अग्निपुराण, कल्किपुराण, विष्णुधर्मोत्तर, विश्वकर्मावितार-शास्त्र, बृहत्संहिता आदि में विष्णु की मूर्त्ति का जैसा वर्णन है, वैसी मूर्त्तियाँ उत्तर तथा दक्षिण भारत में बराबर प्राप्त होती हैं, यद्यपि वे ७००-८०० वर्ष से अधिक पुरानी नहीं प्रतीत होती हैं। इनमें सूर्य का भी रूप दिया गया है यद्यपि भगवान् सूर्य सम्बन्धी तीन प्रसिद्ध ग्रन्थों—'अंशुमद्भेदागम', 'शिल्परत्न' तथा 'सुप्रभेदागम' में सूर्य की मूर्त्ति नहीं वर्णित है। मत्स्यपुराण के अनुसार विष्णु की प्रतिमा के दोनों तरफ़ श्री तथा पुष्टि खड़ी हैं।[२] इन दोनों देवियों के हाथ में कमल है। इस प्रकार विष्णु की शक्तियों का प्रतीक कमल हुआ। परम ऐश्वर्यशाली विष्णु के दोनों ओर ऐश्वर्य की शक्तियाँ श्री तथा पुष्टि हैं और कमल उनका प्रतीक है—आयुध है—संकेत है—और यों भी कह सकते हैं कि चिह्न है। कल्किपुराण में लिखा है कि विष्णु के दायें श्री हैं, जिनके हाथ में कमल है तथा बायें सरस्वती हैं, जिनके हाथ में वीणा है। वीणा स्वर-लहरी, वर्णमाला, मातृका तथा संगीत का प्रतीक है, यह आज पश्चिमी पंडित भी मानते हैं। अग्निपुराण में भी यही श्री तथा सरस्वती दायें-बायें, कमल तथा वीणा धारण किये हुए हैं। यहाँ तक लिखा है कि दोनों शक्तियों की मूर्त्ति विष्णु की मूर्त्ति की जंघाओं से ऊपर लम्बी न हो।[३] जो हो, मूर्त्ति के निर्माण तथा शृंगार के सम्बन्ध में सबसे रोचक साहित्य मत्स्यपुराण में प्राप्त होता है। उसीमें लिखा है कि नटराज की मूर्त्ति कैसे बनायी जाय।[४] सूर्य की मूर्त्ति के सम्बन्ध में मत्स्यपुराण में बड़ी रोचक वार्ता है। लिखा है कि विश्वकर्मा (देवों में सबसे बड़े कलाकार, मूर्त्तिकार तथा इंजीनियर) ने सूर्य की मूर्त्ति बनायी पर अधूरा पैर बनाकर छोड़ दिया, अतएव "जो उनका पूरा पैर बना देगा उसे कोढ़ हो जायगा।"[५]

१. Dr. Jitendra Nath Banerjea—"The Development of Hindu Iconography"—Calcutta University—1956 पृष्ठ २७।
२. मत्स्यपुराण, २५८-१५ "श्रीश्च पुष्टिश्च कर्तव्ये पार्श्वयोः पद्मसंयुते।"
३. अग्निपुराण, अध्याय ४४।
४. मत्स्यपुराण, बंगवासी संस्करण, पृष्ठ ३१।
५. बृहत्संहिता में भी लिखा है कि सूर्य की मूर्त्ति कमर के ऊपर तक की ही रहे। किन्तु, सुखवासपुर में प्राप्त सूर्य की मूर्त्ति में दोनों पूरे पैर बने हैं।

वृहत्संहिता में मूर्त्ति के विषय में बड़े ब्यौरे से दिग्दर्शन कराया गया है—कितने हाथ हों, कितने पैर हों, क्या आयुध हों, हाथों में क्या हो, इत्यादि।

"कार्योऽष्टभुजो भगवान्श्चतुर्भुजो द्विभुजो एव वा विष्णु :"[१] स्थानक विष्णु की जो मूर्त्ति प्राप्त हुई है, उसमें उनकी आठ भुजाएँ हैं। चार दाहिने हाथों में चक्र, बाण (शर), गदा तथा खड्ग है और तीन बायें हाथों में शंख, खेटक तथा धनु है। चौथा बायां हाथ सामने की ओर कमर पर विश्राम कर रहा है—'कटिहस्त' मुद्रा है। सभी मूर्त्तियाँ शुद्ध भारतीय कला की प्रतीक नहीं हैं। यूनान से घनिष्ठ सम्पर्क होने के बाद हमारी मूर्त्तियों पर, विशेषकर गांधार की मूर्त्तियों पर, यूनान की मूर्त्तिकला का बड़ा प्रभाव पड़ा है।[२] इसलिए यह कहना उचित न होगा कि सभी मूर्त्तियाँ शास्त्र की विधि या वर्णन के अनुसार बनी हैं। किन्तु इन सभी मूर्त्तियों के विषय में एक अकाट्य सत्य है—वह यह कि सभी मूर्त्तियाँ इसी विचार को सामने रख कर बनायी जाती थीं कि देवता में सभी प्रमुख प्राकृतिक तथा मानवीय गुण, विशिष्टता तथा भावना का समावेश करा दिया जाय। देवता इन भावनाओं तथा संकेतों की समष्टि का प्रतीक बन जाय।[३] यही बात बंगाल में प्राप्त होनेवाली मूर्त्तियों के सम्बन्ध में श्री भट्टसारी ने लिखी है। किन्तु उनके कथनानुसार बंगाल में उपलब्ध मूर्त्तियाँ अधिकांशत: या प्राय: १००० से १२०० ईसवीय सन् के बीच के काल की हैं।[४]

मूर्त्तियों के सम्बन्ध में हमारा बहुत कुछ अध्ययन अधूरा होने का कारण यह है कि हमारी अनगिनत मूर्त्तियाँ नष्ट हो चुकी हैं, खंडित हो चुकी हैं। हमारा यह अनुमान नितान्त भ्रमपूर्ण है कि मूर्त्तिपूजा के विरोधियों ने या मुसलमानों ने मूर्त्तियों तथा देवालयों को नष्ट-भ्रष्ट किया है। मूर्त्तियों को चुराने वाले, मूर्त्ति में लगी आँख आदि निकाल कर बेच डालने वाले, देवालयों पर अधिकार कर, उसे गिरा कर मकान बना लेने वाले अधिकांश हिन्दू ही मिलते हैं। इसी प्रकार सैकड़ों वर्ष पूर्व भी देवालयों को नष्ट कर मकान बना लेने वाले या देवालयों में रद्दोबदल कर मकान बनाने वाले हिन्दू थे। मूर्त्तियों को खंडित कर देने वाले भी हिन्दू थे। शैव वैष्णव आदि साम्प्रदायिक

१. वही वृ० सं० अध्याय ५७, श्लोक ३१-३५ तक।
२. Grunwedel and Burgess—Buddhist Art in India—pages 124-125.
३. J. N. Banerjea—"Development of Hindu Iconography"—page 394
४. Nalini Kanta Bhattasali—Iconography of Buddhist and Brahmanical Sculptures in the Dacca Museum-pub. Dacca Museum Committee—1929-page XVII.

झगड़ों में एक सम्प्रदाय वालों ने दूसरे के मन्दिर तथा मूर्त्तियाँ नष्ट की हैं। भारतीय मूर्त्तिकला तथा उसके संहार पर प्रकाश डालते हुए डॉ० बनर्जी लिखते हैं—

"ब्राह्मणयुग के आदि तथा बाद के यानी मध्ययुग में प्राप्त मूर्त्तियों की वास्तुकला से यह प्रकट है कि वे पूरी तरह से भिन्न ग्रन्थों में वर्णित परिचय-आदेश के अनुकूल बनायी गयी थीं। उनसे मिलती-जुलती हैं। पर ऐसी बहुत-सी मूर्त्तियाँ हैं जो आंशिक रूप से मिलती हैं अथवा एकदम नहीं मिलतीं··· अनगिनत मूर्त्तियाँ जिनमें धार्मिक कला की अमूल्य कृतियाँ थीं, मूर्त्ति-ध्वंसकों की बर्बरता द्वारा नष्ट हो गयीं, जिनकी क्षति-पूर्ति असम्भव है। इन प्राचीन कला-कृतियों के संहार का दोष केवल अन्य धर्मावलम्बी तथा मूर्त्ति-विरोधियों के सिर मढ़ देने से काम नहीं चलेगा। प्राचीन तथा मध्यकालीन युग के ऐसे अनेक भग्नावशेष पड़े हुए हैं जिनको युगों से लोग (देवालयों में) अपने रहने के उपयोग में लाते हैं।"[१]

मूर्त्ति हमारे धर्म तथा शास्त्र का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण अंग है। इसका उपयोग केवल उन दैवी या प्राकृतिक विभूतियों को प्रतीक रूप में दर्शाना है जो अन्यथा अव्यक्त रह जातीं। मूर्त्ति शब्द का प्रयोग देवीभागवत में भी बड़े महत्त्व के स्थानों में हुआ है।[२] भगवती की प्रार्थना करते हुए विष्णु भगवान् ने मधु-कैटभ राक्षसों को, सृष्टि के आदि-काल में, मारने के प्रसंग में, भगवती से शक्ति प्राप्त करने के लिए स्तुति की है[३]।

नमो देवि महामाये सृष्टिसंहार-कारिणि।
अनादिनिधने चंडि मुक्तिमुक्तिप्रदे शिवे॥

सृष्टि की रचना के समय सृष्टि-कर्त्ता विष्णु भगवान् को महा अविद्या तथा तमिस्रा रूपी राक्षसों से जब संघर्ष करना पड़ा उस समय उन्होंने परा शक्ति का आवाहन किया। उनके दोनों रूप हैं—निराकार तथा साकार, सगुण तथा निर्गुण। उनकी व्याख्या है—

सगुणा निर्गुणा चैव कार्यभेदे सदैव हि।
अकर्त्ता पुरुषःपूर्णो निरीहः परमोऽव्ययः॥

(देवीभा० ३ स्कं०, ६ अ०, ३४ श्लोक)

कार्यभेद से वह सगुण, निर्गुण है। अकर्त्ता है। 'पूर्ण पुरुष' है। इच्छारहित है। परम अव्यय है। उस महादेवी ने जब शरीर-रूप धारण किया तो उसकी मूर्त्ति के विकास का रोचक वर्णन है। काली के सम्बन्ध में लिखा है—

१. Development of Hindu Iconography—pages 32-33.

२. वाराहावतार के प्रसंग में ९वाँ स्कंध, ९वाँ अध्याय, श्लोक ३०—"कृत्वा रतिकलां सर्वां मूर्त्तिं च सुमनोहराम्"।

३. देवीभागवत, प्रथम स्कंध, ९वाँ अध्याय, श्लोक ४०।

निःसृतायान्तु तस्यां सा पार्वती तनु व्यत्ययात् ।
कृष्णरूपाऽथ सञ्जाता कालिका सा प्रकीर्त्तिता ।।
मसीवर्णा महाघोरा दैत्यानां भयवर्धिनी ।
कालरात्रीति सा प्रोक्ता सर्वकामफलप्रदाः ।।
अम्बिकायाः परं रूपं विरराज मनोहरम् ।
सर्वभूषणसंयुक्तं लावण्येन च संयुतम् ।।
(देवीभा०, ५, स्कंध २३, अ० श्लोक ३,५ तक)

स्याही के रंगवाली महाकाली का भूषण, लावण्य आदि से युक्त कितना सुमनोहर रूप है। यदि काली की मूर्त्ति बने और उसमें वे गुण न हों तो मूर्त्ति ठीक नहीं कही जायेगी।

आज के नये पढ़े-लिखे लोग हिन्दू-शास्त्र की इन प्राचीन बातों को न तो वैज्ञानिक मानते हैं और न किसी महत्त्व का। मूर्त्ति की बात तो दूर रही, यंत्र या मंत्र-शक्ति पर, वर्ण की महत्ता पर मातृका के दैवी प्रतीक पर तो अधिकांश नये पढ़े-लिखे लोगों की बिलकुल आस्था नहीं है। हाँ, यदि पश्चिमी विद्वान् कुछ समर्थन कर दें तो विश्वास जमने लगता है। इसीलिए वर्ण तथा शब्द की महत्ता पर हम आगे चलकर फिर प्रकाश डालेंगे। यहाँ पर, मूर्त्ति के प्रकरण में, हमने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वे विशिष्ट दैवी या आध्यात्मिक भावनाओं की प्रतीक हैं। चूँकि अन्ततोगत्वा प्रतीक तथा संकेत में कोई भेद नहीं रह जाता, इसलिए हम यदि मूर्त्तियों को, प्रतिमाओं को संकेत मानें तो कोई आपत्ति न होगी। यह निश्चय रूप से मान लेना चाहिए कि जहाँ-जहाँ हमने 'मूर्त्ति' शब्द लिखा है, वह 'प्रतिमा' के अर्थ में है। केवल अपनी बात को सरलता पूर्वक समझाने के लिए "मूर्त्ति' शब्द का उपयोग किया गया है।

अस्तु, प्रतिमा अत्यधिक भावुकता तथा मानसिक भावना की प्रतीक है। संकेत को समझने में तभी भ्रान्ति पैदा होती है जब बुद्धि कुछ और कहती है और प्रत्यक्ष कुछ और कहता है।[१] भ्रान्ति तब और बढ़ जाती है जब हम प्रतीक को अपनी व्याख्या का दास बना लेते हैं। वह संकेत संकेत नहीं है, वह चिह्न चिह्न नहीं है, वह प्रतीक प्रतीक नहीं है जो हमारी व्याख्या या हमारी परिभाषा की अपेक्षा करे, उस पर निर्भर करे। उसका जो उद्देश्य है, उसी उद्देश्य को पूरा करता है, हम समझें या न समझें। जब हम उसे नीचे उतारकर अपनी परिभाषा में गूँथने लगते हैं, तभी भ्रान्ति तथा शंका पैदा होती है।

१. C. K. Ogden—The Meaning of Psychology--1926—Chapter II.

यदि प्रतीक को वह वस्तु मान लें 'जो क्रियाशक्ति को संकलित कर, व्यक्त करे'—तो बात ज्यादा आसानी से समझ में आ जायगी ।[१]

जब हम किसी शब्द का उच्चारण करते हैं तो उच्चारण के पूर्व बहुत-सी ध्वनियाँ, बहुत-से अक्षर हमारे मस्तिष्क में घिर आते हैं, उत्पन्न हो जाते हैं । उनको हम अपनी बुद्धि से 'देख' लेते हैं, ग्रहण कर लेते हैं । इसी प्रकार जब हम किसी वस्तु का नाम लेते हैं, जैसे चारपाई—तो हमारे मन के अन्तरिक्ष में चारपाई के सभी अवयव, उसकी बुनावट, उसका उपयोग, सब कुछ आ जाता है । स्पष्ट है कि प्रत्येक संकेत, प्रत्येक चिह्न के भीतर उसकी उपयोगिता तथा उपादेयता सन्निहित है । इनके द्वारा मनुष्य एक दूसरे से अपने विचारों को, तात्पर्य को, आशय को, प्रकट कर सकता है । इसीलिए मानव-समाजमें इनका खास स्थान है । ऐसे चिह्नों को, संकेतों को, शब्दों को, शब्दों के नियमन को (मंत्र), प्रतिमाओं को, इशारों को, ध्वनियों को तथा रेखा-चित्रणको हम 'प्रतीक' कहते हैं ।[२] प्रतिमाएँ हमारे वर्तमान तथा भविष्य के आचरण का अति उपयोगी प्रतीक हैं ।[३]

किन्तु भारतीय प्रतिमाएँ आचरण या व्यवहार की प्रतीक हैं, ऐसी बात मान लेना भारतीय शास्त्र तथा दर्शन के प्रतिकूल होगा । प्रतिमाएँ (भारतीय) भावना की प्रतीक हैं । वस्तु-स्थिति की प्रतीक हैं । ठोस सत्य की प्रतीक हैं । जैसे बंगाल तथा देश के अन्य स्थानों में प्राप्त भगवान् बुद्ध की पंचध्यान मूर्त्ति (प्रतिमा) को लीजिए । श्री भट्टसाली के अनुसार ये मूर्त्तियाँ नीचे लिखी बातें व्यक्त करती हैं—[४]

पाँचध्यानी बुद्ध—

नाम	तत्त्वों के द्योतक	इन्द्रिय	रंग
१. वैरोचन	आकाश	शब्द	स्वेत
२. अक्षोभ्य	वायु	स्पर्श	नीला
३. रत्नसम्भव	अग्नि	दृष्टि	पीला
४. अमिताभ	जल	स्वाद	लाल
५. अमोघसिद्धि	मिट्टी	घ्राण	हरा

१. Dr. Jelliffo—"The Symbol as an Energy Condenser" in the Journal of Nervous and Mental Diseases, December, 1919.

२. C. K. Ogden and I. A. Richards—"The Meaning of Meaning". Pub—Kegan Paul—Trench, Trubner & Co., New York, 1927—Page 23.

३. वही, पृष्ठ २३ ।

४. Bhattasali—Iconography of Buddhist & Brahmanical Sculptures—pages 18-21.

बौद्धों के आदि बुद्ध तथा आदि प्रज्ञा—जिसे प्रज्ञा-पारमिता भी कहते हैं, हिन्दू-धर्म के परम पिता तथा परम शक्ति, पुरुष और प्रकृति, शिव-शक्ति, परम-शिव तथा बीज के द्योतक हैं। ये पाँचों बुद्ध भिन्न मुद्राओंवाले हैं—मुद्राएँ हाथ-पैर के संकेत को कहते हैं। हाथ की मुद्राएँ, जिनका तंत्रशास्त्र में बड़ा गम्भीर विवेचन है, भिन्न संकेत हैं जो वास्तव में प्रतीक का काम करते हैं। इन प्रतिमाओं से जो भिन्न मुद्राएँ या संकेत प्राप्त होते हैं वे इस प्रकार हैं—

वैरोच्य — उत्तराबोधि-मुद्रा या धर्मचक्र-मुद्रा।
अक्षोभ्य — भूमिस्पर्श-मुद्रा।
रत्नसम्भव — वरद मुद्रा।
अमिताभ — समाहित मुद्रा (ध्यानमग्न)।
अमोघसिद्धि — अभय-मुद्रा।

हिन्दू-धर्म में बिना शक्ति के देवता नहीं होता। यदि विष्णु हैं तो लक्ष्मी भी होंगी। शिव के साथ पार्वती का होना आवश्यक है। उसी प्रकार पंचध्यानी बुद्ध की भी अपनी शक्तियाँ हैं—

वैरोचन — वज्रधात्वीश्वरी,
अक्षोभ्य — लोचना,
रत्नसम्भव — सामरी,
अमिताभ — पान्दरा,
अमोघसिद्धि — तारा।

तंत्र-शास्त्र में तारा की उपासना का बहुत ही महत्त्व है। बड़ा ऊँचा स्थान है। बौद्धिक तंत्र में तारा ही प्रधान शक्ति है।[१] बिना मुद्रा के कोई प्राचीन मूर्त्ति नहीं है, प्रतिमा नहीं है। समझनेवाला चाहिए। बंगाल में शंकर की एक खट्वांग प्रतिमा मिली है जिसमें उनके एक हाथ में छड़ी है, जिसपर एक भयावना मस्तक बना हुआ है। एक हाथ वरद मुद्रा का है। वे वरदान दे रहे हैं। इसका अर्थ यही है कि वह मस्तक मृत्यु है। मृत्यु के स्वामी शंकर हैं। वे अपने भक्तों को मृत्यु से वरदान दे रहे हैं—मृत्यु से निर्भय कर रहे हैं।[२]

१. इस विषय में अधिक जानकारी के लिए पढ़िये—Waddell—Buddhism of Tibet—pages 337, 349, 350.

२. Bhattasali—page 11-12.

इसीलिए प्रतिमा की महत्ता को समझने के लिए आचरण तथा व्यवहार की सीमा में न बाँधकर उनसे ऊपर उठकर भावना को समझना चाहिए। आचरण मूलतः वातावरण को लक्ष्य करके होता है।[१] मन में जैसी प्रेरणा होती है, शरीर भी उसी के अनुकूल हो जाता है।[२] मछली खाने की इच्छा हुई तो तालाब की मछली ध्यान में आ जायेगी और हाथ मछली पकड़ने के सामान की ओर बढ़ जायगा। किन्तु ऐसा विचार किस प्रेरणा से उत्पन्न हुआ? भूख के कारण, तालाब के निकट रहने के कारण या मछली का चित्र देखकर? कार्य और कारण का सम्बन्ध सनातन है। दोनों एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं। पर, जिसने कभी मछली देखी न हो, मछली खायी न हो, वह मछली पकड़ने की सोचेगा ही क्यों? यह सही है कि अनुभव से कार्य प्रारम्भ होता है, कार्य होता है तथा कार्य से अनुभव होता है। पर किसी भी कार्य की पुनरावृत्ति अनुभव के कारण ही होती है।[३] मछली खाने की इच्छा, मछली पकड़ने की इच्छा, मछली पकड़ने का कार्य, यह सब अनुभव से हुआ। चिह्न तथा संकेत भी अनुभव से उत्पन्न होते हैं। केवल विचार, कार्य, कारण से नहीं। इसीलिए हम कहते हैं कि प्रेरणा में अनुभव छिपा हुआ है। अनुभव तथा प्रेरणा से भावना उत्पन्न होती है। भावना से प्रतीक बनता है। जिस प्रतिमा में कार्य-कारण का समुचित सम्बन्ध बन जाता है तथा जिसमें भावना का पूर्ण प्रतिबिम्ब होता है, वही सच्ची प्रतिमा है। वही प्रतिमा सच्चा प्रतीक होगी, जिसमें इनकी उचित मात्रा होगी। उसमें सत्य का अंश होगा।[४] यदि यह कह दिया जाय कि हर एक बात की व्याख्या, परिभाषा हो सकती है तो इसका तो यही तात्पर्य हुआ कि प्रत्येक चीज़ का कोई मनोवैज्ञानिक आधार है। यह मान लेना चाहिए कि व्याख्या या परिभाषा का मतलब ही होता है पुनरावृत्ति, पूर्व का अनुभव, पूर्व की पहचान।[५] बहुत-सी इकाइयों के इकट्ठा हो जाने पर एक घटना बनती है। इसलिए जब भी वैसी इकाइयाँ होंगी, वैसी ही घटना बनेगी। इसलिए अनुभव घटनाओं की कल्पना कर लेता है। प्रतीक भी घटनाओं तथा अनुभवों से उत्पन्न होता है। अतएव जिसे अनुभव नहीं है, वह प्रतीक को समझ नहीं सकता, बिना प्रेरणा के प्रतिमा का निर्माण नहीं होता। हर एक की प्रेरणा एक समान नहीं होती। किसी वस्तु को देखकर सबको एक समान प्रेरणा हो, यह सम्भव

१. E. B. Holt—"The Freudian Wish"—page 168—होल्ट ने वातावरण-इच्छा-व्यवहार पर काफी समीक्षा की है।
२. वही, पृष्ठ २०२।
३. The Meaning of Meaning, page 55
४. Eaton—Symbolism and Truth—1925—page 23.
५. The Meaning of Meaning, page 56.

नहीं है। जिसका समान प्रकारेण अनुभव होगा, उसको समान प्रकार की प्रेरणा होगी। किसी प्रतिमा को देखकर सबको एक ही प्रेरणा नहीं हो सकती। सत्तरहवीं शताब्दी में फ्रेंच यात्री तैवर्नियर भारत आये थे। इन्होंने अपनी यात्रा के अनुभव लिखे हैं। इनकी पुस्तक इतालियन भाषा में १६६० ईसवीय सन् में बोलोना में प्रकाशित हुई थी।[१] तैवर्नियर वाराणसी भी गये। वहाँ के प्रसिद्ध बेनीमाधव-बिन्दुमाधव के मंदिर को उन्होंने भारत में जगन्नाथ (पुरी) के मन्दिर के बाद श्रेष्ठ मन्दिर कहा है। जब वे मूर्त्ति का दर्शन करने गये, वह वस्त्र पहने हुए थी, अतएव उनको गला तथा मस्तक ही दिखाई पड़ा। उन्होंने लिखा है कि यह मूर्त्ति बेनीमाधव नामक बड़े देवता के शक्ल-सूरत की तथा उनकी यादगार में बनायी गयी है। पास में स्वर्ण का गरुड़ रखा हुआ था जो उनको 'आधा हाथी, आधा घोड़ा' प्रतीत हुआ।[२] अब इस प्रतीति से मूर्त्ति की, प्रतिमा की महत्ता तो कम नहीं हुई? तैवर्नियर ने भी वही भूल की जो अनगिनत लोग कर रहे हैं। देवताओं की मूर्त्तियाँ उनके असली सूरत-शक्ल की तस्वीरें नहीं हैं। वे उनकी शक्तियों का प्रतीक मात्र हैं। जो मूर्त्ति निरुद्देश्य है, ठीक से बनी नहीं है, उसका न बनना ही अच्छा है।[३] प्रतिमाओं में जो विभिन्नता है, वह प्रत्यक्ष में तो उनके रूप में विभिन्नता प्रतीत होती है, पर यह विभिन्नता वास्तव में उनके प्रतीक की विभिन्नता है। उनके मूल में जो एक आदि तत्त्व, एक महान् सत्य छिपा हुआ है, शिव तथा शक्ति की जो व्याख्या छिपी हुई है, उसके अनेक उपकरणों का जो रहस्य छिपा हुआ है, वह जानने तथा समझने की वस्तु है। किन्तु ऐसे मनुष्य कम नहीं हैं जो इन प्रतिमाओं की विभिन्नता से जीवन की विभिन्नता की बात सोचा करते हैं,[४] जो सदैव भ्रम में पड़े रहते हैं। अन्यथा राम या कृष्ण या दुर्गा या हनुमान या गणेश की प्रतिमाएँ भिन्न हो सकती हैं, उनका तात्त्विक गुण एक ही है। उनका मूल आधार वही एक परम शिव है।

विभिन्नता वस्तु से नहीं उत्पन्न होती है। उसकी व्याख्या से उत्पन्न होती है। अधिकांश व्यक्ति बिना मन में चित्र बनाये कुछ भी नहीं सोच सकते। यदि उन्होंने कहीं आग लगने की बात सोची तो उनके मन में आग लगने की तस्वीर बन जाती है। पानी पीने की सोची तो सामने पानी दिखाई पड़ता है। जो दिखाई पड़ता है उसका हम "अर्थ",

१. Tavernier—Viaggie Nella Turchia, Persia, C Indie-Bologue, 1690.

२. Mrs. Murray Aynsley—Symbolism of the East and West—Pub. George Redway, London, 1900, pages. 183-185.

३. The Meaning of Meaning—page 61.

४. वही, पृष्ठ ६६।

मतलब लगाते हैं । यदि आँख में चकाचौंध हो गयी तो हम अपने सामने प्रकाश, उसकी गहराई, रंग आदि सब देखकर अर्थ निकाल लेते हैं । अर्थ निकालने की क्रिया प्रसंग के अनुसार होती है । इसीलिए स्वप्न में देखी हुई चीजों का भी प्रसंग के अनुसार अर्थ निकाला जाता है । इसीलिए कहते हैं कि मनोवैज्ञानिक रूप से अर्थ का अर्थ है, तात्पर्य है, प्रसंग है ।[१] हमारी भावनाएँ भी प्रसंग के अनुकूल अर्थ निकालती रहती हैं, मूर्त्ति बनाती रहती हैं । जब किसी एक प्रसंग से एक प्रतीक समझ में आ जाता है तो हम हर एक प्रतीक में उसी प्रसंग को जोड़ देते हैं ।[२] इसी जोड़-तोड़ के कारण हम प्रतीक की मर्यादा भी नहीं समझ पाते । भारतीय प्रतिमाओं के प्रतीक तथा पश्चिमी मूर्त्तिकला में यही बड़ा अन्तर है । उनके प्रतीक स्पष्टतः समझ में आ जाते हैं । हम आगे चलकर पश्चिमी मूर्त्तिकला पर प्रकाश डालेंगे, पर यहाँ दो-एक उदाहरण दे दें । ऐंद्री मांटेना[३] तथा रोसो[४] की चित्रकला में पुण्य[५] का सबसे बड़ा शत्रु अविद्या[६] (अज्ञान) बतलाया गया है । रोसो के अनुसार अज्ञानी दुष्ट से अधिक बुरा है, क्योंकि प्रथम जानता ही नहीं कि उचित क्या है । दूसरा यानी दुष्ट तो जानता है, पर उचित करना नहीं चाहता । इनके प्राचीन चित्रों में अज्ञान या अविद्या की बड़ी मोटी, भद्दी सूरत बनायी गयी है । वह दोनों आँखों से अन्धा है । पुण्य को पराजित कर अज्ञान उसके ऊपर बैठ जाता है । अज्ञान के तथा सम्पत्ति के दो प्रतीक हैं—पशु का शरीर तथा मनुष्य का मुँह और रुपयों की थैली ।[७] ऐसे प्रतीक तो आसानी से समझ में आ जाते हैं ।

पर, भारतीय प्रतिमाओं के प्रतीक, हमारे यंत्र, हमारे मंत्र कहीं अधिक गूढ़ हैं । देश के किसी कोने में चले जाइए, प्राचीन प्रतिमाओं का एक वैज्ञानिक निरूपण मिलेगा । उनकी निर्माण-कला साधारण नहीं है । संसार के अन्य किसी देश में उस एक बात का ध्यान नहीं रखा गया है जिसका हम आगे चलकर उल्लेख करेंगे । यों तो सभी कलाकार हाथ, पैर, मुँह को नाप-जोखकर बनाते हैं पर भारतीय प्रतिमाएँ एक आध्यात्मिक संतुलन पर बनती थीं । उनका निर्माण साधारण आदमी का काम नहीं था । अतः बिना जानकारी के मूर्त्ति को देखकर उसका रहस्य भी नहीं समझा जा सकता ।

१. वही, पृष्ठ १७४-१७५ Psychologically Meaning is context.
२. वही, पृष्ठ, २०२ identity of the references symbolized by both.
३. Andre Mantegna.
४. Rosso. ५. Virtue. ६. Ignorance.
७. Dora and Erwin Panofsky—Pandora's Box—The Changing Aspects of a Mythical Symbol—Pub. Routledge and Kegan Paul Ltd., London, 1956—page 45-46.

मूर्त्ति का निर्माण

सच्चे, सनातनी हिन्दू के लिए मूर्त्ति या प्रतिमा साध्य नहीं है, साधन है—ऐसा साधन जिसके द्वारा अभ्यास करके साध्य को, इष्ट को, भगवान् को प्राप्त किया जाता है। महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः

(योगदर्शन १,१३)

स तु दीर्घकालनैरन्तर्य सत्कारा सेवितो दृढ़ भूमिः.

(यो० द०-१, १४)

अर्थात् वैराग्य में स्थिति प्राप्त करने के लिए यत्न का नाम अभ्यास है, पर अभ्यास तभी दृढ़ होगा जब कि लम्बे समय तक, बराबर, श्रद्धा के साथ किया जाय। साध्य को प्राप्त करने का एक साधन मूर्त्ति है। प्रतिमा है। उसकी उपासना है। पर उसे भगवान् नहीं समझकर भगवान् का प्रतीक समझना पड़ेगा। मूर्त्ति के दर्शन से भगवान् के दर्शन नहीं होते, यह तो उपनिषदों से ही स्पष्ट है।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ—स्वाम्।

(कठोपनिषद् १:२:२३)[१]

अर्थात् जिसे स्वयं दर्शन करने की इच्छा होती है तथा भगवान् को जब स्वयं दर्शन देने की इच्छा होती है, तभी उसका दर्शन होता है। उसी भगवान् की जब साकार रूप में कल्पना की जाती है तो प्रतीक के रूप में प्रतिमा की कल्पना करके लिखा है[२] कि भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है कि "शरद् ऋतु के कमलदल की शोभा को तिरस्कृत करनेवाली अपने चरणों की छवि के दर्शन का सौभाग्य मुझे भी दें। माया से घिरे अज्ञानी जीव के हृदय में बैठे अंधकार को दूर करनेवाली कोमल अरुणिम नख-पंक्ति का दर्शन मुझे भी दें। अपने आश्रितों पर सहज कृपा करनेवाले तथा अपने आश्रितों के समस्त

१. देखिए—मुण्डकोपनिषद् ३ : २ : ३।
२. श्रीमद्भागवत, ४ : २४ : ५२।

क्षय आदि दोषों को दूर करनेवाले अपने चरणकमलों का आस्वाद इस भक्त को भी दें।"

बिना अज्ञान का अंधकार नष्ट किये वासुदेव भगवान् का दर्शन नहीं होता—

वासुदेवस्तमोऽन्धानां प्रत्यक्षो नैव जायते ।
अज्ञानपटसंवीतैरिन्द्रियैर्विषयेप्सुभिः ।।

(शङ्खस्मृति ७:२० ।)है

जब अज्ञान का पर्दा नहीं होगा या कम होगा तो आपस में मूर्त्तिपूजक या भिन्न सम्प्रदायवाले झगड़ा नहीं करेंगे। सभी मूर्त्तियों का आदर करेंगे। गुप्त-साम्राज्य में और मध्ययुग के आदिकाल में ऐसी धार्मिक एकता थी।[१] ईसा से दो-तीन सौ वर्ष पूर्व तथा तीन-चार सौ वर्ष बाद तक सभी देवताओं की प्रतिमाएँ स्थापित थीं।[२] मंदिर थे। मनुस्मृति में देवताओं की मूर्त्तियों के लिए 'दैवतम' शब्द आया है।[३] कौटिल्य ने 'प्रतिमा' शब्द का प्रयोग किया है।[४] गुप्तचर लोग अपने गुप्त कार्य में इन प्रतिमाओं के प्रतीक से काम लें—ऐसा आदेश चाणक्य का था। इन मन्दिरों की रक्षा का भार राजा पर था।[५] अशोक के समय सभी धर्मों के आचार्यों की सभा "समाज" हुआ करती थी। अशोक के समय बहुत-से मंदिर थे और उनका वर्णन दिव्यानि रूपाणि' शिलालेखों में मिलता है। यह वर्णन प्रतिमाओं के लिए है। सम्राट् हर्षवर्धन की प्रयाग की वार्षिक सभा प्रसिद्ध है। मंदिरों के लिए मनु ने 'देवालक' शब्द का प्रयोग किया है। गृह्य सूत्रों में तथा स्मृतियों में 'देवता' शब्द आया है। दूसरी सदी में कार्त्तिकेय की प्रतिमाओं तथा उनके पूजन की प्रधानता के पर्याप्त प्रमाण मौजूद हैं। यक्षों के देवता वैश्रवण यानी कुबेर या जयन्त का भी काफी प्रचार था।[६] पतंजलि ने पाणिनि के सूत्र-भाष्य में अपने समय में पूजित 'सम्प्रतिपूजार्थः' शिव, स्कन्द, विशाख आदि देवताओं का वर्णन किया है।[७] महाभारत में बहुत-से देवताओं का वर्णन है। पुण्डरीकतीर्थ में 'शालग्राम

१. Banerjea—Development of Hindu Iconography—Chapter III.
२. वही, पृष्ठ ८९
३. मनुस्मृति, अध्याय ४, श्लोक ३९।
४. "देवध्वजप्रतिमाभिर्वः" कौटिल्य-अर्थशास्त्र, अध्याय अपसर्पप्राणिधिः।
५. कनिष्क के समय के एक शिलालेख में "तोष्ये पतिमा"—तोषकी प्रतिमा का जिक्र है। प्रकट है कि प्रतिमा का अपभ्रंश पतिमा हो गया था।
६. आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र, अध्याय ७-२०-३।
७. अपण्य इत्युच्यते। तत्रेदम् न सिद्धयति। शिवः स्कन्दः विशाख इति। किं कारणम्। मौर्या हिरण्यार्थिभिः अर्चः प्रकल्पितः"—पाणिनिसूत्रभाष्य, अ० ५—३—९९।

इति ख्यातो'—शालग्राम-विष्णु की प्रतिमा थी ।[१] ज्येष्ठिलतीर्थ में विश्वेश्वर की—शंकर-पार्वती की प्रतिमा थी—

तत्र विश्वेश्वरम् दृष्ट्वा देव्या सह महाद्युतिम् ।
मित्रावरुणयोर्लोकानाप्नोति पुरुषर्षभः ।।[२]

धर्म की प्रतिमा का जिक्र है । धर्म की मूर्त्ति को छूने से अश्वमेध यज्ञ का फल मिलता है—

धर्मं तत्राभिसंस्पृश्य वाजिमेधमवाप्नुयात् ।।[३]

ब्रह्मा की मूर्त्ति भी—'ततो गच्छेत् राजेन्द्र ब्रह्मस्थानमनुत्तमम्' ।[४] मूर्त्ति शब्द का प्रयोग महाभारत में है—

नन्दीश्वरस्य मूर्त्तिं दृष्ट्वा मुच्येत किल्विषः ।[५]

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र के 'दुर्गनिवेश' अध्याय में किले के भीतर नगर की रचना में, केन्द्र में जिन देवताओं के मन्दिर बनाने का जिक्र किया है वे हैं अपराजिता, अप्रतिहत, जयन्त, वैजयन्त, शिव, विश्रवण और अश्विन तथा देवी मदिरा । एक यूनानी लेखक ने एमेसा के अन्तोनिनस नामक नरेश (शासनकाल २१८ से २२२ ईसवीय सन्) के समय में एक भारतीय की सीरिया-यात्रा का जिक्र किया है । उसमें अर्द्धनारीश्वर (शिव तथा दुर्गा) की प्रतिमा का जिक्र है ।[६]

प्रतिमा तथा प्रतीक का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतिमाओं के इतिहास से ही प्राप्त होता है । वैदिक युग के देवताओं की प्रतिमाएँ बहुत कम उपलब्ध हैं; यों कहिये कि विरले ही उपलब्ध हैं । उस युग के देवताओं की प्रतिमाएँ मनुष्य के शरीर के रूप में नहीं, प्रतीक के रूप में होती थीं जैसे—सूर्य के लिए ○ तथा चन्द्रदेव के लिए ◡ बना देते थे । कुछ वैदिक देवताओं की प्रतिमाएँ—जैसे इन्द्र आदि की ईसा से सौ-दो सौ वर्ष पूर्व से पहले नहीं बनीं । किन्तु, यदि महाभारत का युग ईसा से ५००० वर्ष पूर्व मान लिया जाय तो उसमें वर्णित प्रतिमाएँ तो रही होंगी, यद्यपि इतनी पुरानी मूर्त्तियों का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है । ऐसा

१. महाभारत ३–८४–१२४ ।
२. वही, ३–८४–१३५ ।
३. वही, ३–८४–१०२ ।
४. वही, ३–८४–१०३ ।
५. वही, १३–२५–२१ ।
६. Banerjea—Hindu Iconography—page 89.

प्रतीत होता है कि प्रतीकरूप में प्राप्त वे मूर्त्तियाँ नष्ट हो गयीं । फिर भी, प्रतीक के रूप में देवताओं को अंकित तथा चित्रित करने की परिपाटी बनी रही । कई विद्वानों का मत है कि बौद्धों ने शक्र (इन्द्र) तथा ब्रह्मा की मूर्त्तियों का सबसे पहले उपयोग किया । जानवरों के रूप में यानी पशुओं को देवताओं का प्रतीक बनाने की परिपाटी भी बौद्ध-कालीन है । डॉ० ब्लॉश का कथन है कि सारनाथ में प्राप्त अशोकस्तम्भ पर जो हाथी, बैल, सिंह तथा घोड़ा बना हुआ है, वह भिन्न देवताओं का वाहनरूपी स्वयं देवता का प्रतीक है । तात्पर्य यह है कि भगवान् बुद्ध ने अपने नियम के, अपने विधान के अन्तर्गत उन सब देवताओं को बाँध लिया । उन देवताओं ने भगवान् बुद्ध की महत्ता स्वीकार कर ली । ब्लॉश के अनुसार अशोककालीन मूर्त्तियों तथा स्तम्भों पर जो पशु अंकित हैं वे निम्न परिचायक हैं[१]——

सिंह	दुर्गा
हाथी	इन्द्र
बैल	शिव
घोड़ा	सूर्य

लंका में बौद्ध विहारों पर ऐसे ही पशु अंकित हैं तथा अनुराधपुर में प्राप्त स्तपों पर भी है ।[२]

१. वही पृष्ठ ९६ ।
२. वही पृष्ठ ९६—Archeological Survey of Ceylon—1896, page 16 से उद्धत ।

प्रतिमा-निर्माण-कला तथा विज्ञान

प्राचीन काल में, शुरू-शुरू में, पत्थर या धातुओं की प्रतिमाएँ नहीं बनतीं थीं। वे प्राय: मिट्टी की या फिर लकड़ी की होती थीं। वैदिक काल में यज्ञ के समय लकड़ी के यंत्र प्रयोग में आते थे तथा मिट्टी की या मिट्टी के ईंटों की वेदी बनती थी। वैदिक ऋचाओं में लकड़ी का बड़ा महत्त्व है। यहाँ तक लिखा है कि विश्वकर्मा ने किस लकड़ी से पृथ्वी तथा आकाश को गढ़ा है—

किमस्विद्वनम् कौ स वृक्षासयतोद्यावापृथ्वी निष्टतक्षु:

(ऋग्वेद १०-८१. ४.)

वाराहमिहिर की बृहत् संहिता[१] के ५८ वें अध्याय—वनसम्प्रवेशाध्याय-में पूरे ब्यौरे के साथ दिया गया है कि किस प्रकार की लकड़ी से कौन वर्णवाली प्रतिमा बनाये। उसके अनुसार—

ब्राह्मण के लिए — देवदार, चन्दन, समी तथा मधुक लकड़ी

क्षत्रिय के लिए — अरिष्ट, अश्वत्थ, खदिर तथा विल्व लकड़ी।

वैश्य के लिए — जीवक, खदिर, सिन्धूक तथा स्पन्दन।

शूद्र के लिए — तिन्दुक, केशर, सरज, अर्जुन, अमड़ा तथा साल।

किन्तु लकड़ी काटने के पहले वृक्ष की उपासना का भी बड़ा विधान था।[२] भविष्यपुराण में **प्रतिमाविधि** पर बड़ा अच्छा विवेचन है।[३] **विष्णुधर्मोत्तर** में देवालयों के काम में आने योग्य लकड़ी के परीक्षण का विधान है।[४] मत्स्यपुराण ने **दार्वाहणरविधि** पर विस्तार से लिखा है।[५] महाकवि भोजदेव नरेश ने भी **प्रतिमानामथ ब्रूमो लक्षणम् द्रव्यमेव च**[६] लकड़ी की प्रतिमा का उल्लेख किया है। किन्तु जिस प्रकार की मिट्टी का प्रयोग प्रतिमा

१. सुधाकर द्विवेदी-संस्करण।
२. नमस्ते वृक्ष पूजेयम विधिवत् सम्प्रगृह्यताम्।बृ० सं० ५८—(१०-११)
३. प्रथम ब्रह्मपर्व, अध्याय १३१, भविष्यपुराण।
४. देवालयार्थं दारुपरीक्षणम्—खंड ३, अध्याय ८९; विष्णु०।
५. वास्तुविधानुकीर्त्तनम्—मत्स्य०, अ० २५७।
६. भोज० द्वितीय खंड, अ० १, श्लो० १—गायकवाड़ ग्रन्थावली।

के लिए होता था वह साधारण मिट्टी नहीं होती थी । उसमें लोहा तथा पत्थर भी पीस-कर मिलाते थे, इसका भी प्रमाण मिलता है । ऐसी मजबूत मिट्टी का प्रयोग यूनानी लोग अपनी मूर्त्तियाँ बनाने में करते थे । तीसरी से पाँचवीं सदी में प्राप्त गांधार देश की मूर्त्तियाँ भी ऐसी ही मिट्टी की होती थीं ।[१] पत्थर का उपयोग बिलकुल नहीं होता था, ऐसा भी नहीं है । हयशीर्ष-पंचरात्र में 'पाषाण' शब्द आया है, पर लकड़ी का महत्त्व अधिक अवश्य था । आज भी बंगाल में **नित्य पूजा** के काम में आनेवाली मूर्त्तियाँ लकड़ी की बनायी जाती हैं । पुरी में जगन्नाथजी, सुभद्राजी तथा बलभद्रजी की विशाल प्रतिमाएँ लकड़ी की हैं । वे हर बारहवें साल बदल दी जाती हैं । पुरानी मूर्त्तियाँ जमीन में गाड़ दी जाती हैं । प्राचीन लकड़ी की मूर्त्तियाँ अब इसीलिए नहीं मिलतीं कि वे समय-पाकर नष्ट हो गयीं ।[२] उनकी रंगाई, उनका बदला जाना नहीं हुआ । बृहत्-संहिता के बाद के ग्रन्थों में पत्थर की प्रतिमा का वर्णन मिलता है, जैसे अग्निपुराण में । जैन ग्रंथ 'अंतगद दसाओ' में पत्थर, लकड़ी आदि की प्रतिमा का जिक्र है । जैन तथा बौद्ध ग्रंथ जैसे **आर्यमंजुश्रीमूलकल्प, महामयूरी, समण्णफलसूत्त, संयुत्तनिकाय** आदि में कई प्रकार की मूर्त्तियों का ज़िक्र है जिसमें लकड़ी, पत्थर, चुनार का पत्थर, काला पत्थर सभी कुछ है । ईसा से ३-४ सौ वर्ष पुरानी पत्थर या लोहे या अन्य धातुओं की मूर्त्तियाँ-प्रतिमाएँ प्राप्य नहीं हैं ।[३] बाद में काँसे की मूर्त्तियाँ भी बनने लगीं । पर, मिली-जुली धातु की मूर्त्तियों का वर्णन मत्स्यपुराण में भी प्राप्य है ।

किन्तु हिन्दू, बौद्ध तथा जैन धर्मों में से प्रत्येक में प्रतिमानिर्माण का निश्चित विज्ञान था । बिना नाप-जोख की मूर्त्ति अशुद्ध समझी जाती थी । बौद्ध ग्रन्थ 'आत्रेय तिलक' में तो यहाँ तक लिखा है कि यदि शास्त्रविरुद्ध मूर्त्ति का मुख बना तो परिवार का सबसे बड़ा-बूढ़ा मर जायगा ।

अशास्त्रेण मुखं कृत्वा यजमानो विनश्यति ।[४]

(आ० ति०–१०)

प्रतिमाओं की नाप-जोख 'अंगुलि' में दी गयी है । एक अंगुलि की नाप हथेली का चौथा भाग होता था ।[५] पुराना माप-दण्ड, जहाँ तक प्रतिमाओं का सम्बन्ध है, एक समान

१. Banerjea—Hindu Iconography—pages 210-11.

२. वही, पृष्ठ २१२ ।

३. वही, पृष्ठ २१३ ।

४. आत्रेयकृत—प्रतिमामानलक्षणम् ।

५. पल्लवानां चतुर्भागो मापनाङ्गुलिका स्मृता । श्लो० ४ ।

नहीं है । पहले तो जिस परम शिव को, जिसे वेदों ने 'पुरुष' कहा है, हम माप-दण्डमें ला ही नहीं सकते, वह पुरुष समूचे विश्व में व्याप्त होते हुए भी उससे दस अंगुल ऊपर है ।

स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ।[१]

शतपथब्राह्मण में लिखा है कि प्रजापति अपनी उंगलियों से यज्ञवेदी को नापते हैं । पौराणिक युग में भी अंगुलनाप बनी ही रही । यह माप तीन प्रकार की होती थी । मालांगुल, मात्रांगुल तथा देहलब्धांगुल । वृहत्संहिता में जो माप दी गयी है वह काफ़ी सूक्ष्म है । उसके अनुसार छेद में से सूर्य की जो किरणें आती हैं उनका एक कण ही परमाणु है । धूल की एक कणिका, जिसे **रज** कहते हैं, आठ परमाणुओं को मिलाकर बनती है । आठ रजों को मिलाकर एक **बालाग्र** (एक केश के आगे का भाग) बनता है । ८ बालाग्रों की एक लिक्षा[२] बनती है । ८ लिक्षाओं का एक यूक बना ।[३] ८ यूकों का एक यव (जौ का दाना) बना । ८ यवों का एक अंगुल । यह तो वृहत्संहिता की माप हुई । शुक्रनीतिसार में एक मुट्ठी के चौथाई भाग को अंगुल कहते हैं ।[४] आत्रेय ने हथेली का चतुर्थांश एक अंगुल बतलाया है । इसलिए दोनों एक ही माप हुईं । पर किसकी हथेली हो—कलाकार की, उपासक की या पुरोहित की ? शुक्रनीति से स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिमा का ही अंगुल मानना चाहिए । प्रतिमा जिस पर खड़ी या बैठी है, यानी उसके पीठ या वेदी को छोड़कर, उसकी समूची लम्बाई को १२ भागों में विभाजित करे, फिर ९ भागों में । ऐसे विभाजन में प्रत्येक भाग एक अंगुल के बराबर हुआ । उत्तम श्रेणी की प्रतिमा १२० या १०८ अंगुल की होनी चाहिए, मध्यम श्रेणी की ९६ अंगुल की तथा निम्न श्रेणी की ८४ अंगुल की । १०८ अंगुल की प्रतिमा का चेहरा १२ अंगुल का होना चाहिए । प्रतिमा की समूची ऊँचाई उसकी **ताल** हुई और वही उसका **देह-लब्धांगुल** हुआ । २७ **मानांगुल** एक धनुर्मुष्टि के बराबर हुआ । ४ धनुर्मुष्टि का एक **दण्ड** बना ।

आत्रेय तिलक में बौद्ध प्रतिमाओं का जो माप-दण्ड दिया है, वह नीचे के पाँच श्लोकों से स्पष्ट है—

एकाङ्गुलि शिरः कुर्यान्मुखं द्वादशमङ्गुलम् ।।१२३।।

१. ऋग्वेद पुरुषसूक्त, १०—९० ।

२. लिक्षा लीख को कहते हैं ।

३. यूक—ढील या चिल्हर ।

४. स्वस्थमुष्टेश्चतुर्थांशो ह्यंगुलम् परिकीर्त्तितम् । —शुक्रनीति, अध्याय ४, खंड ४, श्लो० ८२ ।

ग्रीवा एकाङ्गुलं विद्धि देहो द्वादशमङ्गुलम्
अर्द्धांगुलं नितम्बञ्च कटिमेकाङ्गुलम् मतम् ।।१२४।।
नवाङ्गुलं भवेदूरुर्जानु एकाङ्गुलं स्मृतम् ।
जङ्घा नवाङ्गुला ज्ञेया गुल्फमर्द्धांगुलम् भवेत् ।।१२५।।
अधोभागा प्रकर्त्तव्या एकाङ्गुला प्रकीर्त्तिता ।
चतुष्कलञ्च विज्ञेया हिक्का नासाग्रमेव च ।।१२६।।

चतुस्ताल माप के सम्बन्ध में इन श्लोकों का अर्थ हुआ—

सिर१ अंगुल, चेहरा१२, गर्दन१, गर्दन के नीचे से कमर तक १२, चूतड़ १।२, ऊरु १, जंघा ९, घुटना १, पेंडुली ९ अंगुल, एंडी १।२, चरण १ अंगुल होना चाहिए ।

बृहत् संहिता में दूसरे ढंग से माप दी हुई है । उसमें लिखा है—

नासाललाटचिबुकग्रीवाश्चतुरङ्गुलास्तथा कर्णौ ।
द्वे अंगुले च हनुनी चिबुकं च द्वयङ्गुलं विततम् ।।

यानी नाक, मस्तक, ठोढ़ी, गर्दन, कान सब४ अंगुल के हों। जबड़े दो अंगुल चौड़े हों । ठोढ़ी की चौड़ाई दो अंगुल हो ।

बृहत्संहिता में प्रतिमा को ठीक से न बनाने का भयंकर परिणाम दिया है । लिखा है—

कृशदीर्घं देशघ्नं पार्श्वविहीनं पुरस्य नाशाय ।
यस्य क्षतं भवेन्मस्तके विनाशाय तल्लिंगम् ।।५७-५५ ।।

अर्थात् यदि शिव-लिंग अनुपातरहित, लम्बा तथा पतला है तो जहाँ पर बनाया गया है, उस स्थान को (देश को) नष्ट कर देगा । जिस शिव-लिंग का अगल-बगल का हिस्सा ठीक नहीं है वह जिस नगर में स्थापित होगा उसे नष्ट कर देगा। जिस शिव-लिंग के मस्तक में छिद्र है, वह प्रतिमा या मूर्त्ति या लिंग स्वामी का संहार कर देगा ।

प्राचीन शास्त्र से तथा प्रतिमा-निर्माण-कला से परिचित लोग आजकल जो मूर्त्तियाँ बनवाते हैं या बनाते हैं वे प्रायः अशुद्ध होती हैं । इसीलिए उनके पुजारी तथा पूजक की साधना निरर्थक होती है । मूर्त्ति भी निष्प्राण बनी रहती है । मूर्त्ति या अवतार, देखने में ऊपर से चाहे भिन्न आकृति तथा कलेवर के प्रतीत हों, पर वास्तव में वे सब एक ही परम शिव या परा शक्ति, जो कहिए, के प्रतीक हैं । ललिता-सहस्रनाम[1] में लिखा है—

निजांगुलि–नखोत्पन्ना नारायणदशाकृतिः ।

१. ब्रह्माण्डपुराण में लिखा है कि भण्डासुर के साथ ललिता के युद्ध में सभी अवतार निकले हैं ।

भगवती की दसों उंगलियों के नख से नारायण के दस अवतार हुए । दसों अवतारों का पौराणिक क्रम इस प्रकार है—

मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध तथा कल्कि ।

अस्तु, प्राचीन प्रतीक तथा प्रतिमा के सम्बन्ध को स्थापित करने के लिए हमें अभी और भी लिखना है । पश्चिम के विद्वानों ने इस विषय में इतनी भ्रान्ति पैदा कर दी है कि उन शंकाओं का निवारण तो करना ही पड़ेगा । पहले हम यह स्पष्ट कर दें कि वैदिक देवता कौन थे, वेदों में देवता की भावना क्या तथा किस प्रकार की थी ।

वैदिक देवता

बहुत-से पाश्चात्यों का तथा कुछ कम पढ़े-लिखे भारतीयों का भी ऐसा विश्वास है कि वैदिक देवता प्राकृतिक तत्त्वों के प्रतीक हैं और उनकी उपासना का तात्पर्य केवल उन प्राकृतिक तत्त्वों की उपासना करना है। ऐसी बात नहीं है। इस विषय पर पं० अलख-निरञ्जन पाण्डेय ने अपने एक गवेषणापूर्ण लेख में बड़ा अच्छा प्रकाश डाला है।[१] ऊपर हमने लिखा है कि सभी देवी-देवता एक ही परम शिव के प्रतीक हैं। श्री पाण्डेय ने भी यही सिद्ध किया है कि देवता की भावना आध्यात्मिक तथा दार्शनिक है। सभी एक परब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं और वे प्रकृत तत्त्वों के प्रतीक नहीं हैं। 'बृहद् देवता' के कथनानुसार सभी देवता एक ही आत्मा, अग्नि से उत्पन्न हुए हैं। सूर्य की रश्मियों से रस लेकर, वायु से गति प्राप्त कर जो संसार में वृष्टि करता है, उसे इन्द्र कहते हैं।

पृथक् पुरस्ताद्ये तूक्ता लोकादिपतयस्त्रयः।
तेषामात्मैव तत्सर्वं यद्यद्भक्तिः (प्रकीर्यते)॥
रसान् रश्मिभिरादाय वायुनाऽयं गतः सह।
वर्षत्येव च यल्लोके तेनेन्द्र इति स्मृतः॥[२]

निरुक्त में आया है कि अपने-अपने भिन्न कार्यों के अनुसार देवताओं के भिन्न रूप हो गये, पर वास्तव में हर एक देवता एक-दूसरे का मौलिक रूप है।[३] देवता आत्मजन्मा (आत्मजन्मानः) होने के साथ ही कर्मजन्मा (कर्मजन्मानः) भी हैं। किन्तु वास्तव में देवताओं के भिन्न रूप में एक ही आत्मा विद्यमान है। 'महाभाग्यात् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।'[४] गृह्य सूत्रों से स्पष्ट है कि वैदिक देवताओं की संख्या ३३ है। बृहस्पति देवताओं के गुरु हैं। मुख्य वैदिक देवता नीचे लिखे जा रहे हैं—

१. Alakh Niranjan Pande—"Role of the Vedic Gods in the Grihya-Sutras"—Journal of the Ganganath Jha Research Institute, Allahabad, Vol XVI, Parts 1-2—pages 91 to 133.

२. बृहद् देवता १.७३.६८।

३. एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति॥

४. निरुक्त ७.४.९-११।

अग्नि— निरुक्त तथा गृह्य सूत्रों के अनुसार देवताओं के नेता तथा देवताओं में प्रधान अग्नि हैं ।[१] प्रेरणा, शक्ति, बुद्धि, ज्ञान तथा दैवी सम्पदा के आधार तथा प्रदाता अग्नि हैं । दीर्घायु प्रदान करनेवाले, संकट से जीवन की रक्षा करनेवाले, अग्नि हैं । ऋग्वेद के अनुसार वे मनुष्य के कार्यों के द्रष्टा हैं । वेदाध्ययन के प्रारम्भ में अग्नि का आवाहन (जातवेद) होता है । उपनयन संस्कार में इनसे प्रार्थना की जाती है कि 'हमें प्रज्वलित करो जिससे हमारा विकास हो ।'

इन्द्र— जो अन्न का वितरण करे या जो अन्न प्रदान करे (इरा + दृ या इरा + दा), जो भोजन धारण करे (इरा + धारय) या जो भोजन भेजे (इरा + दारम) वह इन्द्र है । अग्नि के बाद इन्हीं का महत्त्व है । शारीरिक शक्ति में वे अग्नि से बड़े हैं । अग्नि के समान इनको भी नित्य पूजा प्राप्त होती है । बुद्धि, शक्ति, वैभव आदि के ये भी प्रदाता हैं । वज्रपाणि हैं । इनका वज्र समूची बुराइयों को दूर करता है । नष्ट करता है । वज्र दुष्टों तथा दुष्टताओं के संहार का प्रतीक है । उपनयन संस्कार में वटु को दण्ड धारण करना पड़ता है । यह दण्ड इन्द्र के वज्र का, बुराइयों को नष्ट करने वाले वज्र का, प्रतीक है ।

वरुण— वैदिक देवताओं में यद्यपि वरुण मध्यम श्रेणी के देवता हैं, पर इनके आवरण या प्रभाव की मर्यादा में सब कुछ है ।[२] वे विश्व के शासक हैं, प्रबन्धकर्ता हैं । अपराधों के लिए दण्ड देते हैं । पापी को वरुण-पाश में बँधना पड़ता है । सदाचार के स्वामी हैं । उपनयन संस्कार के समय गुरु वटु का हाथ वरुण के हाथ में दे देते हैं ताकि वह सदाचार में रहे । वैदिक पूजाओं में मित्र तथा वरुण की पूजा साथ-साथ होती है ।

विष्णु— विष्णु शब्द विश् धातु से बना है । इसका अर्थ है आच्छादित करना, विषितः अथवा व्यश् धातु से बना है—इसका अर्थ है अन्तःप्रवेश ।[३] किन्तु गृह्य सूत्रों में इनका स्थान अग्नि, इन्द्र, प्रजापति, सोम आदि देवताओं के समान ऊँचा नहीं है । फिर भी, वे कल्याणकारी देवता हैं और ऋग्वेद के अनुसार उनके तीन पग में विश्व नाप लेने से जनसमूह तथा विश्व का बड़ा कल्याण हुआ था ।[४]

१. अग्निः कस्मात् अग्रणीर्भवति । अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते—निरुक्त ७. ४ ।

२. वरुणो वृणोतीति सतः ।—निरुक्त

३. निरुक्त १२—१८ ।

४. यजुर्वेद में दिया है —
इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पांसुरे । (यजु० ५. १५.)

सप्तपदी में, विवाह के समय, विष्णु का ही मुख्यतः आवाहन होता है। प्रथम रात्रिमिलन में भी विष्णु का आवाहन होता है।

प्रजापति– प्राणियों के रक्षक तथा पालक देवता प्रजापति हैं[१]। देवताओं को अमरत्व इन्हीं ने प्रदान किया[२]। इन्होंने ऊपर मुख करके श्वास लिया, उससे देवता उत्पन्न हुए[३]।

जीवन, धन, वैभव, सम्पदा, परिवार के रक्षक प्रजापति हैं। जातकर्म-संस्कारों में इनका बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। देवता तथा असुर, दोनों के उत्पादक, पिता, प्रजापति हैं। इसीलिए असुर, सर्प आदि की बाधा से रक्षा के लिए भी इनकी पूजा होती है।

अश्विनीकुमार––ये दोनों भाई सबमें व्याप्त हैं। एक में द्रव पदार्थ है, दूसरे में प्रकाश। एक आकाश है, दूसरा पृथ्वी[४]। एक दिन है, दूसरा रात्रि[५]। एक सूर्य है, दूसरा चन्द्रमा। इनके रथ में घोड़े जुते हैं। बड़े अच्छे सारथी हैं। इसीलिए रथ पर, सवारी पर चढ़ते समय अश्विनीकुमार का आवाहन किया जाता है। इनकी भुजाओं में बड़ा बल है। गाय के स्तन तथा स्त्री के स्तनों के ये रक्षक हैं।[६]

रुद्र––यह देवता दौड़ते हैं, घोर नाद करते हैं, इसीलिए रौति––द्रवति––रुद्र हैं[७]। इनका सबसे बड़ा कार्य गो तथा पशु की रक्षा तथा पालन है। ये संक्रामक रोगों से रक्षा करते हैं। किन्तु इनका स्वभाव बड़ा उग्र है। ये भीम हैं। गोभिल-गृह्य सूत्र ने इनको असुर तथा राक्षस की श्रेणी में रख दिया है। शत्रु को इस प्रकार मार गिराते हैं जैसे बिजली पेड़ को[८]। इनके केश काले गुच्छे हैं। व्यापार की सफलता में भी इनका पूजन आवश्यक है।

बृहस्पति––ऋग्वेद के अनुसार वे युद्ध के भी देवता हैं[९]। पर सभी वेदों तथा गृह्य सूत्रों के अनुसार वे देवताओं के गुरु, विद्या, बुद्धि, सदाचार के स्वामी, मंत्र-द्रष्टा और ऋचाओं के प्रणेता हैं। धन, सम्पत्ति तथा वैभव के भी स्वामी हैं[१०]।

१. प्रजापतिः प्रजानां पाता पालयिता वा।—निरुक्त, १०–४३।
२. शतपथब्राह्मण, १०.४–३ से ८
३. वही ११.१.६-७।
४-५. द्यावापृथिव्यावित्येके। अहोरात्रावित्येके—निरुक्त—१२. १।
६. हिरण्यकेशिनसंहिता।
७. रुद्र रौति सतः, रोरूयामाणो द्रवतीति या रोदयतेर्वा—निरुक्त १०. ५।
८. हिरण्यकेशिन—१. ५. १६।
९. ऋ० २. २४. ३. १४।
१०. वही, २, २३, ५।

सोम—यज्ञ की आत्मा—आत्मा यज्ञस्य ।[१] शक्तिवर्द्धक भोजन के स्वामी तथा दाता, जल में विहार करनेवाले, वन में गर्जनेवाले, पृथ्वी तथा आकाश के पिता[२] तथा शरीर के रक्षक, धन के स्वामी, बहुत-सी पत्नियों वाले सोम देव वैदिक देवताओं में बड़ा ऊँचा स्थान रखते हैं ।

सवित्र—अग्नि के समान ये भी प्रकाश तथा वैभव के पुञ्ज हैं । दैहिक, सांसारिक, आध्यात्मिक तथा स्वर्गीय सुख के दाता हैं । समूचा प्राणि-जगत् इनसे अनुप्राणित हो रहा है[३] । ये प्रेरणा या स्फूर्ति प्रदान करते हैं[४] ।

सूर्य—जो गति करे, जो अनुप्राणित करे, वह **सू** धातु है और **स्वीर** कल्याणदायक है । देवताओं के वैभव तथा देवों की ज्योति का **प्रतीक** सूर्य है[५] । अग्नि का प्रतीक सूर्य है । नेत्र का प्रतीक सूर्य है[६] । यदि सूर्योदय के समय नीरोग व्यक्ति सोता रहे या कोई अनुचित काम करे तो मौन रहकर वैदिक ऋचाओं से उनका पूजन करे[७] । सूर्य वैभव तथा सम्पत्ति के प्रदाता हैं[८] । वेदपाठ में पहले इनका पूजन करे । वे प्रतिज्ञा के देवता हैं[९] । सब बुराइयों तथा बाधाओं को दूर करने वाले हैं । अग्नि तथा वायु के साथ इनका आवाहन, पूजन होता है ।

वायु—वायु[१०] देव वायु के देवता हैं, सोम-रस के शौकीन, सोम देव के रक्षक, अग्नि देव के समान मनुष्य के प्रत्येक काम के साक्षी, प्रतिज्ञा के साक्षी तथा शत्रु के विनाशक (हवा में उड़ा देने वाले) (ऋ० १.१३४.५) देवता, मध्यम श्रेणी के श्रेष्ठ देवता हैं ।

मरुत—इनका ऋग्वेद में प्रधान स्थान है । ये नियमित वैभव (मितरोचनी), नियमित नाद (मितरुविणी) तथा बहुत अधिक दौड़नेवाले देवता हैं । इनके हाथ में चमकते हुए भाले हैं । वे सूर्य के साथ आते हैं । हल चलाने के समय, खेती के काम में इनका पूजन होना चाहिए ।

१. वही ९. २. १० ।
२. हिरण्यकेशिन १. ६. १९. ७.
३. सविता सर्वस्य प्रसविता—निरुक्त १०. ३१ ।
४. गोभिल० १–३–४ ।
५. ऋक्०, १. ११५. १ ।
६. गोभिल० ३. ४. २१ ।
७. ऋक्० १०. ३७. ९ ।
८. गोभिल० ४. ५ ।
९. हिर० १. २. ७. १० ।
१०. वा—वहना, वी—हिलना, ई—जाना ।

मित्र—सच्चरित्रता, वैभव तथा शक्ति के प्रदाता मित्र देवता ऋग्वेद में प्राय: वरुण देवता के साथ एक ही मन्त्र या ऋचा में प्राप्य हैं । एक गृह्य सूत्र से तो यह स्पष्ट है कि वे सूर्य देवता के रूपान्तर हैं ।[१] उपनयन संस्कार में आचार्य जब वटु का दाहिना हाथ पकड़ते हैं तो वे कहते हैं—'मित्र ने तुम्हारा हाथ पकड़ लिया[२] ।'

पृथ्वी—माता पृथ्वी तथा पिता आकाश की कल्पना या भावना प्राय: सभी प्राचीन धर्मों में है । ऋग्वेद के अनुसार माता पृथ्वी, पिता आकाश प्राणियों की भय तथा विपत्ति से रक्षा करते हैं[३] । माता पृथ्वी 'देवता' पृथ्वी के सभी प्राणियों की जननी हैं । सन्तान की रक्षा के लिए इनकी उपासना के मंत्र हैं[४] ।

भग—सांख्यायन के अनुसार नववधू जब नवीन रंगे कपड़े पहने, तब भग देवता का मंत्र पढ़ना चाहिए । हिरण्यकेशिन-सूत्र में अर्यमा, पुरन्ध्री तथा सवित्र देवता के साथ भग देवता का आवाहन होता है । गोभिलसंहिता के अनुसार हल चलाने के समय इनका मंत्रोच्चार करे । गृह्य सूत्रों में ये साधारण कोटि के देवता हैं, पर ऋग्वेद तथा निरुक्त[५] के अनुसार ये 'सूर्य देवता' ही हैं या समानान्तर हैं ।

वैदिक देवताओं की संख्या हमने ऊपर ३३ लिखी है । इनमें से कुछ देवताओं का ही परिचय देकर हम आगे बढ़ेंगे । वैसे तो अनेक देवी-देवता वैदिक युग के हैं, जिनसे हम परिचित हैं जैसे इन्द्राणी, राका, अदिति, अनुमति, काम, अर्यमा इत्यादि, पर प्रतीक के अध्ययन के सिलसिले में इनका महत्त्व बहुत कम है । भिन्न देशों में प्राप्त प्रतीक का ऊपर परिचय कराये गये देवताओं से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण हम उनका ऊपर लिखा परिचय देकर ही यह अध्याय समाप्त करते हैं । परिचय अगले अध्याय में बड़ा काम देगा । हमें न भूलना चाहिए कि वैदिक आदेश के अनुसार सभी देवताओं का भिन्न कलेवर उनके भिन्न कार्यों के कारण है, अन्यथा सबमें एक ही आत्मा विराजमान है । इसीलिए एक-दूसरे के गुण भिन्न न होकर प्राय: एक समान हैं । हमारे इस तत्त्व को न समझ सकने के कारण ही पश्चिमी विद्वान् गहरी भूल कर जाते हैं । हमने आरम्भ में ही लिखा है कि सृष्टि का आविर्भाव अव्याकृता परा—श्री सच्चिदानन्द से हुआ । अव्याकृता—परा से ही पश्यन्ती-व्याकृता-पश्यन्ती का आविर्भाव हुआ जिसे व्याकरण कहते हैं । यह तो हुई

१. हिर० १.१.४.६ ।
२. वरुण देवता की सभी शक्तियाँ मित्र देवता में भी उपलब्ध हैं ।
३. ऋ० १.१८५ ।
४. पार०—१.६.१७ ।
५. नि० १२—१३ ।

शब्द-श्रेणी। दूसरी उत्पत्ति थी अर्थ-श्रेणी की। इससे प्रतिभा की उत्पत्ति हुई। इस प्रतिभा का सदन, द्यु-लोक--मित्र-सदन कहा जाता है। सूर्य का प्रथम चरण यहीं पड़ा।

इसके बाद **शब्द-श्रेणी** में मध्यमा **वाणी** तथा **अर्थ-श्रेणी** में बुद्धितत्त्व विकसित हुआ। उसका स्थान अन्तरिक्ष है। यहाँ सूर्य ने वरुण रूप धारण किया और विद्युत् के रूप में देखे गये। शब्द-श्रेणी में चार प्रकार की वाणियाँ हुई--परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी।

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी।

प्रथम तीन तो गुहा में निहित हैं। मनुष्य वैखरी वाणी बोलते हैं।[1] पर वे वाक्-तत्त्वों को नहीं जानते।

वाक्तत्त्वं ते न जानन्ति

अर्थ-श्रेणी में मन की उत्पत्ति हुई। इसका स्थान पृथ्वी है। पृथ्वी को अग्नि-सदन कहते हैं। आकाश को मित्र-सदन[2]। अग्नि-सदन को तेज के रूप में ही हम देख रहे हैं[3]। वैखरी वाणी[4] से ही चार वेद, छः अंग, आठ दर्शन, आठ उपदर्शन, चार उपवेद तथा फिर इसके बाद धर्मशास्त्र, इतिहास आदि की उत्पत्ति हुई। वाणी और देवता, शब्द तथा अर्थ, ज्ञान तथा बुद्धि--सब एक ही परा शक्ति से उत्पन्न हुए। सब की आत्मा, सब का आधार एक ही है। वाणी तथा शब्द के महत्त्व को पश्चिमी विद्वान् भी मानते हैं। सृष्टि में परा शक्ति का सबसे बड़ा प्रतीक वाणी है।

१. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।--ऋ० सं० २, ३, २२, ५।

२. मित्रस्य वरुणस्य अग्ने--दिवि अन्तरिक्षे पृथिव्याम्।

३. चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्राद्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥
--यजु० वा० सं० ७. ४२।

४. यां स मित्रावरुणसदनादुच्चरन्ती त्रिषष्टिं
वर्णानन्तःप्रकटकरणैः प्राणसङ्गात् प्रसूते।
तां पश्यन्तीं प्रथममुदितां मध्यमां बुद्धिसंस्थां
वाचं वक्त्रे करणविशदयां वैखरीं च प्रपद्ये॥
--भागवत, स्कं० ११, अ० १२--श्लो० १७, श्रीधरी टीका।

पश्चिमी विचारधारा में वाणी

डॉ० मैलिनोस्की के अनुसार आरम्भकाल में वाणी का उपयोग 'मन में उठनेवाले विचार को व्यक्त करनेवाला चिह्न या संकेत' के रूप में नहीं हुआ। उनके कथनानुसार असभ्य लोगों की वाणी के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि आरम्भ में वाणी 'काम करने का तरीका' मात्र है। भाषा की रचना के काफी समय बाद व्याकरण का विकास तथा आविर्भाव हुआ। जब वाणी तथा भाषा का विकास हो जाता है, वह साहित्यिक तथा भावों को व्यक्त करने और विचारों के आदान-प्रदान का काम करती है। इसीलिए किसी देश की भाषा को समझने के लिए उस देश के रहनेवालों की मनोवैज्ञानिक स्थिति को भी समझना चाहिए[1]। डॉ० मैलिनोस्की ने पापुआ तथा मलानीशियन भाषाओं के अध्ययन में यह अनुभव किया कि उनके किसी एक शब्द का दूसरी भाषा में समानान्तर या निकटतम शब्द दे देने से काम नहीं चलेगा। हर भाषा के हर एक शब्द के अन्तर्गत एक विशिष्ट भावना रहती है। उस भावना को समझना पड़ेगा[2]। प्रत्येक भाषा को समझने के लिए उस देश की भाषा के बोलनेवालों की सभ्यता तथा संस्कृति को जानना जरूरी है। इस प्रकार डॉ० मैलिनोस्की ने हमारे इस कथन को स्वीकार कर लिया है कि वाणी भावना का प्रतीक है। लोग वैखरी वाणी जानते हैं, पर—'वाक्तत्त्वं ते न जानन्ति'—वाक्तत्त्व को नहीं जानते। मंत्र जानते हैं, मंत्र का अर्थ नहीं समझते। मैलिनोस्की ने तोब्रियांद जाति के जंगलियों का एक वाक्य दिया है। उसके हर एक शब्द का हिन्दी में निकटतम अर्थ हम दे देते हैं। पर, क्या इन अर्थों से वाक्य भी स्पष्ट हुआ?—

तसकाउलो	—	हम दौड़ रहे हैं
कयमतना	—	सामने की लकड़ी
यकीदा	—	हम सब लोग
तवौला	—	हम पतवार चला रहे हैं

१, Bronislaw Malinowski—"Tec Problem of Meaning in Primitive Language"—Appendix I in the "Meaning of Meaning"—pages 297—298.

२. वही, २९९।

ओवानु	—	स्थान पर
तसीविला	—	हम मुड़े
तगीने	—	हमने देखा
सोदा	—	हमारे साथी
इसकाउला	—	वह भागा
हाऊउवा	—	पीछे की लकड़ी
ओलीविकी	—	पीछे
सिमितावेग	—	उनके सामुद्रिक—हाथ
पिलोल्	—	पिलोल्

तोब्रियांद भाषा के दो-चार वाक्य यदि शाब्दिक अर्थ के रूप में अनुवाद किये जायँ तो इनका कोई भी अर्थ न होगा ।[१] जो लोग उस जाति की सभ्यता, शिष्टता, साहित्य तथा भाषा से परिचित नहीं हैं, वे कदापि सही अर्थ न लगा सकेंगे । भाषा का संकेत तथा भाषा का प्रतीक अपनी शिष्टता तथा सभ्यता के अनुसार बनता है । ऊपर लिखे शब्दों के उच्चारण के साथ एक घटना, एक कहानी, एक इतिहास मिला हुआ है । किसी समय वे लोग समुद्र में अपनी छोटी नौकाएँ लेकर व्यापार करने के लिए निकले । मार्ग में नौकाओं में होड़ लगी । एक-दूसरे से तेजी से भगाने लगे । सब अपनी बहादुरी बखाननें लगे । डींग हाँकने लगे । ललकारने लगे । अब इतनी बातें केवल शब्दों से प्रकट नहीं हुईं । शब्दों के पीछे लगे इतिहास से ज्ञात हुईं । इसीलिए हम कहते हैं कि हमारी सभ्यता तथा शिष्टता से अपरिचित होने के कारण ही पाश्चात्य विद्वान् हमारे भारतीय प्रतीकों को अथवा पूर्वीय देशों के प्रतीकों को ठीक से समझ न सके और अर्थ का अनर्थ कर बैठे ।

भारतीय तथा यूरोपियन भाषाओं में प्रयोग में आने वाले शब्दों की धातु, अर्थ, प्रयोग तथा व्याकरण में रूप का स्पष्टत: पता लग जाता है । वैदिक देवताओं के परिचय-वाले अध्याय में हमने शब्द की धातु तथा अर्थ को भी दिया है । पर असभ्यों की भाषा के शब्दों में इस प्रकार धातु, अर्थ तथा व्याकरण बनाना सम्भव नहीं होता । उनके बहुत-से शब्द तो उच्चारण मात्र हैं ।[२] वे आवश्यकतानुसार शरीर की क्रियाएँ हैं । हू-ही-ही—ये शब्द नहीं हैं, संकेत हैं । इसलिए सभी उच्चारण न तो शब्द हैं, न प्रतीक हैं । इसलिए यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि वाणी अपनी संस्कृति के अनुसार बनती

१. वही, पृष्ठ ३०१ ।

२. वही, पृष्ठ ३०३ ।

हैं ।[१] असभ्य लोगों की भाषा अपने मौलिक रूप में कभी भी निश्चित विचार या भावना को व्यक्त नहीं करती । वह कुछ क्रियाओं या शरीर के कार्यों को प्रकट करती है[२] । यही बात हर एक बच्चे की आरम्भिक भाषा के लिए ठीक है । बच्चा जब शब्दों का उपयोग करना सीखता है तो वह उनके अर्थ पर नहीं जाता । उनके द्वारा होने वाले कार्य की ओर जाता है[३] । जब वह कहता है 'मार' तो उसके मन में मारने की भावना के बजाय मारने की क्रिया होती है ।

डॉ० मैलिनोस्की ने भाषा की उत्पत्ति की तीन श्रेणियाँ बतलायी हैं । उनके अनुसार[४]—

प्रथम श्रेणी—

ध्वनि की प्रतिक्रिया (प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित) घटना

द्वितीय श्रेणी—

क्रियाशील ध्वनि (सम्बन्ध रखने वाली) निर्दिष्ट वस्तु
(कुछ अस्पष्ट या स्पष्ट)

तृतीय श्रेणी—

(अ)
वाणी का उपयोग

क्रियात्मक प्रतीक (उपयोग में) निर्दिष्ट विषय

(ब)
घटना को व्यक्त करने वाली वाणी
कल्पना का कार्य

प्रतीक (अप्रत्यक्ष सम्बन्ध) निर्दिष्ट विषय

(स)
जादू टोना की भाषा
(परम्परागत विश्वास के अनुसार)

१. वही, पृष्ठ ३०७ ।
२. वही, पृष्ठ ३१७ ।
३. वही, पृष्ठ ३२१ ।
४. वही, पृष्ठ ३२४ ।

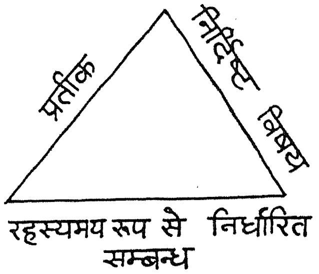

इस प्रकार डॉ० मैलिनोस्की ने अनजाने में ही हमारे पिछले अध्यायों में वर्णित वर्ण—मातृका का विकास, उनका प्रतीकात्मक रूप तथा तांत्रिक त्रिकोण का समर्थन किया है। वाणी को प्रतीक के रूप में, वैखरी को प्रतीक का आधार स्वीकार करने में एक प्रकाण्ड पश्चिमी विद्वान् से भी सहायता मिल गयी। हमने पिछले अध्यायों में वर्ण-शक्ति, मातृका-शक्ति पर जोर दिया है। मंत्रशक्ति पर लिखा है। जंगली जातियों के जादू टोना वाले मंत्रों का जिक्र करते हुए मैलिनोस्की ने भी जादू के 'शब्दों' की अद्भुत क्रिया-शक्ति का जिक्र किया है[१]। बिना क्रियाशक्ति के शब्द प्रतीक नहीं बन सकता।

यह बात इसलिए भी सही है कि जब तक वस्तु, विचार तथा शब्दों का सामञ्जस्य न हो जाय, शब्द प्रतीक बन नहीं सकता। डॉ० कुकशैंक ने लिखा है कि पश्चिमी चिकित्सा-विज्ञान को विज्ञान इसलिए नहीं कहना चाहिए कि अभी तक उसके आधार सिद्धान्तों की व्याख्या नहीं हुई है। "जब तक वस्तु, विचार तथा शब्द का एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध न स्थापित हो जाय।"[२] अपनी बात की पुष्टि में डॉ० मर्सियर का उद्धरण देते हुए[३] वे कहते हैं कि हम लोग बीमारी (रोग) दूर करने चले हैं पर आज तक हमने 'रोग'[४] शब्द की व्याख्या नहीं की। फलतः रोग से क्या तात्पर्य है, यह नहीं कहा जा सकता। डॉ० क्रुकशैंक के अनुसार 'इनफ्लुएंज़ा' ज्वर किस 'रोग' का प्रतीक है, यह नहीं कहा जा सकता। डॉ० साहब तो यहाँ तक लिख गये हैं कि आदतन शब्दों का दुरुपयोग करने से हम अपनी बड़ी हानि करते हैं। जैसे, हमने समझ रखा है कि रोग

१. वही, पृष्ठ ३२५।
२. Dr. F. G. Crookshank, Supplement II—"Meaning of Meaning" page 338-39
३. Science Progress 1916-17
४. Disease

कोई प्राकृतिक वस्तु है । यह धारणा रोग शब्द के दुरुपयोग से हुई है । "चिकित्सा विज्ञान में तब तक प्रगति न हो सकेगी जब तक यह विश्वास दूर न हो जायेगा कि 'रोग' नाम की कोई चीज़ वास्तव में है ।"[१] यानी रोग की सत्ता नहीं है, यह विश्वास होना चाहिए । इस प्रकार पश्चिम के विद्वान् भी शब्द के महत्त्व तथा उसकी मर्यादा को जानना-पहचानना अत्यावश्यक समझते हैं । बिना जाने बूझे, कोरे शब्दों को सुनकर उनसे कोई लाभ न होगा । कोई जानकारी न होगी । शब्द के पीछे बुद्धि होती है । बुद्धि का माप-दण्ड होता है । इसीलिए फ्रेजर ने लिखा है—

"यदि हम एक ही देश तथा एक ही पीढ़ी के, पर विपरीत बौद्धिक प्रतिभा के, दो व्यक्तियों के मस्तिष्क को फाड़कर उनके विचारों को पढ़ने की चेष्टा करें तो सम्भवतः हमको एक-दूसरे के विचार इतने प्रतिकूल मिलेंगे मानो वे दोनों भिन्न प्रकार के जन्तु हैं··· अंध विश्वास आज भी इसलिए कायम हैं कि एक तरफ समझदार लोग उनको बिलकुल नापसन्द करते हैं तो दूसरी तरफ ऐसे बहुत से लोग हैं जिनके विचारों तथा भावनाओं के वे अनुकूल हैं, जो यद्यपि अपने से श्रेष्ठ लोगों के कारण सभ्य लोगों की श्रेणी में खींचकर ले आये गये हैं पर मन के भीतर अभी तक बर्बर और असभ्य बने हुए हैं ।"[२]

इसीलिए सब स्वीकार करते हैं कि शब्द की बड़ी महिमा है । सभ्य लोगों में इशारे के स्थान पर, चिह्न के उपयोग के लिए शब्दों की रचना हुई होगी, ऐसी बात भी प्रायः सभी स्वीकार करने लगे हैं । ईसवीय सन् १०० से २५० तक के बीच में यूनानी दार्शनिक अनीसिदमस[३] तथा यूनानी डॉ० सेक्सटस ने इस विषय पर काफी विचार किया था । प्लेटो और अरस्तू तो शब्दों को प्रतीक रूप में मान लेने की भावना तक पहुँच गये, यद्यपि इस सम्बन्ध में उनके विचार स्पष्ट नहीं हो पाये थे । अरस्तू ने तो यहाँ तक कहा था कि स्वभावतः या प्राकृतिक रूप से स्वतः किसी विशिष्ट वाणी (बात) का महत्व नहीं होता । उसके साथ तथा उसमें निहित रूढ़ि, प्रथा, चलन से उसकी मर्यादा बनती है ।

किन्तु ये सब बातें, भाषा के विकास के सम्बन्ध में ऊपर लिखी उक्तियाँ हमको वाणी के, वर्ण के, मातृकाओं के उस रूप को पहचानने में सहायक नहीं हो सकतीं, जहाँ तक बिना पहुँचे हम शब्द ब्रह्म या नाद ब्रह्म की कल्पना भी नहीं कर सकते । केवल वैज्ञानिक समीक्षा से वैखरी, वाणी या शब्द की महत्ता नहीं समझी जा सकती । जिन

१. Dr. F. G. Crookahank—"Influenza"—1922, page 12, 61, 512.
२. J. G. Frazer—Psyche's Task—page 160
३. Aenesidemus.

लोगों ने शब्द की उत्पत्ति को 'इशारे' या 'चिह्न' के स्थान पर काम में आने वाला उच्चारण के रूप में लिखा है, वे उसके दार्शनिक महत्त्व को नहीं पहचान सकेंगे । ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व के यूनानी दार्शनिकों ने जितना समझा था उतना डॉ० सेक्सटस ऐसे यूनानी पंडित तथा जंगली जातियों की भाषा के विशेषज्ञ डॉ० मैलिनोस्की भी नहीं समझ सके । भाषा के विकास का वैज्ञानिक आधार तो बहुत कुछ वे सही बतला गये पर उस आधार से भाषा को हम संकेत तथा चिह्न ही कह सकते हैं, प्रतीक नहीं । जहाँ भाषा केवल संकेत के रूप में ली जाती है, वहाँ लोग अंधविश्वास में पड़ जाते हैं । वहाँ भाषा से अंधविश्वास का काम लिया जाता है, जैसे कोई यह कहे कि अमुक नाम बड़ा मनहूस है, जिसका नाम अमुक होगा, वह अवश्य दुष्ट या चोर होगा । प्राचीन रोमन लोगों में ऐसा अंधविश्वास था । रोम में सिपियो नामक एक बड़ा विजेता हो गया था । प्रसिद्ध रोमन विजेता सीज़र ने सिपियो नामक एक अज्ञात व्यक्ति को इसीलिए स्पेन में सेनापति बना दिया था कि उसका नाम बड़ा शुभ था । रोम में जब जनगणना होती थी तो चेष्टा की जाती थी कि पहला नाम ऐसा शुभ हो कि मनहूसियत न आवे—और वे शुभ नाम होते थे सालवियस, वलेरियस, विक्टर, फेलिक्स, फास्तस इत्यादि । उसी रोम में आगे चलकर फास्त नाम का एक बड़ा लम्पट तथा 'शैतान का शागिर्द' भी पैदा हुआ था । रोमन सम्राट् सेवेरस की पत्नी जुलिया बड़ी व्यभिचारिणी थी । सम्राट् उसके दुराचार पर इसलिए खामोश रहते थे कि प्रथम रोमन आगस्तस की घोर दुराचारिणी लड़की का नाम भी यही था । ईसाई धर्म ने ऐसे अंध विश्वास को दूर किया था क्योंकि उनके मतानुसार भी प्रारम्भ में 'शब्द' था और शब्द के टुकड़े होकर ही सृष्टि बनी । पर अंध विश्वास आसानी से जाता नहीं । ईसाइयों के सबसे बड़े धर्मगुरु पोप एड्रियन ६ वें जब पोप की गद्दी पर बैठे तो बड़े पादरियों ने उनसे आग्रह किया कि वे अपना नाम बदल दें क्योंकि उस नाम के जितने पोप गद्दी पर बैठे थे वे एक साल के भीतर मर गये थे[१] । पोप एड्रियन ६वें ने ऐसा नहीं किया । वे एक वर्ष में मरे भी नहीं ।

शब्दों के प्रति इसी अंधविश्वास के भय से प्रो० बाल्डविन ने उनकी व्याख्या में 'प्रयोगात्मक तर्क' का उपयोग किया है । वे शब्द के चिरस्थायी अर्थ को नहीं मानते थे । वे यह जानना चाहते हैं कि 'इस समय उस शब्द का क्या अर्थ है ।'[२] उन्होंने भी शब्द को अन्तोगत्वा संकेत माना है । बाल्डविन के अनुसार जिस समय शब्द का उपयोग किया

१. F. W. Farrar-Language & Languages—pages 255-36
२. Baldwin—Thoughts and Things—Vol II-Chapter VII—"What it now means"

जाता है, उस समय के अनुसार उसका अर्थ होता है। उनके अनुसार, उस शब्द के उच्चारण के समय मनुष्य के मन में क्या है, यह समझना चाहिए।

प्रो० पियर्स भी बाल्डविन के मत के थे। पियर्स भी तर्कशास्त्री थे। अमेरिकन विद्वान् थे। उनके कथनानुसार यह तर्कशास्त्र का काम है कि प्रतीकों की सत्यता की औपचारिक स्थिति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करे। पर बाद में उन्होंने स्वीकार किया कि किसी भी विज्ञान का काम सिद्धान्त बनाना नहीं, खोज करना है, जाँच करना है[१]। पर वे अपने इस निर्णय पर टिक न सके। उन्होंने चाहा तो था कि प्रतीक की सत्यता को पहुँच जायँ पर वे संकेत तथा चिह्न के आगे बढ़ न सके। उन्होंने प्रतिमाओं को भी चिह्न अथवा संकेत माना है। उन्होंने चिह्न की तीन श्रेणियाँ बना दी हैं।

१. विचारों तथा संकेतों द्वारा जिनकी अनगिनत रूप में व्याख्या की जा सके।
२. वास्तविक अनुभव से ही जिनको समझा जा सके।
३. जिनको उनके प्रकट रूप से अथवा भावना की सीमा की परिधि में समझा जा सके।

तात्पर्य यह कि संकेत को समझने के लिए भावना तथा बुद्धि चाहिए, हम यह स्वीकार करते हैं। यह बात संकेत के लिए सही है, प्रतीक के लिए नहीं। प्रतीक को न समझने वाला चाहे जो समझे। अंधा यदि हाथी की सूँड को ऊँचा खम्भा समझ ले तो सूँड खम्भा नहीं हो जायेगी। उसी प्रकार प्रतीक अपने स्थान पर अचल है। जिस काम के लिए है, वही काम करता है।

औगडन और रिचार्ड्स भाषा या शब्द को प्रतीक नहीं मानते[२]। वे कहते हैं कि यद्यपि भाषा को एक दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करने का माध्यम माना गया है पर वास्तव में ऐसे माध्यम का वह एक साधन मात्र है। और ऐसे अन्य साधनों के समान यह भी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा एक परिष्कृत अथवा विकसित रूप है। जिस प्रकार आँख की पुतली किसी चीज़ को देखते हुए भी गलत ढंग से देख सकती है, जैसे चेहरा किसी का हो और समझ में किसी का आये, या दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करने का तरीका चित्र या फोटो से भी आदमी के रंग-रूप के बारे में गलतफहमी हो सकती है, उसी प्रकार भाषा तथा शब्द के विषय में भी ज्ञानेन्द्रियाँ भूल कर सकती हैं। इसीलिए इन लेखकों के अनुसार,

१. C. S. Peirce—Paper in Arts & Science, Boston—VII. 1868—Page 295.
२. The Meaning of Meaning—page 98.

भाषा तथा शब्द का प्रतीकात्मक रूप दोषपूर्ण होता है। बिना सांकेतिक परिस्थिति की पूरी जानकारी के प्रतीकों से भ्रम ही बढ़ता है। क्या सही, क्या झूठा प्रतीक है, यह समझना बड़ा कठिन है। बड़े विशेषज्ञ ही यह बतला सकते हैं।"[१]

औगडन और रिचार्ड्स के अनुसार जो शब्द जिस वस्तु के लिए होता है, उसका सम्बन्ध अप्रत्यक्ष होता है और यह सम्बन्ध भी कारणवश होता है। फिर भी प्रत्येक शब्द किसी विशिष्ट घटना या वस्तु का प्रतीक होता है।[२] जिस विशिष्ट घटना या वस्तु का वह प्रतीक होता है, उससे अधिक वह व्यक्त नहीं करता। जब हम किसी विशिष्ट घटना का जिक्र करते हैं या उसके बारे में सोचते हैं तो हमारे मन में कुछ प्रतिक्रिया होती है, कुछ भावनायें उठती हैं, कुछ चित्र या मूर्त्ति बन जाती है पर ये बड़े विश्वसनीय संकेत नहीं होते। संकेतों की अविश्वसनीयता के कारण ही प्रतीक की आवश्यकता होती है, जैसे किसी ने कहा कि कल १०२ फले थे, आज १०३। इससे हमारे मन में बहुत से संकेत और चित्र बन गये—फल, फूल, तरकारी—न जाने क्या-क्या। पर, जब कहने वाले ने कहा कि 'आम' तब पूरी स्थिति समझ में आयी। इसलिए संकेत से उत्पन्न भावना का बिना प्रतीकीकरण किये कोई बात समझ में नहीं आ सकती। पर हम पूरी तरह से अपने प्रतीकों की कृपा पर निर्भर नहीं करते।[३]" अक्सर ऐसा भी होता है कि अपने सभी प्रतीकों से सहायता लेने पर भी बात समझ में नहीं आती। उस समय बहुत-से सांकेतिक चिह्नों का सहारा लेना पड़ता है। फिर भी भावना में जो बातें आसानी से ग्राह्य नहीं होतीं, उनके स्थान पर प्रतीक का उपयोग अनिवार्य है।[४] प्रतीक निर्देश करने के कार्य का प्रतीकीकरण है। इसी प्रकार जब कोई प्रतीक मुँह से कहा जाता है, सुनने वाले के लिए निर्देश करने के कार्य का संकेत बन जाता है।[५]

शब्द और प्रतीक का सम्बन्ध स्थापित करते हुए यह लेखक लिखते हैं कि "यद्यपि पहले लोगों का विश्वास था कि शब्दों का स्वतः कोई अर्थ होता है पर वास्तव में अब यह स्थापित हो गया है कि शब्दों का स्वतः कोई अर्थ "नहीं" होता। जब कोई सोचने वाला उनका उपयोग करता है, किसी काम के लिए, तब उस काम के सम्बन्ध में उनका अर्थ हो जाता है। वे निर्देश करने के साधन मात्र हैं। इसलिए विचार, शब्द तथा वस्तु

१. वही, पृष्ठ ९४ तथा ९५।
२. वही, पृष्ठ १८८, ९।
३. वही, पृष्ठ २०३।
४. वही, पृष्ठ २०३।
५. वही, पृष्ठ २०५।

का सम्बन्ध निर्धारित करना पड़ेगा। इन तीनों में जो अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है, उसे निश्चित करना पड़ेगा। इसे उन लेखकों ने एक त्रिकोण बनाकर सिद्ध किया है।——

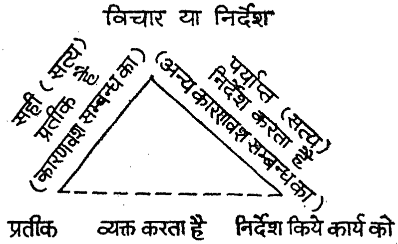

विचार और निर्देश में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार का सम्बन्ध होता है। जैसे हम एक चित्र देखें तो प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो गया। पर "प्रतीक और निर्देश में कभी प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। प्रतीक का प्रयोग किसी निर्देश के लिए ही होता है। प्रतीक तथा निर्देश का सीधा सम्बन्ध नहीं होता। हम ऐसा सम्बन्ध बना लेते हैं।"[१] इसलिए विशिष्ट परिस्थितियों में एक ही प्रतीक का भिन्न अर्थ हो सकता है।[२] इसीलिए प्रतीक हो अथवा भाषा, दोनों के अध्ययन का मनोवैज्ञानिक आधार तथा विश्लेषण होना चाहिए।[३]

पश्चिमी विद्वानों की ऊपर लिखी विचार-धारा से स्पष्ट है कि बहुत अधिक वैज्ञानिक ऊहापोह में पड़ जाने के कारण शब्द तथा भाषा की व्याख्या करते-करते वे काफी भ्रान्ति में पड़ गये हैं और शब्द की रचना के आदि महातत्त्व को वे पकड़ नहीं सके। फिर भी, उनके मन में यह बात है कि शब्द का आध्यात्मिक रूप है। औगडन और रिचार्ड्स लिखते हैं——

"आरम्भ काल से ही मनुष्यों ने अपनी सोचने की क्रिया में सहायतार्थ प्रतीकों से काम लेने का तथा अपनी कार्य-सिद्धि को लिपिबद्ध करने——अंकित करने——का जो कार्य किया है, वह बड़े आश्चर्य तथा भ्रान्ति का विषय रहा है···प्राचीन मिस्र-निवासी तथा आज के कवि के रूप में शायद ही कोई अन्तर हो। इसीलिए वाल्ट ह्विटमान ने लिखा है कि सभी शब्द आध्यात्मिक हैं। शब्दों से अधिक आध्यात्मिक वस्तु और कुछ

१. वही, पृष्ठ ११।
२. वही, पृष्ठ २३३।
३. इसी पुस्तक में डा० अर्नोट के विचार, पृष्ठ २३२।

भी नहीं है। शब्द आये कहाँ से ? हजारों, लाखों वर्षों से ये चले आ रहे हैं···। हमारी जिन्दगी में सबसे मुस्तकिल ताकत शब्द-शक्ति है।"[१]

वे आगे चलकर लिखते हैं कि दैवी या मानवी, सब कुछ शब्द-शक्ति के अन्तर्गत हैं। इसलिए वास्तविकता के समूचे ढाँचे की आत्मा का दूसरा रूप भाषा है या भाषा छाया-आत्मा है।[२] यूनानी दार्शनक अरस्तू का यह कहना भ्रमपूर्ण है कि मूलतः भाषा मानसिक भावनाओं का संकेत मात्र है।[३] उनसे भी पूर्व के दार्शनिकों ने—यूनानियों ने—"आत्मा के स्वभाव को प्रकट करने वाली वस्तु" का नाम भाषा कहा था और भाषा वह वस्तु है जिसे जिस काम के लिए सीमित रखना चाहिए उस काम तक सीमित रखने की बात भी बहुत-से लोग सोच नहीं सकते। आत्मा का वर्णन, उसका परिचय केवल वाक्यों द्वारा ही हो सकता है। यदि भाषा का उपयोग केवल शरीर तथा उसके गुणों के लिए किया जाय तो यह मूर्खता होगी।"[४]

'आत्मा' की ही व्याख्या करते हुए बौद्ध दार्शनिकों ने भाषा के भ्रमात्मक उपयोग की निन्दा की थी। वे लिखते हैं कि उसे 'सत्त' कहिये, 'अत्त' कहिये, 'जीव' कहिये या 'पुग्गल' (व्यक्ति) कहिये, इससे कुछ नहीं होता, क्योंकि ये तो नामकरण, उपकरण, संसार में उपयोग में आने वाले वाक्य-प्रबन्ध मात्र हैं। जो लोग सत्य को जानते हैं, वे ही असली तत्त्व समझते हैं। वे नाम-दोष से भटक नहीं जाते[५]।

औगडन और रिचार्ड्स ने 'पवित्र शब्द' ॐ का, सूफी मंत्रों का, योगदर्शन, मीमांसा, न्याय तथा याज्ञवल्क्य आदि का भी जिक्र किया है। इस प्रकार उन्होंने बिना अध्ययन के भी हमारे वर्ण तथा मातृका सम्बन्धी प्राचीन सिद्धान्त, ॐ का ब्रह्मांड-व्यापी महत्त्व तथा मंत्र-शक्ति को स्वीकार किया है। डॉ० मैलिनोस्की आदि तो छिछले पानी में रह गये। जंगलियों की भाषा के अध्ययन में जंगली भावनाओं के जंगल में फँस गये। पर ऊपर लिखे दोनों लेखक सत्य के बहुत-कुछ निकट पहुँच गये। उन्होंने स्पष्ट लिख दिया है कि आरम्भ में शब्द प्रतीक रूप में था[६]। बाद में उसका भावनामय रूप हुआ।

१. The Meaning of Meaning—Chapter II—pages 24-25.
२. वही, पृष्ठ ३१।
३. वही, पृष्ठ ३५।
४. Whittaker—The Neo-Platonists, page 42.
५. C. A. F. Rhys Davids—Buddhist Psychology, page 32.
६. The Meaning of Meaning, page 42.

इसी आरम्भिक शब्द को मंत्रों में हमारे ऋषियों ने बाँधा। आगम-शास्त्र ने तंत्र में, यंत्र में बाँध दिया——जो विश्वव्यापक था उसे रेखाओं के दायरे में बाँध दिया गया। विश्व-व्यापी शब्द की महान् शक्ति है। महान् महिमा है। लाओ-त्से[१] ने सच कहा था——"जो जानता है, बोलता नहीं। जो बोलता है, वह जानता नहीं।"[२]

१. चीनी ताओ-वाद धर्मके प्रवर्त्तक।

२. "He who knows does not speak, he who speaks does not know"— Lao Tse.

मन, बुद्धि तथा विचार

ऊपर के अध्याय में हमने विचार, भावना, संकल्प तथा शब्द का मेल, उनका सम्बन्ध बतलाने का प्रयास किया है। प्रेरणा तथा भावना से कार्य होता है या कार्य तथा भावना से प्रेरणा उत्पन्न होती है, हम इस बारीक तर्क में न पड़ कर मन, बुद्धि तथा विचार का प्रतीक से सम्बन्ध सिद्ध करना चाहते हैं। यदि इन तीनों में एक-स्वरता न हो, एकता न हो तो शब्द की शक्ति नहीं विकसित होगी तथा प्रतीक निर्जीव तथा निरर्थक हो जायगा। शिक्षा का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए श्री क्लार्क ने व्यक्ति तथा विज्ञान की एकता के बारे में जो कुछ लिखा था, वह इस सम्बन्ध में भी लागू होता है। वे लिखते हैं कि व्यक्तिवाद तथा विज्ञान दोनों को मिलाकर एक सम्पूर्ण वस्तु बननी चाहिए जो विभिन्न होते हुए भी एक में मिलकर ठोस बन जाय। व्यक्तिवाद में हमें ठोसपन तो मिलता है पर उसमें एकता-रहित विभिन्नता होती है। विज्ञान में एकता है पर उसमें ठोसपन नहीं है। इसलिए मानव कल्याण के लिए व्यक्तिवाद तथा विज्ञान में सामञ्जस्य उत्पन्न करना आवश्यक है।[१] जिसे वास्तविकता की जानकारी प्राप्त करनी है उसे मानव-विचारधारा की प्रगति की जानकारी हासिल करनी चाहिए।[२] इसीलिए प्रसिद्ध दार्शनिक बोज़ांके का कथन है कि "तुम संसार के बनाने वाले नहीं हो, वह स्वयं तुम्हारे स्वभाव से तुमको अवगत कराता रहता है।"

हमने ऊपर बार-बार लिखा है कि निर्विकल्प ब्रह्म से ही यह सृष्टि हुई, इस ब्रह्माण्ड की रचना हुई। किन्तु यदि वह निर्विकल्प है, तो फिर न तो वह कर्त्ता है, न कर्म है। उसे स्पष्ट रूप से ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय, कुछ भी नहीं कहा जा सकता। स्पष्टतः उसकी कोई व्याख्या नहीं है। वह शब्दों से समझाया नहीं जा सकता। अध्यारोपवाद से उसे सृष्टि का कर्त्ता भी नहीं सिद्ध किया जा सकता[३]। हम एक धारणा बनाकर

१. F. Clarke—"Essays in the Politics of Education"—Oxford University Press, 1923, page 11.

२. वही, पृष्ठ, १७।

३. A. J. Mukerji—"The Nature of Self"—Indian Press Ltd., Allahabad, 1943, page 338.

चलते हैं कि वही सृष्टि का कर्त्ता तथा कारण है। हमें उस परम शिव का बोध शरीर के भीतर बैठी आत्मा से होता है। यह आत्मा की चेतना है। चेतना तथा आत्मा एक ही वस्तु हैं। शंकराचार्य का यही मत है[१]। ब्रह्म निर्विकल्प है[२]। जल में प्रतिबिम्बित होकर सूर्य ब्रह्म का प्रतीक बन जाता है। ब्रह्म भी उसी प्रकार सृष्टि में प्रतिबिम्बित हो रहा है। यह विश्व ही ब्रह्म का प्रतीक है। जिस प्रकार चन्द्रमा जल में प्रतिबिम्बित होकर अनगिनत प्रतीत होता है उसी प्रकार एक ही आत्मा संसार में अनगिनत मालूम होती है[३]। प्रत्येक के शरीर में एक ही आत्मा विराजमान है। यह आत्मा न तो सोचती है, न चलती है, फिर भी यह चलनशील तथा विचारशील है। इस आत्मा के ही ऐसे नाम तथा उपकरण हैं जो समूचे विश्व के विस्तार के बीजरूप हैं। वे हैं माया, शक्ति तथा प्रकृति। इन्हीं को हम विचार, संकल्प तथा प्रेरणा कह सकते हैं। इन तीनों चीजों की एकता आत्मा में है। परिस्थितियाँ बराबर बदलती रह सकती हैं पर आत्मा अपनी व्यक्तिगत सत्ता कायम रखती है।[४] अन्तःकरण में आत्मा निर्विकल्प, निर्लेप तथा किसी वस्तु से सम्बन्धित नहीं है। वह असंग है। फिर ऐसी आत्मा, ऐसे ईश्वर का बोध भी कैसे हो जो कल्पना, ज्ञान, जानकारी, व्याख्या इत्यादि के परे हो ? इसीलिए वात्सायन अपने कामसूत्र में लिखते हैं—

ईश्वरं प्रत्यक्षानुमानागम विषयातीतम् कः शक्त उपपादायितुम्

हीगल ऐसे पश्चिमी पंडित इसी कारण उस परम शिव को नहीं मानते जिसकी निश्चयात्मक रूप से व्याख्या न की जा सके। ईश्वर, आत्मा, पदार्थ, बुद्धि—जो भी कुछ वास्तविक है उसकी व्याख्या होनी ही चाहिए। उनका कार्य-कारण सम्बन्ध होना चाहिए।[५] यदि ब्रह्म के लिए, आत्मा के लिए ठोस प्रमाण की आवश्यकता है, जैसे किसी वृक्ष या मेज़ कुर्सी के लिए, तो यह प्रमाण कदापि नहीं मिल सकता[६]। प्रमाण के अभाव में हमको ईश्वर की कल्पना ही छोड़ देनी चाहिए। इसीलिए हीगलने हमारी 'ब्रह्म' की कल्पना की भर्त्सना की है। पर वे एक सम्पूर्ण अथवा परम आत्मा को मानते हैं जो न तो अनिश्चित है और न सम्बन्ध-रहित। यह परम आत्मा ही सभी प्रकार के सांसारिक

१. वही, पृ० ३३९।
२. सर्वविकल्पासहो निर्विकल्पः—तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य।
३. वही, ३, २, १८।
४. The Nature of Self page, 341.
५. वही, पृष्ठ ३४५।
६. वही, पृष्ठ ३४५।

सम्बन्धों का समन्वय है। यही परम आत्मा दो रूपों में प्रकट होता है—आत्मा तथा अनात्मा। इन दोनों के भेद को दूर कर एकता को प्राप्त करना ही सबसे बड़ी सफलता है।[१]

किन्तु यह सब विवाद वहीं समाप्त हो जाता है जब हम यह समझ लें कि हमारे दर्शन में परब्रह्म की 'कल्पना' नहीं की गयी है। उसे 'कल्पना से परे' माना गया है। संसार में जो कुछ है, उसका वर्गीकरण हो सकता है। उसका एक दूसरे से सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। ऐसी सभी वास्तविकताएँ जो अस्थायी हैं, उनकी सीमा होती है। हर वर्गीकरण के विपरीत वर्गीकरण भी होता है। हर एक सांसारिक पदार्थ की अनेकता होती है। इन सब भिन्न वर्गीकरण तथा अनेकता में जो एकता स्थापित करे, वही आत्मा है। अ और ब नामक दो पदार्थ हैं। ब की सत्ता वहीं तक है जहाँ तक अ भी कायम है। यदि अ न रहे तो ब ही अ और ब दोनों हो जायगा। अतएव अ और ब की विभिन्नता को पहचानने वाला तथा दोनों को एक में मिला कर एका स्थापित करने वाला आत्मा है[२]। इसीलिए हमारे शास्त्र में आत्मा को द्रष्टा कहा है। यदि आत्मा अ और ब से भिन्न न हो तो वह स्वयं अ और ब—दो में से किसी की श्रेणी में आ जायेगा। इसीलिए हम उसे द्रष्टा कहते हैं। वह किसी भी श्रेणी में नहीं है।

ब्रह्म ज्ञान ही वास्तविक विद्या है। पर ब्रह्म मनुष्य के लिए बोधगम्य नहीं है। फिर भी, शंकराचार्य ने तर्क से ब्रह्म की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया है[३]। हम उस गूढ़ तर्क में न पड़कर केवल यह लिख देना चाहते हैं कि आत्मा द्रष्टा है। पुरुष तथा प्रकृति—परम शिव तथा पराशक्ति के संयोग से सृष्टि हुई। उसमें प्राणी का आविर्भाव हुआ। उस प्राणी के अन्तःस्तल में एक ही आत्मा विद्यमान है। जब तक आत्मा अथवा चेतना अविद्या में पड़ी है, इस संसार की सत्ता है, अन्यथा, ब्रह्म का ज्ञान होते ही विद्या प्राप्त होती है।

इस परमात्मा को कार्य में किसने प्रेरित किया? यजुर्वेद[४] में भी यही प्रश्न किया

१. वही, पृष्ठ ३४७।

२. वही, पृष्ठ ३४९।

३. वही पृष्ठ ३६५, शंकराचार्य ने स्वीकार किया है कि शब्दों से ब्रह्म की व्याख्या नहीं हो सकती—"शब्देनापि न शक्यते विरुद्धोर्थः प्रत्याययितुम्"।

४. यजुर्वेदके तीन चरण हैं। इसमें राजा, प्रजा, कर्त्तव्य आदि की इतनी अधिक समीक्षा है कि इसे "राजनीतिक" वेद भी कह सकते हैं। पतंजलि के अनुसार इसकी १०१ शाखाएँ हैं—"एकशत मध्वर्यु शाखाः"।

गया है। तैत्तरीयोपनिषद्[१] में भी ऐसा ही प्रश्न है। यजुर्वेद में पूछते हैं—"हे पुरुष, तू जानता है कि तुझको कार्यों में कौन प्रयुक्त करता है? वह परमेश्वर ही तुझको उत्तम कार्यों में प्रेरित करता है। तुझको वह परमेश्वर किस प्रयोजन के लिए नियुक्त करता है?···हे स्त्री पुरुषो! वह परमेश्वर ही तुम दोनों को उत्तम कार्य करने के लिए प्रेरित करता है। वह तुम दोनों को सर्व शुभ गुणों व विद्या को प्राप्त करने के लिए या सर्व-व्यापक परमात्मा को प्राप्त करने के लिए नियुक्त करता है।"[२]

कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति
तस्मै त्वा युनक्ति, कर्मणे वा वेषाय वाम्॥
यजु० ६. अ० १.

आगे चलकर उसी परमात्मा को प्रेरक बतलाया गया है।[३] लिखते हैं कि जगत् के समस्त प्रकाशमान पदार्थों को उत्पन्न करने वाला परमेश्वर सुख, प्रकाश और ताप को प्राप्त करने या देने वाले विद्वानों, एवं दिव्य गुणों, सूक्ष्म दिव्य तत्त्वों को अपनी धारणा शक्ति और क्रियाशक्ति से तेज के साथ युक्त करके, बड़े भारी प्रकाश या विज्ञान को पैदा करने वाले उनको उत्तम रीति से प्रेरित करता है[४]। छान्दोग्य उपनिषद् में इसी 'प्रेरणा' को संकल्प का रूप दिया गया है। लिखा है—

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति। तत्तेजोऽसृजत्। तत्तेज ऐक्षत।
बहुस्यां प्रजायेयेति। तदयोसृजत। तस्माद्य त्र क्क च शोचति स्वेदते
वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यायो जायन्ते॥ (प्रपाठकः ६. खंड २ प्रवाक ३)

अर्थात्, उस सत् (ब्रह्म) ने ज्ञानरूप संकल्प किया कि मैं सर्व समर्थ हूँ। अतः मैं जगत् का सर्जन करूँ। ऐसा संकल्प कर उसने तेज का सर्जन किया। पुनः उस तेजस्वी ब्रह्मा ने ज्ञान-रूप संकल्प किया कि मैं समर्थ हूँ। अतः जगत् का सर्जन करूँ। ऐसा संकल्प

१. तित्तिरिणाप्रोक्तमधीयते तैत्तिरीयाः—तित्तिरं (एक पक्षा) आचार्य से कहे प्रवचनको पढ़ने वाले छात्र तैत्तरीय कहलाये।

२. जयदेश शर्मा—यजुर्वेद संहिता, भाषा-भाष्य, आर्य साहित्य मंडल, अजमेर, पृष्ठ ५. देखिये शतपथ ब्राह्मण, १, १, १, ११-२२।

३. युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतोधिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्ः॥
—स० ३, अ० ११—मं० ३।

४. यजुर्वेद संहिता, पृष्ठ ४०१

कर उसने जल का सर्जन किया । इस कारण जिस किसी स्थान या काल में प्राणी संतप्त या स्वेदित होता है वहाँ तेज से ही जल उत्पन्न होता है ।[१] ब्रह्म के संकल्प से ही जल की उत्पत्ति हुई । उसके संकल्प से ही अन्न (पृथ्वी) का सर्जन हुआ । जल से ही अन्न और खाद्य होते हैं[२] । इन भूतों[३] के तीन ही बीज होते हैं—अण्डज (पक्षी आदि), पिण्डज (मनुष्य, पशु आदि) तथा उद्भिज्ज (वृक्ष इत्यादि) । अण्ड हमारे शास्त्र में बड़ा महत्त्व का प्रतीक है । इसका वर्णन हम आगे चलकर करेंगे । यहाँ पर अण्ड की गोलाई को ⊙ बीज मान लें । इनमें तीनों बीज—अण्जड, पिण्डज, उद्भिज्ज शामिल हैं । इन तीनों बीजों के मध्य एक-एक को त्रिवृत् (त्रिगुण) करूँ, (ऐसा ज्ञान-रूप संकल्प उस परम देवता ने किया और इस प्रकार से संकल्प करके) वह परम देवता इन तीनों देवताओं में इस जीवात्मा के साथ स्वयं भी मानों प्रविष्ट हो उनके नाम और रूप को स्पष्ट रूप से प्रकाशित करने लगा[४] ।

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति. . .(छा० ६.२.३.)

बीज और त्रिकोण को आगम शास्त्र ने बीज—त्रिकोण यंत्र में बाँध दिया है । इसका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं । इस प्रकार नीचे लिखे उपासना के मंत्र सृष्टि के आरम्भ और रहस्य के प्रतीक हैं ।

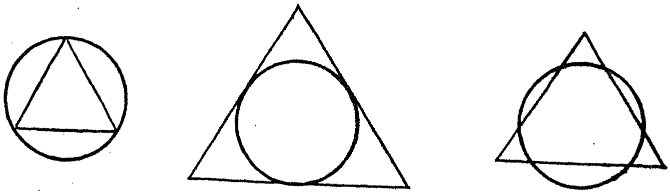

ब्रह्म से बीज हुआ । बीज से सृष्टि । पर सृष्टि के प्राणी नहीं जानते कि वे स्वयं ब्रह्म हैं । इसका उदाहरण छान्दोग्य के नवम खण्ड में दिया है[५] । लिखा है कि जैसे

१. शिव शंकर शर्मा—छान्दोग्यपनिषद् भाष्य—वैदिक यंत्रालय, अजमेर, संवत् १९९३, पृष्ठ ७४२ ।
२. ताः आप ऐक्षन्त ।...ताः अन्नम् असृजन्त...तद्ध्यन्नं जायते (छा० ६-२-४ ।)
३. अन्न शब्द का अर्थ लक्षणा से पृथ्वी है । पृथ्वी से अन्न उत्पन्न होता है । जल इसका निमित्त कारण है । (छा० भाष्य, पृष्ठ ७४५) ।
४. वही, पृष्ठ ७४८ ।
५. वही, पृष्ठ ७८१-८२ ।

भ्रमर मधु बनाते हैं अर्थात् नाना वृक्षों के रसों को इकट्ठा करके एक मधु नामक रस बना देते हैं[1] पर वे रस विवेक को नहीं प्राप्त करते कि इस वृक्ष का रस है मैं हूँ, वैसे निश्चय ही ये सम्पूर्ण जन सत् (ब्रह्म) में योग प्राप्त करके भी यह नहीं जानते कि हम लोगों का योग ब्रह्म से है[2]। जैसे समुद्र में मिल जाने वाली नदियाँ समुद्रत्व को प्राप्त करती हुई भी यह नहीं जानतीं कि यह मैं हूँ।[3]

छान्दोग्य की ही कथा है कि आरुणी ऋषि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा कि न्यग्रोध[4] का एक फल ले आओ। उसमें बहुत सूक्ष्म बीज है। उसमें से एक दाने को तोड़ो। क्या दिखाई पड़ा? पुत्र ने कहा कुछ नहीं। तब ऋषि ने कहा कि इस बीज के जिस अणुतम भाग को तुम नहीं देखते हो उसी अणु भाग का (कार्यभूत) ऐसा यह बड़ा न्यग्रोध वृक्ष खड़ा है। इसमें अणु मात्र सन्देह नहीं है। इसमें श्रद्धा रखो[5]। बीज से उत्पन्न सृष्टि में श्रद्धा रखो।

सर्वं तत्सयं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ।।

छा० ६.१५.३.

'वह' तुम ही हो। तुम ही ब्रह्म हो। किन्तु यह ज्ञान किसे होगा। जो स्वयं ज्ञान का समुच्चय है, जो परमात्मा है, उसे ज्ञान की प्राप्ति कैसी? ब्रह्म कहिये या आत्मा वह तो 'स्वयं प्रकाश' है। वह 'नित्य चैतन्य स्वरूप' है। स्वयं समूचे विश्व को प्रकाशित कर रहा है—उसे किसी प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। स्पष्ट है कि आत्मा, चेतना, ज्ञान तथा अनुभव से जानने योग्य "पदार्थ" नहीं है[6]। दार्शनिक कांट ने भी स्वीकार किया था कि कर्त्ता को प्रयोजन मान लेने से काम नहीं चलेगा, ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकेगा[7]।

'न्याय दर्शन' के अनुसार बिना प्रमाण तथा प्रमेय के तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। बिना उपमा तथा उपमेय के असली बात मालूम नहीं होती। न्याय दर्शन ने आत्मा को

१. तथा।
२. छान्दो० प्रपाठकः ६, खण्ड ९ प्रवाक १-२।
३. इयम् अहम् अस्मि—वही, ६, १०, २।
४. बट (बरगद)।
५. छा० भाष्य० पृष्ठ ७९०-९१-६, १२, १-२।
६. The Nature of Self, page 373.
७. वही, ३७९।

दो प्रकार का बतलाया है। पहला तो वह जो संसार में व्याप्त है, सर्वज्ञ है। दूसरा वह जो कर्मों का फल भोगने वाला है, जिसके भोग का आयतन (मकान) यह शरीर है। और भोग के साधन रूप इन्द्रियाँ हैं और भोग 'पदार्थ' अर्थात् जो इन्द्रियों के विषय हैं—वे हैं जो इन्द्रियों द्वारा अनुभव किये जाते हैं। और भोग-बुद्धि अर्थात् ज्ञान है। सब पदार्थ इन्द्रियों से नहीं जाने जा सकते। अतः परोक्ष पदार्थों का अनुभव करने वाला मन है। और मन में राग-द्वेष दो प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं जो दोष कहलाते हैं[१]। किन्तु इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि आत्मा के दो टुकड़े हो जाते हैं। एक परम ज्ञानी, दूसरा अज्ञानी। तात्पर्य केवल शरीर के मकान में रहने वाली चेतना तथा उसके सूक्ष्म रूप मन से है। जब मन मर जाता है, आत्मा 'स्वयं प्रकाश' में विलीन हो जाती है। न्याय दर्शन के अनुसार ऐसी 'दूसरी' आत्मा के लक्षण हैं—

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्[२]

ये छः लक्षण हैं। जहाँ बैठकर इन्द्रियाँ पदार्थ के लिए चेष्टा करती हैं, उसे शरीर कहते हैं[३]। जिससे गंध, रस, स्पर्श और शब्द का ज्ञान होता है, वे क्रमशः घ्राण (नाक), रसना (जीभ), चक्षु (नेत्र), त्वचा (खाल) और श्रोत्र (कान) कहलाते हैं। भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश, ये पाँच भूत हैं। बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान—यह अलग वस्तु नहीं हैं[४]। एक काल में दो ज्ञान का ज्ञान पैदा न होना यह मन का लक्षण है। मन, इन्द्रिय और शरीर का काम में लगना प्रवृत्ति कहलाती है—

प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भ इति।—न्या० १–१७.

किन्तु, यह भ्रम हो सकता है कि मन ही आत्मा है। इसलिए गौतम ने स्पष्ट कर दिया है कि आत्मा का लिंग ज्ञान है। आत्मा का लक्षण ज्ञान है। ज्ञान लिंगत्वादात्मनो (२-२३)। पर आत्मा और मन के सम्बन्ध के बिना प्रत्यक्ष ज्ञान का उत्पन्न होना असम्भव है। नात्ममनसो सन्निकर्षाभावे प्रत्यक्षोत्पतिः—२-२१ मन-बुद्धि से प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। प्रवृत्ति और दोष से उत्पन्न जो सुख-दुःख का ज्ञान है, वह फल कहलाता है। मन को जिस वस्तु की इच्छा हो उसके न मिलने का नाम दुःख है। बाधनालक्षणं दुःखम्। १-२१।

१. न्याय दर्शन—भाष्यकार दर्शनानन्द सरस्वती—पुस्तक मंदिर, मथुरा, १९५६ पृष्ठ १५।
२. न्याय० अ० १-१०।
३. वही १-११।
४. वही १-१५। बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्॥

व्यास ने वेदान्तदर्शन में सृष्टि के आरम्भ में प्रकृति की सत्ता स्वीकार की है। उन्होंने ब्रह्म, जीव तथा प्रकृति, तीनों की पृथक् सत्ता स्वीकार की है। ब्रह्म और जीव को भिन्न माना है—भेदव्यपदेशाच्चान्य:। १-१, पाद २१। ऋग्वेद भी यही कहता है—

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानवृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥

—ऋ० मण्डल १, सूक्त १६४-मंत्र २०

दोनों अपने जैसे अनादि वृक्ष प्रकृति के कार्य, संसार में रहते हैं, जीव उसके फलों को भोगता है। ब्रह्म सदैव साक्षी देखता है। भोगता नहीं।[१] तीनों अनादि तथा पृथक्-पृथक् हैं।[२] जीव आनन्दमय नहीं है—चूँकि उसे आनन्द की कामना, इच्छा होती है। इच्छा उसी वस्तु की होती है जो अप्राप्य है। कामाच्चानुमानापेक्षा। १-१८। केवल ब्रह्म ही आनन्दमय है[३]। किन्तु, जीव ब्रह्म से उसी प्रकार भिन्न नहीं है जिस प्रकार आँख में से सुर्मा। यह जीव-आत्मा मन के अनुसार होता है। जैसी मन की वृत्ति होती है, वैसा जीव अपने को समझता है,[४] जानता है। इसलिए ब्रह्म से प्रार्थना की जाती है कि वह हमारी बुद्धि को प्रेरणा करे, अर्थात् दुष्कर्मों से हटाकर शुभ कर्मों की ओर लगावे तथा प्रकृति की ओर से हटाकर आत्मा की ओर लगावे।

छन्दोऽभिधानान्नेति[५] चेन्न तथा चेतोर्वण निगदात्तथाहि दर्शनम् १-१, पाद-२५।

मन का सुख-दु:ख ब्रह्म को नहीं लगता। स्थूल वस्तु के गुण सूक्ष्म वस्तु में नहीं जा सकते। मन आदि ब्रह्म से स्थूल हैं। अतएव इनमें रहनेवाले सुख-दु:ख ब्रह्म में नहीं हो सकते। सम्भोगप्राप्तिरितिचेन्न वैशेष्यात्। १-२-८। मन, बुद्धि आदि सबसे पृथक् होकर जीव अपनी सत्ता का 'मैं हूँ'—ऐसा अनुभव करता है। स्वतंत्र जीवात्मा की इच्छा है, चाहे वह प्रकृति का नाटक देखता रहे या ब्रह्मानन्द में मग्न हो जाय।[६]

१. वेदान्तदर्शन—भाष्यकार दर्शनानन्द सरस्वती—प्रेम पुस्तक भंडार, बरेली, १९५७—पृष्ठ, ५९।
२. अजामेकाम्—श्वेताश्वतरोपनिषद् अ० ४, मंत्र ५।
३. एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति—तैत्तरीय० ब्रह्मबल्ली अनु० ८।
४. वेदान्तदर्शन, पृष्ठ ६६।
५. छन्दोभिधानात्—गायत्री छन्द वर्णन करने से।
६. वेदान्तदर्शन, पृष्ठ १०।

जैनी लोग जीवात्मा को नित्य मानते हैं। वे ब्रह्म की सत्ता नहीं स्वीकार करते। उनके मतानुसार प्रत्येक जीव भिन्न-भिन्न है। बौद्ध लोग मन को मारकर 'निर्वाण' प्राप्त करते हैं। दीपक बुझ जाता है।

आत्मा कहिए, चेतना कहिए, मन ही उसके बंधन तथा मोक्ष का कारण होता है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः ——मनु०

फिर प्रश्न उठता है कि मन क्या है? छान्दोग्य में कथा है कि नारद ने सनत्कुमार से कहा कि मैं "मंत्रवित् हूँ। आत्मवित् नहीं हूँ। आत्मवित् शोक से तर जाता है।"[१]

सोऽहं भगवो मंत्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुत

मंत्र यानी शास्त्रों को जानता हूँ। आत्मा को नहीं। नारद ने कहा कि वेद आदि सब नाम हैं। ब्रह्म इत्यादि सब नाम हैं। नाम से या मंत्र से जहाँ तक गति हो सकती है, वहीं तक मनुष्य जाता है। नाम से अधिकतर क्या है?[२] सनत्कुमार ने कहा कि नाम से अधिक **वाणी** है।

वाग्वाव नाम्नो भूयसि। ७.२.५। वाणी ही वेद आदि को बतलाती है। इसलिए वह नाम से बड़ी है। इसलिए जो वाग्विद्या का अध्ययन करता है, उसकी वहाँ तक गति होती है।[३] वाणी से भी अधिकतर मन है। जैसे दो आमलक फूलों का या दो बदरी फलों का या दो बहेड़े के फूलों का हाथ की मुट्ठी अनुभव करती है वैसे ही वाणी और नाम का अनुभव मन करता है[४]।

मनो वाव वाचो भूयो यथा वै द्वे वाऽऽमलके देवा
कोले द्वौ वाऽक्षौ मुष्टिरनुभवत्वेवं...७.३.१

जो कोई उपासक मन को ब्रह्मप्राप्ति का साधन मानकर मन की उपासना करता है, वह जहाँ तक मन की गति होती, वहाँ तक जाता है। नारद ने फिर पूछा कि मन से बड़ा क्या है? सनत्कुमार ने कहा कि——

१. छा० प्रपा० ७, खंड १—प्रवाक ३—भाष्य पृष्ठ ८०८-८०९।
२. छा० ७. १. ५, पृष्ठ ८११।
३. छा० ७. २. २।
सः नः वाचम् ब्रह्म इति उपास्ते यावत् वाचः गतम् तत्र अस्य यथाकामाचारः भवति।
४. वही, पृष्ठ ८१६।

सङ्कल्पो वाव मनसो भूयान्यदावै सङ्कल्पयतेऽथ
मनस्यत्यथ वाचमीरयति ताम् नाम्नीरयति
नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ।
छा० ७.४.१

यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण सूक्त है । इसको समझ लेने से ऊपर हमने जो मंत्र-प्रतीक की व्याख्या की है, वह सब स्पष्ट हो जाती है । सनत्कुमार ने कहा कि संकल्प ही मन से अधिकतर है । जब संकल्प करता है तदन्तर मनन करता है । उसके बाद वाणी की प्रेरणा करता है और उस वाणी को नाम में प्रेरित करता है । तब नाम में मंत्र एक होते हैं और मंत्र में कर्म एक होते हैं ।[१] मन आदिक संकल्परूप एक आश्रयवाले हैं । संकल्पस्वरूप हैं । संकल्प में ही प्रतिष्ठित हैं ।[२] द्युलोक और पृथ्वी संकल्प को करती हुई-सी है । वायु और आकाश संकल्प करते हुए के समान विद्यमान हैं । जल और तेज मानो संकल्प कर रहे हैं । पृथ्वी के प्रति उनके संकल्प के कारण वर्षा होती है । वर्षा के संकल्प के कारण अन्न उत्पन्न होता है । अन्न के संकल्प से प्राण समर्थ होता है । प्राणों के संकल्प के निमित्त मंत्र समर्थ होते हैं । मंत्र के संकल्प-निमित कर्म समर्थ होते हैं । कर्म से लोक, लोक से सब समर्थ होता है ।[३] नारद, इस संकल्प का अध्ययन करो । किन्तु, संकल्प कौन करता है ? संकल्प से बड़ा क्या है ? चित्त आत्मा है । चित्त प्रतिष्ठा है ।

चित्तमात्मा चित्तं प्रतिष्ठा । —छा० ७.५.२.

किन्तु, ध्यानं वाव चित्ताद् भूयो ध्यायतीव पृथिवी ७,६,१· · · ·चित्तसे बड़ा ध्यान है । पृथ्वी भी ध्यानावस्थित, जल, आकाश सभी ध्यानावस्थित प्रतीत होते हैं । पर, ध्यान से भी बड़ा विज्ञान है । विज्ञानं वाव ध्यानात् ।

सृष्टि का रहस्य समझना बड़ा कठिन है । वेदान्त में उसे मयूराण्डरसन्याय से समझने का उपदेश है । यानी मयूर—मोर जैसा सुन्दर रंग-बिरंगा सुन्दर पक्षी का अण्डा, जिसमें केवल एक रस-रूप तरल पदार्थ है, उससे विचित्र रूप से ऐसा सुन्दर पक्षी बन जाता है अथवा एक पक्षी के रूप-रंग से भिन्न उसी के साथ जुड़े हुए उसके डैने होते हैं,

१. वही, भाष्य, पृष्ठ ८१९ ।
२. तानि ह वै तानि सङ्कल्पैकायनानि संकल्पात्मकानि संकल्पे प्रतिष्ठितानि, छा० ७. ४. २ ।
३. छा० भाष्य—८२१—कर्मण १० संक्लृप्त्यै लोकः संकल्पते लोकस्य संक्लृप्त्यै सर्वं संकल्पते ।।—७. ४. २ ।

वैसे ही यह विचित्र सृष्टि उस बीजस्वरूप परा शक्ति से उत्पन्न हुई है। उसका क्रम छान्दोग्य के अनुसार इस प्रकार हुआ—

ब्रह्म-आत्मा-चेतना-जीव-नाम-वाणी मन-संकल्प-चित्त-ध्यान-विज्ञान।

मोक्ष के समय वाणी मन में, मन प्राण में, प्राण आत्मा के तेज में तथा तेज परा देवता में लीन हो जाता है[१]। जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए वाणी तथा मन दोनों को लीन करना पड़ेगा। पर इन सबका साधन है विज्ञान। विज्ञान से ही ध्यान प्राप्त होता है। ध्यान से ही सब कुछ प्राप्त होता है। ध्यान के लिए जो साधन जुटाये जाते हैं उनमें सबसे प्रमुख वाणी है तथा दूसरा स्थान प्रतीक का है। बिना प्रतीक के ध्यान नहीं हो सकता। बिना वाणी के प्रतीक की शृंखला नहीं बनती। इसी लिए शास्त्रकारों ने वाणी-प्रतीक को सर्व-प्रधान माना है। ज्ञान की उत्पत्ति मन से है। ज्ञान मन का लक्षण है।

युगपत्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्

ऐसा कणाद ने वैशेषिक में लिखा है। मन के पहले वाणी है। वाणी वाक्—मातृका—शक्ति। शब्द के विषय में अपनी वाक्यपदी में भर्तृहरि ने लिखा है—

अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

वाणी और मन वैसे ही मिले हुए हैं जैसे शब्द और अर्थ। कालिदास के शब्दों में—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ

मन और शब्द का, मन और विचार तथा शब्द का सम्बन्ध स्थापित करना, ऊपर लिखे पृष्ठों के बाद अब सरल हो गया। छान्दोग्य के अनुसार बिना विज्ञान के ध्यान पूरा नहीं हो सकता। ब्रह्म निर्गुण, निर्विकल्प है। उसका ध्यान कैसे हो? उसमें चित्त कैसे लगे? इसलिए उसके प्रतीक बना लिये गये हैं। कठिन से कठिन वस्तु का प्रतीक बनाया जा सकता है। वेदों में कही हुई हर एक बात को समझ सकना कठिन है। इसलिए जैमिनि के अनुसार 'बहुधा वेदों में रूपक अलंकार से वर्णन है—',

रूपात्प्रायात्[२]

१. अथ यदास्य वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि
तेजः परस्यां दैवतायामथ न जानाति—छा० ६. १५. २।

२. मीमांसादर्शन १, सूक्त ११।

अलंकार रूप से प्रयुक्त भाषा भी प्रतीक बन जाती है। मीमांसा में ही दिया गया है कि—

अपराधात्कर्तुश्च पुत्रदर्शनम् ।।[1]

इसका अर्थ तो यह होगा कि मोटी दृष्टि के अपराध से अज्ञायत क्रिया से कर्त्ता सूर्य का पुत्र अर्थात् कार्यरूप से और चक्षु का कारणरूप से दर्शन होता है। यह तो अर्थ हुआ। भावार्थ है—"चक्षु और सूर्य परस्पर पिता-पुत्र हैं अथवा चक्षु सूर्य का कारण अथवा सूर्य चक्षु का कार्य नहीं है। किन्तु, परमात्मा सबके पिता हैं। और केवल स्थूल दृष्टि से सूर्य चक्षु का कार्य प्रतीत होता है। यथार्थ में ऐसा नहीं है[2]। वेदों का सम्बोधन स्थान-स्थान पर जैमिनि ने 'शब्द' कहकर किया है। वे वेद को स्वतः प्रमाण मानते थे अतएव वेद के अतिरिक्त ब्राह्मण आदि शास्त्रों को नहीं मानते थे। वेद की शब्द संज्ञा देखिए—

धर्मस्य शब्दमूलत्वात् शब्दमनपेक्ष्यं स्यात् ।।

—मीमांसा० अ० १, पाद ३, सूक्त १

मीमांसा में लिंग शब्द का प्रयोग 'चिह्न' तथा 'लक्षण' के अर्थ में हुआ है जैसे लिंगभावाच्च नित्यस्य (१-३. १८)। वेद की विद्या में अर्थ सहित, शब्द का अर्थ जानकर अध्ययन करना चाहिए—

विद्याऽवचनसंयोगात् ।। मी० १-२-४८

छान्दोग्य ने विज्ञान को सबसे बड़ा बतलाया है। जैमिनि कहते हैं कि वेद के मंत्रों का अर्थ जानना ही परम विज्ञान है और अर्थ न जानना ही अविज्ञान है। सतः परमविज्ञानम्। ४६. तात्पर्य यह हुआ कि वेद ही विज्ञान है। वेद ही शब्द है। वेद ही अर्थ है। वेद स्वतः प्रमाण है। शब्द को भर्तृहरि आदि ने अनादि, अनन्त माना है। जैमिनि ने उसे अनित्य तथा नाशवान् माननेवालों का उदाहरण दिया है। उनके कथनानुसार अस्थानात् (१-७) जो एक स्थान पर ठहर न सके, करोति-शब्दात् (१-८) किसी ने शब्द किया, आवाज लगायी। पर इस लौकिक उदाहरण से भी यही साबित होता है तथा प्रकृति-विकृत्योश्च (१-१०) यानी प्रकृति या विकृति के कारण शब्द नित्य हैं। पर, पूर्व पक्ष

१. वही, १३।
२. जैमिनि ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सबका अधिकार वेदों में समान रूप से माना है। वे लिखते हैं—सर्वत्वमधिकारिकम्—।। १, १६।

में ऐसा लिखने के बाद, वे ही लिखते हैं कि शब्द यदि अनित्य न होते तो उनमें वृद्धि कैसे होती। वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य ११। एक शब्द का अनेक देशों में समकाल में होना सूर्य के समान समझना चाहिए। आदित्यवद्यौगपद्यम् १ : १५। शब्द नित्य है। अनित्य नहीं। उसका उच्चारण श्रोता के ज्ञान के लिए है। नित्यस्य स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्: १–१८।

परमात्मा ने संकल्प किया कि मैं 'बहुत-सा हो जाऊँ—बहु स्यां प्रजायेय इति—और इस संकल्प के कारण सृष्टि हुई। संकल्प मन का गुण है। मन और बुद्धि ही सब उत्पात के कारण हैं। चित्त को वश में करने से मन भी वश में हो जाता है। किं च धारणासु योग्यता मनसः[१]। परमेश्वर और मन के बीच धारणा होने से मोक्ष पर्यन्त उपासना योग्य और ज्ञान की क्षमता बढ़ती जाती है। योग क्या है—केवल चित्त की वृत्तियों का निरोध है। योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः[२]। जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है तब इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है। ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्[३]। इसीलिए उपासक भगवान् से प्रार्थना करता है कि आप अपनी कृपा से जो अत्यन्त उत्तम सत्य विद्यादि शुभ गुणों को धारण करने के योग्य बुद्धि है उससे युक्त हम लोगों को कीजिये[४]। बुद्धि के लिए मेधा शब्द का प्रयोग शास्त्रों में बराबर आया है—

यां मेधां देवगणपितरश्चोपासते तयमामद्य मेधयाग्ने
मेधाविनं कुरु स्वाहा ।। यजु० अ० ३२–मं० ३४

अस्तु, संकल्प का स्थान चित्त-मन-बुद्धि है। इस संकल्प को विचार इच्छा-प्रेरणा कह लें तो भी कोई आपत्ति नहीं। प्रेरणा-संकल्प का व्यक्त रूप, शब्द है। संकल्प अनादि है। ब्रह्म से इसका प्रारम्भ हुआ। शब्द अनादि है। ब्रह्म से वह भी निकला। इस प्रकार मन, बुद्धि, अहंकार (मैं हूँ, मेरा है) सबका व्यक्त करने वाला रूप वाणी है। शब्द है। संकल्प आदि तथा व्यक्त वाणी को एक साथ पिरोकर प्रकट करने वाली चीज़ मंत्र है। इसी लिए मंत्र में महान् शक्ति है। मंत्र समूची सृष्टि के रहस्य का प्रतीक है। जीव का प्रतीक संकल्प और संकल्प का प्रतीक मंत्र है। इसी लिए भारतीय दर्शन में मंत्र का इतना ऊँचा स्थान है। हमारा गायत्री मंत्र हो या तिब्बत के बौद्धों का मंत्र—

ॐ मणिपद्मेऽहम्

१. पतञ्जलि-योगदर्शन, अ० १, पा० २, सू० ५३।
२. वही, अ० १. १. २।
३. वही, अ० १. २. ५५।
४. स्वामी दयानन्द—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, वैदिक यंत्रालय, अजमेर, पृष्ठ १५६।

हो, महिमा तथा महत्त्व समान है। बौद्ध दर्शन में शरीर का पोषण करनेवाले चार पदार्थ हैं।[१] १. खाद्य पदार्थ, २. फस्स (स्पर्श), ३. मनो-संचेतना (बुद्धि का संचार) तथा ४. विज्ञाण (चेतना)। जीवन में सबसे मुख्य चीज अहंकार है। मैं हूँ—मेरा है—जिससे शरीर का सब कार्य तथा संसार का सब भ्रम हो रहा है। अहंकार से ही मन का संतुलन समाप्त हो जाता है जिससे अविज्जा-अज्ञान उत्पन्न होता है। **अविज्जा** से ही **तन्हा** इच्छा पैदा होती है।[२] मन में मोह के कारण ही **विचिकिच्छा**-सन्देह उत्पन्न होता है और सद्धा-श्रद्धा जाती रहती है। मन के संतुलन अर्थात् तत्रमज्झत्तता के अभाव में मन तथा चेतना की शान्ति-पस्सद्धि (प्रसादि) जाती रहती है। पस्सद्धि के अभाव में विचिकिच्छा पैदा होती है। मन में ज्ञान होने से सत्ति से मोह का नाश होता है।[३] जीवन में ज्योति तथा प्रकाश पाने के लिए आवश्यक है कि मन में धर्म-विचार हो, पस्सद्धि—सौम्यता हो, संसार के प्रति उपेख्खा—उपेक्षा हो तथा समाधि हो। इस सत्यमार्ग (सत्त बोज्झंगा) का आठवाँ पथ है सम्म समाधि—जिसमें मन को—चित्त को[४] एकाग्र कर लिया जाता है। हर एक चित्त की भूमि पृथक् होती है। विकास की श्रेणी पृथक् होती है। चित्त के विकास का क्रम एक अण्डाकार चक्र के समान होता है।[५] उसका—उस अण्डाकार विकास का रूप चित्त के विकास पर निर्भर करता है। इसलिए चित्त का विकास ही प्रधान मानकर बौद्ध तंत्र में अण्ड-रूप का यंत्र-प्रतीक बनाया गया था। इस अण्ड-प्रतीक को ही हिन्दू बीज-प्रतीक कहते हैं। बौद्ध मत के अनुसार हर एक को अपने चित्त-विकास के अनुसार अपना कल्याण करना है। इसलिए रूढ़ियों के चक्कर में न पड़कर प्रत्येक को अपनी मुक्ति के लिए अपने भीतर का दीपक जलाना चाहिए। अपने भीतर को प्रकाशित करना चाहिए। यह पूर्णतः सम्भव तभी है जब मनुष्य बोधि-चित्त को प्राप्त करे।[६] भगवान् बुद्ध बोधि-सत्त्व थे।[७] बोधिचित्त के लिए, ऐसा ज्ञान होने के लिए बौद्ध शास्त्रकारों ने **पण्णत्ती** का बड़ा सहारा लिया है। इस शब्द का अर्थ है जिसके द्वारा जनाया जाय (पण्णापियत्ता)—वाक्य, नाम या प्रतीक के द्वारा।

१. अभिधम्मथ्थ संघ अ० पत्थान, भाग ७।
२. Anagarika B. Govinda—The Psychological Attitude of Early Buddhist Philosophy Patna University, 1936-37, pages 72-73.
३. वही, पृष्ठ १६७।
४. वही, पृष्ठ ९४।
५. वही, पृष्ठ १२२-२३।
६. वही, पृष्ठ ५६।
७. जर्मन भाषा में इस स्थिति को Schauung कहते हैं।

जिस प्रतीक से 'जनाया जाय—प्रकट किया जाय'—उसे पण्णापनत्ति कहते हैं। ध्वनि, चिह्न, प्रतीक, संज्ञा आदि के प्रतीक को सद्धपण्णत्ति यानी 'शब्दप्रमाण' कहते हैं[१]। इस प्रकार बौद्ध दर्शन ने मन-चित्त-शब्द का बोध करने के लिए प्रतीक को जरूरी माना है।

बौद्धों ने बुद्धि तथा मन के विषय में बहुत कुछ लिखा है। जैन, बौद्ध, पारसी, ईसाई, किसी भी मज़हब के माननेवाले हों, बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य, ईसा, पैगम्बर साहब, कोई भी महान् विभूति तथा धर्म-प्रवर्तक हों, असीरिया, चाल्डिया, मिश्र, मेक्सिको, पेरु कहीं का भी प्राचीन धर्म हो, सबने तथा सबमें एक महान् अनन्त सत्ता तथा नश्वर आत्मा—जीव का प्रतिपादन है। भगवद्गीता ने तो यहाँ तक कह दिया है कि "अपने को पहचानो। तुम्हारा उद्धार, मोक्ष तुम्हारे भीतर है। तुम्हीं अपने मित्र हो। तुम्हीं अपने शत्रु हो"—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः॥—गीता, ६—५

इस आत्मा को पहचानने के लिए इन्द्रियों के सब दरवाजे बन्द करके योगाभ्यास द्वारा प्राणवायु को मस्तक में चढ़ाकर मन को हृदय में व्यवस्थित करे—

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्यच।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥
—गीता ८।१२

आत्मा तथा परमात्मा का रहस्य समझे बिना प्रतीक का रहस्य भी नहीं समझा जा सकता। कोरे भौतिकवाद से हम वाणी-मन-बुद्धि-चित्त-संकल्प इन सबको कदापि नहीं समझ सकते। इस नासमझी के कारण ही पश्चिम के विद्वानों ने प्रतीक के विषय में मौलिक भूलें की हैं। इसी लिए हमारे शास्त्रकारों ने कहा है कि सृष्टि के रहस्य को समझने के लिए धर्म-बुद्धि होनी चाहिए। धर्म के नाम से घबड़ाने की कोई जरूरत नहीं है। जो समूचे संसार को अपने नियमों में धारण किये हुए है, वही धर्म है। इन नियमों की कड़ी को तोड़ देने से संसार ही छिन्न-भिन्न हो जायेगा। इस धारण करनेवाले धर्म के विषय में लिखा है कि—

लोकान् धरति यः सर्वानात्मानं चापि शाश्वतम्।
यः साक्षादात्मरूपोऽसौ ध्रियते च बुधैः सदा।
धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः॥

१. वही, पृष्ठ २४०-४२।

धर्म का लक्षण तथा उसका प्रतीक भी बहुत सीधा-सादा तथा बोधगम्य है। धैर्य, क्षमा, नियंत्रण, अचौर्य, पवित्रता, इन्द्रियों को वश में रखना, बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध, धर्म के ये दस लक्षण हैं, प्रतीक हैं--

धृतिः क्षमा दमोस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहम्।
धीर्विद्या सत्य अक्रोधं दशकं धर्मलक्षणम्॥--मनु०

ऊपर हमने लिखा है कि हमको धर्म बाँधे हुए है। संसार को नियमों में जो बाँधकर रखता है, वह धर्म है। अंग्रेजी में धर्म का किन्हीं अंशों में पर्यायवाची शब्द 'रेलिजन' है[१]। यह शब्द जिस लैटिन भाषा के शब्द से बना है उसका अर्थ है 'बाँधनेवाला।' जाति, रंग, योनि, सब भावनाओं से ऊपर उठकर प्राणिमात्र के हृदयों को बाँधनेवाली वस्तु धर्म है। मानव के हृदय को उस अनन्त सत्ता से बाँधने वाला, धर्म है। मनुष्यों के हृदय को सभी आदर्शों से बाँधनेवाला, अतीत, अज्ञात, भविष्य में आस्था उत्पन्न करानेवाली, आनेवाली पीढ़ी के कल्याण के लिए कार्य करानेवाली तथा अज्ञात और अदृश्य युग के कल्याण के लिए कार्य करानेवाली वस्तु का नाम धर्म है। आजकल, भविष्य के समूचे कार्य, समूची महत्त्वाकांक्षाएँ, मानव के समूचे प्रयत्न, चेतन या अचेतन कार्य, सबका सञ्चालन करनेवाला धर्म है। जब हमारे मन में सहचार तथा सहयोग की भावना होती है, जब हम एक साथ मिलकर किसी अच्छे कार्य में लग जाते हैं तो वह वास्तव में धार्मिक प्रवृत्ति है। आत्मा की एकता ही धर्म है[२]।

सृष्टि के रहस्य को धर्म ने सदैव प्रतीकरूप में समझाने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए हमने पिछले पृष्ठों में ब्रह्माण्ड शब्द का प्रयोग किया है, ब्रह्म-अण्ड। सृष्टि के आदि में हिरण्य गर्भ था[३]। यह लोक अण्डे के रूप में है। पृथ्वी, ग्रह आदि सभी अण्डाकार हैं। इन सब चीजों के समझने के लिए हमारे ऋषियों ने अण्ड-प्रतीक बनाया। श्रीमती एनी बेसेन्ट के थियासोफिस्ट सम्प्रदाय वालों ने इस प्रतीक को अपनी उपासना में मुख्य स्थान दिया है। इस अण्ड को ही आधार मानकर प्राचीन काल में शिव, विष्णु तथा ब्रह्मा के अण्ड-प्रतीक बने थे[४]।

१. Religion.
२. प्रयाग में ११ जनवरी, १९११ को हुए स्वर्गीय डा० भगवानदास के एक भाषण का सारांश।
३. "हिरण्य गर्भः, समवर्तताग्रे, भूतस्य जातः परिरेक आसीत्। सदाधार पृथिवी..."
४. Schrab H. Suntook in "More about Egg-symbol" in "Theosophy in India" Vol. VIII No. 4 (April, 1911) page 105.

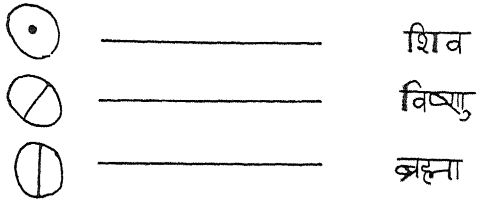

हिरण्यगर्भ—सोने के अण्डे से ही ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना की। इस अण्ड के भीतर ही ईसाइयों का पवित्र धार्मिक प्रतीक "क्रास" बनता है। इसी के भीतर स्वस्तिक बनता है। इसी के भीतर चतुष्कोण यंत्र बनता है, त्रिकोण बनता है—

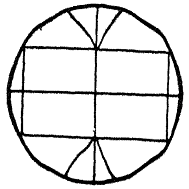

इसी के भीतर त्रिशूल इत्यादि सभी प्रमुख प्रतीक बन जाते हैं। अण्ड-प्रतीक पर श्री सोहराब एच० संतूक लिखते हैं— "अण्ड-प्रतीक बहुत ही रहस्यमय है।"[१] श्रीमती एनी बेसेन्ट तथा श्री लेडबेटर ऐसी अवतारी विभूतियाँ इस प्रतीक का प्राय: उपयोग किया करती थीं। 'स्वर्गीय जीवन तथा कर्म' शीर्षक अपने लेख में श्री लेडबेटर ने अण्ड-प्रतीक पर लिखा था—"अण्डे के ऊपर का छिलका हमारे मन के ऊपर के छिलके के समान है। छिलके को बिना फोड़े हुए अण्डे के भीतर के पदार्थ तक पहुँचने के दो ही उपाय हैं—या तो दिव्य दृष्टि से काम लिया जाय या ऐसी शक्ति उत्पन्न की जाय जो ऐसा कम्पन उत्पन्न करे कि बिना छिलके के परमाणुओं को बिखेरे भीतर तक पहुँचा जाय। मन के खोल की भी यही दशा है। उसी की श्रेणी के किसी पदार्थ द्वारा कम्पन उत्पन्न कर उसे बेधा नहीं जा सकता। किन्तु अपनी 'अस्मिता' के शक्तिशाली कम्पन द्वारा ही उसका भेदन हो सकता है। इस प्रकार ऊपर की ज्योति से ही काम चल सकता है।"—अण्ड के दोनों पार्श्व बराबर होते हैं, पर ऊपर का हिस्सा चौड़ा और नीचे का कुछ सकरा होता है।

१. वही, पृष्ठ १०६।

इसीलिए वह सृष्टि का प्रतीक भी है। दोनों पक्ष—दाहिना तथा बायाँ हिस्सा बराबर हैं—सत्-असत्, प्रकाश-अंधकार, भला-बुरा, पुरुष तथा प्रकृति, ये दोनों ही समान हैं, समान रूप से संतुलित हैं। यद्यपि इसी समूची सृष्टि में एक उच्च तथा एक निम्न भाग होता है, एक ऊपर की तथा एक नीचे की श्रेणी होती है और 'जैसा ऊपर होता है वैसा नीचे होता है', फिर भी हम देखते हैं कि निचला हिस्सा सदैव ऊपर के हिस्से से सकरा, पतला होता है, उच्च श्रेणी से निम्न श्रेणी निम्न होती ही है। अण्ड का ऊपरी तथा नीचे का भाग एक प्रकार से गोलाकार है, पर ऊपर वाला गोला अधिक चौड़ा है।"[1]

अण्ड के ऊपरी भाग से त्रिकोण बनता है। त्रिकोण है आत्मा-बुद्धि-मन। अण्ड के निचले हिस्से से अविद्या, अहंकार आदि चतुष्कोण बनते हैं—

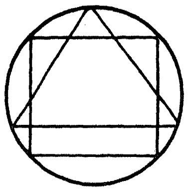

इस रहस्य को योगिराज कबीरदास ने अपने एक दोहे में बड़ी बारीकी से समझाया है[2]—

जना चार मिलि लगन सधाई, जना पांच मिलि मंडप छाई।
संग न सूती स्वाद न जान्यो, गयो जोबन सुपने की नांई।।

पाँच तत्त्वों (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा) के मंडप के नीचे चार अविद्याओं की तीन (आत्मा-मन-बुद्धि) से शादी हुई। पर मैं अपने पति से दूर रही, उनका साथ नहीं किया इसलिए विवाह का सुख भी नहीं जाना और देखते-देखते जवानी समाप्त हो गयी। दूल्हन की यह भूल इसलिए हुई कि न तो उसने अपने को पहचाना और न अपने पति को। बिना अपने को पहचाने यह जीवन निरर्थक हो जाता है। अपने को पहचानने के लिए ही अण्ड-प्रतीक है। डॉ० भगवान्दासजी ने 'अपने को पहचानने' पर बहुत जोर दिया है।[3] कबीरदासजी कहते हैं—

१. वही, पृष्ठ १०७।
२. वही, नवम्बर, १९१०, पृष्ठ ५०८९।
३. वही, पृष्ठ ३४-४४ मार्च, अप्रैल, १९१२. "The order of the Star in the East".

मोको कहाँ तू खोजै बंदे मैं तो तेरे पास।
हाड़ माँस में हौं मैं नाहीं, मैं आतम बिस्वास ।।

पंजाबी मुसलमान फ़कीर शाह बुल्ला लिखते हैं—

ढूंढ़नेहार नूं ढुंढ़ खां तूं।
पया परत दे घर दा रस तै नूं ।।
कित्थे तूं ही न होवे यार सब दा।
फिरे ढूंड़ता जंगला बिच्च जिन नूं ।।

उसे बहुत देर तक तू दूसरे के घर ढूँढ़ता रहा है। अपने में ढूंढ़।

कह नानक बिनु माया चीन्हे
मिटै न भ्रम की काई।

भ्रम की काई वास्तविकता को जानने से मिट सकती है। हमारे अज्ञान को ही दूर करने के लिए प्राचीन परिपाटी प्रतीक बना देने की थी। उसकी जानकारी बिना गुरु के नहीं हो सकती। गुरु की महत्ता में विश्वास न करनेवालों ने ही प्रतीक की मर्यादा को भुला दिया है। बिना गुरु के, बिना बतलानेवाले के भ्रम की काई नहीं मिट सकती। इसीलिए कबीर ने लिखा था—

गुरु गोबिंद दोऊ खड़े, काके लागूं पायँ।
बलिहारी गुरुदेव की, जिन्ह गोबिन्द दिया बताय ।।

आज की सभ्यता में हर एक चीज अविश्वास से प्रारम्भ होती है। हम तो अब ऋषियों, अवतारों तथा देवताओं की सत्ता में भी अविश्वास करते हैं। श्रीमती एनी बेसेन्ट ने एक बार अपने व्याख्यान में कहा था कि जो बातें हमारे प्राचीन ग्रन्थों में हों, वे अविश्वसनीय क्यों हैं? तब फिर प्रभु ईसा के होने का भी क्या प्रमाण है? उनकी मृत्यु के १८० वर्ष उपरान्त के पहले का क्या कोई भी प्रमाण उनके विषय में है? इसलिए अविश्वास न कर विश्वास की भित्ति पर यदि काम किया जाय तो वास्तविक जानकारी हासिल होगी। वास्तविक ज्ञान होगा।[१]

मज़हरुल्ला हैदरी साहब लिखते हैं[२] कि पैगम्बरों का हृदय या मन रहमान (खुदा) की दया से उत्पन्न हुआ है। ईश्वर सर्व-व्यापक है। बुद्धि को वही प्रकाशित करता है।

१. वही, जुलाई, १९११, पृष्ठ १७२-७३।
२. वही, नव० १९१०—पृष्ठ ५०४-०६।

ईश्वर अपने को तथा अपनी प्रकृति को उसके मन में भर देता है। हज़रत बयज़ीद बुस्तमी कहते हैं कि यदि अर्श (आकाश) को दस करोड़ गुना भी बड़ा कर दें तो भी वह महापुरुषों के हृदय के एक कोने को भी नहीं धारण कर सकता। हज़रत जुनैद कहते हैं कि मन जब अनन्त की ओर जाता है तो नश्वर चीज़ों से वह मुँह मोड़ लेता है। मन में जितना प्रकाश होता है उतना ही वह विकसित होता है। उसका संकोच-विकोच प्रकाश (ज्ञान) की मात्रा पर निर्भर करता है। सृष्टि में बहुत-से पदार्थ आँख के सामने आते हैं, बहुत-से अदृश्य हैं। रहमान की कृपा से बुद्धि को अदृश्य या अज्ञात पदार्थों को ग्रहण करने की शक्ति प्राप्त होती है। ईश्वर जब अपने तथा सेवक के बीच में से पर्दा उठा देता है, तभी ज्ञान होता है।

अज्ञान के इस पर्दे को कौन हटायेगा ? ईश्वर। ईश्वर की जानकारी बिना ज्ञान हो नहीं सकता। ज्ञान की इच्छा होना संकल्प है। संकल्प का व्यक्त रूप शब्द है, वाणी है। शब्द का संतुलित रूप मंत्र है। मन, वचन, कर्म से कार्य की गति होती है। संसार चलता है। इनके द्योतक, इनको प्रकट करनेवाले साधन को ही हम प्रतीक कहते हैं।

पश्चिमी विचार में मन-वचन-प्रतीक

मन को बहुत ही भौतिक रूप में समझनेवालों की व्याख्या है "लक्ष्य की पूर्त्ति के लिए अपने को उसके अनुकूल बना लेने की क्षमता"—मन का यही सबसे बड़ा गुण है। इस दृष्टि से प्रत्येक जीव में मन की सत्ता है।[१] अचेतन वनस्पतियों में तथा सचेतन पशु-जीवन में भी। धूप तथा छाया में, हर दशा में अपनी रक्षा करने का प्रवन्ध पौधा कर लेता है और परिस्थिति के अनुसार पत्तियाँ पैदा करता है। एक बच्चे की हड्डी टूट जाती है। मन की प्रेरणा से वह टूटी हुई हड्डी बढ़कर जुट जाती है। भूख लगी है। खाना नहीं मिल रहा है। मन शरीर के भीतर के पोषक पदार्थों के कोष से रस खींचकर शरीर का काम चलाता है। मन के दो गुण हैं—प्रवृत्ति या सहज बुद्धि तथा बुद्धिमत्ता। शरीर में मन बीज मात्र है। उस बीज मात्र से ही बुद्ध ऐसे विज्ञों की बुद्धि बनी है। मन के दो सहज स्वभाव हैं—प्रवृत्ति तथा बुद्धिमत्ता। वास्तविक प्रेरणा अन्तर्निहित है।[२] वह अनुभव पर निर्भर नहीं करती। जहाँ प्रवृत्ति काम नहीं देती वहीं पर बुद्धिमत्ता आगे आती है। बुद्धिमत्ता अनुभव से उत्पन्न होती है। वह अनुभव का सहारा लेती है। मन का प्रथम गुण प्रवृत्ति है—अंत:प्रेरणा है। बुद्धिमत्ता लौकिक अनुभव से आती है। मन की प्रवृत्ति से ही संकल्प बनते हैं। मनुष्य प्रवृत्तियों या प्रेरणाओं का समुच्चय है। उसी से उसमें उत्तेजना, स्फूर्ति तथा क्रियाशक्ति का उदय होता है।[३] मन को ही प्रकाश की, शरीर की क्रियाओं की तथा शब्द की अनुभूति प्राप्त होती है।[४] सर्वसाधारण बुद्धि इन्द्रियों से प्राप्त अनुभूति को उस वस्तु का गुण मान लेती है। गुण का परिणाम नहीं मानती। जैसे शब्द या रंग के विषय में हम उनको 'बाहरी चीजों का गुण' मान लेते हैं। हमको कोई छू ले तो जहाँ पर छूया गया, हम समझते हैं कि वह अनुभव उसी स्थान का है। हम यह भूल जाते हैं कि स्पर्श होने के बाद मस्तिष्क को जो सूचना

१. P. C. Bose—Introduction to Juristic Psychology, Thacker Spink & Co., Calcutta-1917 page 6.

२. वही, पृष्ठ ८, ९।

३. वही, पृष्ठ ११।

४. वही, पृष्ठ ६५।

मिली उसका मन पर जो प्रभाव पड़ा, उसी की अनुभूति वह स्पर्श-ज्ञान है जो उस स्थान का अनुभव नहीं है। ऐसा ही भ्रम हमको शब्द-रूप-रंग आदि के बारे में होता है। ऐसी धारणा मन की प्रवृत्ति तथा बुद्धिमत्ता, दोनों के विपरीत है।[१] सचेतन बुद्धि अथवा मन के विकास में, मन के धुँधले प्रकाशमय जीवन से उसके परम प्रकाशमय जीवन तक पहुँचने का क्रम निर्धारित करना बड़ा कठिन है।

मन की गति बड़ी विचित्र है। इसको आसानी से समझा भी नहीं जा सकता। ऐडम स्मिथ ऐसे विद्वान् लेखक ने अपनी एक विख्यात पुस्तक में मन की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने लिखा है कि मन की जो भावना शब्दों से व्यक्त होती है, उसकी असलियत का पता शब्दों के अर्थ से या चेहरे की आकृति से नहीं लग सकता। उन्होंने उदाहरण दिया है कि मान लीजिए, हम किसी व्यक्ति पर क्रोध कर रहे हों, हमारे मन में उसके प्रति उग्र विचार उठ रहे हों। पर, केवल क्रोध करना भी या केवल बुरा कहना भी क्रोध तथा निन्दा का कारण नहीं हो सकता। हो सकता है कि दूसरे व्यक्ति के प्रति सहानुभूति या उसके प्रति दयावश भी हमको क्रोध आ सकता है। अतएव क्रोध के शब्द, क्रोध की आकृति—ये दोनों ही प्रेमवश हो सकते हैं। इनका रहस्य जानने के लिए परिस्थिति को समझना होगा।[३]

प्राचीन यूनानी तथा रोमन पंडितों का विश्वास था कि इस सृष्टि को एक अच्छे तथा बुद्धिमान् देवता ने बनाया है। अपने काम में सहायता के लिए उसने अपने अन्तर्गत छोटे-छोटे देवता भी बना रखे हैं। दुनिया में जो कुछ रचना है, उसमें दुष्टता को छोड़कर सब कुछ भगवान् का बनाया हुआ है। जेनो तथा काइसिप्पस ऐसे विद्वानों का कथन था कि संसार में जो कुछ हो रहा है वह विधाता के आदेशानुसार। संसार में अच्छाई तथा बुराई का वैसे ही साथ है जैसे प्रकाश तथा अन्धकार का। यदि अच्छे व्यक्ति के साथ बुराई होती है तो यह नहीं समझना चाहिए कि वह किसी अपराध का दण्ड है, पर विधि के किसी विधान का परिणाम है। फिर, हम जिसे बुरा कहते हैं, वह हमारा भ्रम हो सकता है। बुरा नहीं भी हो सकता है।[४]

१. वही, पृष्ठ ७०-७१।
२. वही, पृष्ठ १२३।
३. Adam Smith (जन्म सन् १७२३)—"Theory of the Moral Sentiments" Part I, "Of he Proprietry of Action".
४. Alexander Bain—"Mental & Moral. Sciene"—Part II-Longman Green & Co., London, 1884, pages 516-22.

बहुत-सी चीजें ऐसी हैं जिनकी परिभाषा करना कठिन है। व्याख्या करने चलिए तो एक पर एक तर्क निकलता चलता है। सुकरात ने "सत्कार्य" की व्याख्या करनी चाही। व्याख्या करते-करते वे इस तर्क पर पहुँचे कि सत्कार्य का अर्थ है साहस। साहस क्या है? किसे कहते हैं? बस, बात उलझती चली गयी। सुकरात की दृष्टि से संसार में केवल एक ही व्यक्ति बुद्धिमान् है—वह है भगवान्। प्लेटो सत्कार्य की व्याख्या करने चले तो उन्होंने कहा कि "जिससे दूसरे का लाभ हो और अच्छा काम हो।" पर, दूसरे का लाभ किसमें है? लाभ की व्याख्या के तर्क में पड़िए।[१] बहुत-से लोग 'पीड़ा से मुक्ति' को ही लाभ समझते हैं, सुख की परिभाषा समझते हैं। पर सुख की खोज में मनुष्य अपने को कितना पीड़ित कर लेता है? इसी लिए 'सन्तोषं परमं सुखम्' कहा गया है। इसलिए लाभ की सही व्याख्या होनी चाहिए।[२] दार्शनिक कांट ने मन की संकल्प-शक्ति पर जोर दिया है और मनुष्य में संकल्प-स्वातन्त्र्य की हिमायत की है। किन्तु सचेतन मन संकल्प करता है या अचेतन? जब वह सचेतन वस्तु होगी तभी संकल्प कर सकेगी। डॉ० अलेक्जेंडर बेन के कथनानुसार मन एक अद्भुत सचेतन वस्तु है। मन की शक्ति का कारण चेतना है। नैतिक शास्त्र का मुख्य लक्ष्य है मानव की सुख-समृद्धि। मन का संकल्प इसी लक्ष्य की पूर्ति करता है।[३]

अपनी एक प्रसिद्ध पुस्तक में प्रो० मल्लिक कहते हैं कि संसार में आज जो भी विपत्ति है वह केवल 'अस्ति' तथा 'नास्ति' का झगड़ा है।[४] एक पक्ष कहता है कि हमें जो कुछ दिखाई पड़ता है, जो कुछ अनुभव होता है, वह वास्तव में 'है।' उसकी सत्ता है। दूसरा पक्ष कहता है जो कुछ है, सब माया है, मिथ्या है, "नहीं है," भ्रम है। एक तीसरा पक्ष कहता है कि है भी और नहीं भी है। चौथा पक्ष कहता है कि बिना 'है' के 'नहीं' नहीं हो सकता। बिना नहीं के है नहीं हो सकता। मल्लिक लिखते हैं कि शुरू से जितने दार्शनिक हुए हैं तथा जितनी दार्शनिक विचारधाराएँ निकली हैं, सबका एक ही परिणाम हुआ है—मानव के विचार में भयंकर भ्रान्ति पैदा हो गयी है। विचारों का गड़बड़झाला हो गया है। जिन लोगों ने अपनी प्रतिभा से ऐसी गड़बड़ी दूर करने का प्रयत्न किया, वे स्वयं भयानक भ्रान्ति में पड़ गये। संशयात्मा लोगों के मन में दो विचार साथ ही साथ उभड़ते रहते हैं—

१. वही, पृष्ठ ४६४-६५

२. वही, पृष्ठ ५२७

३. वही, पृष्ठ ४३०-४३१

४. B. K. Mallik—"The Real and the Negative" George Allen & Unwin Ltd., London, 1940-page 17

एक तो यह कि संसार में जो कुछ है सब मिथ्या है। दूसरा—"वास्तविकता के रहस्य इतने गूढ़ हैं कि उनका पता नहीं चल सकता।"[१] इसलिए मानव की विचारधारा का नियम, जहाँ तक 'अस्ति' का सम्बन्ध है, 'है' तथा वास्तविकता का सम्बन्ध है—दो भागों में विभाजित है—

अ—वास्तविक सत्यता का क्षेत्र।

ब—सम्भावना का क्षेत्र।

हमारी समूची मनोवैज्ञानिक क्रिया इसी के भीतर होती रहती है।[२] किन्तु, जो कहता है कि 'है', 'सम्भव है', 'नहीं है'—सभी एक स्थान पर मिलते हैं—'है' या 'नहीं' है 'या 'सम्भव है'—सभी विचार के लोग निश्चयात्मक रूप से बात करते हैं। यानी, कोई भी अपने सिद्धान्त को अनिश्चित दशा में नहीं छोड़ना चाहता। सभी 'निश्चित' रूप से निर्णय करना चाहते हैं। प्रत्येक विचार का लक्ष्य किसी "निश्चय' पर पहुँचना है। 'विचार' ही मन का दूसरा नाम है। विचार का अर्थ है मन।[३] यदि मन का कार्य विचार करना, सोचना न हो तो मन की जरूरत ही क्या है। प्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक देकार्ते[४] का कथन था कि यदि मनुष्य की बुद्धि संशयात्मक न हो, तो उसे मन की आवश्यकता ही नहीं है। मन की भूमि पर सभी संदेह तथा शंकाएँ क्रीड़ा करती हैं।[५] शंका और सन्देह के बीच से ही मन असलियत तक पहुँच पाता है। पर यह प्रश्न उठता है कि जब असलियत तक पहुँच गये तब क्या मन की जरूरत ही नहीं रह जाती? क्या मन की सत्ता समाप्त हो जाती है? विचार करते रहने की मन में अन्तर्निहित शक्ति है। मल्लिक कहते हैं "हम इतना ही कह सकते हैं कि नियमित रूप से संशय की क्रिया करते रहने पर भी तथा संशय की क्रिया समाप्त हो जाने पर भी मन बना रहता है। इससे अधिक कुछ कहना कठिन है।"[६] मन को मारने की बात तो भारतीय दर्शन में बार-बार कही गयी है। पर विचारों की गति को रोक लेने को ही 'चित्तवृत्तिनिरोध' कहा गया है। चित्त की वृत्तियों का निरोध करने पर भी चित्त बना रहता है। इसी दशा को गीता में 'स्थितप्रज्ञ' कहा है तथा बौद्धों ने 'बोधि-सत्त्व' कहा है। पश्चिमी विद्वान् मन तथा चित्त के भेद को नहीं समझते। इसी लिए वे संशयहीन मन की सत्ता भी नहीं समझ पाते।

हम जो कुछ विचार करते हैं उसके तीन ही रूप होंगे—

१. वही, पृष्ठ १८। २. वही, पृष्ठ १९४-९५। ३. वही, पृष्ठ ३३-३४।
४. Descartes. ५. वही, पृष्ठ ३२। ६. वही पृष्ठ, ३५।

(अ) वास्तव में ऐसा हो सकता है।

(ब) वास्तव में यह सम्भव हो सकता है।

(स) इसकी आवश्यकता है।

सभी विचार घूम-फिरकर इसी दायरे में रहते हैं।[१] निश्चित रूप से क्या होना चाहिए या करना चाहिए, इसका निर्णय न होने से ही मन का समूचा संघर्ष, उसके भीतर की आँधी पैदा होती है।[२] अस्ति और नास्ति के बीच में जिस मन में एक-स्वरता तथा समन्वय का भाव पैदा हो गया है, उसी को, उसी मन को शान्ति मिल सकती है।

मन के भीतर के ऐसे ही संघर्षों को लेकर व्यक्ति पनपता है या बनता है। एक व्यक्ति का सम्बन्ध दूसरे व्यक्ति से इसी मानसिक संघर्ष की समानता या एक-स्वरता के कारण है।[३] हमारे मन में जो शंका है, दूसरे के मन में जो शंका है, तो उसी के द्वारा हम एक-दूसरे के मित्र या शत्रु बन जाते हैं। विचारों अथवा आदर्शों की समानता से ही मनुष्य एक-दूसरे के निकट आते हैं। इसी प्रकार सभ्यता तथा संस्कृति तथा सामाजिक एकता बनती है। यह सृष्टि अनन्त है। प्राणी अमर है। चूँकि वह निरन्तर सन्देह में पड़ा हुआ है, उसने अपने अविश्वास तथा संदेह को मूर्त्तिमान राक्षस बना रखा है,[४] उसे जो कुछ बुरा मालूम होता है, उसको उसने आसुरी शक्ति का ही परिणाम मान रखा है। असल में यह राक्षस स्वयं उसके भीतर है, उसका निजी सन्देह का भूत है। मानवस्वभाव निरन्तर एकता की ओर, एक भावना तथा विचार की ओर बढ़ता चलता है, बढ़ता चल रहा है। इसमें व्याघात भी होता रहता है। उसके भीतर का राक्षस अनैक्य तथा संघर्ष भी उत्पन्न करता रहता है। मन के भीतर के संघर्ष का परिणाम है कि सृष्टि के आरम्भ से ही दो प्रकार के प्राणी हुए—एक वे जो अपने संशय तथा सन्देह से सदैव संघर्ष करते रहे, यानी योद्धा। दूसरे वे जो एक निश्चित विश्वास लेकर उसी पर सदैव मनन करते रहे, जैसे साधु। योद्धा तथा साधु (तपस्वी) के अतिरिक्त संसार में और किसी श्रेणी का मानव नहीं पैदा हुआ है, न होगा।[५]

जाने या अनजाने, संसार के बंधनों से छुटकारा पाना ही प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य रहा है।[६] हर एक व्यक्ति सौन्दर्य, शान्ति तथा सत्य की खोज में है। यह खोज ही मनुष्य का प्रारम्भिक संकल्प रहा है। इस संकल्प के लिए ही उसके मुख से शब्द निकले या

१. वही, पृष्ठ १८८। २. वही, पृष्ठ १९०। ३. वही, पृष्ठ २८७।
४. वही, पृष्ठ ५२८। ५. वही, पृष्ठ ५२६। ६. वही, पृष्ठ ४९८-९९।

मन के भीतर वाणी हुई,[१] जिसे मंत्र कहते हैं। मनुष्य ने अपने से ऊपर एक सर्वशक्तिशाली सत्ता को, एक परमात्मा को स्वीकार किया। यह सत्ता उसके लिए भय, श्रद्धा तथा प्राप्ति का कारण बनी। इसे प्रसन्न करने या प्राप्त करने के लिए 'उपासना', 'पूजा' का 'विधि-विधान' मनुष्य ने बनाया। ऐतिहासिक दृष्टि से सौन्दर्य, शान्ति तथा सत्य के विचार तथा भावना की ओर, यानी दैवी शक्ति की जिस वस्तु में निकटतम रूप से मनुष्य ने प्रतिष्ठा की, उनका प्रतीक बनाया, वह है प्रतिमा। ईश्वर की सत्ता को निश्चयात्मक रूप में कलेवर प्रदान करनेवाली प्रतिमा है। यह यानी प्रतिमा केवल विचारजन्य वस्तु है, स्वयं सत्य नहीं। इसे हम ईश्वर के साथ सम्बन्धित सत्य, शान्ति तथा सौन्दर्य का प्रतीक मान सकते हैं, उपकरण मान सकते हैं, स्वयं सत्य, शान्ति तथा सौन्दर्य नहीं कह सकते।[२] प्रतिमा की उपासना उस वस्तु में स्वयं दैवत्व उत्पन्न करना या दैवत्व प्रदान करने का प्रयत्न मात्र है।[३] मन के संशय ने संकल्प को जन्म दिया। संकल्प ने वाणी को जन्म दिया। वाणी से उपासना पैदा हुई। उपासना ने प्रतीक के रूप में प्रतिमा बना दी। प्रतिमा सत्य नहीं है। सत्य का प्रतीक है। इसके द्वारा मानसिक संघर्षों में एकता, विचारों में एकता तथा सामाजिक भावना में एकता पैदा होती है। इस एकता या संघर्ष के बीच एक-स्वरता पैदा करने के लिए हर एक देश में मानव ने अपनी अन्त:प्रेरणा से प्रतिमा का प्रतीक स्थापित किया।

प्रतिमा में विश्वास कैसे पैदा हुआ? विश्वास केवल इन्द्रियों से ही नहीं उत्पन्न होता।[४] इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान के कारण ही विश्वास नहीं उत्पन्न होता। विश्वास केवल तर्क से, बहस-मुबाहसे से ही नहीं पैदा होता।[५] विश्वास कल्पना से भी पैदा होता है।[६] आग के छूने से हाथ जलता है, ऐसा विश्वास आग के छूने से या यह तर्क करने से कि चूँकि आग का गुण है जलाना, इसलिए आग हाथ को भी जला सकती है—या इस कल्पना से कि आँचवाली आग हाथ को जलायेगी ही—विश्वास बन सकता है। बात घूम-फिरकर हमारे मन में उठनेवाले विचार पर निर्भर करेगी या नहीं?[७] क्या हमारे शरीर की प्रत्येक क्रिया मन में उठनेवाले विचारों के कारण ही होती रहती है? यह सभी जानते हैं कि मन स्वयं अस्थिर वस्तु है। विचार भी अस्थिर है। मन घोड़े की तरह से दौड़ता रहता है। "मन में उठनेवाले विचार इतने अस्थिर तथा गतिशील हैं, उसमें हर

१. वही, पृष्ठ ५०० । २. वही, पृष्ठ ४९७ । ३. वही, पृष्ठ ४९७ ।
४. David Hume—"A Treatise on Human Nature" Clarendon Press-Oxford, 1927-pages 188-193.
५. वही, पृष्ठ १९३ । ६. वही, पृष्ठ १९४ । ७. वही, पृष्ठ, ११९ ।

एक चीज की, विशेषकर भले-बुरे की मूर्त्तियाँ इतना अधिक चक्कर काटा करती हैं कि वह (मन) सदैव भागता फिरता है, इसलिए यदि मनुष्य मन में उठनेवाले प्रत्येक विचार पर कार्य करता रहे तो उसको (मन को) एक क्षण के लिए भी शान्ति तथा स्थिरता न प्राप्त हो सकेगी।"[१]

"इसी लिए प्रकृति ने एक ऐसा माध्यम बना दिया है कि जिससे हर भले-बुरे विचार के उठने पर कार्य करने की इच्छा को प्रेरणा नहीं मिलती तथा साथ ही इच्छा एकदम ऐसी प्रेरणा से रहित भी नहीं होती।"[२] हम अपने अनुभव से देखते हैं कि किसी भी विचार के साथ एक धारणा भी पैदा हो जाती है। यह धारणा उस विचार से सम्बन्धित ऐंद्रिक अनुभूति तथा दृष्टिकोण से सम्बन्ध स्थापित कर लेती है। धारणा का दृष्टिकोण से तथा दृष्टिकोण का विश्वास तथा आस्था से सम्बन्ध होता है। इसलिए धारणा के प्रभाव से विचार विश्वास के साथ बँध जाता है। जेब में पैसा न होने पर मन में इच्छा हो सकती है कि किसी की जेब से पैसा निकाल लो। पर, इस क्रिया में विश्वास बाधक होता है। विश्वास विचार को समझा देता है कि जेब काटना बुरी बात है। इसी प्रकार हमारे जीवन में विश्वास विचार को अपने दायरे में रखता है। विश्वास अच्छा और बुरा दोनों ही हो सकता है। विचार तथा विश्वास के बीच की कड़ी धारणा है। धारणा से ही धर्म बना है। इसलिए जहाँ पर धर्म ने विश्वास को प्रभावित किया, वहीं से आदमी अच्छे मार्ग पर चलेगा।

किसी वस्तु को बराबर देखते रहने से उसके विषय में अनुभव दृढ़ होता है।[३] तभी यह पता चलता है कि किसी चीज के और बाहरी रूप वास्तविकता में अन्तर होता है।[४] मिट्टी का बना हुआ फल बिना अनुभव किये दूर से असली फल ही मालूम होगा। मूर्ख व्यक्ति जो कुछ देखने में आता है, उसी को सत्य मान लेता है। कल्पना में हर एक भावना सत्य प्रकट होती है। पर बिना अनुभूति की भावना विश्वसनीय नहीं होती। अपने अज्ञानवश मनुष्य यह नहीं सोचता कि यह चीज़ देखने में ही ऐसी लगती है।[५] किन्तु दृष्टि अनावश्यक वस्तु नहीं है। हम किसी चीज़को देखकर उसकी मूर्त्ति बनाकर मन के सामने रख देते हैं। तभी मन को उस चीज़ की जानकारी होती है।[६] दृष्टि केवल आँखों की ही नहीं होती।[७] आँख, स्पर्श, संघर्ष (रगड़) आदि से भी "देखा" जाता है। इसलिए स्पष्ट है कि विचार, कल्पना, भावना, दृष्टि, अनुभूति, इन सबके सम्बन्धित

१. वही, पृष्ठ ११९।   २. वही, पृष्ठ ११९।   ३. वही, पृष्ठ १९४।
४. वही, पृष्ठ १९९।   ५. वही, पृष्ठ १९०-९१।   ६. वही, पृष्ठ २३९।
७. वही, पृष्ठ २३६।

समुच्चय को मन कहते हैं ।[1] मन एक प्रकार की नाट्यशाला है जिस पर हर प्रकार के विचार अपना अभिनय कर रहे हैं ।[2] यह एक प्रकार का वाद्य यंत्र है जिसमें राग की—विकार की—ध्वनि जब तक होती रहती है, वह बजता ही रहता है । ज्यों-ज्यों राग-द्वेष का विकार कम होता जाता है, झंकार कम होती जाती है ।[3]

डेविड ह्यूम की बड़ी पुस्तक का निचोड़ हमने ऊपर दे दिया । अब उससे यह स्पष्ट हो गया कि वे भी भारतीय दर्शन के समान मन को एक रंगशाला मानते हैं जिसमें विचारों की रंग-बिरंगी तस्वीरें नाचती रहती हैं । उस मन को सृष्टि का रहस्य, वास्तविकता, विश्वास तथा धारणा के दायरे में बाँधने के लिए एक ओर मंत्र है, तो दूसरी ओर यंत्र है, प्रतीक है, प्रतिमा है । जो व्यक्ति जिस भाषा को समझता है, उसी भाषा में उससे बात करनी चाहिए । मन तस्वीरों की, मूर्त्तियों की भाषा समझता है । अतएव उसके लिए प्रतीक से बढ़कर बोधगम्य और कुछ नहीं हो सकता । प्रतीक का शास्त्र मन की शिक्षा का शास्त्र है ।

यहाँ पर एक प्रश्न हो सकता है । यदि मन के रंगमंच पर चित्र बनते और बिगड़ते रहते हैं तो क्या ऐसे चित्र बना लेना मन का सहज स्वभाव है या धारणा तथा अनुभूति विश्वास तथा धारणा का परिणाम है ? यह कहना तो बहुत कठिन है कि मन के अन्तःपट पर पहला चित्र कब तथा कैसे बना । बच्चे के मन पर जब पहला चित्र बना होगा उस समय उसे कैसा अनुभव हुआ होगा ? पर यह कोई नहीं कहता कि ये चित्र स्थिर हैं, निश्चित हैं । अस्थायी तथा अनित्य वस्तु किसी-न-किसी रूप में अनुभव से ही प्रारम्भ होगी । अनुभूति ही आगे चलकर स्वभाव का अंग बन जाती है । जो चीज़ स्वभाव में आ जाती है, जिस चीज़ की आदत पड़ जाती है, उसमें इच्छा या संकल्प की आवश्यकता नहीं होती । हमारे जीवन में ऐसे अनगिनत काम होते हैं जिनके लिए इच्छा करने की आवश्यकता नहीं होती सब आप-से-आप होता रहता है । इसका एक उदाहरण डॉ० बेट्स ने अपनी पुस्तक में दिया है । वे कहते हैं कि एक पर्दे पर छः कोणवाला सितारा बना दीजिए। उसे एक आइने के सामने इस प्रकार टांगिए कि आप पर्दा तथा आइने के बीच में बैठें, पर सितारा आइने में प्रतिबिम्बित होता रहे । अब उस पर्दे पर बने सितारे को आइने में देखते रहिए और सामने पेंसिल-कागज़ रख लीजिए । कागज़ की ओर बिना देखे सितारे का चित्र बनाइये । पहले कई भूलें होंगी । दो-चार बार के अभ्यास के बाद आइने में बिना देखे, कागज़ की ओर बिना देखे ही, उँगलियाँ आप-से-आप सितारा बना देंगी

१. वही, पृष्ठ ६३६ । २. वही, पृष्ठ २५३ । ३. वही, पृष्ठ ५७६ ।

जिसमें कोई भूल नहीं होगी। यह काम उँगलियों ने मंत्रवत् किया। न तो मन में कोई इच्छा करनी पड़ी, न कोई चित्र देखना पड़ा और न मन के अन्त:पट पर कोई चित्र बनाना पड़ा।[१]

चित्रों में सोचनेवाले मन के सामने एक चित्र रखकर उस चित्र को स्वभाव का अंग बनाकर, फिर चित्र की सत्ता ही मन से समाप्त कर देने का कार्य प्रतीक करता है। प्रतीक, चिह्न, लक्षण सबकी यही महिमा है। प्रतीक के रूप में यंत्र दिखाकर, मंत्र देकर या प्रतिमा बनाकर, फिर इन तीनों को समेट कर मन के अन्त:पट को शून्य बनाकर, आत्मा में लीन कर देने की कला ही **प्रतीक-शास्त्र** है।

मन की पहेली बड़ी विचित्र है। डॉ० बेट्स ने स्पष्ट लिखा है कि संसार के जो भौतिक पदार्थ हमें दिखाई पड़ते हैं, जिनको इन्द्रियों के द्वारा समझा तथा जाना जा सकता है, वे तो समझ में आ सकते हैं, पर मन की गुत्थी सुलझाना कठिन है। वह न तो दिखाई देता है, न इन्द्रियों के द्वारा नापा-तौला जा सकता है। मन के साथ चेतना लगी हुई है। चेतना भौतिक पदार्थ नहीं है। हम अपने मन को किसी प्रकार जान सकते हैं, पर दूसरे के मन को न तो हम जान सकते हैं और न पहचान सकते हैं।[२] हमारे और आपके मन के बीच में जो बड़ी भारी खाई है, इसे कैसे पार किया जाय?[३] मन क्या है, चेतना क्या है—इन दोनों चीजों को समझाया नहीं जा सकता। स्वयं अपने मन के भीतर बैठकर, अपनी चेतना के भीतर ही टटोलने से जानकारी हो सकती है।[४] जिसे हम दिमाग या मस्तिष्क या अंग्रेजी में ब्रेन (Brain) कहते हैं, वह मन से भिन्न वस्तु है। मस्तिष्क से मन नहीं बनता। मस्तिष्क मन को नहीं पैदा करता। मन

१. George Herbert Bett Ph. D., "The Mind and its Education"—D. Appleton & Co., New York, 1923, pages 326-327.

२. वही, पृष्ठ १। ३. वही, पृष्ठ २। ४. वही, पृष्ठ २।

मस्तिष्क के यंत्र से काम लेता है।[१] मन कोई वस्तु नहीं है, क्रिया है, प्रणाली है, विधान है।[२] इस मन में विचारों की तरंगें अनरवत रूप से उठती रहती हैं। जो तरंग सबसे ऊपर उठ गयी, वही विचार उस समय मन को सबसे अधिक प्रभावित करता है और मन उसी के अनुकूल मस्तिष्क को आदेश देकर काम लेता है। मन की चेतना की तीन श्रेणियाँ हुईं—[३]

१. देखना—द्रष्टा—परिस्थिति इत्यादि को देखना।

२. जानना—ज्ञाता—वस्तु-स्थिति की जानकारी, तुलनात्मक विचार, याद रखना, कल्पना करना इत्यादि।

३. विशिष्ट अनुभूतियाँ—जैसे, उदासीनता, दुःख, सहानुभूति, दया, सद्भावना, क्रोध इत्यादि।

इन सब चीज़ों को मिलाकर एक-पर-एक विचार-तरंगें उठती रहती हैं। किन्तु ऐसी तरंगें केवल विचारों की ही नहीं होतीं। इन्द्रियों की अनुभूतियाँ भी तरंगमय हैं। सूर्य की रश्मियों की अरबों किरणें एक साथ हमारी आँखों की पुतलियों पर पड़ती हैं। तुरत चक्षु-इन्द्रिय में गति उत्पन्न हो जाती है और प्रकाश की ये किरणें पुतलियों में पैठकर देखने की शक्ति पैदा करती हैं। ऐसी ही गतिशीलता, ऐसी ही तरंग शब्दों से उत्पन्न ध्वनि से भी पैदा होती है। ध्वनि से उत्पन्न कम्पन की गति ४०,००० तरंग प्रति क्षण होती हैं। उसी कम्पन से कान की इन्द्रिय सुनने लगती है। ऐसे ही कम्पन, ऐसी ही तरंग हमारी इन्द्रियों को क्रियाशील बनाकर मन को भी प्रभावित करती रहती है।[४]

देखने, छूने, सुनने या अनुभव से हमारे मन में सुख या दुःख की भावना पैदा होती है। यदि चिन्ता पैदा हुई तो चिन्ता के बोझ से दबी चेतना अथवा मन भी बोझिल हो जाता है। उसके बोझ की जानकारी मस्तिष्क को हो जाती है। फलतः मारे चिन्ता के हमको रात भर नींद नहीं आती, इसलिए कि इन्द्रियों को शान्त कर सुला देने का काम मस्तिष्क नहीं कर रहा है।[५] बच्चा जब पैदा होता है तो उसकी चेतना, उसका मन सुप्त अवस्था में रहता है। मां के पेट से वह रोता-चीखता नहीं निकलता। बाहर निकलने के कुछ क्षण बाद पीड़ा की अनुभूति से वह रोना शुरू करता है। पैदा होने के समय वह अंधा, बहरा, स्पर्श आदि की भावना से शून्य रहता है। इन्द्रियाँ सभी वर्तमान रहती हैं, चेतना भी है, मन भी है, मस्तिष्क भी है। पर, बाह्य जगत् की कुछ भी अनुभूति न होने के कारण

१. वही, पृष्ठ ३२। २ वही, पृष्ठ ५। ३. वही, पृष्ठ १०।
४. वही, पृष्ठ ४५ से ४९। ५. वही, पृष्ठ ६२-६३।

वह ज्ञान-शून्य रहता है। धीरे-धीरे उसमें प्रकाश की अनुभूति होती है। वह देखने लगता है। फिर सुनने की ताकत आती है। स्पर्श का अनुभव और भी बाद में होता है।[१] इससे यह स्पष्ट हो गया कि चेतना को जगाने के लिए, मन में गति उत्पन्न करने के लिए भौतिक पदार्थ, बाहरी चीजें, दिखाई-सुनाई पड़नेवाली चीजें जरूरी हैं। इसी लिए मनुष्य के ज्ञान के लिए आँख से दिखाई पड़नेवाले प्रतीक की आवश्यकता है। जो बाहरी चीजें चेतना को जाग्रत करती हैं, वही सुला भी सकती हैं। जो मन में गति उत्पन्न करता है, वही मन को शान्त भी कर सकता है। प्रतीक गति उत्पन्न करता है, ज्ञान पैदा करता है और विचार की तरंगों के झोंके से उसे बचाकर एकाग्र कर देता है।

किन्तु, संसार में हर एक कार्य सोच-समझ कर, विचार करके या प्रेरणावश या 'आपसे आप' नहीं हो जाता। ऐसी भी परिस्थितियाँ उत्पन्न होतीं हैं जब मन कुछ कहता है, विचार कुछ कह रहा है, परिस्थिति कुछ और कह रही है और हमारा स्वभाव कुछ कह रहा है, फिर भी हम अनायास अपने मन को बाध्य कर इन सबके 'अलावा' कोई कार्य करा लेते हैं।[२] दो आदमी लड़ रहे हैं। हमने यह उचित समझा कि इनका झगड़ा निपटा दें। प्रेरणा हुई कि झगड़ा निपटाने का प्रयास किया जाय। शरीर ने आज्ञा का पालन किया। हम उन लड़नेवालों के बीच में कूद पड़े। किन्तु झगड़ा निपटाने के लिए जानेवाला स्वयं झगड़ने लगता है। सिर फोड़ने से रक्षा करनेवाला स्वयं दूसरे का सिर फोड़ देता है। ऐसी दुर्बल परिस्थितियों से मन को बचाने के लिए ही चित्त को संयमित करने की शिक्षा दार्शनिकों ने दी है। संयम का सबसे बड़ा साधन चिन्तन है। आत्म-चिन्तन हर एक की शक्ति के बाहर है। इसी लिए पूजा-पाठ द्वारा चिन्तनशक्ति पैदा की जाती है। पर यह शक्ति आसानी से नहीं आती। इसे प्राप्त करने के लिए सहारे की जरूरत होती है। मानव के इतिहास में चित्त को संयमित करने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण साधन 'प्रतिमा' को बनाया गया। प्रतिमा की कल्पना ही मन को संयम का प्रतीक प्रदान करने के लिए हुई।

हर देश तथा सभ्यता के मनुष्यों की मन-सम्बन्धी समस्या एक प्रकार की थी, है और रहेगी। इसी लिए उस समस्या को सुलझाने के लिए उनके उपायों में भी बहुत कुछ समानता मिलती है। प्रतिमा के सम्बन्ध में, प्रतीक के सम्बन्ध में, चिह्न तथा लक्षण के सम्बन्ध में भी ऐसी ही बात पायी जाती है। प्राचीन देशों का इतिहास इसका साक्षी है।

१. वही, पृष्ठ ३३। २. वही, पृष्ठ ३२८-३२९।

प्राचीन देशों की समान विचारधारा

मानव के इतिहास तथा सभ्यता के इतिहास की जबसे जानकारी है, संसार में दो ही जातियाँ पायी जाती हैं––आर्य तथा अनार्य। लोकमान्य तिलक ने आर्यों का आदि देश साइबेरिया प्रदेश माना है,[१] डॉ० सम्पूर्णानन्दजी भारत-ईरान की भूमि मानते हैं।[२] किन्तु इस विवाद में पड़ने की जरूरत नहीं है। आर्य लोगों ने संसार में चारों ओर फैलकर अपनी सभ्यता का विस्तार किया। "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्।" अनार्यों तथा असभ्यों को सभ्य बनाया। किन्तु अनार्यों की भी अपनी सभ्यता तथा संस्कृति थी। वे एकदम असभ्य तथा जंगली, सब जगह नहीं थे। श्रीमती मरे आंसले का यह कथन एकदम गलत है कि भारत में जो अनार्य हैं वे एकदम असभ्य हैं। "उनमें न तो आत्मसम्मान है और न स्वाभाविक बुद्धि।"[३] यह अवश्य है कि आर्य-अनार्य के रूप, रंग, नाक-नक्शा में बड़ा अन्तर है।

श्रीमती मरे आंसले की मृत्यु ७२ वर्ष की उम्र में हुई थी। वे ब्रिटिश महिला थीं। इन्होंने पचास वर्षों तक यूरोप-एशिया के कोने-कोने की परिक्रमा कर इनकी सभ्यता तथा शिष्टता का अध्ययन किया था। सन् १८७५ से १८९७ तक इन्होंने दस बार भारत की यात्रा की थी। इसलिए इनके अनुभव तथा ज्ञान की गहराई में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। 'पूर्व तथा पश्चिम के प्रतीक' पर इनकी पुस्तक अपने विषय की अनमोल पुस्तक है। जार्ज बर्डउड के कथनानुसार अपनी भारत की यात्रा में श्रीमती मरे ने स्वस्तिक प्रतीक पर बहुत अधिक सामग्री संकलित की थी––बौद्ध, मुसलमान तथा हिन्दुओं से।[४] वे लिखती हैं––

१. Tilak-Arctic Home of the Vedas.

२. डॉ० सम्पूर्णानन्द—आर्यों का आदि देश।

३. Mrs. Murry—Ayusley-"Symbolism in the East & West"-George Redway, London, 1900, page 2.

४. George Birdwood—Introduction to the "Symbolism of the East & West", page XV.

"स्कैंडिनेविन देशों में[1] जिसे पत्थर का युग[2] कहते थे, न्यूजीलैण्ड के आदिम निवासियों में आजकल भी तथा अफ्रीका के कतिपय भागों में वर्तमान समय में जो कला या रीति-रिवाज़ पाये जाते हैं (पत्थर के युग से लेकर आज तक) उनमें बहुत-कुछ समानता है, यद्यपि वे भिन्न देशों के, भिन्न वर्ग तथा जाति के लोगों की चीजें हैं। किन्तु उनकी कला वहाँ तक विकसित हो पायी है जहाँ तक कि वह उनके जीवन की नितान्त आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। किन्तु, जहाँ तक मध्य एशिया तथा यूरोप की अधिक सभ्य जातियों का सम्बन्ध है, ऐसा प्रतीत होता है कि इनका रीति-रिवाज़, कला आदि का आधार-स्रोत एक ही रहा है।"[3]

श्रीमती मरे के अनुसार आज के ३ से ५ हजार वर्ष पहले पत्थर का युग था। लोग केवल पत्थर का उपयोग करना जानते थे, लोहा इत्यादि का नहीं। उन लोगों की निशानी अब भी फ़िन, लाप्प तथा एस्किमो जातियाँ यूरोप में पायी जाती हैं जिनके आजकल के भी औजार इत्यादि पाँच हजार वर्ष पुराने के समान हैं। ऐसे सामानों को स्कैंडिनेविया की प्राचीन कब्रों तथा दलदलों में से आज भी प्राप्त किया जा सकता है। जिन लोगों को धातु का उपयोग नहीं मालूम था, जो केवल पत्थर का ही उपयोग करते थे, वे ही अनार्य हैं।[4] ऐसी आरम्भिक जातियाँ यूरोप-एशिया में हर जगह मौजूद थीं। ये लोग पत्थर की प्रतिमाओं की पूजा करते थे। उस समय आर्य भी मौजूद थे, पर कुछ लोगों के इस कथन को श्रीमती मरे नहीं मानतीं कि आर्यों की प्राचीन शिवलिंग उपासना करनेवाले (वे प्राचीन शैवों को अनार्य समझती हैं) साइबेरिया तथा रूस के घने जंगलों के मार्ग से यूरोप पहुँचे और उन्हीं की सभ्यता के द्वारा पत्थर की प्रतिमा का पूजन यूरोप पहुँचा। किन्तु वे यह स्वीकार करती हैं कि ऐतिहासिक काल के पूर्व की कला के जो अवशेष डेनमार्क, नार्वे तथा स्वेडन के अजायबघरों में प्राप्त हैं, उनसे यह सिद्ध होता है कि हजारों वर्ष पूर्व मध्य एशिया से आर्यों ने यूरोप के लिए दो बार विशद अभियान किया था। दो बार आर्य जाति की धारा मध्य एशिया से यूरोप को बहकर आयी। पहली धारा ईसा से १००० वर्ष पूर्व आयी होगी। इसी को केल्टिक जाति[5] कहते हैं। ये लोग साइबेरिया तथा रूस के मार्ग से यूरोप पहुँचे। ये लोग पत्थर के बजाय काँसे का प्रयोग करते थे। उस वक्त के उनके जो आभूषण यूरोप में मिलते हैं वे आज भी एशिया में उपयोग में आनेवाले सोने-चाँदी के गहनों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। काँसे के युग के लोग स्वर्ण के उपयोग से परिचित थे, इसका काफी प्रमाण है। आर्यों की दूसरी धारा में लोहे के हथियारों का

१. स्वेडन और नार्वे। २. Stone-Age. ३. वही, पुस्तक, पृष्ठ १।
४. वही, पृष्ठ २। ५. Keltic Race.

उपयोग सिद्ध होता है । वे लोग भी सोना-चाँदी काम में लाते थे । इन आर्यों के प्रभाव से ही स्वेडन तथा नार्वे में आज से हजारों वर्ष पूर्व भी स्वर्ण का काफी उपयोग होता था—गहना बनाने में, पूजा के बर्तन बनाने में, मृतकसंस्कार में तथा व्यापार के लेनदेन में। सोने के टुकड़े काटकर वे साथ में रखते थे—सामान खरीदने के लिए। सिक्के के उपयोग का यह आरम्भिक रूप था । स्वेडन-नार्वे में लौह-युग के लोगों को गोथ[1] जाति कहते हैं । इनका समय ईसा के १०० वर्ष बाद का है । ईरानी इतिहासकार फरिश्ता के अनुसार आर्य लोग दाढ़ी रखते थे । जिनके दाढ़ी नहीं थी, वे अनार्य थे । महेंजोदड़ो तथा हड़प्पा की (सिन्ध में) खुदाई से बिना मूँछ, पर दाढ़ी रखनेवाले खिलौने तथा मूर्त्तियाँ मिलती हैं ।

देश-विदेश के लोगों में समानता की अनेक बातें मिलती हैं । अनार्यों में फ़िन, लाप्प, एस्किमो आदि की सूरत-शक्ल, हजारों मील का फ़ासला होने पर भी, बहुत कुछ मिलती-जुलती है । कई हजार मील दूरी पर, हिमालय के गर्भ में रहनेवाले, स्पिती तथा लाहुल घाटियों के निवासियों की सूरत-शक्ल ऊपर लिखे लोगों से बहुत मिलती-जुलती है । स्वेडन-नार्वे की काँसे के युग की प्राचीन कब्रों में ऊनी बुना हुआ सामान मिला है । आज भी उन देशों में किसानों की स्त्रियाँ वैसा ही बुनती हैं । भारत में कुलू घाटी में स्त्रियों को जो वेश-भूषा है, वैसी ही सहारा (अफ्रीका) के रेगिस्तान में घुमन्तू जाति की स्त्रियों की पोशाक है । प्राचीन तथा अर्वाचीन गहनों में तो बहुत ही समानता पायी जाती है । पश्चिमी तिब्बत में तथा लद्दाख में बौद्ध भिक्षु यानी लामा लोग एक विशेष नृत्य करते है । इस अवसर पर वे जैसा रंग-बिरंगा, जड़ाऊ आदि का कपड़ा पहनते हैं, वैसी ही पोशाक दक्षिण भारत के विशाल मन्दिरों के मुखद्वार पर बने द्वारपालों की है । लंका में बौद्ध लोग एक ऐसा धार्मिक नृत्य करते थे जिसे "शैतान का नाच" कहा जाता था। ऐसे अवसर पर नाचनेवाले विभिन्न प्रकार के चेहरे (मास्क) लगा लेते थे । चेहरे पर ऐसी आकृतियाँ बनी रहती थीं जिनसे भिन्न प्रकार की शारीरिक पीड़ाओं की पहचान होती थी । किसी आकृति से रोग का, किसी से अंधेपन का, किसी से शरीर में कम्पन का पता चलता था । ऐसे पुराने चेहरे लंका की राजधानी कोलम्बो के अजायबघर में अब भी देखे जा सकते हैं । यूरोप के आस्ट्रिया राज्य के डाइरोल नामक प्रदेश में १९वीं सदी तक जो धार्मिक नृत्य होते थे उनमें भी चेहरा या नकाब[2] लगायी जाती थी । उनपर भी भारतीय "चेहरे" जैसे ही प्रतीक बने रहने के प्रमाण मिले हैं । उन पर बनी तस्वीरें चीन की चित्र-कला से बहुत मिलती-जुलती हैं ।

१. Goths. २. Papier Mache.

श्रीमती मरे आंसले एक दूसरी मिसाल पेश करती हैं। वे लिखती हैं कि श्याम देश के लोग चाय का बहुत अधिक उपयोग करते हैं। घर में जो भी मिलने आता है उसे बिना चाय पिलाये नहीं जाने देते। चाय का प्याला जितनी बार खाली होता है, उसे भरते रहते हैं। चाय परसनेवाली गृहणी कभी भी पूरा प्याला नहीं भरती। यह अशिष्टता होगी। मेहमान के सामने यदि पूरा प्याला भर दिया जाय तो इसका मतलब यह होगा कि "बस, अब और नहीं।" इसलिए प्याला थोड़ा खाली रखा जाता है। मेहमान जब तक प्याला सीधा रखेगा, उसमें चाय पड़ती जायगी। इसलिए तृप्त होकर वह प्याला उलटकर रख देता है। ठीक यही प्रथा इंग्लैण्ड में कुछ छोटे वर्ग के लोगों में पायी जाती है।[१] प्याला उलट देने की रीति बहुत जगह है।

ऊपर लिखी बातों से यह स्पष्ट है कि आर्य सभ्यता का संसार के हर कोने में विस्तार हुआ था और उसके साथ ही अनार्य सभ्यता भी एक-दूसरी के सम्पर्क में आती रही। और सबसे बड़ी बात है कि मन-विचार-संकल्प-धारणा तथा कार्य की मनोवैज्ञानिक धारा प्राणिमात्र में मौलिक रूप में समान रही है। हर एक देहधारी का मन, उसकी चेतना, उसकी वाणी का विकास एक ही सिद्धान्त के, एक ही विज्ञान के, एक ही महान् सत्य के नियमों के अनुसार हुआ है। इसलिए हर देश-काल में मन की गति भी एक ही रही है। अतः भारत से लेकर यूरोप-अमेरिका के लोगों के मानसिक तथा बौद्धिक विकास का क्रम एक ही रहा है। और उससे ऊपर बात यह है कि आर्य जाति का प्रधान स्थल भारत वर्ष था। भारत में प्राप्त ज्ञान तथा कला का आर्यों ने विश्व में विस्तार किया, प्रचार किया, इसी लिए हमारे प्रतीक, हमारी प्रतिमाएँ तथा हमारे धार्मिक विश्वास संसार के कोने-कोने में फैल गये। एक स्थान से प्रतीक दूसरे स्थान को किस प्रकार यात्रा करते थे, इसको कौंट (राजा) अलवीला ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में प्रतिपादित किया है।[२] अब भारत तथा अनेक देशों में प्राप्य एक-एक मुख्य प्रतीक को लेकर हम अपनी बात की पुष्टि करेंगे।

१. वही, पुस्तक, पृष्ठ १३।
२. "Count Goblet D'Alviella"—"Migration of Symbols".

वृक्ष-प्रतीक

पश्चिम के लोग और नये पढ़े-लिखे भारतीय भी हमारे देश में तथा अन्य देशों में प्रचलित वृक्ष-पूजा का बड़ा मज़ाक उड़ाते हैं।[1] हमको पेड़-पत्ते का पुजारी कहा जाता है। पर वृक्ष की पूजा हँसी की चीज़ नहीं है। तुलसी का पूजन हर हिन्दू घर में होता है। तुलसी के पौधे का स्वास्थ्य तथा मन पर कितना बड़ा प्रभाव पड़ता है, इस सम्बन्ध में आजतक नयी-नयी बातें मालूम हो रही हैं। लोक-पालक विष्णु हैं। आयुर्वेद के आचार्य विष्णु हैं। धन्वन्तरि को विष्णु का अवतार कहते हैं। सैकड़ों रोगों की दवा तथा घर की गन्दी हवा को दूर करनेवाला तुलसी का पौधा है। तुलसी का विष्णु से विवाह एक प्रतीक मात्र है। इसी तरह से पीपल के पेड़ में वासुदेव का पूजन करते हैं। वासुदेव अजर और अमर हैं। संसार में पीपल का ही एक वृक्ष ऐसा है जिसमें कोई रोग नहीं लग सकता। कीड़े प्रत्येक पेड़ में तथा पत्ती में लग सकते हैं, पीपल में नहीं। वट-वृक्ष की दार्शनिक महिमा है। यह उर्ध्व-मूल है। यानी, इसकी जड़ ऊपर, शाखा नीचे को आती है। ब्रह्म ऊपर बैठा है। यह सृष्टि उसकी शाखा है। वट-वृक्ष ब्रह्म का प्रतीक है। उसके पूजन का बड़ा महत्त्व है। ज्येष्ठ के महीने में हमारे देश में "वट-सावित्री" का बड़ा पर्व होता है। इस त्योहार को अपभ्रंश-रूप में हम "बरगदाई" कहते हैं। आँवले के सेवन से शरीर का काया-कल्प हो जाता है। आँवले के वृक्ष के नीचे बैठने से फेफड़े का रोग नहीं होता। चमड़े की कोई बीमारी नहीं होती। कार्त्तिक के महीने में कच्चे आँवले तथा आँवले के वृक्ष का स्वास्थ्य के लिए विशेष महत्त्व है। इसी लिए कार्त्तिक में आँवले के वृक्ष का पूजन, आँवले के पेड़ के नीचे भोजन करने की बड़ी पुरानी प्रथा हमारे देश में है। कार्त्तिक शुक्ल पक्ष में **धात्री-पूजन** का विधान है। इस पूजन में आजकल आँवले के वृक्ष के नीचे विष्णु का पूजन होता है।

शंकर को विल्वपत्र चढ़ाते हैं। शंकर ने हलाहल विष का पान किया था। समुद्र-मंथन के समय जहाँ एक ओर अमृत आदि निकले, वहीं हलाहल विष भी निकला। इस विष की आग से, आँच से संसार तप्त हो गया। तब शंकर भगवान् ने इसे पी लिया। पर गले के नीचे नहीं उतरने दिया। उनके हृदय में विष्णु का, यानी लोक-रक्षात्मक

१. ईसाइयों में बड़े दिन का Christmas tree भी वृक्ष-पूजन है।

शक्ति का वास था। उसको मारना नहीं था। अतएव गले में ही विष पड़ा रहा। इसी लिए उनका गला नीला पड़ गया। वे नील-कण्ठ हो गये। नीलकण्ठ पक्षी को शंकर का प्रतीक मानकर उसका पूजन करना, उसे नमस्कार करना—यह प्रथा भारत में हर कोने में मिलेगी। नीलकंठ पक्षी नीलकण्ठ शंकर भगवान् का प्रतीक है।

शंकर ने विषपान किया अतएव उसकी गर्मी से वे तप्त हैं। हर एक नशा विष होता है। किसी के लिए संखिया विष का काम करता है, किसी के लिए नशे का काम करता है। बहुत गहरा नशा करनेवाले जब कुचला, संखिया, सब कुछ हज़म कर जाते हैं तो वे नागिन पालते हैं और अपनी जीभ में उससे रोज़ कटवा-डँसवा लेते हैं। तब कुछ नशा जमता है। नशे को उतारने के लिए सबसे अच्छी दवा विल्व (बेल) का पत्ता है। कितनी भी भंग चढ़ी हो, जरा सा बिल्व-पत्र कूँचकर उसका अर्क पिला देने से नशा हिरन हो जाता है। हलाहल विष का पान करनेवाले शंकर के मस्तक पर या शिव-लिंग पर बिल्वपत्र चढ़ाने का नियम है। जो लोग बिल्वपत्र का गुण नहीं जानते वे उसका महत्त्व नहीं समझते।

बिल्वपत्र तथा बिल्ववृक्ष का और भी महत्त्व है। नवरात्र में सप्तमी के दिन बिल्व-पत्र से देवी को अभिमंत्रित करना चाहिए। रावण के वध के लिए तथा राम की सहायता के लिए ब्रह्मा ने बिल्ववृक्ष में देवी का आवाहन किया था। बिल्ववृक्ष भगवती का प्रतीक माना जाता है।

विजयादशमी की शाम को शमी वृक्ष के पूजन का विधान है। शास्त्रवचन है कि "शमी पाप की शामक है।" अर्जुन को, महाभारत में, अस्त्र-शस्त्र शमी ने धारण कराये थे। राम को प्रिय बात शमी ने सुनायी थी। यात्रा को निर्विघ्न बनानेवाली शमी है, अतः पूज्य है। यात्रा के समय यात्री के हाथ में शमी की पत्ती देने की पुरानी परिपाटी हमारे देश में है। गणेश-पूजन में गणेशजी को दूर्वा (दूब) के साथ शमी भी चढ़ाते हैं। कुश भी पूजा के काम आता है। विधान है कि अमावस्या की काली रात्रि में, भाद्रपद (भादो) के महीने में कुश उखाड़ना चाहिए (कुशोत्पाटनम्)। शास्त्र-वचन है कि दर्भ ताज़े होने के कारण श्राद्ध के योग्य होते हैं।

ऊपर हमने बट तथा पीपल के पूजन का जिक्र किया है। ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा या अमावस्या को सावित्री-पूजन का विधान है। वट-मूल में सावित्री-सत्यवान का पूजन सौभाग्य के लिए स्त्रियाँ करती हैं। वैष्णवों के आचार में वट में विष्णु का वास माना गया है। वट को नमस्कार करने का आदेश है। वट-वृक्ष पर चढ़ना मना है। पीपल के लिए तो यहाँ तक लिखा है कि—

कण्डूय पृष्ठतो गां तु स्नात्वा पिप्पलतर्पणम् ।
कृत्वा गोविन्दमभ्यर्च्य न दुर्गतिमवाप्नुयुः ।।

(गौ को पीछे से सहलाकर, फिर स्नान कर पीपल के नीचे भगवान् की पूजा करे तो दुर्गति नहीं होती ।)

सिसली निवासी पीत्रो नामक एक यात्री ने सन् १६२३ में भारत की यात्रा की थी । उसने हारमुज़ के निकट ईरान के तटपर और भारत में कैम्बे नगर के बाहर "बर" (बट) के वृक्षों की पूजा देखी थी । उसके कथनानुसार भारत में यह वृक्ष महादेव की पत्नी "पार्वती" को समर्पित है । वट-सावित्री का जिक्र हम ऊपर कर आये हैं ।

चैत्र मास, शुक्ल पक्ष, अष्टमी को पुनर्वसु नक्षत्र में जो लोग अशोक की ८ कली को (उसके अर्क को) पीते हैं, उनको कोई शोक नहीं होता । अवश्य इस अशोक-कली का कोई आयुर्वेदिक महत्त्व होगा जिससे रोग-दोष नष्ट होता होगा ।

अशोककलिकाश्चाष्टौ ये पिबन्ति पुनर्वसौ।
चैत्रमासे सितेऽष्टम्यां न ते शोकमवाप्नुयुः ।।

दौना (दमनक) की पत्तियाँ कितनी मीठी सुगन्ध देती हैं । चैत्र मास में अपने इष्ट देवता को दौने की पत्ती चढ़ायी जाती है । दौने की महक से बल-वीर्य भी बढ़ता है । इसी लिए यह ऋषि, गंधर्व आदि को मोहित करने वाला तथा कामदेव की पत्नी रति के मुख से निकले हुए भाप, की सुगन्धि से युक्त कहा जाता है । कहते हैं कि इसमें कामदेव का वास है—

कामभस्मसमुद्भूतरतिवाष्पपरिप्लुतः ।
ऋषिगन्धर्वदेवादि-विमोहक नमोऽस्तु ते ।।

आम के वृक्ष तथा आम के फूलके, जिसे मंजरी कहते हैं, पूजन की अनेक विधियाँ हैं । वसन्त पञ्चमी के दिन इसका पूजन होता है । चैत्र कृष्ण प्रतिपदा—धुरड्डी के दिन मंजरी-पान का विधान है ।

यदि मकान में कोई दोष हो या आदमी की तीसरी शादी हो या कन्या को विधवा होने का दोष (भय) हो तो मदार के साथ विवाह (अर्क-विवाह) करने का विधान है ।

अस्तु, किस समय, किस ऋतु में, किस नक्षत्र में कौन-सी जड़, कन्द, पौधा, वृक्ष लगावें या खोदें, इसका हमारे यहाँ बड़ा भारी शास्त्र है, विज्ञान है, जो कपोल-कल्पित नहीं है । चरक की काष्ठ-औषधियाँ सृष्टि के अन्त तक मानव का कल्याण करती रहेंगी । चरक के समय में वृक्ष-विज्ञान बहुत ऊँचे उठ गया था । चरकसंहिता का या चरक का समय क्या

था, यह विवादास्पद प्रश्न है। चरकसंहिता में लिखा है[१]—"अग्निवेशकृते तंत्रे चरक-प्रतिसंस्कृते।" अग्निवेश ही इस ग्रंथ के मूल रचयिता हैं। अग्निवेश पाणिनि से पुराने हैं। महान् व्याकरणपंडित पाणिनि के व्याकरण में, सू० ४१–१०५ में अग्निवेश का ज़िक्र है। चिकित्सा-सम्प्रदायाचार्य आत्रेय पुनर्वसु के छः शिष्यों में प्रथम अग्निवेश थे—

अग्निवेशश्च भेलश्च जतुकर्णपराशरः।
हारितिः क्षारपाणिश्च जगृहुस्तन्मुनेर्वचः॥

ऋग्वेद में (५–३४–९) अग्निवेश की सन्तान के रूप में "आग्निवेशि" की चर्चा मिलती है। शतपथब्राह्मण में (१४) आग्निवेश्य-वंश का वर्णन है। शतपथ ब्राह्मण का रचनाकाल ईसा से ८-९ सौ वर्ष पूर्व का माना गया है। अतएव वे आज से दो हजार वर्ष पुराने तो हुए ही। आयुर्वेदीय विश्वकोषकार[२] ने लिखा है कि "धन्वन्तरि और आत्रेय से लेकर आगे के काल को हम संहिताकाल का आर्षकाल कहेंगे। आज के २५०० वर्ष पूर्व यह समय था।"

उस अग्निवेश ने आयुर्वेद के सम्बन्ध में, जिसमें वृक्ष तथा फूल-पत्तों का काफी महत्त्व है—"अग्निवेशतंत्र" की रचना की। चरक ने उस ग्रंथ का प्रतिसंस्करण किया। १६वीं सदी में प्रसिद्ध वैद्य भाव मिश्र ने अपने ग्रंथ "भावप्रकाश" मे चरक को शेषनाग का अवतार माना है। आचार्य परमानन्द का मत है कि आत्रेय सम्प्रदाय के चिकित्सकों को "चरक" की उपाधि मिलती आयी है। इन चरक उपाधिधारी आयुर्वेद के विद्वानों ने अग्निवेशतंत्र का संस्करण बार-बार किया है।

चीनी बौद्धों ने राजा कनिष्क के, जिनका शासनकाल १०० ईसवीय सन् था, राज-वैद्य का नाम चरक बतलाया है।[३] पर ब्राह्मण ग्रन्थों से पता चलता है कि पतञ्जलि का ही दूसरा नाम चरक था।[४] नागार्जुन ने अपने ग्रंथ "उपायहृदय" में सुश्रुत की चर्चा की है, चरक की नहीं। कनिष्क-काल के इस ग्रन्थ से स्पष्ट है कि उस समय राजा कनिष्क के राजवैद्य सुश्रुत थे, चरक नहीं। चरक इससे भी पुराने थे। श्री सुरेन्द्रनाथ दास ने चरका-चार्य को न्यायसूत्रकार गौतम का पूर्ववर्ती माना है, यानी चरक गौतम (न्यायदर्शन के प्रणेता) के पूर्वकालीन थे।[५] इससे यह सिद्ध हो गया कि चरक का ढाई हजार वर्ष

१. धन्वन्तरि—चरक-चिकित्साङ्क, विजयगढ़, अलीगढ़—लेख "चरक का समय" लेखक परमानन्द शास्त्री, दिसम्ब १९५८।
२. भाग २, पृष्ठ १०९९—आयुर्वेदीय विश्वकोष
३. Sylvan Leckie—In "Asiatic Journal", Paris, 1896, pages 447 480
४. A. B. Kieth—"History of Sanskrit Literature"-page 406 पतञ्जलि के व्याकरण महाभाष्य तथा चरकसंहिता की शैली में बड़ा अन्तर है।
५. Surendra Nath Das—"History of Indian Philosophy"-Part I.

पूर्व का ही समय था तथा अग्निवेश ऋग्वेद-युग के व्यक्ति थे। निश्चयतः हमारा वृक्ष-विज्ञान काफ़ी प्राचीन है। वृक्ष की उपासना का एक महत्त्वपूर्ण मंत्र यजुर्वेद में है—

आज्यं वहन्तीरमृतम् पयः कीलालम् परिस्रुतम्। स्वधास्थतर्पयत मे पितृन्—३४।

हे आपः-आप्त पुरुषों, प्राप्त पुत्रादि जनों, तथा जल के समान स्वच्छ उपकारक पुरुषों को उत्तम रस, रोगहारी, जीवनप्रद, तेजोदायक घृत, पुष्टिकारक दूध, अन्न और सब प्रकार से स्रवित रस से युक्त पके फल एवं औषधि विधि से तैयार किये उत्तम रसायन आदि को धारण करते हुए मेरे पालक वृद्ध जनों को तृप्त करो। आप सब स्वयं अपने आपको और अपने वृद्ध, पालक, सत्कार योग्य पुरुषों को भी अपने बल पर धारण-पोषण करने में समर्थ हों।[१]

हज़ारों वर्ष पूर्व हमने वृक्षों की जो महत्ता स्थापित की थी वह संसार में सब जगह फैल गयी। मानव हर जगह एक-सा है। उसका एक-सा स्वभाव है। डॉ० मेसन ने सत्य लिखा है कि "मानव जाति हर जगह, हर समय एक समान है। इतिहास का मुख्य उद्देश्य है मानव-स्वभाव के विश्व-व्यापी समान सिद्धान्तों की जानकारी करना।"[२]

वृक्षों के विषय में भी यही बात है। जार्ज वर्डउड ने वृक्षों की विश्व-व्यापी उपासना के काफ़ी उदाहरण दिये हैं। फ्रान्स में अठारहवीं सदी के मध्य में एक विश्वकोष प्रकाशित हुआ था। पश्चिमी देशों का यह प्रथम विश्वकोष था। इसमें भी वृक्ष सम्बन्धी मानव की श्रद्धा का अच्छा परिचय मिलता है।[३]

स्वर्ग में प्राप्त पारिजात वृक्ष (हर-श्रृंगार) की बात तो हर एक हिन्दू जानता है। कृष्ण को कदम्ब वृक्ष बड़ा प्यारा था। आज भी कदम्ब का पूजन होता है। हिमालय पर्वत पर, कुलू तथा सतलज नदी की घाटियों में देवदारु का वृक्ष पूजनीय है। उसमें देवता का वास कहा जाता है। ग्रेट ब्रिटेन में गेलिक बोली में देवदारु को "दरक"[४] कहते हैं। उस देश में भी बलूत के वृक्ष (Oak) की पूजा होती थी। वह पवित्र समझा जाता था। स्वेडन तथा नार्वे में यह वृक्ष अग्नि-देव को बड़ा प्रिय माना जाता था, इसलिए कि इसकी छाल लाल होती थी। मेक्सिको तथा मध्य अमेरिका में साइप्रस तथा खजूर के वृक्ष बहुत पूजित थे। इनके सामने धूप-दान होता था। रोम में साइप्रस वृक्ष को प्लूटो देवता का प्रिय तथा खजूर का पेड़ 'विक्टरी' (विजय) देवता का प्रिय समझा जाता था।[५]

१. यजुर्वेदसंहिता पृष्ठ ६२
२. Dr S. F. Mason—"A History of the Sciences"—Routledge and Kegan Paul Ltd., London-page 259.
३. French "Encyclopedie"—1751-1777.
४. Darack. ५. Symbolism of the East & West-pages 113.

बोधगया में जिस वृक्ष के नीचे भगवान् बुद्ध को "ज्ञान"—"बोधिसत्त्व" प्राप्त हुआ था, वह आज तक विश्व के बौद्धों के लिए पूजा की वस्तु है। सम्राट् अशोक के पुत्र महेन्द्र इसकी एक शाखा लंका के बौद्धों के लिए ले जाना चाहते थे। समस्या यह थी कि वृक्ष की टखनी को चाकू से काट नहीं सकते थे। कथा है कि उसके नीचे सोने की थाली लेकर लोग खड़े हो गये और एक शाखा टूटकर स्वयं गिर पड़ी। वह शाखा आज लंका में लहलहा रही है। एक शाखा महाबोधि सोसायटी द्वारा सारनाथ में लगायी गयी है ?[१]

जार्ज बर्डउड के कथनानुसार[२] यारकन्द के कालीनों पर तथा भारतवर्ष की दस्तकारी में वृक्षों, पत्तों के बनाने का बड़ा रिवाज़ था, पीत्रो ने वट के पेड़ के तने को सिन्दूर से रंगने का तथा उसे पान के पत्ते की माला पहनाने का जिक्र किया है। स्वेडन की राजधानी में, अजायब घर में एक मिट्टी का बर्तन रखा है जिस पर सूर्य के साथ वृक्ष बना हुआ है। डॉ० बर्सार्ये ने इसे "जीवन का वृक्ष" साबित किया है।[३]

वृक्षों को, प्रतिमाओं को तथा मन्दिरों के सामने भेंट चढ़ाने की प्रथा बड़ी पुरानी है। पीपल तथा वट के पेड़ों में "मनौती" (मनोकामना) मानकर कपड़ा लपेटने की प्रथा अभी तक है। फतेहपुर सीकरी में, चूँकि फ़कीर सलीम चिश्ती की कृपा से अकबर बादशाह को सलीम (जहाँगीर) नामक बेटा पैदा हुआ था, इसीलिए आज तक उनकी मज़ार की खिड़कियों में सन्तान की कामना करनेवाली स्त्रियाँ चीथड़ा बाँधती हैं। वहाँ पास के पेड़ में भी कपड़ा बाँध देती हैं। शिमला से ४० मील उत्तर नागकंधा नामक स्थान में झाड़ियों में अनगिनत चीथड़े बँधे मिलेंगे। दुर्गम पहाड़ी पर सुगमता से यात्रा करने की कामना करके यात्री लोग इन वृक्षों में, झाड़ियों में चीथड़े बाँध देते हैं। फ़ारस में ख़ास बीमारियों से छुटकारा पाने के लिए खास झाड़ियों में चीथड़े बाँधने का रिवाज़ था[४] स्वेडन तथा नार्वे में पीपल के पेड़ से मिलता-जुलता एक पेड़ होता है जिसकी आज तक पूजा होती है। एक गिर्जाघर में[५] बड़े दिन में इसमें बियर शराब चढ़ाते हैं। फारस में एक दरख़्त जिसे "फज़्ल-ए-दरख़्त" कहते हैं, बड़ा पवित्र समझा जाता है। शेख सादी ने अपने "गुलिस्तां" में एक ऐसे पवित्र वृक्ष का जिक्र किया है जिसके पास लोग अपनी फ़रियादें लिखकर ले जाते थे और वहीं छोड़ आते थे। उनका ऐसा विश्वास था कि वृक्ष

१. Pietro Della Valle.
२. George Birdwood—Industrial Arts of India.
३. Kamer Hou Dr. Worsaae.
४ Sir William Ousely—"Travels in the East, more particularly Persia—" 1821.
५. Panish of Sognedal, in the diocese of Bergen.

उनकी प्रार्थना सुन लेगा। प्राचीन पारसी धर्म (जरतुश्त द्वारा प्रचलित धर्म) में वृक्षों की उपासना होती थी और उनका यहाँ तक विश्वास था कि साधु-सन्तों की आत्मा वृक्षों में रहती है।

दक्षिण अमेरिका में वृक्ष की उपासना पुराने समय से चली आ रही है। कहते हैं कि वहाँ जिस वृक्ष की सबसे ज्यादा पूजा होती थी वह इतना मोटा था कि जमीन से छः फुट ऊँचे उठने पर उसके तने की गोलाई ९० फुट होती थी। यूरोप में बहुत-से वृक्षों को "पवित्र" तथा "देवता" कह कर पूजा जाता था। प्राचीन यूरोप में यदि किसी पेड़ के नीचे बैठकर किसी मुकद्दमे का फ़ैसला न हो तो वह निर्णय गैर-क़ानूनी हो जाता था। अफ्रीका में, कांगो के निवासियों में भी पेड़ के नीचे बैठकर ही पंचायत तथा राजसभा होती है। इंग्लैण्ड में आज तक बलूत के पेड़ को बड़ा पवित्र मानते हैं। गिर्जाघर की चहारदीवारी बलूत के पेड़ों की होती है। ऐसे पेड़ों के लगाने के लिए रंग-बिरंगे कपड़े पहनकर बच्चों का जलूस भी निकाला जाता था। लगभग पचास वर्ष पूर्व तक डेनमार्क में यह प्रथा थी कि बीमार बच्चों को एक विशेष पेड़ के तने के पेट में सूराख बनाकर खड़ा कर देते थे। विश्वास था कि इससे रोगी अच्छा हो जायगा। इंग्लैण्ड के यार्कशायर नगर में "सेंट हेलेन का कुआँ" है। इसमें अपनी मनोकामना पूरी करने के लिए, एक कंटीले झाड़ में चीथड़ा बाँधकर फेंकने का रिवाज था।[१] आयरलैण्ड में भी पवित्र कुओं के पास में लगे हुए पेड़ों में, कुएँ के जल में कपड़ा भिगोकर पेड़ में बाँधने की प्रथा प्रचलित है। वहाँ एक पवित्र कुएँ के द्वार पर लिखा है—"ईसवीय सन् ५५० में साधु कोलम्बा ने यहाँ पर पवित्र ग्रंथ का प्रचार किया, गिर्जा बनवाया तथा इस पवित्र कूप का जल पीया। यहीं पर देवगण मेरी पवित्र कोठरी में, मेरे अखरोट तथा सेवों का कूप में आनन्द लेंगे।"

ग्रेट ब्रिटेन से प्राचीन विश्वास धीरे-धीरे समाप्त होते जा रहे हैं। मई दिवस किसानों का पर्व है। उसमें ब्रिटिश किसान मैदान के बीच में एक खम्भा गाड़कर उसमें रंग पोत देते हैं और प्रायः लाल तथा अन्य रंग के कपड़े के टुकड़ों से सजा देते हैं। फिर उसके चारों तरफ नाच होता है। श्रीमती मरे-आंसले का कहना है कि ठीक वैसा ही नृत्य उन्होंने दक्षिण भारत में देखा था। लाल रंग हिन्दुओं का पवित्र रंग है। "ऐसा प्रतीत होता है कि यह पर्व हमने भारत से सीखा।"[२] बीच का खम्भ केवल वृक्ष का प्रतीक है। बोर-सेस्टरशायर में यह अंधविश्वास है कि यदि किसी बीमार आदमी की खाट उसके कमरे में

१ Henderson—Folk lore of Northern Countries of England.
२. Symbolism of the East & West, पृष्ठ १२३।

इस प्रकार हो कि किसी दूसरे कमरे की छत को लाँघ रही हो, तो खाट को तुरत ठीक कर देना चाहिए, वरना रोगी मर जायगा। वहाँ पर यह भी विश्वास है कि यदि कोई व्यक्ति झाड़ू की एक टहनी मकान में ले आवे तो साल भर के भीतर उस मकान में कोई-न-कोई मौत होगी ही।

आस्ट्रिया के टाइरोल प्रदेश में लोग कुछ वृक्षों का इतना आदर करते हैं कि उनके सामने नंगे सिर रहते हैं। मेरन नगर के वर्दिन्स कस्बे में पेड़ काटकर उसके तने पर तीन "क्रास" बना देते हैं ताकि दुष्ट आत्माएँ उस पर विश्राम न करने लगें। अदीगे घाटी की एक कथा है कि वहाँ बड़े जोरों का प्लेग आया। हजारों व्यक्ति मर गये। एक किसान कहीं एकान्त में खड़ा था। उसे एक वृक्ष पर बैठी चिड़िया की आवाज सुनाई पड़ी कि "क्या तुमने जुनियर के बेर खा लिये हैं जो अभी तक नहीं मरे ?" किसान ने तुरत इशारा समझ लिया। उसने स्वयं भी वे बेर खा लिये तथा औरों को खिला दिये। फिर प्लेग से कोई नहीं मरा।

वृक्ष "जीवन" का प्रतीक है। शाखाएँ जीवन की समस्याएँ हैं। इसकी उपासना बहुत प्राचीन है। बर्डउड ने लिखा है कि यह अति प्राचीन पूजा है। मिस्र, मसोपोतामिया, यूनान, रोम, सब जगह इसका प्रचलन था।[१] ईसाई देशों में अब भी इसका काफी प्रचार है। २५ मार्च को "अवर लेडी डे" का त्योहार, २४ जून के "सेण्ट जॉन डे" का त्योहार, पहली मई को "मई दिवस" का त्योहार, स्वेडन का २३ जून का त्योहार, २३ अप्रैल का कोरिन्थिया का "सेण्ट जार्ज डे" त्यौहार, हॉलैण्ड इत्यादि देशों का ऐसा ही त्योहार और कुछ नहीं, केवल वृक्ष, फूल-पत्ते का त्योहार है जो हमारे वन-महोत्सव से थोड़ा-बहुत मिलता-जुलता है।

उत्तरी अमेरिका में सबसे पहले वृक्षपर्व १० अप्रैल, १८७२ को नेब्रास्को में मनाया गया। वह "वृक्षारोपण-पर्व" था। सन् १८७६ से मिचिगन प्रदेश में तथा १८८८ से न्यूयार्क प्रदेश में वृक्ष-महोत्सव चालू हुआ। संयुक्त राज्य अमेरिका में १ अप्रैल से ३१ मई तक, भिन्न प्रदेशों की ऋतु के अनुसार, वृक्ष-पर्व मनाया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका की देखा-देखी कनाडा ने भी वृक्ष-पर्व प्रारम्भ किया। सन् १८९६ से स्पेन में यह पर्व प्रचलित हुआ। वृक्षारोपण पर्व इंग्लैण्ड में भी काफी उत्साह से मनाया जाता है। वृक्ष मनुष्य के लिए, उसकी रक्षा के लिए, उसके जीवन के लिए, उसकी खेती तथा वर्षा के लिए नितान्त आवश्यक हैं। इनकी पूजा कर मानव इनकी महत्ता को प्रतिपादित करता रहता है। इनकी रक्षा का संकल्प लेता है।

१. वही, जार्ज बर्डउड की भूमिका में, पृष्ठ XIX.

सूर्य-प्रतीक

वैदिक देवताओं के वर्णन में हमने एक प्रचलित पश्चिमीय विश्वास का खण्डन किया है कि प्राचीन देवगण प्रकृति के तत्त्वों के प्रतीक थे, द्योतक थे तथा उनका कोई आध्यात्मिक रूप नहीं था। हमने सूर्य, अग्नि, वरुण आदि देवताओं के आध्यात्मिक रूप पर प्रकाश डाला था। इस अध्याय के पाठकों को हमारे उस अध्याय से मिलाकर पढ़ने में सहायता मिलेगी।

प्राचीन धर्मों का कभी एक ही स्वरूप रहा होगा, वह देश-काल के अनुसार बदलता गया। आर्यों ने वेद का तथा वैदिक सभ्यता का प्रचार चारों ओर किया। उस सभ्यता का रूपान्तर होता चला गया। उदाहरण के लिए वैदिक देवता प्रजापति को लीजिए। प्राणिमात्र के वे रचयिता हैं। यूनान में, प्राणिमात्र के रचयिता देवता प्रामेथियस थे। प्रजापति से इनका नाम भी मिलता-जुलता है। इसी देवता ने मिट्टी तथा जल से एक बड़ी सुन्दर स्त्री की प्रतिमा बनायी जिसका नाम "पांदोरा" रखा गया। इस प्रतिमा को सभी अन्य देवताओं ने अपनी-अपनी विभूतियाँ प्रदान कीं (दुर्गासप्तशती में भगवती को सभी देवताओं की विभूतियाँ प्राप्त करने की कथा हम लिख आये हैं)। कुछ देवताओं ने इस देवी को हानिकारक विभूतियाँ भी दीं, जैसे, अफ्रोदाइत तथा हर्मीज देवता ने। इसी लिए इस मूर्त्ति—इस देवी का नाम "सुन्दरी-दूषण" पड़ गया। अभी तक पांदोरा स्वर्ग में ही रहती थीं। हर्मीज़ देवता इनको पृथ्वी पर ले आये। वहाँ आकर इन्होंने अपने निर्माता देवता प्रामेथियस के भाई एपिमेथियस से विवाह कर लिया। इनकी सन्तान से सृष्टि शुरू हुई। इस प्रकार पांदोरा संसार में पहली महिला थीं। पृथ्वी पर देवों ने एक बर्तन में सभी बुराइयों को बन्द करके रख दिया था। सबको मनाही थी कि कोई उस बर्त्तन को न खोले। स्त्री-सुलभ चञ्चलता से पांदोरा ने उस बर्तन को खोल दिया। फिर क्या था, संसार में चारों ओर हर प्रकार की बुराइयाँ फैल गयीं। केवल एक वस्तु उस पात्र में, उस बर्तन में बची रह गयी। वह थी "आशा"।[१]

१ Dora & Erwin Panosky—"Pandora's Box-Pub. Routledge & Kegan Paul Ltd., London, 1956-pages 7-8.

पांदोरा को यदि मायावती पद्मा—लक्ष्मी का रूपान्तर—मान लें, प्रामेथियस को प्रजापति या ब्रह्मा मान लें तथा उनके भाई को विष्णु मान लें तो माया और पुरुष का विवाह हुआ और ममता-मोह के संघर्ष के बीच में है केवल आशा की जीवन-दायक ज्योति—और है क्या मनुष्य के लिए ?

सूर्य की उपासना भी, प्राचीन काल में, भारत से फैलकर देश-देशान्तर में व्याप्त हो गयी। "हर सभ्यता तथा संस्कृति प्रतीकों से ओतप्रोत होती है। निजी व्यवहार भी, व्यक्तिगत व्यवहार भी प्रतीक से ओतप्रोत होते हैं।"[१] भारतीय संस्कृति के साथ इसी लिए सूर्य तथा अन्य देवताओं का प्रतीक चारों ओर फैल गया कि "प्रतीक सभ्यता की सबसे बड़ी देन है।" सूर्य की उपासना को श्रीमती मरे ने प्राचीन अंध-विश्वासों में सबसे प्राचीन माना है। उनके कथनानुसार इस समय वह भारत में ही प्रचलित है।[२] पहले यह उपासना फोयेनीसिया, चाल्डिया, मिस्र, मेक्सिको, पेरू इत्यादि सभी देशों में प्रचलित थी। मेक्सिको के सभ्य तथा असभ्य, दोनों प्रकार के लोगों में सूर्य तथा अन्य दैवी शक्तियों की पूजा बहुत प्राचीन काल में थी। मेक्सिको में सूर्य का नाम तोम-तिक था जिसका शाब्दिक अर्थ था चार प्रकार की गतिवाला सूर्य। तोम शब्द हमारे संस्कृत के शब्द "तम" यानी अंधकार का द्योतक है। मेक्सिकन लोग जब युद्ध करते थे तो शत्रु-सेना से अधिक से अधिक व्यक्ति पकड़कर सूर्य के सामने बलिदान करते थे। प्राय: वे मनुष्य के शरीर के बराबर आँख-कान-नाक युक्त चेहरेवाली सूर्य-प्रतिमा बनाते थे। भारतवर्ष में जिस प्रकार सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी राजा होते थे, उसी प्रकार पेरू में सूर्य तथा चन्द्र से वंश-परम्परा जोड़नेवाले नरेश होते थे। प्राचीन ईरान में सूर्य की उपासना का बड़ा विधान था। दारा के लड़के अर्त्तरक्षीज़ ने सूर्य की देहधारी प्रतिमा बनवायी थी। इसी नरेश ने बैबिलोन आदि में कामदेवी की प्रतिमा स्थापित करायी थी। अग्नि को सूर्य का प्रतीक मानकर उसकी पूजा होती थी। ईरान में अग्निपूजक बहुत थे। अग्नि के प्रधान उपासक "मागी" लोग थे जो मूर्त्तिपूजा के घोर विरोधी थे। वे अग्नि प्रज्वलित कर उसका पूजन करते थे। किन्तु मूर्त्तिपूजक ईरानियों ने मागी जाति को ही समाप्त कर दिया। एक यूनानी लेखक ने[३] प्रसिद्ध विजेता ईरानी नरेश दारा की युद्ध-यात्रा का वर्णन करते हुए लिखा है कि नरेश के साथ सूर्य की प्रतिमा चलती थी तथा चांदी के पात्र में अग्नि। नरेश के रथ पर सोने-चांदी की बड़ी-बड़ी मूर्त्तियाँ बनी हुई थीं और सबसे ऊपर सूर्य

१. Edward Sapir "Symbolism" in Encyclopaedia of the Social Sciences"-page 494.

२ Mrs. Murray-Aunsley-page 14.

३. Quintus Curtius.

(वेलूस) प्रतिष्ठित थे। पारसी धर्म के अधिष्ठाता जरतुश्त सूर्य देवता को "मित्र" देवता कहते थे। मित्र देव के दो रूप थे। एक तो अहिरमन्द यानी पुण्य-शक्ति, दूसरा अहिमीन यानी पाप-शक्ति। किन्तु मित्र देवता तो एक ही थे। पर समय पाकर पाप-शक्ति शैतान की अलग सत्ता बन गयी और आर्मीनिया, सर्बिया, बल्गेरिया आदि मध्य यूरोपीय देशों में सूर्य इन्हीं दो रूपों में पहुँचाये गये। एशिया में दिग्विजय करनेवाले पाम्पे महान् ने अपनी विजययात्रा से लौटने पर इटली में भी मित्र देवता को पहुँचा दिया। इटली में त्राजन नरेश के शासनकाल में (ईसवीय सन् ९८ में ये गद्दी पर बैठे थे) उस देश में मित्र-पूजा का बड़ा रिवाज चल पड़ा था। इन मित्रपूजकों का तांत्रिक अर्चन भी था और वे कन्दराओं में लुक-छिपकर अपनी तांत्रिक साधना करते थे।

मित्र की तांत्रिक उपासना में दीक्षा प्राप्त करनेवालों की कठिन परीक्षा होती थी। जिस कन्दरा में यह साधना होती थी उसमें घुसने के समय नये उम्मीदवार को रास्ते भर तलवारों की चोट सहनी पड़ती थी। उसके शरीर में कई घाव हो जाते थे। उसके बाद उसे भयंकर आग में से कई बार गुजरना पड़ता था। फिर, उसे ५० दिन का कठोर व्रत–उपवास करना पड़ता था। तब उसे दो दिन तक बराबर कोड़े से पीटते थे। फिर बीस दिन तक उसे गर्दन तक जमीन में गाड़ देते थे। इतनी यातना में सफल होनेवाले शिष्य के सीने पर स्वर्ण का सर्प रखा जाता था। जिस प्रकार वसंत ऋतु में अपना केंचुल बदलकर सर्प नया शरीरधारी बनकर निकलता है, उसी प्रकार इस व्यक्ति का भी नया शरीर हो गया। यह प्रतीक इसका भी द्योतक था कि जिस प्रकार सूर्य की उष्णता हर साल ताजी होती चलती है उसी प्रकार सर्प की तरह यह व्यक्ति भी ताजा हो गया।

चौथी शताब्दी में जब रोमन नरेश कांस्तेंताइन ने ईसाई मज़हब स्वीकार किया तो उन्होंने ईसाई धर्म के अलावा अन्य सभी धर्मों का रोमन साम्राज्य में निषेध कर दिया।[१] पाँचवीं सदी के एक इतिहासकार ने[२] लिखा है कि सिकन्दरिया के कुछ ईसाइयों को मित्र-तांत्रिकों की एक बन्द गुफा का पता चला। उन्होंने उसे खुलवाया तो भीतर बहुत नर-कंकाल तथा खोपड़ियाँ मिलीं। यह सिद्ध होता था कि मित्र-देवता के लिए नरबलि होती थी। यहाँ पर यह स्पष्ट कर दें कि इटली के लोग मित्र देवता को स्वयं सूर्य देवता मानते थे। ईरान में सूर्य देवता को प्रधान मानते थे। सूर्य को प्रसन्न करने के लिए मित्र देवता साधन मात्र थे। जरतुश्त ने सूर्य का ही दूसरा नाम मित्र रखा था। रोम में दो पहाड़ियों[३]

१ Murray's Symbolism—pages 19-20-21.
२. Ecclesiastical History by Sokrates.
३. Between the Viminal and the Quirinal Hills.

के बीच में, १६वीं सदी के अन्त में एक सूर्य-मन्दिर का पता चला जिसमें सूर्य तथा अग्नि, दोनों देवता प्रतिष्ठित थे। सूर्य अर्थात् मित्र देवता की चार फुट लम्बी मूर्त्ति (संगमरमर की) स्थापित थी। उनका चेहरा शेर जैसा था। दोनों हाथ छाती से चिपटे हुए थे। समूची मूर्त्ति को "जीवन का प्रतीक" तथा सूर्य के चारों ओर के राशिमंडल का प्रतीक **सर्प** लपेटे हुए था। हाथों में दो चाभियाँ थीं जो सूर्यलोक से सृष्टि की रचना तथा इहलोक और परलोक पर सूर्य में प्रभुत्व की परिचायक थीं—**प्रतीक** थीं। रोम में मित्र देवता के सामने भैंसे की बलि देते हुए एक युवक की संगमरमर की मूर्त्ति मिली है। मित्र की पूजा यूनान से दक्षिणी फ्रान्स पहुँची। इंग्लैण्ड में नार्थम्बरलैण्ड में सन् १८२१ में मित्र-उपासकों की एक कन्दरा मिली। यार्क नगर में सूर्य के अनेक प्रतीक प्राप्त हुए हैं।

मित्र की उपासना में आग में से गुज़रने की प्रथा अनेक देशों में थी। एरुत्रियन लोग अपोलो की पूजा में भी ऐसा ही करते थे। इब्रानी (हिब्रू) लोग दो तरफ आग जलाकर बीच में से लड़कों को निकालते थे। यह एक शुभ समारोह समझा जाता था। उत्तरी भारत में "दम मदार" के जैसी प्रथा थी। दम मदार की क्रिया से सर्प या बिच्छू के विष से रक्षा प्राप्त होती थी। दम मदार क्रिया के आचार्य शेख़ मदार सीरिया में रहते थे। वे जादू-टोना में बड़े प्रवीण थे। उनकी मृत्यु ईसवी सन् १४३४ में हुई।[१]

फ्रांस में नार्मंडी प्रदेश में अब भी ऐसे रिवाज़ हैं जो प्राचीन सूर्यपूजा तथा अग्निपूजा से चले आये प्रतीत होते हैं। नार्वे में, ट्रांझेम नगर में, मध्य गर्मी में, सूर्यास्त के समय, जो रात्रि में ११.२० पर होता है, पहाड़ी पर ख़ूब आग जलायी जाती है। आतशबाजी छूटती है। एक बड़े बाँस में एक बड़ा ड्रम बाँध दिया जाता है। उसमें जल्दी आग पकड़नेवाले सामान भर दिये जाते हैं। फिर उसमें आग लगायी जाती है। इस ड्रम का मुख ठीक उस तरफ होता है जिधर से दूसरे दिन सूर्योदय होगा। इस अवसर पर समूची आबादी समारोह में भाग लेती है। इंग्लैण्ड में २१ जून को सबसे लम्बा दिन होता है। अब तो पहले जैसा नहीं होता, नहीं तो स्टोनहेज नगर में उषाकाल में जनसमूह बाहर निकलकर सूर्योदय का दर्शन करता था। बीच में एक गोलाकार पत्थर इस अन्दाज से रखा जाता था कि सूर्य की किरणें पहले उसी पर पड़ें। आयरलैण्ड के कनाट स्थान में तथा अन्य ग्रामों में भी एक विशेष दिन (सेंट जॉन्स ईव) रात भर आग जलाते हैं—सूर्योदय तक। ऐसे अवसर पर माताएँ अपने बच्चे की दीर्घायु के लिए उसे आग में घुमाकर "आँच" देती है।[२]

१. Murray's Symbolism-page 24. २. वही, पृष्ठ २५२

जार्ज बर्डउड की राय में सूर्य के रथ के बाहर धुरीवाले पहिये की चार धुरियों को लेकर ही स्वस्तिक प्रतीक बना है। थ्रेसिया में मेसेम्ब्रिया नामक एक नगर था। इस शब्द का अर्थ ही है "दोपहर का सूर्य"। यहाँ के जो प्राचीन सिक्के मिले हैं, उन पर स्वस्तिक बना हुआ है।[१] दसवीं सदी में अबू-सफ़ैन का एक गिर्जा था जिसमें बीच में एक आटे की चक्की है। इसमें एक लम्बा खम्भ ऊपर निकला हुआ है जिस पर ईसाइयों की "त्रिमूर्त्ति"[२] का प्रतीक है और बगल में स्वस्तिक बना हुआ है। वह सम्भवतः इस बात को व्यक्त करता है कि "इस संसार में प्रत्येक सजीव वस्तु गतिशील है और सबकी सत्ता ईश्वर में निहित है।" यह बड़े मार्के का प्रतीक है।[३]

पश्चिमी हों या पूर्वी, जिन देशों में ईश्वर के प्रति विश्वास उत्पन्न हुआ और बढ़ता गया, वहाँ पर ईश्वरीय सत्ता तथा विभूति का सबसे निकटतम प्रतीक सूर्य माना गया और सूर्य की पूजा शुरू हुई। किन्तु इस सीधी-सादी बात को न मानकर जो लोग हर एक चीज़ को विज्ञान तथा शास्त्र के तराज़ू पर तौलना चाहते हैं, उनके विषय में आज से १७०० वर्ष पूर्व यूनानी विद्वान् सेनेका ने[४] लिखा था कि "दार्शनिक पोसोडोनियस तो करीब-करीब यहाँ तक कह गये कि जूता मरम्मत करने का पेशा भी दार्शनिकों की ईजाद है।" बात भी कुछ ऐसी है। सभी बातें तर्क से सिद्ध नहीं की जा सकतीं। ईश्वर भी ऐसा ही कठोर सत्य है। प्रसिद्ध विज्ञानाचार्य तथा पश्चिमी देशों को "गुरुत्वाकर्षण-शक्ति"—पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति—की जानकारी करानेवाले आइज़ाक न्यूटन ने लिखा था कि संसार में सभी वस्तुएँ एक स्थान से दूसरे स्थान को हट सकती हैं, पर परम पिता ही एक मात्र अचल वस्तु है। ऐसा कोई स्थान नहीं जो उससे "खाली" हो जाय या "भर" जाय। वह सबमें व्याप्त है और प्रकृति की अनन्त आवश्यकता के अनुसार हर एक पदार्थ में जितना होना चाहिए, वर्तमान है।"[५]

साधारण जीवन में भी हम सर्व-गुण-सम्पन्न तथा प्रतिभाशाली व्यक्ति को "सूर्य" के समान तेजस्वी कहते हैं, यानी सूर्य तेजस्विता का प्रतीक हुआ। ऐसे प्रतीक में वैज्ञानिक लोग भी विश्वास करते हैं। रक्त-संचार के सिद्धान्त को हमारे शरीर के भीतर

१. वही, पृष्ठ XVI.
२ ईश्वर, मरियम, ईसा (पिता-माता-पुत्र)।
३. वही पुस्तक, पृष्ठ XVII.
४. Seneca जन्म ईसवी सन् २, मृत्यु ६५। quoted by Dr. S. F. Mason—"A History of the Sciences"—Pub. Kegan Paul-250, London—page 252.
५. वही, पृष्ठ १६३। Isaac Newton जन्म सन् १६२४, मृत्यु १७२७।

खून किस प्रकार दौड़ रहा है, इस विषय पर सर्वप्रथम लिखित[१] प्रकाश डालनेवाले श्री विलियम हार्वे ने अपनी पुस्तक सम्राट् चार्ल्स प्रथम को समर्पित की थी और समर्पण में लिखा था—"मेरी दुनिया के सूर्य।" सन् १६६९ में जब फ्रेंच सम्राट् लुई चौदहवें बालिग हुए और राज्य का सब अधिकार उन्हें सौंपा गया, जनता ने उन्हें "सूर्य-नरेश"[२] कहकर आदृत किया था।[३] ग्रह-मण्डल में जिस प्रकार सूर्य विराजमान हैं, उसी प्रकार अपने मन्त्रिमण्डल के बीच में महारानी एलिज़ाबेथ प्रथम शोभित हो रही हैं, ऐसी मिसाल सन् १६०० में इंग्लैण्ड में जॉन नार्डेन नामक एक पादरी ने दी थी।[४]

यूरोप के मध्ययुग में केवल तीन ही ऐसे विषय थे जिनमें विश्वविद्यालयों में "डाक्टरेट" की उपाधि तक की शिक्षा दी जाती थी। ये विषय थे साहित्य, धर्मशास्त्र तथा चिकित्सा। इस युग में हर शहर में नाई ही चीर-फाड़ के डाक्टर का काम करते थे।[५] उस युग में भी बेकन ऐसे पंडित ने यह ढूंढ़ निकाला था कि "उष्णता (गर्मी) की प्रधान देन है गति। जहाँ भी कहीं गति दिखाई पड़े, समझ लेना चाहिए कि उसमें उष्णता है।"[६] शरीर जब निर्जीव हो जाता है तो हम कहते हैं कि "ठण्डा" हो गया, उसकी गर्मी समाप्त हो गयी।

ब्रिटिश महारानी एलिज़ाबेथ को ग्रहों में सूर्य के समान माननेवाले जॉन नार्डेन ने उनको इंग्लैण्ड को "गति" प्रदान करनेवाली मुख्य शक्ति भी माना है।[७] सूर्य के रथ के पहिये में १२ धुरियाँ बारह महीनों का प्रतीक हैं। बारह महीने में पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है। प्राचीन यूरोप तथा एशिया में ऐसे रथ की कल्पना थी।

गणित की सुविधा के लिए मनुष्य ने अंक-संख्या का प्रतीक बनाया। डॉ० मेसन ने अंकों को प्रतीक माना है। वे लिखते हैं कि ईसा से ३००० वर्ष पूर्व मिस्र के लोगों में १० तक की संख्या की इकाई मानकर उसके अनुसार अंक-प्रणाली प्रचलित थी। दस के भीतर की संख्या को वे एक-एक छोटी रेखा द्वारा, जैसे तीन के लिए ।।।, अंकित करते थे। इसी रेखा-प्रणाली से रोमन अंक जैसे पाँच के लिए V तथा छः के लिए VI बने। अस्तु, मिस्री लोग ९ तक की संख्या के लिए ९ रेखाएँ ।।।।।।।।। बना देते थे। १०-१००-१०००

१. सन् १६२८।
२. Le Roi Soleil
३. वही, पुस्तक, पृष्ठ १४५।
४. वही, पृष्ठ…
५. वही, पृष्ठ १६९।
६. वही, पृष्ठ ११३।
७. वही, पृष्ठ १४५। जॉन नार्डेन का जन्म सन् १५४८ में तथा मृत्यु १६२६ में हुई थी।

आदि के लिए उन्होंने भिन्न-भिन्न 'प्रतीक" बनाये थे ।[१] ईसा से २००० वर्ष पूर्व मेसोपोतामिया (एशिया मध्य) में मन्दिरों द्वारा परिचालित पाठशालाओं में न केवल दशमलव जैसे ६·० आदि सिखाये जाते थे बल्कि संख्या के टुकड़े का "तीर" से संकेत करते थे, जैसे १→६० यानी १।६० या १→३६०० यानी १।३६००[२]। यूनान के शुरू-शुरू के दार्शनिकों में से एक व्यापारी-दार्शनिक थेल्स[३] ने मिस्र जाकर ज्यामिति[४] तथा मेसोपोतामिया जाकर ज्योतिष शास्त्र की शिक्षा प्राप्त की थी । ईसा से २००० वर्ष पूर्व बैबीलोन देश में ३६० दिन का वर्ष माना जाता था । ३० दिन के बारह महीने होते थे । महीनों को सप्ताह में-सात दिन में विभाजित किया गया था । हर एक दिन का एक-एक ग्रह पर नाम रखा गया था । सूर्य को प्रधान मानकर पहला दिन सूर्य के नाम पर, दूसरा दिन चन्द्रमा के नाम पर, तीसरा दिन पृथ्वी के सबसे निकट के ग्रह मंगल के नाम पर—इसी प्रकार अन्य चार ग्रहों के नाम पर सप्ताह के दिन रखे गये थे । बैबीलोनिया के महीने चन्द्रमा की गति के अनुसार बनाये गये थे—जैसे हिन्दुओं में अब भी तथा मुसलमानों में तो एकमात्र चान्द्रायण मास चलता है ।

मुसलिम कलेण्डर में "मलमास" या "एक अधिक महीना" जोड़कर चान्द्रायण मास का दोष मिटाने का रिवाज़ नहीं है, पर हिन्दुओं के चान्द्रायण मास में समय-समय पर एक अधिक मास, जिसे मलमास कहते हैं, जोड़ा जाता है । ठीक यही प्रथा बैबीलोनिया में भी थी ।[५] ग्रह-नक्षत्रों की गति आदि के सम्बन्ध में रोमन सभ्यता के महान् काल में विशेष प्रगति न होने का मुख्य कारण थी रोमन जनता की विलास-प्रियता । वे लोग सड़क, मकान, जलाशय, स्नानागार, थियेटर, विहार-स्थल आदि में अधिक दिलचस्पी लेते थे । जनता की बुद्धि को ठीक रखने का काम[६] केटो तथा लार्को[७] ऐसे लोगों के जिम्मे था । ये लोग यूनानी विद्या तथा ज्ञान के पीछे डण्डा लिये घूमा करते थे ।[८] तब, रोमन लोगों का ज्ञान बढ़ता भी कैसे ?[९]

१. वही, पृष्ठ ८ ।
२. वही, पृष्ठ ७ ।
३. वही, पृष्ठ १४-Thaales of Miletus. जन्म ईसा से पूर्व ६२५, मृत्यु ई० पू० ५४५ ।
४. Geometry.
५. वही, पृष्ठ ८ ।
६. Gensor.
७. केटो का जन्म ई० पू० २३४, मृत्यु १४९ ।
८. लार्को का जन्म ई० पू० ११६ तथा मृत्यु ईसा से पूर्व २७ वें वर्ष में यानी इनकी ११० वर्ष की उम्र थी ।
९ पृष्ठ ४३

अस्तु, हम थोड़ा-सा विषयान्तर कर बैठे। हम बात कर रहे थे सूर्य की। सूर्य की महिमा को अनेक रूपों में पुराने पश्चिमीय पंडित स्वीकार कर चुके हैं। केपलर ने लिखा था कि "केवल अपनी मर्यादा तथा शक्ति के कारण ही हमारे ऊपर सूर्य है। ग्रहों में सञ्चार उत्पन्न करने का काम वही कर सकता है। गतिशीलता की शक्ति उसी में है। वास्तव में वह स्वतः ईश्वर बनने के योग्य है।"[१] आजकल हर एक चीज की आवश्यकता से अधिक छानबीन करनेवाले सत्य को भी भूल जाते हैं, खो देते हैं। शायद प्रत्येक युग में अविश्वास करनेवाले युवक वर्गों की मनोवृत्ति यही रही होगी। प्रसिद्ध चीनी दार्शनिक कनफ्यूसियस (५५५-४७९ई० पू०) ने सबको सलाह दी थी कि पुरानी रीति तथा परिपाटी को अनावश्यक समझकर मत छोड़ दो। प्रसिद्ध चीनी धर्म ताओ-वाद के प्रवर्तक लाओत्से ने (ईसा से ६०० से ४०० वर्ष पूर्व) लोगों को सलाह दी थी कि "वर्तमान सभ्य समाज को त्यागकर पुरानी संयत सभ्यता को लौट चलें"। लाओ-त्से के अनुसार पुरानी जंगली सभ्यता आज की "सभ्य" सभ्यता से कहीं अधिक अच्छी थी।[२]

अपने अज्ञान में पश्चिम के विद्वान् बहुत-सी चीज़ें लिख गये हैं। फ्रेजर[३] सूर्य को "उत्पादन शक्ति का देवता" मानते हैं। बाद में चलकर यही सूर्य चन्द्र-देवता के रूप में पूजे जाने लगे, क्योंकि प्लुटार्क ऐसे विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिया था कि संसार में पशु तथा पौधे की उत्पत्ति चन्द्रमा से होती है। सूर्य से अन्न होता है। वर्षा होती है—दुनिया चलती है। इस रूप में यदि फ्रेज़र उनको उत्पादक देवता मानते तो ठीक था। पर वे तो उसको दूसरे ही रूप में ले गये। फ्रेज़र के कथनानुसार सूर्य की उपासना के कारण ही वृषभ (बैल) की उपासना लोगों में आयी। कटनर अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि बैल गाय को गर्भवती करता है इसलिए वह "उत्पादक शक्ति का प्रतीक है।"[४] आदिम निवासियों को अपनी सत्ता कायम रखने के लिए भयानक संघर्ष करना पड़ता था। इसलिए वह "उत्पादक शक्ति" पर बहुत जोर देता था।[५] मिस्र में वृषभ को "एपिस" कहते थे। यूनान में भी इसकी पूजा होती थी। इसे "कैडमस" कहते थे। यहूदी लोग भी सोने का बछड़ा बनाकर पूजते थे। पर वही कटनर लेखक यह भी लिखते हैं कि ५००० वर्ष पूर्व सूर्य वृषभ-राशि में आया इसलिए वृषभ की पूजा सूर्य के प्रतीक-रूप में शुरू हुई।

१. वही, पृष्ठ १४४।
२. वही, पृष्ठ ५५।
३. J. G. Frazer—"The Golden Bough"—Book One.
४. H. Cutner—"A Short History of Sex Worship"—1940 Edition.
५. वही, पृष्ठ २।

बाद में सूर्य जब मेष राशि में आया[1] तो मेंढ़े, मेमने की पूजा शुरू हुई। उसे "ईश्वर का मेमना" कहा जाने लगा। बाद में मिस्र में मेमने के बजाय बकरी की पूजा होने लगी। हेरोडेटस[2] नामक इतिहासकार के कथनानुसार बकरी "पान" नामक देवता का प्रतीक है, क्योंकि "पान" देवता की जाँघें और पैर बकरी जैसी हैं। पान देवता परियों के पीछे भागते फिरते हैं, ताकि उनको गर्भवती करें। वे उत्पादन के देवता हैं। जुपिटर देवता के मेंढ़े जैसे सींग हैं, यूनानी बाक्कस देवता की जाँघें बकरी जैसी हैं। मेंढ़े के सींग सूर्य देवता की उत्पादक-शक्ति का बोध कराते हैं, उसके प्रतीक हैं। चूँकि ये सींग सूर्य के प्रतीक हैं इसी लिए यहूदी लोग नववर्ष के दिन मेढ़े के सींग से ध्वनि करते हैं।

हेरोडोटस ने अपने इतिहास में बड़ी विचित्र बातें लिखीं हैं। जो कुछ लिखा है, आँखों देखा या कानों सुना है। वे प्राचीन मिस्र या रोम के जितने मन्दिरों में गये वहाँ पूजा करने के लिए जितनी स्त्रियाँ थीं, उनके साथ विलास करने के लिए उतने ही पुरुष दर्शनार्थी मौजूद थे। इस लेख के कथनानुसार सूर्य की उपासना का आरम्भिक रूप शनि देवता की पूजा थी। शनि देवता वास्तव में उनके कथनानुसार सूर्य देवता थे। हम लोग शनि को सूर्य का पुत्र मानते हैं। शनि देवता की रोमन कथा है कि उन्होंने अपने पिता यूरेनस की जननेन्द्रिय को ही काट लिया था। सूर्य का प्रतीक बकरी तथा वृषभ सभी जगह पूजित था। जिस बकरे या वृषभ का लिंग जितना अधिक बड़ा होता था, वह उतना ही अधिक पूजनीय होता था। हेरोडोटस के कथनानुसार मिस्र में स्त्रियाँ भक्तिवश बकरे से संभोग करती थीं। रोम साम्राज्य के समय में तो देववाणी हुई थी कि हर एक रोमन स्त्री बकरे के द्वारा गर्भ धारण करे। रोम में बकरी की खाल का कोड़ा बनाकर स्त्रियों को पीटते थे—और वह सब "सूर्य" की उपासना का ही परिणाम था। सूर्य की उपासना का ऐसा ही अनर्थकारी रूप कटनर ने समझा है। वे लिखते हैं कि "स्वर्ग में गर्भ धारण करने योग्य स्त्रियों" के प्रतीकस्वरूप पृथ्वी के लोग सूर्य का प्रतीक बनाकर पूजा करते थे।[3] वेस्ट्रोप ने लिखा है कि पृथ्वी पर सबसे पहले सूर्य तथा पृथ्वी देवता की पूजा शुरू हुई।[4] इन दोनों की पूजा लिंग-रूप में होती थी। पुरुष की जननेन्द्रिय का प्रतीक कोई भी खड़ी चीज़, चाहे तलवार हो, भाला हो, कुछ भी हो, मान ली जाती थी। ऐसे ही मूर्ख लोग

१. सूर्य एक राशि में ९९ वर्ष रहता है। ९९ वर्ष बाद राशि-परिवर्तन होता है।

२. Herodotus-समय ईसा से ४८० वर्ष पूर्व।

३. Cutner—Sex History—page 157.

४. Westropp—"Primitive Symbolism".

कच्छप तथा उसके खोल को स्त्री के शरीर में योनि का प्रतीक मानते थे। जहाँ कहीं कच्छप बना देखा, यही अर्थ लगा लिया।[१]

किन्तु प्राचीन देशों का दर्शन-शास्त्र वैसा कामुक तथा वासनामय नहीं था जैसा कि कुछ यूरोपीय विद्वान् समझते हैं। प्लेटो[२] ने यूनान को अध्यात्मवाद की शिक्षा दी थी। अरस्तू[३] ने अपने गुरु प्लेटो के सिद्धान्त को तर्क द्वारा पूरी तरह से प्रतिपादित किया। अरस्तू ने सिद्ध किया कि सृष्टि का रचयिता स्वयं स्थिर है। वही सबको गति प्रदान करता है। प्राणिमात्र नश्वर है। हर एक नश्वर वस्तु से भूलें हो सकती हैं। नश्वरता का स्वाभाविक गुण है भूल करना। आकाश में जो ग्रह-नक्षत्र-तारे हैं, सब निरन्तर रूप से गतिशील हैं, चल रहे हैं।[४] इन सबको चलानेवाला परमात्मा है। अरस्तू ने जीव-विज्ञान का बड़ा अध्ययन किया था और उन्होंने स्वत: ५०० पशुओं का निरीक्षण किया, ५० की चीर-फाड़कर परीक्षा की और रेखाएँ खींचकर उनका वर्णन किया है। उन्होंने सूर्य को गतिशील वस्तु माना है। कटनर की तरह "स्वर्ग में गर्भधारण करनेवाली योनि का प्रतीक" नहीं।[५] अरस्तू के जीव-विज्ञान का यूनानी विचारधारा या यूनान पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उनके एक प्रकार से समकालीन, सामोस नगर के अरिस्तार्कस (जन्म ई० पू० ३१०,–मृत्यु ई० पू० २३०) ने पृथ्वी से सूर्य तथा चन्द्रमा की दूरी नापने का प्रयास किया। उन्होंने यह सिद्ध किया था सूर्य पृथ्वी से कहीं अधिक बड़ा है।[६] उस जमाने में यह बात साबित करना ही बड़ी भारी बात थी।

इस विषय में और भी जो कुछ अनुसन्धान पुराने जमाने में हुए थे, उनका रोचक इतिहास आज हमें बहुत ही ठिकाने से प्राप्त होता यदि अंधविश्वास तथा राजकीय मूर्खता ने संसार की वह हानि न की होती जो इतिहास की बौद्धिक विपत्तियों में बहुत ही महान् विपत्ति तथा दुर्घटना समझी जाती है। ईसा से ३३२ वर्ष पूर्व मिस्र में सिकन्दरिया (अलेक्ज़ेंड्रिया) नामक नगर की स्थापना प्रसिद्ध यूनानी विजेता सिकन्दर (अलेक्ज़ेंडर) ने की थी। ईसा से ३० वर्ष पूर्व मिस्र की अन्तिम यूनानी महारानी क्लिओपात्रा का देहान्त

१. Inman के मतानुसार।
२. प्लेटो का जन्म ई० पू० ४२७, मृत्यु ई० पू० ३२७।
३. अरस्तू का जन्म ३८४ ई० पू०, मृत्यु ३२२ ई० पू०।
४. Sir William Cecil Sampir—"A History of Sciences and its Relations with Philosophy and Religion"—Cambridge University, 4th Editiaon, 1948-page 45.
५. Cutner-page 157.
६. सर विलियम की पुस्तक, पृष्ठ ११ तथा ३१।

हो गया। इस सिकन्दरिया नगर में यूनानियों ने एक विशाल 'म्यूजियम'[१]-पुस्तकालय स्थापित किया था। ईसवी सन् ३६० में एक ईसाई पादरी ने "अविश्वासियों के इस विष भरे संग्रह को" जला डाला। शताब्दियों तक सिकन्दरिया का पुस्तकालय संसार में 'आश्चर्यमय' चीज़ था। इसमें यूनानियों ने चार लाख पुस्तकें एकत्रित की थीं। पर ईसाइयों ने तथा बाद में मुसलमानों ने इसे एकदम नष्ट कर डाला।[२] भारत में नालन्दा विश्वविद्यालय को एक मुसलिम शासक ने जलाकर संसार का महान् अकल्याण किया है। नालन्दा में इतनी अधिक पुस्तकें थीं कि ६ महीने तक १०,००० आदमियों की पल्टन का दोनों वक्त का भोजन केवल पुस्तकों के ईंधन से बनता था। यदि सिकन्दरिया का पुस्तकालय बचा रहता[३] तो प्राचीन यूनान में प्लोटिनस ऐसे दार्शनिकों की परब्रह्म की कल्पना[४] को हम वैदिक प्रसाद सिद्ध कर देते। ओरिजेन[५] ने सिद्ध किया था कि ईश्वर में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। वह अनन्त है। सृष्टि के ग्रह-नक्षत्र उसी सृष्टि के आवश्यक अंग हैं। आत्मा चिरन्तन है।[६] सदैव विद्यमान है। हर एक सजीव वस्तु में आत्मा व्याप्त है। सर विलियम सेसिल का मत है कि यूनानी दर्शन के ही प्रभाव से **प्रतीकवाद** तथा प्रतीकों की रचना प्रारम्भ हुई। प्लेटो के बाद जो प्रतीकवाद चल पड़ा था[७], उससे जनसमूह काफ़ी प्रभावित था। अतएव ईसाई ग्रन्थ बाइबिल के पुराने तथा नये रूप[८] में सामञ्जस्य पैदा करने के लिए तथा प्रचलित विचारधारा का मेल खाने के लिए पुराने ईसाई पादरियों ने प्रचलित प्रतीकों को अपना लिया, उनमें विस्तार किया। प्राकृतिक तथा धर्मग्रन्थ में लिखी बातों में जहाँ मेल खाता हो, उसे तो सत्य मान लेना चाहिए। जहाँ ऐसा न हो, उसे प्रतीकरूप में ही समझना चाहिए।[९] यूनानी दर्शन का मुख्य लक्ष्य जीवन की नश्वरता को तथा सुखों की अनिश्चितता को सिद्ध करना था। जीवन नश्वर है। सांसारिक सुख क्षणिक हैं। जीवन का परिणाम दुःख है। दुःखान्त जीवन के इस यूनानी सिद्धान्त को रोमन लोगों ने अपने न्याय-विधान में भी अपना लिया

१. Museum—यह शब्द Muses हजरत मूसाके नाम से बना है।
२. Sir William's—A History of Scınces, page 46.
३. सिकन्दरिया के पुस्तकालय को ईसवी सन् ६४१ में मुसलमानों ने एकदम नष्ट कर दिया था।
४. वही, पृष्ठ ६२।
५. Origen—जन्म ईसवी सन् १८५, मृत्यु २५४।
६. वही, पृष्ठ ६४।
७. वही, पृष्ठ ६५
८. Old Testament & New Testament.
९. वही, पृष्ठ ६५।

था। इसी भावना से 'भाग्य' पर, 'नियति' पर निर्भरता की धारणा चली।[१] 'जो कुछ होना है, होकर रहेगा।' भाग्य है या नहीं, आत्मा या परमात्मा है या नहीं, इसका विवेचन सैकड़ों वर्षों तक वैज्ञानिकों तथा भौतिकवादियों के मन में भी चलता रहा। यदि आत्मा अमर है, जीव मरता नहीं तो मनुष्य अपने गुण-धर्म-स्वभाव को भी जन्म-जन्मांतर से लेकर आता है। कुल-परम्परा का भी मनुष्य पर कोई प्रभाव पड़ता है या नहीं ? डार्विन[२] ऐसे प्रकृतिवादी तथा बन्दर से मनुष्य के विकास का सिद्धान्त प्रतिपादित करनेवाले ने भी स्वभाव तथा परम्परा की सभ्यता को एक प्रकार से स्वीकार कर लिया है। यूरोप में कला तथा साहित्य के पुनः जागरण के युग में[३]—जो इटली में १४-वीं सदी में प्रारम्भ हुआ था—विज्ञान तथा दर्शन की कड़ी टूटनी शुरू हुई। भौतिकवाद ने प्रबलता प्राप्त करना शुरू किया और दार्शनिकों का कानूनी महत्त्व काफी समय तक बना रहा, पर जनसमूह पर से उनका प्रभाव सौ-दो-सौ वर्षों में समाप्त हो गया। भौतिकवाद ने अध्यात्मवाद पर विजय प्राप्त कर ली।[४] आरम्भकाल में ईसाइयों ने प्राचीन दर्शन तथा अध्यात्मवाद को जो स्फूर्ति दी थी, वही कार्य अत्यधिक गति के साथ पैग़म्बर साहब के मरने के दो सौ वर्ष बाद इस्लाम धर्म ने किया। भारतवर्ष का अंक-विज्ञान, अंक-प्रतीक तथा गणितशास्त्र इत्यादि सुदूर देशों में फैल चुका था। भूगोल, ज्योतिष तथा दर्शन के पंडित अलबेरूनी[५] ने भारत में रहकर अंकशास्त्र तथा अंक-प्रतीक का अध्ययन किया था।[६]

इस्लाम के धार्मिक विद्वानों ने भारतीय बौद्धों के 'अणुवाद' सिद्धान्त से प्रभावित होकर सृष्टि के रहस्यों की तथा 'काल' और 'सीमा', गति तथा आकाश के रहस्य की छानबीन शुरू की। ईसाई विज्ञान के पतनकाल के समय इस्लामी विज्ञान का अभ्युदय शुरू हुआ। आठवीं सदी के पिछले अर्द्धयुग में तथा ९वीं सदी में विज्ञान तथा खोज-कार्य का नेतृत्व यूरोप से छिनकर निकट पूर्व—मध्य एशिया के हाथों में आ गया था।[७] इस्लाम की खोज से ईश्वर की सत्ता पर विश्वास और भी दृढ़ हुआ। पश्चिमी वैज्ञानिक भी इधर-

१. Dr. A. N. Whitehead—"Science and the Modern World"-Cambridge University, 1927, pages 11-15.
२. Charles Robert Darwin—जन्म १८०९, मृत्यु १८८२।
३. The Period of Renaissance.
४. Sir William's History of Science, पृष्ठ २९१।
५. Al-Beruni—जन्म ९७३ ईसवी सन्, मृत्यु १०४८।
६. वही पुस्तक, पृष्ठ ७५।
७. वही, पृष्ठ ७१-७२।

उधर से भटककर 'अनन्त परमात्मा' की ओर आ ही जाते थे। सन् १८९३ में ब्रैडले की एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। उन्होंने स्वीकार किया था कि इस दुनिया में जो कुछ जैसा दिखाई पड़ता है, वास्तव में वैसा नहीं है। विशेषकर 'समय तथा सीमा' के सम्बन्ध में हमारी जो धारणाएँ हैं वे परस्पर-विरोधी हैं। कोरी कल्पना हैं। यह तर्क-सिद्ध प्रतीत होता है कि वास्तविक जगत् एक ध्रुव सत्य है। अन्ततोगत्वा एक ऐसी पूर्ण शक्ति को मानना पड़ता है जो काल तथा सीमा के परे है।[१]

पूर्वी देशों के विज्ञान की जानकारी न होने के कारण ही पश्चिमी विद्वान् बड़ी गलत धारणाएँ बना लेते हैं, जैसे, हमारे चरक तथा सुश्रुत की जानकारी न होने से ही पाचन-क्रिया के ठोस सिद्धान्त को सन् १८०७ में प्रतिपादित करनेवाले बोयेरहाव[२] को आधुनिक चिकित्सा जगत् का सबसे महान् व्यक्ति मान लिया गया।[३] पूर्वी सभ्यता से अपरिचित लोग हमारे दर्शन, शास्त्र अथवा प्रतीक किसी चीज़ को भी नहीं समझ सकते। एडिंगटन ने सन् १९३२ में यह कहा था कि विश्व का आयतन १०६८० लाख प्रकाश वर्षों का है—यानी १,८५,००० मील प्रति सेकेण्ड की गति से यात्रा करनेवाला प्रकाश १०६८० वर्षों में विश्व की परिक्रमा कर सकेगा।[४] हमारे ज्योतिषशास्त्र ने इनके बहुत पूर्व इन सब बातों की जानकारी कर ली थी। प्रसिद्ध ब्रिटिश कवि मिल्टन[५] ने सत्रहवीं सदी में लिखा था कि हमारे सूर्य के अतिरिक्त ऐसे बहुत-से सूर्य हैं जिनके साथ अपना पृथक् नक्षत्र-राशि-ग्रह-मण्डल है। श्री रिचार्डस ए० प्राक्टर ने लिखा था कि "हमारे जगत् के अलावा और भी जगत् हैं।" ये चीज़ें जानकारी और ज्ञान से ताल्लुक़ रखती हैं। डॉ० मायर तथा अपलेटन ने अपनी रोचक पुस्तक में पूर्वीय प्रकाश तथा ज्ञान को स्वीकार किया है।

डॉ० मायर का कहना है कि १५,००० वर्ष पूर्व प्रारम्भिक मनुष्य की समूची भावनाएँ भय तथा अनिश्चित परिस्थिति से संचालित होती थीं।[६] किन्तु अरिस्तू ऐसे विद्वान्

१. वही, पृष्ठ ४५७।
२. Boerhave in his "Institutines Medicae"—1708—"Digestion was more of the nature of solution than of fermentation."
३. C. Singer-A Short History of Medicine-Oxford University 1908-page 104.
४. Sir William's History of Science-page 451.
५. John Milton—"Paradise lost"—जन्म १६०४, मृत्यु १६७४
६. Joseph Myer and D. Appleton—"The Seven Seals of Scince"—Century Co., New York-1936-page 7.

ने यह ढूँढ़ निकाला कि जिसे हम भावना समझते हैं, वह भावना नहीं भी हो सकती। भ्रम हो सकता है।[१] प्लेटो तो केवल 'आन्तरिक प्रेरणा' को असली चीज़ समझते थे। अरस्तू आल्कमियान के इस क़थन से सहमत नहीं थे कि मनुष्य के शरीर में समूची भावना, कल्पना तथा अनुभूति का आधार 'मस्तिष्क' होता है।[२] प्लेटो हर एक चीज़ को गणित के द्वारा प्रमाणित करके तभी उस पर विश्वास करते थे। उनकी पाठशाला के दरवाज़े पर लिखा रहता था कि "जिसको गणित तथा ज्यामिति में रुचि न हो, वह यहाँ पर आने का कष्ट न करे।"

ऐसे ही विद्वानों की परम्परा के कारण ईसा से ५१७ वर्ष पूर्व हिकातियस[४] ने सबसे पहले पृथ्वी का मानचित्र बनाया जिसमें पृथ्वी को गोल दिखाया गया था। इस मानचित्र को बनाने में मिस्र, बैबीलोनिया आदि में प्राप्त सामग्री के आधार पर कार्य हुआ था। इनके भी पूर्व, ईसा से ६४० वर्ष पूर्व यूनानी उपनिवेश मिलेटस के नागरिक थालीज[५] ने पता लगा लिया था कि चन्द्रमा में स्वत: प्रकाश नहीं है। वह सूर्य के प्रकाश से चमकता है और जब पृथ्वी सूर्य-चन्द्र के बीच में आ जाती है, तब चन्दग्रहण लगता है। इसी विद्वान् ने पहले पहल कहा था कि साल में ३६५ दिन होते हैं।[६]

६ठीं सदी में हिन्दू-यूनानी सभ्यता समूचे एशिया में फैली हुई थी, विशेषकर मध्य एशिया में।[७] हिन्दू गणित तथा विज्ञान स्पेन तक में पढ़ाया जाता था। जिसे अलजेबरा (बीज-गणित) कहते हैं, उसके प्रतीकों का नियमित रूप से संकलन तथा प्रचार १२वीं सदी में भारतीय विद्वान् भास्कराचार्य ने किया।[८] इतालियन पिसानो तथा दान्ते ने हिन्दू गणितशास्त्र का दुनिया में प्रचार किया।[९] पन्द्रहवीं सदी में एक विद्वान् इतालियन ने मंगल ग्रह के सम्बन्ध में काफी खोज की। पृथ्वी से उसकी दूरी नापने का प्रयास किया। ग्रहों द्वारा सूर्य की परिक्रमा का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।[१०] किन्तु उस अंधविश्वास के युग में ऐसी बातें सोचना भी गुनाह था। सूर्य की परिक्रमा करने से कापर्निकस के सिद्धान्त में विश्वास रखने के अपराध में ईसवीय सन् १६०० में लियार्देनो ब्रूनो को रोम में जिन्दा जला दिया गया था।[११]

किन्तु यह तो बहुत बाद की बात हुई। ईसवीय सन् के हजारों वर्ष पूर्व भारतीय विचार, भारतीय धर्म तथा भारतीय प्रतीक एशिया-यूरोप में फैल चुके थे। कुछ लोगों

१. वही, पृष्ठ १४। २. वही, पृष्ठ २९-३०। ३. वही, पृष्ठ ३१।
४. Hecataeus. ५. Thales. ६. वही पुस्तक, पृष्ठ १८-२०।
७. वही, पृष्ठ ५०। ८. वही, पृष्ठ ५१। ९. वही, पृष्ठ ५५।
१०. वही, पृष्ठ ६३—Nicholas Copernicus ११. वही, पृष्ठ ६९।

के मन में यह शंका होती है कि उस समय समुद्र का मार्ग आज जैसा नहीं था, तब चारों ओर फैल जाना दुष्कर रहा होगा। किन्तु हजारों वर्ष पूर्व के संसार के भूगोल में और आज के भूगोल में बड़ा अन्तर है। श्री ह्वीलर ने सिद्ध किया है कि ईसा से २५०० से १५०० वर्ष पूर्व प्रागैतिहासिक काल में हिन्दुस्तान और एशिया इतना मिला हुआ था कि अरेबियन सागर के तट पर स्थित सलकागेन-दोर नामक स्थान से, जो पाकिस्तान की राजधानी कराची से ३०० मील पश्चिम में है, हिमाचल प्रदेश की शिमला की पहाड़ियों के चरणों में स्थित रुपड़ ग्राम तक—१००० मील से अधिक लम्बी यात्रा भूमार्ग से, पैरों से की जा सकती थी और इस १००० मील के भीतर स्थान-स्थान पर अच्छी खासी बस्तियाँ मिलती थीं।[१] ऐसे मार्ग से प्रतीक तथा विचार को यूरोप पहुँचने में कितनी देर लगती?

ह्वीलर के अनुसार मानव-सभ्यता बहुत पुरानी है। आज के ४ लाख से २ लाख साल पहले आदमी लकड़ी काटने का औजार बना चुका था।[२] आज के ५-६ हजार वर्ष पहले सिन्धु नदी के किनारे रहनेवाले जो पोशाक पहनते थे, वही पोशाक यूनान तथा रोम में भी थी। पुरुष घुटने तक की लुंगी पहनते थे। स्त्रियाँ छोटा घाघरा पहनती थीं। महेंजोदड़ो तथा हड़प्पा में प्राप्त मूर्त्तियों से यह पता चला है। वेश्याएँ एकदम नंगी रहती थीं।[३] पर बाहर नंगी घूमती थीं या घर में, यह कोई नहीं कह सकता। समाज के ऐसे बहुत से नियम हैं जिनका आशय समझना कठिन है। यदि प्राचीन काल में कुछ जंगली जातियों में रिवाज था कि पुरुष एकदम नग्न रहते थे और अपनी जननेन्द्रिय को लाल रंग में रंग देते थे,[४] और यह प्रथा इंगलैण्ड में रहनेवाले असभ्य लोगों में भी थी, तो इससे कोई एक निन्दात्मक सिद्धान्त नहीं बन जाता। संसार में प्रतीक ही ऐसी वस्तु है जो एक देश का दूसरे से पुरातन सम्बन्ध सिद्ध करती है। हम लोग माता की पूजा, मातृत्व की पूजा को अपने देश की सबसे बड़ी देन समझते हैं। प्रकृति की, माया की कल्पना सबसे पहले वैदिक आर्यों ने की। आर्य धर्म के प्रचार के साथ माता की पूजा भी चारों ओर फैला दी। समय के प्रवाह में उपासनाएँ भ्रष्ट होकर अंध विश्वास का रूप भले ही ले लें, पर मौलिक सत्य छिपता नहीं। एक विद्वान् लेखक ने

१. R. E. M. Wheeler—"Five Thousand years of pakistan"-Pub-Christopher Johnson Ltd., London, 1950-page 24.

२. वही, पृष्ठ १५-१६।

३. वही, पृष्ठ २९।

४. Ivan Block—"Sexual Life in Eugland"—Pub, Francis Alder—London, 1938—page 328.

सिद्ध किया है कि यूनानी सभ्यता के समय में कितने अधिक राज्यों में माता की पूजा प्रचलित थी। फोयेनिशियन लोग देवी अस्तार्ती के रूप में, फ़िज़ियन लोग सिबेली के नाम से, थेसियन बन्दीस (बन्दी देवी) के नाम से, क्रेटन निवासी 'र्‌ही' (आर्य बीज मंत्र ह्रीँ) के नाम से, एफ़ेसियन लोग आर्त्तामिस के नाम से, इरानी लोग अनाइतीज़ (अनन्त) नाम से तथा कैप्पोडिसियन लोग 'मा' के नाम से जगज्जननी माता की पूजा करते थे। इन देवियों की पश्चिमी लोग जिस किसी निन्दनीय रूप से समीक्षा करें, वह और कुछ नहीं, केवल माता की पूजा है। मौलिक आधार वही है।[१] उत्पत्ति तथा प्रजनन का सूर्य देवता के साथ यूनान में कभी सम्बन्ध नहीं रहा। इसके देवता तो उनके यहाँ एरोस तथा देवी डेल्फी थीं।[२] तो फिर खींच-तानकर सब कुछ सूर्य के ज़िम्मे करके उनकी प्राप्त प्रतिमाओं की मर्यादा को खण्डित करने से क्या लाभ है ?

बहुत अधिक तर्क-वितर्क करना मन का दोष है। पुरुष स्वयं कुछ नहीं है। पुरुष मन है 'मनोमयोऽयं पुरुषः।' पुरुष का मन हृदय में जौ या चावल के एक-दो दाने की तरह पड़ा हुआ है और यह एक दाना ही मनुष्य मात्र का शासक है, स्वामी है।[३] मन ने ही कहीं पर वृषभ—बैल—नन्दी को सूर्य के साथ राशि-मंडल का द्योतक बना लिया, कहीं पर उसे शंकर का वाहन बनाकर वर्षा तथा अन्न का प्रतीक बना दिया। पर हमारे शास्त्रों में कहीं भी वृषभ को जनन-शक्ति या पुत्रोत्पादन का प्रतीक नहीं माना है। पाणिनि ने अपने व्याकरण में वृषभ की व्याख्या की है—

वर्षति कामान् पूरयति इति वृषभः।
वर्षति मूत्रेण भूमिं सिञ्चति इति वृषभः।

अपने मूत्र से जो भूमि का सिंचन करे, वह वृषभ है। भूमि का सिंचन सूर्य के द्वारा प्राप्त जल से होता है। अतएव दोनों का गुण एक ही होने के कारण वृषभ को सूर्य के साथ भी बिठा दिया गया है। हमारे देश में ही नहीं, संसार में जल का मानव-जीवन के लिए महान् महत्त्व बार-बार धार्मिक रूप से प्रतिपादित हुआ है। इसी लिए 'अन्न', अर्थात् 'प्राण' का दाता भी 'जल' है, वृष्टि है, जो सूर्य से प्राप्त होती है। लोकपालक विष्णु को भी जल से उत्पन्न तथा जल का निवासी, जल में शयन करनेवाला माना गया है। विष्णु

१. L. R. Farnell—Cults of the Greek State—Clarendog Press—1909 Edition.
२. Cutner—pagc 240.
३. Dr. E. Roer—The Twelve Principles, oI Uapnishads"—Vol-II—1931—page 391.

को नारायण भी कहते हैं। नारा का अर्थ है आप। आप का अर्थ है जल। जल में जिसका पहले घर था, वही नारायण–विष्णु–लोकपालक हैं–

> **आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।**
> **ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः।।**
> **–मनु० १–१०**

'सूर्य' का ठीक से अर्थ न समझने के कारण ही पाश्चात्यों ने उनके प्रतीक के बारे में भी भूलें की है। वैदिक-शब्दों का अर्थ बिना अच्छे ज्ञान के नहीं समझा जा सकता। उदाहरण के लिए 'यज्ञ' शब्द को लीजिए। ऋग्वेद में ही इस शब्द का प्रयोग 'शासन' के लिए हुआ है।[१] यदि हम केवल 'हवन' के अर्थ में लें तो हमारा ही दोष है। यजुर्वेद में अन्न को अग्नि का स्वरूप माना है तथा जल को सोम का शरीर। ये दोनों वस्तुएँ प्रजा के लिए अत्यावश्यक हैं। इन दोनों यानी अन्न तथा जलवाले संसार में व्यापक तथा प्रजा के रूप में पूजा-रूप से रहनेवाले––विष्णवे त्वा–विष्णु हैं। इसी लिए वे प्रतीक-रूप में 'संसार के पालक' कहे गये हैं। ईश्वर की वे पालक-शक्ति हैं।

> **अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वा सोमस्य तनूरसि...[२]।**

इसमें जल तथा अन्न दोनों के दाता पृथक् देवता हैं। कहीं भी दोनों के लिए एक ही देवता हों, ऐसा प्रकट नहीं होता। पर कई पश्चिमी विद्वानों ने सूर्य तथा अग्नि को एक ही देवता माना है और पारसी धर्म में तो अग्नि-पूजन को सूर्य का पूजन माना है। वैदिक देवताओं के वर्णन में हम सूर्य की तथा अग्नि की पृथक् सत्ता स्थापित कर चुके हैं। अग्नि और सूर्य में एक ही चीज़ समान रूप से पायी जाती है––वह है ज्योति। किन्तु इस समान गुण के होते हुए भी उनको पृथक् देवता माना गया है। यजुर्वेद का प्रसिद्ध मंत्र है कि "अग्नि ज्योतिः स्वरूप है। समस्त ज्योति अग्निस्वरूप है। यह ज्योतिः स्वरूपता ही अग्नि की अपनी महिमा का प्रत्यक्ष वर्णन है। सूर्य ज्योति है। ज्योति ही सूर्य है। यही उसके अपने महत्त्व का उत्तम स्वरूप है। इस देह में अग्नि ही तेज है। ज्योति ही तेज है। यही उसका अपना उत्कृष्ट रूप है। सूर्य तेज है। ज्योति ही तेज है। यही उसका अपना महत्त्वपूर्ण रूप है। ज्योति सूर्य है और सूर्य ही ज्योति है। यही उसका

१. देखिए पृ० १—९९—१९—"विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम्।" सब पर तू सब प्रकार से समर्थ अधिकारी होकर शासन कर।
२. यजुर्वेदसंहिता, पञ्चम अध्याय, मंत्र १, पृ० १४४।

यथार्थ महत्त्व है।"[१] इस प्रकार यही प्रतिपादित हुआ कि अग्नि ज्योति-रूप है। सूर्य ज्योति-रूप है। सूर्य से ज्योति का गुण प्राप्त कर अग्नि देव को प्रतिष्ठित किया गया होगा। पर दोनों देवता भिन्न हैं। इनके प्रतीक भी भिन्न हैं। अग्निपुराण के प्रारम्भ में ही लिखा है—

विष्णुः कालाग्नि रुद्रोऽहं विद्यासारवदामिते।

ऋग्वेद में कर्मभेद से पाँच सौर (सूर्य से सम्बन्धित।) देवता हैं। इनमें एक की संज्ञा मित्र है। 'मित्र' देवता सूर्य के कार्यों में हितकर्ता के रूप में वर्णित है। पं० बटुक-नाथ शास्त्री खिस्ते नामक धुरंधर विद्वान् का कहना है कि 'भारतीय-ईरानी' काल से चलकर मित्र देवता ऋग्वेद का अपना रूप छोड़कर 'मित्र वरुण' देवता बन गये। ऋग्वेद में भी केवल एक ही सूक्त मित्र देवता के विषय में है। शेष संयुक्त देवता 'मित्रावरुण' के विषय में हैं।[२]

१. अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निःस्वाहा। सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः
स्वाहा, अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा सूर्यो वर्चो ज्योति
र्वर्चः स्वाहा, ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा।

—यजुर्वेद—अ० ३—मं० ९—मंत्र ९

देखिये यजुर्वेदसंहिता—पृष्ठ ६९।

२. श्रीमती मरे ने अपनी पुस्तक में मित्र तथा सूर्य को एक ही देवता माना है। यह उनकी भूल है।

सूर्य तथा अग्नि

सौर देवताओं में सूर्य प्रधान हैं। ग्रीक भाषामें सूर्यको 'हेलियस' कहा गया है। इस शब्द का अर्थ है तेजोमय। सूर्य का यही अर्थ वेदों से प्रमाणित है। वेदों में कई जगह वर्णित है कि सूर्य देवताओं के चक्षु हैं। उषा उन्हें ले आती है। सर्वसाक्षी भूमण्डल पर "सर्वत्र गूढ़ विचरण कर जीवों की, मनुष्यों की गति-विधियों को देखते हैं। पुण्य-पाप को भी देखते हैं।" सूर्य ही, वेदों के अनुसार, मनुष्यों को जगाकर अभीष्ट कार्य करने में प्रवृत्त करते हैं। यही चराचर सभी की आत्मा हैं, 'सूर्य आत्मा जगतस्तुस्थुषश्च।' सात घोड़ेवाले एक पहिये के रथ पर चढ़ कर चलते हैं। 'सप्त युंजन्ति रथमेकचक्रम्।'

अग्नि के समान ही, सूर्य के विषय में मनोरम कल्पनाएँ वेद में प्राप्त हैं। कहीं उषा की गोद में खेलनेवाला बालक हैं। कहीं सूर्य उषा के पति हैं। सूर्य को आरोग्य का देवता, शत्रुओं का नाशक, काल, संवत्सर, मास, ऋतु आदि का विभाजक माना गया है। श्रीतंत्रालोक में उनको रात्रि-दिन का विभाजक माना गया है[1]—

श्रीत्रैयम्बकसन्तानवितताम्बरभास्करः ।।६–८८
दिनरात्रिक्रमं मे श्रीशंभुरित्थमपप्रथत् ।।-६.८६

सूर्य का एक वैदिक गुण 'दुःस्वप्नों को मिटाना' भी है। सूर्य सुवर्ण के समान हैं। उनका रथ भी सोने का है। देवता उन्हें 'अग्निरूप' से स्वर्गलोक में धारण करते हैं। सुप्रसिद्ध गायत्री मंत्र भी सूर्यपरक है (३–६२–१०)। इन सब बातों से स्पष्ट है कि जहाँ तक सूर्य तथा अग्नि के एक ही देवता होने का सम्बन्ध है, वैदिक प्रमाणों में वे नितान्त भिन्न हैं। दोनों में मूलतः भेद है। कहीं-कहीं एक ही समान गुणधर्मी होने के कारण तुलना या अभेद किया जा सकता है। पुराणों में तो दोनों में नितान्त भेद है।

वैदिक साहित्य में, विशेषतः ऋग्वेद में इन्द्र के बाद महत्त्वपूर्ण देवता 'अग्नि' को माना गया है। लगभग २०० मंत्र अग्नि के विषय में हैं। अग्नि का स्वरूप यज्ञ की अग्नि के रूप में वर्णित है। अग्नि के नीचे लिखे पाँच विशेष नाम हैं—

१. श्री अभिनव गुप्ताचार्य—श्रीतंत्रालोक—चतुर्थ भाग, प्रकाशक, कश्मीर सरकार, श्रीनगर, सन् १९२२—पृष्ठ ७७-७८।

(१) घृत-पृष्ठ—घृत पर जलनेवाला।
(२) शोचिष्केश—ज्वाला-केश।
(३) रक्त-श्मश्रु—लाल मूँछोंवाला।
(४) तीक्ष्ण-दंष्ट्र—बड़े तीखे दाँतोंवाला।
(५) रुक्मदन्त—सोने के दाँतोंवाला।

वेदों में अग्नि की अनेक उपमाएँ दी गयी हैं। कहीं पर उन्हें गरुड़, कहीं पर श्येन[1] तथा कहीं 'हंस' के समान कहा गया है। इन्हें इतना महान् स्थान दिया गया है कि इनको देवताओं का मुख कह दिया है—

अग्निमुखा वै देवाः।

ऋग्वेद के अनुसार अग्निदेव दिन में तीन बार भोजन करते हैं। उनकी उत्पत्ति तीन स्थानों से होती है—

१. काष्ठ से। २. जल से। ३. द्युलोक (आकाश) से। ऋग्वेद के अनुसार अग्नि के पाँच गुण विशेषण और भी हैं—

(१) सहस्रशृङ्ग — हजार सींगोंवाले, यानी परम बलवान्।
(२) यविष्ठ — जवान।
(३) मेध्य — पवित्रतर।
(४) कवि शस्त्र — बुद्धिमानों के प्रियपात्र।
(५) दमुना — गृह के कार्यों में सहायक।

अग्नि की लोकप्रियता उनकी दो उपाधियों से और भी सिद्ध होती है। एक उपाधि है, वैश्वानर, जिसका अर्थ होता है—संसार के सभी प्राणियों का प्रिय। दूसरी उपाधि है, नाराशंस यानी सभी नर जिसकी स्तुति करते हैं।

अग्नि की उपाधियों तथा प्रशंसा के पढ़ने से यह स्पष्ट है कि उनका गुण सूर्य से पृथक् है लेकिन जो कुछ भी गुण है वह आग का ही गुण है। आग सभी को चाहिए। इसलिए वह नाराशंस है, यानी सभी नर इसकी स्तुति करते हैं। आग से ही पोषण होता है। अतएव यह वैश्वानर है। हू हू कर जलनेवाली आग जवान भी होगी। पवित्र-से-पवित्र होगी। वेगी तथा भयंकर भी होगी। आग की लाल लपटें होती हैं अतः वे उसकी लाल मूँछें कही गयी हैं। इस प्रकार अग्नि के गुणों को प्रतीक-रूप में मानकर उसे पृथक् देवता माना गया है। आधुनिक विद्वान् तो यहाँ तक कहते हैं कि 'अग्नि' शब्द या नाम ही इंडो-यूरोपीयन है। लैटिन भाषा में इसे 'इग्नि' तथा स्लैवोनिक भाषा में 'ओग्नि' कहते हैं।

१. हलायुधकोश के अनुसार श्येन का अर्थ है भयंकर, लम्बकर्ण, रणप्रिय, क्रूर, वेगी इत्यादि।

इग्नि तथा ओग्नि दोनों शब्दों का अर्थ है फुर्तीला। आग में फुर्ती न हो तो वह आग कैसी? पुराने जमाने में दो लकड़ियों को रगड़कर आग पैदा की जाती थी। ऐसा करने में—रगड़ने में—काफ़ी ताकत लगती होगी। इसी लिए अग्नि को 'सहस्-पुत्र', यानी ताकत का बेटा कहा गया है।

दो अरणि-दण्डों से प्राचीन काल में अग्नि पैदा होती थी। अब भी उन स्थानों में जहाँ दियासलाई नहीं पहुँची है, वैसे ही रगड़ने से पैदा होती है। इसलिए अग्नि का एक गुण और बन जाता है। जिन दो लकड़ियों की रगड़ से—पिता-माता के द्वारा—अग्नि पैदा होती है, उसे ही वह मार डालती है, यानी वे दोनों लकड़ियाँ जल जाती हैं। पुराणों में अग्नि को माता-पिता का हन्ता भी कहा गया है। वेदों के अनुसार अग्नि का रथ सोने के समान चमकता है। दो लाल घोड़ों द्वारा खींचा जाता है। जिस रथ पर देवताओं को बिठाकर यज्ञभूमि में वे ले आते हैं उसे 'द्युपुत्र' या 'द्योष्मिता' कहते हैं। कहीं पर इन्द्र और अग्नि को जुड़वाँ भाई भी कहा गया है। पुराणों के अनुसार अग्नि की उत्पत्ति दस कन्याओं के द्वारा बतलायी गयी है। ये दस कन्याएँ और कुछ नहीं, हाथों की दस उँगलियाँ हैं, जिनके सम्मिलित प्रयत्न से आग पैदा होती है।

वेदों में अग्नि के दो स्थान बतलाये गये हैं—द्युलोक, यानी स्वर्गलोक तथा पृथ्वी लोक। उन्हें ऋत्विक् या यज्ञ का विद्वान् भी बार-बार कहा गया है। उन्हें देवदूत भी कहा गया है। उषा के उदित होते ही वे पैदा होते हैं। चूँकि ये प्रातःकाल जाग पड़ते हैं अतएव इन्हें 'उषर्बुध' भी वेद में कहा गया है। साधुओं की एक तपस्या होती है चौबीसों घंटे पंचाग्नि सेवन करना, यानी चारों तरफ आग जलाकर बैठना, पर सर के ऊपर यानी पाँचवीं आग कहाँ से आयेगी? शास्त्रकारों ने पाँचवीं अग्नि सूर्य को माना है। इस प्रकार दो-तीन बातें तो अग्नि तथा सूर्य को एक में मिला देती हैं, पर दोनों में मौलिक भेद अवश्य है। पश्चिमी लेखकों ने जिस प्रकार मित्र तथा सूर्य को एक ही देवता माना है, उसी प्रकार अग्नि को भी। पर मित्र तथा सूर्य का किसी रूप में सामञ्जस्य हो सकता है, अग्नि का नहीं।

मित्र की उपासना के साथ जो तांत्रिक उपासना चल पड़ी थी, वह ईरान से लेकर यूनान तथा रोम देश की ही विशेषता है। सूर्य-उपासकों में और कहीं ऐसी उपासना नहीं मिल सकती। यह हो सकता है कि ईरानी आर्यों ने सूर्य को मित्र के रूप में ग्रहण किया हो। इसी से 'मैत्रेय' सम्प्रदाय चला होगा, जिसे पश्चिमी लेखकों ने 'मिथ्रज' कहा है। रोम में मैत्रेय सम्प्रदाय का बड़ा जोर था। यूनान ने रोम पर आक्रमण कर उसे अपनी सभ्यता तथा प्रतीक, दोनों ही प्रदान किये थे। रोमन सम्राट् ईश्वर की तरफ़ से राज्य

में 'प्रतिनिधि' बन गया था। यानी, राज्य के लिए वह ईश्वर का प्रतीक था[१]। मैत्रेयों को सम्राट् से पर्याप्त सहायता मिलती थी। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि यदि यूरोप या ईरान में सूर्य तथा मित्र, दोनों वैदिक देवताओं को एक में मिला दिया गया तो वे सब जगह एक ही रूप में पूजे जाने लगे थे। हमारे देश में सूर्य हों, अथवा अग्नि हों, उपासना का क्रम यह नहीं रहा है कि प्रतीक को साध्य मानकर उसी में अपनी बुद्धि को समाप्त कर दें। श्री गेडन ने हिन्दू प्रतीकों की व्याख्या करते हुए स्पष्ट लिखा है कि संसार में सबसे आद्दत, सबसे अधिक पूजित तथा सबसे अधिक गूढ़ अर्थवाला प्रतीक ॐ है। यह ब्रह्म-प्रतीक है। प्राण ही ब्रह्म है। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश—जन्म देनेवाली, रक्षा करनेवाली तथा संहार करनेवाली, तीनों शक्तियों का प्रतीक तीन अक्षर अ उ म—ॐ है। सौर-मण्डल में ९ ग्रहों में हर एक का प्रतीक बनाकर उनके गुण तथा सत्ता को स्थिर रूप प्रदान किया गया है। जैसे—

इन प्रतीकों की हम आगे चलकर व्याख्या करेंगे। पर प्रतीक चाहे किसी भी रूप में हो सकता है। श्री गेडन के कथनानुसार "प्रतीकोपासना से लक्ष्य होता है और ऊँचे की उपासना तथा स्थान को प्राप्त करना।"[२]

१. Edited by James Hastings—"Encyclopaedia of Religion and Ethics". Chapter—"Symbolism"—page 140.

२. वही पुस्तक—अध्याय—"हिन्दू"—लेखक A. S. Gedan, पृष्ठ १४२।

अस्तु, सूर्य तथा अग्नि दोनों भिन्न शक्तियाँ हैं। सूर्य तथा अग्नि के पौराणिक रूप में बड़ा अन्तर है। कूर्मपुराण में सूर्य के रथ के सात घोड़े बतलाये गये हैं। आज का विज्ञान साक्षी है कि संसार को 'रंग' नामक वस्तु सूर्य की किरणों से प्राप्त हुई है। सूर्य की किरणों में सात रंग हैं। कूर्मपुराण में इनको सात छन्द कहा है—गायत्री, बृहति, उष्णिक, जगती, पंक्ति, अनुष्टुप् तथा त्रिष्टुप्।[1] कूर्मपुराण के अनुसार सूर्य की अनगिनत किरणें हैं, जिनमें मुख्य हैं—

सुषुम्ना, हरिकेश, विश्वकर्मा, विश्वश्रवा, सेंजद्वस्तु, अर्द्धवसु तथा स्वरक।[2]

भट्टसाली ने अपनी पुस्तक में सूर्य की तीन स्त्रियों का वर्णन किया है। वे हैं—सुरेणु, विक्षुभा तथा उषा।[3] ये तीन पत्नियाँ भी उनकी तीन शक्तियों के प्रतीक हो सकती हैं—उत्पादक, पालक, विनाशक। उषा उत्पादक शक्ति होगी। पर इन बातों को संकुचित रूप में ग्रहण करने के कारण या ठीक से न समझने के कारण पश्चिम के विद्वान् बड़ा अनर्थ कर बैठते हैं—अपनी बुद्धि को खराब करते हैं।

१. कूर्मपुराण, बंगवासी संस्करण, पृष्ठ १८६।

२. वही, पृष्ठ १८८।

३. Bhattasali's Iconography of Buddhist and Brahmanical Sculptures—Dacca—1928—page 169.

चन्द्रमा

हमारा वैदिक वचन है—"चन्द्रमा मनसो जातः, सूर्यो ज्योतिरजायत ।" चन्द्रमा मन के देवता हैं तथा सूर्य प्रकाश के देवता हैं । शास्त्रों में मन तथा बुद्धि का चन्द्रमा से बड़ा घना सम्बन्ध है । आधुनिक विज्ञान भी यह मानता है कि चन्द्रमा का मन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है । चांदनी रात में चन्द्रमा की ओर बहुत देर तक आँखें गड़ाकर देखने से बुद्धि खराब हो जाती है । पागलपन के लिए 'ल्यूनेसी' शब्द चन्द्रमा से ही बना है ।[1] पुरानी बीमारियाँ अमावस्या अथवा पूर्णिमा के दिन बहुत जोर पकड़ लेती हैं । आत्म-हत्या भी एक पागलपन है । अधिकांश आत्महत्याएँ पूर्णिमा के दिन या एक दिन आगे-पीछे होती हैं । हमारे वेदों की महानता है कि जिस परिणाम पर वैज्ञानिक आज इतने परिश्रम से पहुँचे हैं उसकी घोषणा हमने कई हजार वर्ष पहले कर दी थी ।

मुसलमान भाइयों के कुरान शरीफ़ में सूर्य-चन्द्रमा का एक साथ ज़िक्र आया है । ३६वीं सियार-सूरे यासीन—में लिखा है[2]—

व शम्सो तज्री ले मुस्तकरिल्लहा जालिका तक़दीरुल
अज़ीज़िल अलीम, वल क़मर, क़द्दां ना हो मनाजिला इत्ता
आद कल उर्जूनिल, क़दील कदीम लशमसोयम बग़ोलध अन् ।।
तुज्दिकह क़मर वलत् लयलो साविकुन्नहार व कुल्लुन फी फ़लकी यस बहून्

अर्थात् "पाक है वह ज़ात जिसने हर तरह की चीज़ें तथा इंसान की क़िस्म में से हर चीज़ पैदा की है । उनको समझने के लिए हमारी एक निशानी रात है । और सूरज है कि अपने एक ठिकाने की ओर चला जा रहा है । यह मआज़कर ख़ुदा का बाँधा हुआ है, जो ज़बर्दस्त है और हर चीजों से आगाह है । और चाँद है कि उसके लिए हमने मंजिलें ठहरायीं । यहाँ तक कि आखिर महीने में घटते-घटते ऐसा टेढ़ा और पतला हो जाता है, जैसे खजूर की पुरानी टख़नी । न तो सूरज ही से बन पड़ता है कि चाँद को जाले और न

१. Lunar = चन्द्रमा का; Lunacy = पागलपन ।

२. कुरान शरीफ़—अनुवादक डॉ० मौलवी नजीर अहमद । ११३० हिजरी—ई० सन् १९११—अंग्रेजी संस्करण ।

रात ही दिन के पहले हो सकती है। और क्या चाँद और क्या सूरज, सब अपने-अपने मदार (घेरे) में पड़े तैर रहे हैं।"

आज के लगभग १४०० वर्ष पहले की यह उक्ति भी काफ़ी महत्त्व रखती है। इसमें चन्द्र और सूर्य को भगवान् की दो रचनाएँ स्वीकार किया गया है जो ईश्वरीय विधान से बँधे हुए हैं। हिन्दू शास्त्र की बात तो जाने दीजिए, मुसलिम धर्म में भी अर्द्धचन्द्र को धार्मिक प्रतीक के रूप में कभी नहीं माना गया था। इक़बाल ने अपनी शायरी में जो लिखा है—

ख़ञ्जर हिलाल का है क़ौमी निशां हमारा

वह सितारा युक्त चाँद बना झण्डा तो हज़रत पैगम्बर साहब के कई सौ वर्ष बाद अपनाया गया। मुसलिम धर्म में प्रतीक की व्याख्या करते हुए श्री मार्गोलियथ[1] कहते हैं कि इस्लामी भाषा में प्रतीक का समानान्तर या पर्यायवाची[2] शब्द नहीं है। निकटतम शब्द 'हि-आर' या 'घि-यार' या अरबी में 'किनायाह' प्रतीत होता है।[3] हज़रत मुहम्मद साहब ने अपनी सेना के झण्डे पर रोम साम्राज्य का 'बाज' पक्षी अपनाया था। बाद में अब्बासिया ने काला झण्डा बनाया जिस पर "मुहम्मद पैग़म्बर हैं" लिखा रहता था। अलविदा का झण्डा हरे रंग का था। उम्मद का झंडा सफ़ेद रंग का था। ट्यूनीसिया के सुलतान ने रंग-बिरंगे कपड़ों के झण्डे रखे।

यह मुस्लिम प्रतीक नहीं है। तुर्की साम्राज्य के उदय के पूर्व मुसलिम मस्जिदों की मीनारों के ऊपर यह शोभा तथा शृंगार के लिए बनाया जाता था।[4] प्राचीन रोमन साम्राज्य में उनके "सीनेट" (राज्यपरिषद्) के सदस्य अर्द्ध चन्द्राकार जूता पहनते थे।[5] पुराने तुर्की मंदिरों पर भी अर्द्ध चन्द्र बना रहता था। असल में इस प्रतीक का अत्यधिक उपयोग प्राचीन बाइजेंटाइन साम्राज्य में

१. D. S. Margoliouth on "Muslim Symbols" in "Encyclopaedia of Religion and Ethics"—Page 145.
२. "No Equivalent for Symbol"

—वही, पृष्ठ १४५।

३, Roman Eagle.
४. वही पुस्तक, पृष्ठ १४५।
५. वही, पृष्ठ १४५।

होता था। उसी से तुर्क लोगों ने इसे अपनाया। बौसनिया में भी इसी प्रतीक का उपयोग होता था। इसलिए श्री सैंसोविनो[१] का कहना है कि सन् १४६३ में खलीफ़ा मुहम्मद द्वितीय ने बौसनिया पर कब्जा कर लिया और वहाँ के प्रतीक को अपना लिया। मार्गोलियथ कहते हैं[२] कि ईसवी सन् ११५६ में अलमोहद वर्ग ने तथा मिस्र के फ़ातिमी वर्ग ने अर्द्ध चन्द्र को झण्डे पर स्थान दिया। पुतनहम का कथन है कि तुर्किस्तान के सुलतान सलीम प्रथम ने (शासनकाल सन् १५१२ से १५२०) इसे पहली बार अपने झंडे पर स्थापित किया।[३] मार्गोलियथ ने एक बड़े मार्के की बात कही है—

"अर्द्ध चन्द्र क्रमागत बढ़ते रहनेवाले (यानी द्वितीया के) चन्द्र का द्योतक नहीं है। वह पतनशील यानी समाप्तप्राय होनेवाले चन्द्र का द्योतक है, जिसके बाद उषाकाल आता है। यानी अंधकार के बाद प्रकाश, रात्रि के बाद दिन की "आशा" का प्रतीक है। अर्द्ध चन्द्र आशा का प्रतीक है।"[४]

चन्द्रमा को आशा का प्रतीक मानने की यह बड़ी मनोरम कल्पना है। मुसलिम विद्वान् भी इसे अपने धर्म का प्रतीक नहीं मानते। जो लोग ईद के चाँद से अर्द्ध चन्द्र के प्रतीक को मुसलिम धर्म के साथ मिला देते हैं वे भूल कर रहे हैं। हिन्दू धर्म तथा साहित्य में चन्द्रमा के सैकड़ों नाम हैं। उसमें उनको अमृतवर्षा करनेवाला, शीतलता देनेवाला, स्वच्छ प्रकाश देने वाला, ऐसे अनेक नाम दिये हैं। कुछ रोचक नाम हैं—

औषधीश, निशापति, हिमांशु, श्वेतवाहन, तुषार-किरण, सुधानिधि, तुङ्गी, अमृत, श्वेतद्युति, शीतल-मरीचि, इत्यादि।

ऋग्वेद में चन्द्रमा का वर्णन है—

उतनः सुद्योत्माजीराश्वो होतामन्द्रः श्रृणवच्चन्द्र रथः॥

ऋ० १-१४१-१२

चन्द्रमा का इतना ही अर्थ नहीं है। योगशास्त्र के पण्डित जानते हैं कि मनुष्य के शरीर में भी सूर्य तथा चन्द्र की स्थापना है। भ्रुवों के मध्य में, जहाँ पर हम टीका अथवा चन्दन लगते हैं, वहीं पर चन्द्र-मण्डल है जिसका शास्त्रीय नाम सोम-मण्डल है। मानव अपने ध्यान या चित्त को इसी स्थान पर, इसी मण्डल में स्थिर करता है। उस स्थान का निर्देश करने के लिए ही तथा उसकी महत्ता को याद दिलाने के लिए तथा प्रतीक-रूप से समझाने के लिए उसी स्थान पर नित्य टीका, रोली या चन्दन लगाते हैं। उसी स्थान पर,

१. F. Sansovino. २. वही पुस्तक, पृष्ठ १४५।

३. G. Puttanham—"Arts of English Poesie."

४. वही (मार्गोलियथ की) पुस्तक, पृष्ठ १४६।

अपनी भ्रुवों के बीच में मन–बुद्धि–चित्त को एकाग्र करने से शरीर में अमृत की वर्षा (वहीं से) होती है। हठयोगप्रदीपिका में लिखा है—

भ्रूमध्यभागस्य सोममण्डलम्।

इसके टीकाकार ने लिखा है—

चन्द्रात् स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी।

चन्द्र नाम की एक नाड़ी भी शरीर में है। पद्मासन लगाकर योगी चन्द्र नाड़ी में प्राण को भर लेता है।

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत्।

हठयोगप्रदीपिका की यह सूक्ति है। अतः मन के देवता चन्द्रमा योग के, क्षेम के, शरीर के भी देवता हैं। पर, चन्द्रमा को योग का, अमृत का, शरीर की यौगिक क्रिया का प्रतीक न मानकर अज्ञानी लेखक अर्द्ध चन्द्र को स्त्री की योनि का प्रतीक मान बैठे हैं। हार्डिंज लिखते हैं कि चन्द्रमा गर्भ धारण करानेवाला देवता समझा जाता था। पुराने जमाने में स्त्रियाँ चांदनी रात में इसलिए नहीं सोती थीं कि चन्द्रमा अपनी रश्मियों से उनके साथ प्रसंग करेगा और उनको गर्भवती बना देगा। बहुत से प्राचीन लोगों का यह भी विश्वास था कि सूर्य गर्भ धारण करानेवाला पुरुष है तथा चन्द्रमा गर्भ धारण करानेवाली स्त्री है।[१]

भारतवर्ष में चन्द्रमा को स्त्री कभी नहीं समझा गया था। सौन्दर्य की तुलना में स्त्री के प्रयोग में चन्द्रमा आता है, पर वह स्वयं स्त्री नहीं है। बे-पढ़े-लिखे लोग भी आजकल अपने बच्चों को "चन्दा मामा" सिखलाते तथा दिखलाते हैं। चन्दा मामी या माता नहीं कहते। पर, भारतीय विद्वान् रामबहादुर गुप्ते ने अपनी पुस्तक में सती-दाह की प्रथा की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है।[२] अपनी पुस्तक में सती-स्तम्भों पर चन्द्र-सूर्य को साथ साथ बने देखकर वे इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि "चूँकि बुन्देलखण्ड में हर सती-स्तम्भ पर सूर्य-चन्द्र बना हुआ है, इससे प्रकट है कि ये सच्चरित्रता के प्रतीक हैं तथा सती पत्नी का अपने पति के साथ अमर-बंधन प्रकट करते हैं।"[३] स्त्री के रूप का द्योतक होने के कारण चन्द्र को स्त्री का प्रतीक भले ही मान लें, पर सती-स्तम्भ पर सूर्य और चन्द्र केवल परम शिव तथा परा शक्ति या पुरुष और प्रकृति के प्रतीक मात्र हैं।

१. M. E. Harding—"Women's Mysteries"—Longman Green & Co., London —1935.

२. Rai Bahadur, B. A. Gupta—"Hiudu Holidays and Cermonials"—Thacker Spink & Co., Calcutta, 1916—pages 108-109.

३. वही, पृष्ठ ३९।

समय-काल पाकर देशों में मानव की विचारधारा तथा उसके प्रतीक बदल जाते हैं। हमने ऊपर नवग्रहों का प्रतीक दिया है। मिस्र में उनका रूप बदला हुआ था। वहाँ पर मंगल को △ न बनाकर

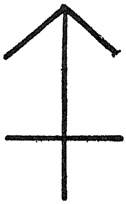

बनाते हैं।

मंगल मारक ग्रह है। अतएव

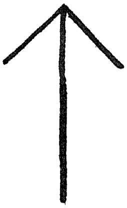

मारने का, मृत्यु का प्रतीक है।

शनि भी मारक है, अत: मिस्र में उसे

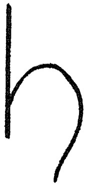

हसिया का रूप दिया गया।

प्राचीन मिस्र में चन्द्रमा को ◡ अर्द्ध चन्द्राकार ही बनाते थे। यह "घटने-बढ़ने" की चन्द्रगति को प्रकट करता था। धर्म तथा प्रतीक दोनों ही समय तथा स्थान के भेद से अपना रूप बदलते रहते हैं। ईसाई धर्म के विद्वानों का कहना है कि स्वयं प्रभु ईसा ने अपनी माता मरियम की उपासना की बात कभी नहीं कही थी। ऐतिहासिक दृष्टि से ईसा के जन्म-दिवस का भी कोई प्रमाण नहीं है[1]। ईसा ने अपने जीवनकाल में, सेण्ट

१. G. Simpson Marr—"Sex in Religion"—George Allens & Unwin Ltd., London, 1936—page 107.

मैथ्यू के अनुसार[१], कहा था कि जो भी उनके परम पिता के तत्वों का प्रचार करेगा, वही उनकी माता, बहन या भाई होगा। ईसा के जन्म-दिवस को २५ दिसम्बर को निश्चित करना तथा बड़े दिन में खूब उल्लास मनाना ईसाइयों ने रोमन "सैटरनालिया" त्योहार से सीखा।[२] २५ दिसम्बर तथा उसके साथ के उत्सव का सबसे पहले पहला वर्णन चौथी शताब्दी में मिलता है। कुमारी मरियम की पूजा तो इसलिए शुरू हुई कि चूंकि सभी धर्मों में देवी-उपासना थी, इसलिए ईसाई धर्म में भी होनी चाहिए थी। और यह पूजा पहले शुरू हुई सिकन्दरिया में—मिस्र में—जहाँ मिस्र की देवी आइसिस की पूजा का बड़ा भारी केन्द्र था। कुमारी मरियम की पूजा की घोषणा ईसवी सन् ४३१ में सिरिल ने सिकन्दरिया में की थी।[३] ईसा ने स्वयं कहा है कि "ऐन्द्रिक दुर्बलता मनुष्य में ईश्वर-प्रदत्त है।"[४]

पुरुष-स्त्री की इस प्रकार की कल्पना में, मातृत्व के साथ ही विलास की भावना के साथ-साथ विकास में, दैवदत्त ऐन्द्रिक दुर्बलता के कारण मनुष्य एक पर एक नये सिद्धान्त बनाता चले तो क्या किया जाय। कटनर लेखक का कहना है कि मिस्री लोग १० की संख्या 10 को पूर्ण संख्या मानते थे; पुरुष का द्योतक था ,० स्त्री का। इब्रानी (हिब्रू) भाषा में उनकी वर्णमाला में सबसे छोटा अक्षर योद (।०) है।[५] यह अक्षर सब अक्षरों का पिता है। यह भी पुरुष-स्त्री का प्रतीक है। मिस्री -ईरानी प्रतीक ф पुरुष-स्त्री के योनि-प्रसंग का सबसे पूर्ण प्रतीक था। पुरुष अपनी पत्नी की उंगली में अंगूठी इसी लिए पहनाता है कि वह अपने दोनों के पूर्ण संसर्ग ф का प्रतीक बनाता है। मिस्री लोग इसी भावना से चन्द्रमा को स्त्री का प्रतीक मानते थे और सूर्य को पुरुष का। वे सूर्य को **ओन** या **औन** कहते थे जो ॐ से मिलता-जुलता है। अर्द्धचन्द्र ◡ को वे योनि के प्रतीक-रूप में बनाते थे, चन्द्रमा को वे दैवी प्रकृति का, शक्ति का प्रतीक मानकर पृथ्वी में बिल्ली को चन्द्रमा का प्रतीक मानकर पूजते थे।[६] मिस्री लोग चन्द्र को सोम कहते थे।

श्रीमती मरे ऐंसले ने सिद्ध किया है कि संसार के हर कोने में सूर्य-उपासना प्रचलित थी।[७] यूनान के "औसस" देवता भारत के "वरुण" देवता हैं। ईरानी लोग इनको स्वर्ग, आकाश तथा मेघ के जल-देवता मानते थे। जब भारतीय आर्य दक्षिण भारत पहुँचे

१. वही, पृष्ठ १०७।
२. वही, पृष्ठ १०७ Romon Saturnalia—Saturn = शनि तथा शैतान दोनों अर्थों में। रोम में उन दिनों इंसान शैतान बन जाता था।
३. वही, पृष्ठ १०८। ४. वही, पृष्ठ २४१। ५. YOD (IOD).
६. H. Cutner—A Short History of Sex Worship.
७. Mrs. Murray Aynsley, Symbolism of the East & West—page 29.

तो वहाँ जाकर वरुण पृथ्वी-स्थित समुद्र तथा जल के देवता बन गये । उस समय दक्षिण भारत में सूर्य को वरुण देवता का नेत्र मान लिया गया । मित्र प्रकाश के देवता थे । लोगों का विश्वास था कि वे एक ही रथ पर बैठते थे । एक ही स्वर्ण रथ पर यात्रा करते थे ।[१] विवाह के समय अग्नि-पूजा तथा अग्नि के सामने वर-वधू का शपथ लेना यानी अग्नि को साक्षी बनाना—यह भी सूर्य की पूजा है, श्रीमती मरे की दृष्टि में ।[२] पर, हम अग्निदेव की अलग सत्ता सिद्ध कर आये हैं ।

प्राचीन काल से पूर्व की ओर मुख करके पूजा करने की रीति को भी सूर्य-उपासना का परिणाम मानते हैं । सूर्य जिस दिशा में प्रकट हो, उसी दिशा में मुख कर पूजन का विधान हमारे शास्त्रों में भी है । श्रीमती मरे का कथन है कि भारत में बहुत-से मन्दिर इस ढंग से बनाये गये हैं कि सूर्य की प्रथम किरण उनके प्रवेश द्वार पर पड़े । सन् १८०७ में प्रकाशित श्री जेफरी की पुस्तक के[३] अनुसार पुराने समय में ईसाई गिर्जाघर भी इस प्रकार बनाये जाते थे कि सूर्य की किरणें उनके प्रवेश-द्वार पर पड़ें । पूर्व की दिशा के विषय में लोगों में काफ़ी अंधविश्वास है । यूरोप में यदि शराब का प्याला "सूर्य के मार्ग" से न चलकर "दायें से बांये" का दौर चलता है तो लोग उसे बड़ा अशुभ समझते हैं ।[४] यूरोप के दक्षिणी भाग के मुकाबले में उत्तरी भाग में सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि के प्रतीक प्रचुर तथा अधिक मात्रा में मिलते हैं । उत्तर के ठण्डे प्रदेशों में प्रकाश तथा गर्मी का कहीं अधिक महत्त्व है । स्वेडन तथा नार्वे में पत्थर के युग में O चन्द्रमा का प्रतीक[५] था

तथा 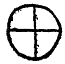 सूर्य का । भीतरी रेखाएँ पूर्व-पश्चिम तथा उत्तर-दक्षिण की दिशाओं

की बोधक हैं । डेन्मार्क में सूर्य का एक प्रतीक मिलता है 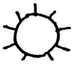 ।

कोपेनहेगन के अजायबघर में एक बर्त्तन मिला है जिस पर सूर्य के रथ का पहिया बना हुआ है । सूर्य के रथ के पहिये का प्रतीक हालैण्ड तथा डेन्मार्क में प्राप्त

गहनों पर भी मिलता है । यह इस प्रकार है । हालैण्ड तथा

१. वही, पृष्ठ ३० । २. वही, पृष्ठ ३१ ।
३. E. Jeffrey—"Antiquarian Repertory"—1807.
४. श्रीमती मरे, पृष्ठ ३३ । ५. वही, पृष्ठ ३३ ।

डेन्मार्क में तो यह भी नियम था और अब भी किसानों में पाया जाता है कि मकान तथा अस्तबल में छत पर एक पहिया (चक्र) उलटकर रख देते हैं। बेड्रन में खलिहानों तथा गिर्जाघरों में सबसे ऊपर पहिये का प्रतीक बना हुआ है।[1] बौद्धकाल में भारत में जिस "चक्र" का प्रचलन हुआ, वह धम्म-चक्र (धर्म-चक्र) था। भगवान् बुद्ध ने धर्म का चक्र चलाया---इसलिए पहिया एक धार्मिक प्रतीक बन गया। आस्ट्रिया में एक मिट्टी की वस्तु मिली है जिस पर सूर्य का प्रतीक बना हुआ है। चन्द्र तथा सूर्य के गहने तो बहुत अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। सूर्य का प्रतीक आयरलैण्ड तक में पाया गया है। अलबानिया में स्त्रियां अपने हाथ पर सूर्य तथा चन्द्रमा का गोदना गोदाती थीं। चन्द्रमा का प्रतीक स्कॉटलैण्ड तथा इंग्लैण्ड में भी मिलता है। वेल्स में एक पूजा का पात्र मिला है, जिस पर चन्द्र, सूर्य तथा स्वस्तिक तीनों एक साथ बने हुए हैं ।

इटली में प्राप्त एक प्रतीक में चक्र (पहिया), स्वस्तिक, चन्द्र तथा सूर्य, सब एक साथ बने हुए हैं । स्विट्जरलैण्ड में भी इसी प्रकार के प्रतीक उपलब्ध हैं।[2]

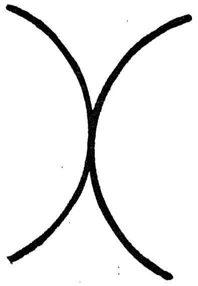

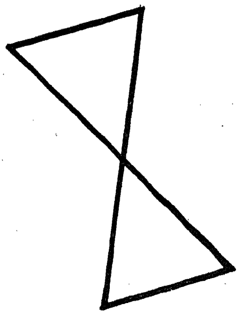

१. वही, पृष्ठ ३४।

२. वही, पृष्ठ ४३।

वहाँ से एक स्थान में कुछ ऐसे पत्थर पाये गये हैं जिनको "बर्ब्बरों का पत्थर"[१] कहते हैं। एक शिला पर, जो प्रागैतिहासिक युग की कही जाती है, चन्द्रमा के २४ प्रतीक बने हुए हैं। यहीं पास में एक ऐसी शिला है,[२] जहाँ पर कहा जाता है कि नरबलि होती थी।

श्रीमती मरे ने काफी अध्ययन तथा खोज के बाद जिन प्रतीकों को खोज निकाला है, उनके विषय में उनकी वैसी थोथी तथा छिछली राय नहीं है जैसी कि बहुत-से पश्चिमी विद्वानों की। चन्द्रमा को सृष्टि में 'उत्पादन' तथा 'उर्वरता' का प्रतीक तो उन्होंने माना है, पर कटनर ऐसे लेखकों की तरह उसे स्त्री-भग का प्रतीक नहीं माना है। तंत्रशास्त्र में, भ्रुवमध्य में स्थित चन्द्रमा द्वारा शरीर के भीतर अमृतवर्षा का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण विवेचन है। इस लोक तथा परलोक के लिए परम कल्याणकारी भ्रुव–मध्य–स्थित चन्द्र-क्रिया के महत्त्व को प्रतीक रूप में समझाने के लिए ही चन्द्रमा का प्रतीक बना है। अम्बिका को 'अर्ध-चन्द्रिका' भी कहा गया है। स्पष्ट रूप से इन यौगिक तत्त्वों की तांत्रिक क्रियाओं को हम यहाँ पर न देकर केवल इशारा मात्र कर देते हैं। इसलिए हम इतना ही लिख दें कि अर्द्ध-चन्द्र वास्तव में परा शक्ति का प्रतीक है और चूँकि हमारे शास्त्र में परम शिव तथा परा शक्ति के संघट्ट से ही सृष्टि की समूची उत्पत्ति तथा क्रिया मानी गयी है, इसी लिए सूर्य को परम शिव तथा चन्द्र को परा शक्ति का प्रतीक मान लिया गया है। चन्द्रमा चूँकि अमृतवर्षा करता है और भ्रुव–मध्य में स्थित अर्द्ध-चन्द्र यौगिक क्रिया द्वारा समूचे शरीर को अमृत प्रदान करता है, इसी लिए अमृत का उद्‌गम 'माता' होने के कारण पुरुष होते हुए भी उसे परा शक्ति का प्रतीक माना गया है। तंत्रालोक की टीका में लिखा है[३]—

शशाङ्कशकलाकारा अम्बिका चार्ध चन्द्रिका
एकैवेत्थं परा शक्तिस्त्रिधा सा तु प्रजायते ।।

चन्द्रमा को सृष्टि का प्रतीक, अग्नि को संहार का प्रतीक तथा सूर्य को परम शिव का प्रतीक माना गया है—और ये सब परमेश्वर के ही विविध रूप हैं—

चन्द्रं सृष्टि विजानीयादग्निः संहार उच्यते ।
अवतारो रविः प्रोक्तो मध्यस्थः परमेश्वरः ।।[४]

१. In Val/d' Annivers and Val/d' Moiry, Just above Gramenz—"Pierre des Sauvages"—Stone of the Savages.

२. La Pierree Martera.

३. तंत्रालोक, भाग २—तृतीय आह्निक, श्लोक ६७ की टीका, पृष्ठ ७७।

४. वही, पृष्ठ ७९।

शिव के बिना शक्ति नहीं, शक्ति के बिना शिव नहीं—इसी प्रकार सूर्य तथा चन्द्र का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिः शिववर्जिता ।।[१]

सूर्य तथा चन्द्र को इस यौगिक रूप में आज के हजारों वर्ष पहिले आर्य सभ्यता ने अपनाया था। तंत्रशास्त्र आज का नहीं है। वेद–निगम पुराना है, आगम नया है, यह कहना भूल है। वेद की प्राचीन भाषा से ही इसका निर्णय नहीं हो सकता। ग्रीनलेन नामक एक प्रसिद्ध विद्वान् ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि केवल भाषा का विचार कर आगम (तंत्र) को नया मान लेना भूल है। असल बात यह है कि वेद अपने मौलिक रूप में बने रहे और आगमशास्त्र में बराबर संशोधन होता रहा, अतएव उसकी भाषा परिमार्जित और आधुनिक संस्कृत होती गयी।[२] इस दृष्टि से हम सूर्य-चन्द्र के प्रतीक को हजारों वर्ष पुराना तांत्रिक प्रतीक मान लें तो किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

प्रतीकों के सम्बन्ध में बहुत-से पाश्चात्य तथा पूर्वी विद्वानों ने केवल अर्थ का अनर्थ कर दिया है। विषयान्तर न होगा यदि हम यहाँ पर पुनः पैंदोरा का ज़िक्र करें। सृष्टि की इस प्रथम महिला का हम पिछले अध्याय में ज़िक्र कर आये हैं। यूनान देश की आरम्भिक पौराणिक कथा में इनका जन्म हुआ था। पहले यूनानी कल्पना थी कि पैंदोरा "सबके लिए वरदान हैं।" पर एक यूनानी शब्द 'म्यूनस' को 'माइनस' समझ लेने से वही देवी "सबके लिए अभिशाप" बन गयीं। यूनान की एक सुन्दर कल्पना को गलत ढंग से समझने या गलत अनुवाद करके इटालियन लेखक बोक्कासियो ने पैंदोरा की मिट्टी पलीद कर दी।[३] फिर तो पैंदोरा का 'पतन' होता गया। औरिगेन ने अपनी पुस्तक में[४] लिखा है कि यूनानी देवता जुपिटर (बृहस्पति) ने प्रोमेथियस (प्रजापति) देवता से नाराज़ होकर उनके पास स्वर्ग से पैंदोरा नामक स्त्री को भेजा जिसे एक बक्स दे दिया गया जिसमें संसार की सब बुराइयाँ भरी हुई थीं। प्रोमेथियस उस परम सुन्दरी के चक्कर में न पड़े। पैंदोरा प्रोमेथियस के मानस पुत्र एमेथियस के पास गयी। उनसे

१. वही, पृष्ठ ८०।
२. Dnncan Greenlen—"Gospel of Narad"—Pub—Theosophical Publishing Housc, Madras—page—XVIII.
३. Pandora in Greek meant "Omnimum Munus"—"Gift to all"—Boccacio in his "Genologia Deorum"—Venice Edition 1606, page 73—made it "Omnimum Minus"—"All full of bitterness"
४. Origen's Contıa Calsum—available in 1481.

विवाह हो गया और वहीं उसने अपना बक्स खोला जिसमें से सब बुराइयाँ निकलकर संसार में फैल गयीं। उस दिन से संसार में पाप छा गया। पैंदोरा के हाथ में केवल 'आशा' नामक वस्तु रही, यानी, संसार में सब कुछ अनर्थ तथा पाप के बावजूद भी 'आशा' उसे सम्हाले हुए है।[१] मनुष्य धोखा खाकर ही सम्हलता है।[२] पैंदोरा के हाथ की 'आशा' ही आज मानव जाति को जीवित रखे हुए है। इस एक कल्पना के आधार पर यूरोप में हजारों चित्र बने, प्रतीक बने। पैंदोरा के हाथ में कौवा पक्षी बिठा दिया गया। कौवा 'कांव काँव' करता है। वह असल में कहता है 'कल-कल'।[३] यानी आज न सही, कल की आशा रखो। सोलहवीं सदी का एक चित्र है कि पैंदोरा के एक हाथ में कौवा है, दूसरे में आशा।[४]

औरिगेन तथा अनेक पश्चिमी विद्वानों का कथन है कि आदम और हौवा की जो प्राचीन कथा है, वह वास्तव में पैंदोरा तथा प्रोमेथियस की कथा का रूपान्तर है। प्राय: हर एक धर्म में आदि काल के प्रथम पुरुष तथा प्रथम स्त्री की कथा है। उस समय पाप नामक वस्तु से इंसान अपरिचित था। पाप का फल सेब के सुनहले फलों के रूप में लगा हुआ था। ईश्वर ने आदम तथा हौवा (स्त्री) को मना कर दिया था कि उसका फल न खाना। पर स्त्री विचलित हो गयी। उसने वह फल खा लिया। माया की मूर्त्ति स्त्री—दुर्बलता की जड़ स्त्री—का ऐसा चित्रण अनेक प्राचीन मतों में मिलता है। केवल भारतीय साहित्य तथा पुराण में इस प्रकार की हलकी बात या हलकी कथा नहीं मिलती। मनु तथा इला की हमारी कथा बड़ी सुन्दर तथा पवित्र है। देवताओं की माता दिति, दैत्यों की माता अदिति तथा उनके पति यक्ष प्रजापति की कन्या में भी छिछलापन नहीं है। पर, छिछली भावनावालों ने मानव जाति के उदय को ही छिछला तथा गन्दा रूप दे दिया है। ओरिगेन ने भी स्वीकार किया है कि आदम और हौवा की कहानी अतिशयोक्ति है। उस कन्या का गूढ़ अर्थ भी है।[५] हजरत मूसा ने कहा था कि हौवा (इला) पहले कमर के नीचे नंगी तथा पत्तियों से स्तन ढँके रहती थी। यह बात ग़लत है। पहली स्त्री कमर के नीचे पत्तियों से ढंके रहती थी। ऊपर खुला रखती थी। बड़ा अन्तर हो गया दोनों बातों से। नाजियाजस के ग्रेगरी ने लिखा है कि "पैंदोरा घमण्ड, छल--छद्म, अश्लीलता आदि की मिसाल है जो पुरुष जाति को सावधान कर रही है कि क्या तुमने नहीं सुना है कि मृत्यु-

१. Panofsky's "Pandora's Box"—page 15.
२. Malo Accepto stultus sapit—The Fool gets wise after having been hurt."
३. Cras—Cras—Tomorrow—Tomorrow (कल-कल)
४. वही पुस्तक, पृष्ठ २९।
५. वही, पृष्ठ १३।

दायक वृक्ष के प्रथम सुवर्ण-फलों ने तुम्हारे प्रथम पूर्वज को धोखे में डाल दिया ? तुम्हारा प्रथम पूर्वज सुगन्धमय स्वर्ग से शत्रु के विश्वासघात तथा अपनी पत्नी के परामर्श के कारण निकाल दिया गया ।"[१] स्त्री पुरुष को किस प्रकार सन्मार्ग से विचलित कर विलासिता की ओर ले जाती है, इसका चित्रण एरासमस नामक एक चित्रकार ने (सोलहवीं सदी के आरम्भ में) किया था । यह चित्र 'विलासिता का प्रतीक' कहा जाता है । पुरुष एक नग्न स्त्री के वक्ष पर तथा नितम्ब पर हाथ रखे हुए है ।[२]

उस युग में १३वीं से १६वीं सदी में ऐसे अनेक प्रसिद्ध चित्रकार तथा कलाकार हो गये हैं जिन्होंने चित्र में या काँसे की प्रतिमा बनाकर प्राकृतिक तत्त्वों का प्रतीक निर्मित किया था । 'स्वास्थ्य', 'स्नेह' आदि के प्रतीक मूर्त्ति-रूप में बनाये गये थे ।[३] रेनी बायन का एक प्रसिद्ध चित्र 'अज्ञान' के विषय में है । बहुत-से लोग मार्ग में चल रहे हैं । उनके नेत्रों में पट्टी बँधी हुई है । आँख में पट्टी बँधना 'अज्ञान' का प्रतीक है । अंधे नहीं हैं, लेकिन आँख में पट्टी बँधी हुई है । मूर्खता तथा अज्ञान का इससे बड़ा और क्या प्रतीक होगा ?[४]

मैरिनो नामक चित्रकार ने चन्द्रमा को सांसारिक नरक का प्रवेश-द्वार माना है ।[५] उनके अनुसार शुक्र तथा बुध (वेनस और मर्करी) देवता चन्द्रमा के क्षेत्र में आते हैं । वहाँ पर वे 'प्रकृति की कन्दरा' के द्वार पर पहुँचे । इस कन्दरा के द्वार के दोनों तरफ दो स्त्रियाँ बैठी हैं । एक का नाम है 'आनन्द ।'[६] दूसरी का 'दुःख ।'[७] कन्दरा के भीतर बहुत गँदले पानी की "दुःख की सरिता"[८] बह रही है ।

चन्द्रमा की पश्चिमी तथा पूर्वी कल्पना में कितना अन्तर है, यह ऊपर लिखित उदाहरण से स्पष्ट है । पैंदोरा के उदाहरण से हमने केवल यही सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कोरी कल्पना से प्रतीक बनाने पर एक वस्तु का कितना अनर्थकारी अर्थ हो सकता है ।

चन्द्रमा से भी अधिक भ्रमकारक प्रतीक सर्प का है ।

१. वही, पृष्ठ १२ । २. वही, पृष्ठ ३९ । ३. वही, पृष्ठ २३ ।

४. "Ignorance Classic"—By Reni Boyvan—Symbol of Ignorance. —वही पुस्तक, पृष्ठ १३८ ।

५. वही पुस्तक, पृष्ठ १३९—Giovanni Battista Marino in Adone, Published in 1923.

६. Felicita. ७. Miseria. ८. River of Misery.

सर्प-प्रतीक और उपासना

समूचे भूमण्डल को भगवान् शेषनाग अपने सिर पर उठाये हुए हैं । क्या सचमुच में ऐसा है या इसका अर्थ यह है कि मानवशरीर के भीतर स्थित इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना नाड़ियों की कुण्डलिनी के प्रतीक सर्प में यह समूचा मानव-लोक व्याप्त है—उसी को श्लेषरूप में कहा गया है । श्रीकृष्ण ने यमुना में कूदकर कालिय सर्प को वश में करके उस पर नृत्य किया था । क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारे योगिराज कृष्ण ने कुण्डलिनी को वश में करके परम योगी की सिद्धि प्राप्त की थी ? नागपञ्चमी का पूजन काल-स्वरूप सर्प का भी पूजन है और मनुष्य को उसके शरीर की रचना तथा उस रचना की माँग की याद भी दिलाती है । ऐसे अनेक प्रश्न बार-बार हमारे सामने आयेंगे ।

सर्प-पूजा हजारों वर्षों से चली आ रही है । देशी भाषा में हम अत्यन्त विषधर काले सर्प को गेहुँअन कहते हैं । अंग्रेजी में उसे कोब्रा कहते हैं । जर्मन भाषा में "नातर" कहते हैं और संस्कृत में नाग कहते हैं । इंग्लैण्ड में नाटर्स नामक एक स्थान है । कहते हैं कि बहुत समय पहले यहाँ एक कन्दरा में भयंकर नाग रहता था । वह मनुष्य तथा पशुओं का आहार करता था । एक बार एक लोहार को फाँसी की सज़ा हुई । उसने कहा कि उसे इस शर्त पर क्षमा कर दिया जाय कि वह नाग को मार डालेगा । उसने स्वयं एक तलवार बनायी और नाग से युद्ध करने लगा । युद्ध में नाग मारा गया । तभी से उस स्थान का नाम नाटर्स—नातर्स पड़ गया ।[१] दक्षिण भारत में कुर्ग प्रदेश में कानिया नामक जाति के लोगों को स्वतः मालूम हो जाता है कि नाग कहाँ पर रहता है । मध्य एशिया, दक्षिण भारत, कश्मीर आदि में सर्प-मन्दिर भरे पड़े हैं । महाभारत में वर्णित महा-नागराज मन्दिर, जिसमें नाग की मूर्त्ति के स्थान पर स्वयं नागदेव प्रतिष्ठित थे—आज भी राजगिरि (बिहार) के जंगल में वर्तमान है । केवल वह नाग नहीं है । उस स्थान के चारों ओर बहुत सर्प निकलते हैं । लद्दाख की स्त्रियाँ अपने सिर पर चमड़े का नाग बाँधती हैं जिसका मुख पीछे चोटी की तरह लटकता रहता है । सम्राट् अकबर ने सन् १५५८ में कश्मीर की घाटी पर कब्जा कर लिया था । उनके इतिहासकार अबुल फ़ज़ल

१. Murray's "Symbolism of the East & West"—pages 127-28.

ने लिखा है कि उस समय कश्मीर में सात सौ नाग-मन्दिर थे जिनमें से १३४ नाग-मंदिर शैवों के, ६४ वैष्णवों के तथा २२ दुर्गा के और तीन ब्रह्मा के उपासकों के थे ।[1] कुर्ग के लोगों का ऐसा विश्वास है कि एक नाग १००० वर्ष तक जीवित रहता है । ५०० वर्ष की उम्र हो जाने के बाद उसका ह्रास शुरू होता है । मरने के समय उसका सुनहला रंग रह जाता है और सिकुड़ते-सिकुड़ते वह एक गज़ का ही रह जाता है ।

सर्प-पूजा पत्थर के युग में भी होती थी । प्रागैतिहासिक युग में भी होती थी और आज भी होती है । हो सकता है—और शायद हो भी ऐसा ही कि मनुष्य को जिन प्राकृतिक पदार्थों से बहुत भय रहा हो, उनमें मृत्यु का बहुत बड़ा कारण साँप का काटना भी रहा होगा । इसलिए नागदेवता को प्रसन्न रखने के लिए नागपूजा होती थी । पर आर्य सभ्यता में सर्प की उपासना मृत्यु की उपासना के रूप में थी । यानी सर्प मृत्यु का प्रतीक माना गया । मृत्यु के देवता, संहार के देवता भगवान् शंकर के शरीर से सर्प लिपटे हुए हैं । मृत्यु उनकी चेरी है । पर सर्प का उपयोग शंकर आदि देवों के लिए शरीर के भीतर बैठी सर्पाकार कुण्डलिनी को जाग्रत करने की शिक्षा मात्र थी । शंकर महायोगिराज कहे जाते हैं । अतएव सर्प उनके लिए आभूषण बन गया है । विष्णु लोक-पालक हैं । वे कुण्डलिनी को वश में करके नागराज पर शयन कर रहे हैं । बौद्धों ने सर्प को धर्म का इसलिए प्रतीक बनाया कि वह प्रकृति की दैवी शक्ति का प्रतीक था । जिन बौद्ध-कालीन या सनातनी मूर्त्तियों पर पाँच मुखवाला एक सर्प, पाँच सर्प या सात सर्प बने हैं, उनका अपना भिन्न अर्थ है । जैसे—

१. पञ्चमुखी सर्प—"क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा", यानी पाँच तत्त्वों का बना एक शरीर ।

२. पाँच सर्प—पञ्च तत्त्व ।

३. सात सर्प—राग, काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर—सात विकार ।

सर्प डंसता है । वासनाएँ डंसती हैं । यूनानी देवता बुध को दो सर्प लपेटे हुए मिलते हैं । ये शरीर के भीतर की इड़ा-पिंगला नाड़ियों के प्रतीक हैं अथवा पुरुष-प्रकृति के । जहाँ तीन साँप एक साथ लिपटे हुए मिलते हैं वे तीन शक्तियों के प्रतीक हैं—ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति तथा क्रियाशक्ति । मनुष्य में पहले ज्ञान हुआ । ज्ञान से इच्छा—संकल्प की उत्पत्ति हुई । इच्छा से क्रियाशक्ति, काम करने की शक्ति जाग्रत हुई । इस त्रैलोक्य में यानी आकाश, पाताल तथा पृथ्वी में इन तीन शक्तियों को उत्पन्न करनेवाली परा शक्ति की "त्रिपुरा" संज्ञा हुई ।

१. वही, पृष्ठ १२६ ।

ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिरिच्छाशक्त्यात्मिका प्रिये ।
त्रैलोक्यं संसृजत्यस्मात्त्रिपुरा परिकीर्त्तिता ।।[1]

किन्तु इन अर्थों में न पड़कर पश्चिम के विद्वानों ने सर्प-उपासना तथा सर्प-प्रतीक का एकदम उलटा ही अर्थ लगा लिया है । इसका जिक्र हम आगे चलकर करेंगे ।

श्रीमती मरे ने विश्व-व्यापी सर्प-पूजा के अनेक उदाहरण दिये हैं । इटली के नगर नेपुल्स में एक 'जन्तर' हाथ में बाँधा जाता है जिस पर नागकन्या बनी हुई है । जापान में भी बहुत-से लोग ऐसा 'जन्तर' इस्तेमाल करते हैं ।[2] अवध में प्राप्त नागदेवी की मूर्त्ति, मैसूर में प्राप्त नाग–मुदम्मा की प्रतिमा इटालियन या जापानी नागकन्या से बहुत मिलती-जुलती है । तार्त्तारों की एक देवी शैव मन्दिरों में प्राप्त नागकन्या के समान आकृतिवाली है । जापान की एक पौराणिक कथा है—बुवा नामक झील के ऊपर "मि-देव" (मयदेव) का आश्रम है । वहीं पर कियालूमे नामक एक ग्रामीण सुन्दरी रहती थी । मि-देव के पुजारी आंत्रिक उससे प्रेम करते थे । कुछ समय बाद वे दूसरी सुन्दरी के प्रेम में पड़ गये । कियालूमे ने क्रुद्ध होकर आंत्रिक से बदला लेने के लिए बुरी आत्माओं से सहायता मांगी । उन्होंने उसे वर दिया कि जब चाहे, नाग का रूप धारण कर सकती है । नागिन का रूप धारण कर कियालूमे मंदिर पहुँची । भय की आशंका से आंत्रिक ने अपने को मंदिर के विशाल घण्टे के नीचे छिपा लिया था । कियालूमे ने उस घंटे को लपेट लिया और तब तक उसे जकड़े रही जब तक कि वह घंटा उसके आघातों के कारण उत्पन्न गर्मी से पिघल न गया । उस गर्म धातु के प्रवाह में कियालूमे तथा आंत्रिक दोनों ही मर गये ।[3] नाग का प्रतिशोध भयंकर होता है । राजा परीक्षित को तक्षक नाग ने मार डाला था जिस कारण जनमेजय को नाग-यज्ञ करना पड़ा था ।

इटली के अब्रज्जी नामक पहाड़ी ग्राम में साल में एक दिन सभी किसान ज़हरीले सर्पों का विष मारकर यानी दाँत तोड़कर विष-रहित सर्पों को अपने गले, कमर, हाथ में लपेटकर जुलूस निकालते हैं । उनका ऐसा विश्वास है कि ऐसा करने से वे सर्प-विष से मुक्त हो जायेंगे । उनकी अकाल मृत्यु न होगी तथा वे भाग्यशाली बनेंगे । प्राचीन रोमन साम्राज्य के बहुत-से सिक्कों पर तथा मन्दिरों में साँप की मूर्त्ति अंकित

१. तंत्रालोक—द्वितीय भाग, पृष्ठ ७८ ।
२. La Sirena of Naples; Kiya Lume of Japan—Murray's—pages 130-131.
३. वही, पृष्ठ १३२—Quoted from a Paper on "Netuska—By Mr. Mortimer Mempes—in the Magazine of Art—1889.

मिलेंगी। फ्रान्स में पुरानी कथा है कि वहाँ पर एक महान् नागदेव निवास करते थे जिनके सात सिर थे।[१] उनका सिर बिगोरी नगर में, गर्दन बरेगीज़ नगर में, शरीर लूज की घाटी में तथा दुम गैवर्निक की कन्दरा में पड़ी रहती थी। स्विट्ज़रलैण्ड में भी नाग सम्बन्धी बहुत-सी कथाएँ प्रचलित हैं तथा प्रतीक प्राप्य हैं। वहाँ के ज़रमात तथा ज़ाज़ नामक स्थानों में सर्प बाधा बहुत थी। एक पादरी ने मंत्र पढ़कर सर्पों को दूर भगाया था।[२]

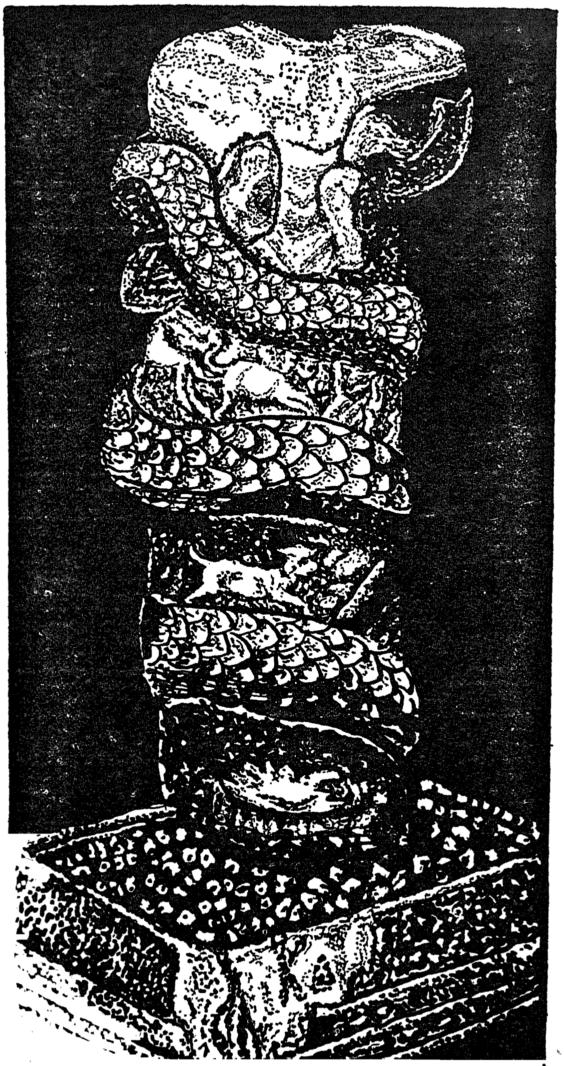

इंग्लैण्ड में भी कहीं-कहीं पर सर्प-प्रतीक मिले हैं। आर्ले में एक मूर्त्ति मिली है जिसे मित्र देवता "मिथिका"—यानी सूर्य की मूर्त्ति समझा जाता है। इसके चारों ओर एक सर्प लिपटा हुआ है।

१. Serpent D' Isabit. २. वही, पृष्ठ १३६।

यह सर्प सूर्य के "राशि-मण्डल" का प्रतीक है। स्वेडन तथा नार्वे में भी सर्प-प्रतीक मिलते हैं। पर यूरोप में सर्प-प्रतीक बहुत कम मिलने का कारण, श्रीमती मरे के अनुसार, यह है कि सर्प की उपासना सर्प तथा मृत्यु से भय के कारण प्रारम्भ हुई थी। यूरोप के देशों में साँप का, विशेषकर विषधर सर्प का भय काफ़ी कम था। अतएव सर्प-उपासना भी उधर नहीं बढ़ पायी।[१]

किन्तु डेन्मार्क के विद्वान् डा० वार्जाई स्यात् सर्प-प्रतीक के अधिक निकट पहुँचे हैं। डेन्मार्क की कला पर लिखते हुए वे कहते हैं—

"यह भली प्रकार विदित है कि एशिया तथा मिस्री प्रतीकों में सर्प का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इसका आंशिक कारण यह हो सकता है कि उन लोगों की यह धारणा रही होगी कि आकाश में सूर्य का मार्ग सर्प के समान वक्र है, टेढ़ा है, और दूसरा कारण यह हो सकता है कि पृथ्वी को जल प्रदान कर अन्न प्रदान करनेवाली अग्नि का प्रकाश—यानी बिजली के कौंधने के समय उसका प्रकाश सर्प के समान वक्र, टेढ़ी गति से होता है। अतएव सर्प को दैवी शक्तियों का प्रतीक मान लिया गया।"[२]

बर्लिन के डॉ० श्वार्टज तथा अंग्रेज विद्वान् डा० ब्रिटेन का कथन है कि बिजली के कौंधने के समय उसके वक्र प्रकाश से ही सर्प को प्रतीक बनाकर पृथ्वी के लिए अति आवश्यक पोषक वर्षा का प्रतीक सर्प है।

एल्यूसिस (यूनान) में कुछ ऐसे सिक्के मिले हैं जिनमें देमेतर (आदित्य—सूर्य) के रथ में दो सर्प जुते हुए हैं।[३] सूर्य के साथ सर्प का इस प्रकार संयोग न केवल विचारणीय है बल्कि सर्प सन्बन्म्धी हमारे सिद्धात की पुष्टि करता है। यह आगे चलकर स्पष्ट हो जायगा। पश्चिमी विद्वानों ने सर्प को समझने में गहरी भूल की है। आदम और हौवा की कथा में स्त्री को मोह में डालने का श्रेय दुष्टता के प्रतीक सर्प को दिया गया है। कटनर साहब ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि "सर्प ने मनुष्य को पाप में न डाला होता तो ईसा को जन्म लेने की आवश्यकता भी न पड़ती।"[४] वे फिर लिखते हैं—"सर्प काम-वासना का प्रतीक है। उसने हौवा को धोखा दिया।" वे पुनः लिखते हैं—"बैबीलोनिया की कामदेवी अस्तार्ती की (सर्प इनकी सवारी में भी रहता था) उपासना अन्त तक चलती रही। यहाँ तक कि वे ईसाइयों के सनातनी, यानी रोमन कैथोलिक, सम्प्रदाय में भी शामिल

१. वही, पृष्ठ १३३।
२. वही, पृष्ठ १३७—Quoting Kamer Hert—Dr Worsaacs—"Danish Art."
३. वही, पृष्ठ ३०।
४. Cutner—Sex Worship—page 175.

कर ली गयीं ।" कटनर के अनुसार पृथ्वी का पुराना प्रतीक जिसमें दानव ऐटलस समूचे भमण्डल को सिर पर उठाये हुए है, वह इस बात का साक्षी है कि समूचा जगत् काम-वासना पर निर्भर करता है । ऐटलस स्वयं हाथी पर बैठा हुआ है । हाथी कच्छप पर खड़ा है । कच्छप के ऊपर की हड्डी का कवच स्त्री की योनि का प्रतीक है । कच्छप का सिर पुरुष-लिंग का प्रतीक है । अतएव इन बातों से सिद्ध हुआ कि यह जगत् शुद्ध वासनामय है । कटनर ने यहाँ तक लिख दिया है कि आदम-हौवा की कहानी में सर्प का समावेश पुरुष-लिंग का प्रतीक है ।[१] फ्रायड ऐसे विद्वान् मनोवैज्ञानिक का भी सर्प के सम्बन्ध में यही मत है । उन्होंने उसे काम-वासना का प्रतीक माना है ।

किन्तु सर्प-प्रतीक की ऐसी अनुचित व्याख्या को हम निरर्थक नहीं कहेंगे । जब सूर्य को भी "प्रजनन का देवता" मान लिया गया तथा उन्हें उत्पादक पुरुष का प्रतीक कह दिया गया तो वासना के प्रतीक सर्प को उनके रथ में जोड़ देने से उस भावना की पुष्टि हो गयी । पर, यह नहीं भूलना चाहिए कि हर एक प्रतीक के एक से अधिक अर्थ होते हैं ।[२] हर एक प्रतीक का अपना स्वतः संचरणशील तथा शक्तिशाली अर्थ होता है और वह अपने निजी वातावरण तथा परिस्थिति से उत्पन्न होता है ।[३] धर्म, धार्मिक कृत्य, मूर्त्ति, प्रतिमा, ये सभी ईश्वर के प्रतीक हैं । धार्मिक क्रियाओं का भी प्रतीक-रूप में महत्त्व है । कला भी प्रतीकात्मक होती है । यदि कोई बंजर भूमि या उजाड़, सुनसान प्राकृतिक दृश्य बनाये तो वह सुनसान नीरस जीवन का प्रतीक मात्र है ।[४] मन की यह प्रकृति होती है कि प्रतीक-रूप में अपने को, अपने भाव को व्यक्त करे । मन के इस कार्य को ही प्रतीकवाद कहते हैं । बहुत संक्षेप में, स्पष्ट रूप से, बुद्धि को ग्रहण करने योग्य तथा देखने में भी भला मालूम पड़नेवाले ढंग से जो प्रकट किया जाय, वही प्रतीक है ।[५] जो हमारे मन की अचेतन या अज्ञात क्रिया का बोध कराये, वही प्रतीक है ।[६] किन्तु मानव-स्वभाव एक-दूसरे से इतना भिन्न है, उसमें इतना अंतर है कि प्रतीकों में भी इतनी विभिन्नता है तथा एक ही प्रतीक को भिन्न रूप से ग्रहण किया जाता है ।[७]

मानव-स्वभाव से तथा भिन्न दृष्टिकोण से यह प्रकट है कि एक ही प्रतीक को देश-काल-विचार के अनुसार भिन्न रूप से लोग ग्रहण करते हैं या भिन्न रूप से अपनाते हैं । पश्चिम में सर्प को जिस रूप में ग्रहण किया गया, हमने अपने देश में उसके बिलकुल विपरीत

१. "Serpent in Adam & Evc Story is the symbol of male erection."
२. Dr. Km. Padma Agarwal—Science of Symbols—page 57.
३. वही, पृष्ठ १७ । ४. वही, पृष्ठ १० ।
५. वही, पृष्ठ ११ । ६. वही, पृष्ठ १४ । ७. वही, पृष्ठ ५३ ।

रूप में ग्रहण किया। हो सकता है कि यूनान या रोम में सर्प को विलास का प्रतीक माना गया हो। पर सर्प को प्रतीक बनाने की बात हमारी आर्य तथा आर्ष सभ्यता की देन है। केवल विदेशी उसका मौलिक आधार भूल गये। फर्गुसन[१] ऐसे विद्वान् भी हमारे देश के सर्प तथा वृक्ष-प्रतीक के बारे में ऐसी ही भूल कर गये। बिना भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता से घनिष्ठ परिचय प्राप्त किये हमारे प्रतीकों को समझना बड़ा कठिन कार्य है। इस विषय में ऐसी ही भूलों के शिकार श्री मैकमन भी थे जिन्होंने भारत के गुप्त सम्प्रदायों पर परिश्रमपूर्वक एक ग्रन्थ लिखा है।[२]

भारत के प्रतीकों तथा उनके प्रवाह को जानने-समझने के लिए भारतीय इतिहास से परिचय होना चाहिए। तभी भिन्न युगों में प्राप्त हमारी प्राचीन सामग्रियों से असली जानकारी हो सकेगी। तत्कालीन साहित्य से परिचय होना चाहिए। ईसाइयों के धर्म-ग्रन्थ बाइबिल के बारे में भी हैने ने लिखा है कि "अंग्रेजी में जो बाइबिल पढ़ने को मिलती है वह इब्रानी (हिब्रू) भाषा में प्रकाशित मूल बाइबिल का उल्था नहीं है। बिना इब्रानी तथा संस्कृत भाषा से परिचय हुए कोई भी व्यक्ति असली बाइबिल का अर्थ नहीं लगा सकता। यदि असली बाइबिल का अनुवाद करके प्रकाशित किया जाय तो किसी के पढ़ने लायक न रह जाय क्योंकि उसमें लिंग-उपासना भरी हुई है।"[३] इस प्रकार वे दो बातें स्वीकार करते हैं—मूल बाइबिल पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव तथा हिन्दू धर्म में प्रचलित लिंगोपासना का प्रभाव।

अस्तु, जिन दिनों हमारी सभ्यता तथा संस्कृति ने विश्व में घूम-घूम कर अपना विस्तार किया था उन दिनों का युग हमारे देश का "संयम तथा तपस' का युग कहा जाता है। वह विलास तथा कामवासना का युग नहीं था। एक ओर विद्या का प्रसार हो रहा था, दूसरी ओर तलवार साम्राज्य का विस्तार कर रही थी। वह युग था गुप्त साम्राज्य का—ईसवी सदी का आरम्भिक काल। उस युग में वाराहमिहिर ऐसे ज्योतिषी, कालिदास ऐसे साहित्यकार, वसुवंधु ऐसे वैज्ञानिक की खोजें जिसने न्यूटन से सैकड़ों वर्ष पहले "पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति"[४] का पता लगा लिया था, तथा मत्स्य और वायु-पुराण

१. J. Ferguson—"Tree and Serpent Worship in India."

२. Sir G. Macmunn—"Secret Cults of India.

३. J. B. Hannay—"Christianitv—Thc Source of its teachings and Symbolism" quoted by Marr in "Sex in Religlon"—page—40.

४. Law of Gravitation.

के रचयिता व्यास परिवार के कई प्रतिभाशाली व्यास पैदा हुए थे। जिस युग में प्रयाग का लौह स्तम्भ तथा अजन्ता की गुफाएँ बनी हों, वह कामवासना का युग नहीं हो सकता। विदेशी आक्रमणकारी हूण नरेश, मिहिरकुल तथा अनेक कुशान नरेश भी यहाँ की सभ्यता में रम गये थे। वे सभी शैव सम्प्रदाय के थे। तीसरी शताब्दि में सम्राट् चन्द्रगुप्त ने विदेशी शासन को एकदम समाप्त कर देश को एकछत्र राज्य में संघटित कर दिया था। ईसवी सन् ३७६ से ४१४ तक चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का शासनकाल था। भारत के इतिहास में वह स्वर्ण युग था। पश्चिमी इतिहासकार भारत के वास्तविक इतिहास का प्रारम्भ ईसा से ७०० वर्ष पूर्व का मानते हैं। यही सही, पर वह कितना महान् समय था। मगध साम्राज्य में ईसा से ३००-४०० वर्ष पूर्व, सम्राट् अशोक ने संसार को बौद्ध धर्म की सभ्यता तथा संस्कृति प्रदान की थी। गुप्त साम्राज्य के बाद कन्नौज के साम्राज्य ने भी हमारी सभ्यता को और भी आगे बढ़ाया था। यशोवर्मन की मृत्यु ईसवी सन् ७४० में हुई थी। ईसवी सन् ७५० तक पल्लव नरेशों ने सुदूर दक्षिण भारत तक को एक सूत्र में बाँध दिया था। ऐसे युग में, ऐसे समय में हमारे देश ने जिन प्रतीकों को एशिया तथा यूरोप को प्रदान किया वे कामवासना के प्रतीक नहीं हो सकते। वासना की कितनी निन्दा थी उस समय तथा चरित्र की मर्यादा कितनी ऊँची थी इसका उदाहरण तो कालिदास कृत अभिज्ञान शाकुन्तल का यह श्लोक है—

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बंधुना।
स स पापादृते तासांदुष्यन्त इति घुष्यताम्॥

महाराज दुष्यन्त ने घोषणा करा दी कि प्रजा अपने जिन-जिन स्नेही बन्धुओं (भ्राता, पुत्रादि) से बिछुड़े उनके स्थान में केवल पापियों (या पापयुक्त सम्बन्ध, जैसे विधवाओं का पति होना) को छोड़कर दुष्यन्त को ही समझ ले।

स्त्रियों के लिए "आदर्श" बतलाते हुए कण्व ऋषि ने शकुन्तला को बिदा करते समय कहा था कि "बड़ों" की सेवा करना, अपनी सौतों का भी प्रिय साथी बनकर रहना, पति से अपमानित होने पर भी पति के प्रतिकूल नहीं होना, दास, दासियों के प्रति उदार रहना, अपने सौभाग्य पर गर्व नहीं करना, ऐसी स्त्रियाँ ही गृहिणी पद की अधिकारिणी होतीं हैं। अन्यथा (इन गुणों के न होने पर) वे कुल कलंकिनी होती हैं।"

ऐसे युग का हमारा कोई भी प्रतीक वासना का प्रतीक नहीं हो सकता। आठवीं शताब्दी के सुनहले युग के बाद के भी रचे हमारे ग्रन्थों में प्रतीक के दर्शन तथा शास्त्र की वही मर्यादा है जो हजारों वर्ष पहले आर्य सभ्यता ने भारत में स्थापित की थी। सर्प के

सम्बन्ध में तत्कालीन ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलेगा कि भारत में सर्प पूजा या शंकर की प्रतिमा या शिवलिंग पर सर्प का प्रतीक कितना महान् महत्व रखता है, और उसका कितना गलत अर्थ लगाया गया है। सम्भवत: ईसवी सन् १५२६ में कामरूप, आसाम में, जो उस समय तांत्रिक उपासना का केन्द्र था, "षट्चक्र निरूपण" नामक ग्रन्थ स्वामी पूर्णानन्द ने रचा था। यह ग्रन्थ "श्री तत्व चिन्तामणि" नामक ग्रन्थ का छठा पटल है। इस ग्रन्थ में कुण्डलिनी तथा सर्प का बड़ा स्पष्ट सम्बन्ध दिखलाया गया है। शारदा तिलक में,[१] कुण्डलिनी की प्रशंसा में बहुत कुछ लिखा है। उसमें लिखा है कि शरीर में छ: चक्र हैं। उनको भेदना ही कुण्डलिनी को शिव से मिला देना है। शिव की प्रतिमा या शिव लिंग के साथ सर्पाकार कुण्डलिनी का सम्बन्ध व्यक्त करने के लिए ही सर्प-शिव पूजा का संयोग बनाया गया। शारदा तिलक ने लिखा है कि छ: चक्र भेदन के साथ ही सहस्रार में प्राण का संघट्ट होता है। मोक्ष का, अर्थात् जीवन-मरण के बन्धन से छूटकारे का यही मार्ग है।

चरक के अनुसार मानव शरीर में ३०० हड्डियाँ हैं। सुश्रुत के अनुसार ३०६ हड्डियाँ है। गोरक्ष पद्धति के अनुसार हमारे शरीर के भीतर ७५,००० नाड़ियाँ हैं जिनमें मुख्य ७२ हैं। इनमें से १० नाड़ियाँ प्राणवायु वहन करने वाली हैं।[२] तीन नाड़ियाँ मुख्य हैं— इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्मा, सुषुम्मा नाड़ी मेरु दण्ड[३] के मध्य को पिरोये हुए है। मूलाधार के त्रिकोण के मध्य—पश्चिम से प्राण होकर महारन्ध्र-(मस्तिष्क के भीतर) पर्यन्त, मृणाल तन्तु के समान सूक्ष्म और ज्वालासी उज्ज्वल प्रकाशमान यह नाड़ी है। इसी नाड़ी के अन्दर षट्चक्र है। इसी षट्चक्र के भेदन से मनुष्य ब्रह्म में लीन हो जाता है। इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना तीनों नाड़ियाँ मूलाधार में अण्डस त्रिकोण है, उसी में से प्रारम्भ होती है। प्राणवायु का मार्ग भी इन्हीं तीनों में से है।

मेरुदण्ड के निचले भाग में यानी अन्तिम भाग में, गुदा तथा लिंग के जरा नीचे मध्य-स्थल पर, सुषुम्ना नाड़ी तथा मूलाधार चक्र है। इस चक्र का रूप अण्डाकार, **चार दल वाला त्रिकोण** है। इसका "तत्व" पृथ्वी तथा रंग पीला है। इस त्रिकोण के मध्य में, मेरु दण्ड के अन्तिम भाग में, एक लिंग बन्द कलिका के रूप में स्थित है।[४] उसमें बड़ा

१. XXV—70—"The Serpent Power."

२. गोरक्ष पद्धति, श्लो० १५—२८ तक।

३. Spinal Chord.

४. X.

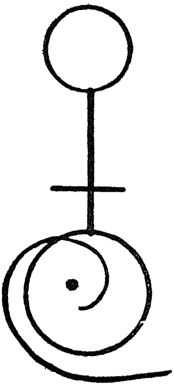

सूक्ष्म छिद्र है। इसे ही सुषुम्ना नाड़ी का मुख कहते हैं। इस बन्द कली के समान लिंगको **स्वयंभू लिंग** कहते हैं। इस स्वयंभू लिंग को चारों ओर से, साढ़े तीन चक्कर में, कसकर सर्प की तरह से लपेटे तथा अपनी दुम को मुँह में लिये हुए एवं सुषुम्ना नाड़ी के छिद्र को रोके हुए जो महान् तेजस्वी शक्ति है उसे ही सुप्त (सोयी हुई) कुण्डलिनी कहते हैं। यही कुण्डलिनी हमारी जीवनी-शक्ति है।

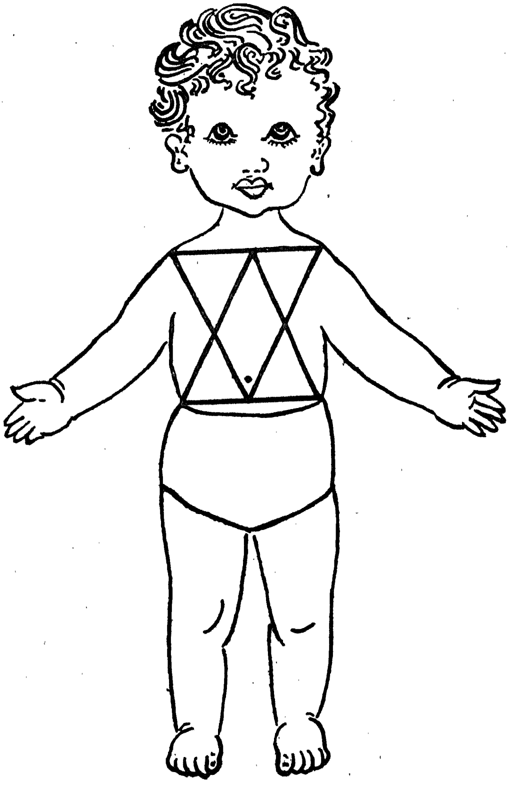

इसी के लिए लिखा है—

सर्वेषां योगतंत्राणां तपाऽऽधारो हि कुण्डली ।[1]

१. हठयोगप्रदीपिका, अ० ३, श्लो० २।

जो इस सुप्त कुण्डलिनी को जगा दे, वही महान् योगी है। इसके जागते ही बड़ा वेग उत्पन्न हो जाता है। उस समय जो ध्वनि उत्पन्न होती है, उसे "नाद" कहते हैं। नाद ही "ॐ-कार" है। मनुष्य के शरीर में आपसे आप ॐ-कार की ध्वनि तथा टंकार उत्पन्न हो जाता है। इस नाद से जो प्रकाश उत्पन्न होता है, उसे बिन्दु कहते हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक तथा थियोसिफिकल-सम्प्रदाय की जन्मदात्री श्रीमती ब्लैवट्स्की का कथन है कि प्रकाश की गति विज्ञान के अनुसार १,८५,००० मील प्रति सेकेण्ड है, पर जाग्रत कुण्डलिनी से उत्पन्न नाद तथा प्रकाश की गति ३,४५,००० मील प्रति सेकेण्ड है। इस कुण्डलिनी की सत्ता को पश्चिमी विद्वान् भी मानते हैं।[१] हठयोगशास्त्र के अनुसार इस कुण्डलिनी को जाग्रत कर स्वयंभू लिंग में सुषुम्ना का—कुण्डलिनी का प्रवेश कराकर, षट्चक्र-भेदन, ग्रंथिबेधन द्वारा सहस्रार (ब्रह्म-रन्ध्र) में प्राण को स्थापित कर मनुष्य इस जीवन में ही परमशिव को प्राप्त करता है। इसी अवस्था को समाधि कहते हैं।

आर्थर एवालान[२] ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में इस तत्त्व पर बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। उन्होंने लिखा है कि मुगल सम्राट् शाहजहाँ के बेटे दारा शिकोह ने अपनी फारसी पुस्तक "रिस्सालये-हक़नामा" में तीन प्रकार के हृदय-स्थल बतलाये हैं—१. दिले मुदव्विर, २. दिले सनोवरी, ३. दिले नीलोफरी।[३] भारत के हठयोगियों से ही सीखकर सूफ़ी योगियों ने कुण्डलिनी को जाग्रत करने का उपदेश दिया था।[४]

ऐवलान ने लिखा है कि हमारे शरीर में कुण्डलिनी ही सांसारिक तथा ब्रह्माण्ड सम्बन्धी नियमित शक्ति है।[५] इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना नाड़ी को मिलाकर "कुण्डलिनी" बनती है। इनमें एक चित्रणी नाड़ी है जो अति सूक्ष्म है। शरीर-विज्ञान के विद्यार्थी को षट्चक्र या शरीर के भीतर के किसी चक्र का ज्ञान इसलिए नहीं हो सकता कि चक्र स्वयं अपने में स्थित हैं। वे चेतना के केन्द्र हैं। सूक्ष्ण प्राण वायु की क्रियाशक्ति के केन्द्र हैं। जो लोग शरीर-रचनाशास्त्र से कुण्डलिनी की तलाश करेंगे, वे निराश होंगे।[६]

१. Vagus Nerve.
२. इनका असली नाम Sir John Woodroffe था। Arthur Avelon—"The Serpent Power" "या" षट्चक्रनिरूपण और पादुकापञ्चक—Pub. Ganesh & Co., Madras, 1950.
३. Spherical Heart–Cedar Heart and Lily Heart.
४. Sheikh Md. Iqbal–"The Development of Metaphysis in Persia"–page 110.
५. Avelon—page 2.
६. वही, पृष्ठ ६।

स्वयंभू लिंग स्वर्ण के समान देदीप्यमान, अत्यन्त कोमल, श्याम रंग का तथा सूक्ष्म और नीचे की ओर मुंह किये हुए है। पश्चिमास्य है। कामबीज द्वारा सञ्चालित होने पर ही वह लिंग गतिशील होता है।[१] वह कामबीज (मंत्र) से ही प्रसन्न होता है। खड़ा हो जाता है और कुण्डलिनी में प्रवेश करता है। यह लिंग त्रिकोण के भीतर है। मूलाधार में त्रिकोण का ध्यान करने की आवश्यकता है। त्रिकोण और कुछ नहीं, तीन रेखाओं में कुण्डलिनी है। "कालीकुलामृत तंत्र" के अनुसार मूलाधार कमल के दलों पर शृंगाता-काम का त्रिकोण है। उस पर महालिंग स्वयंभू स्थित है। ऊपर खुला द्वार है। कामबीज से प्रेरित होकर वह सिर ऊपर करके उस द्वार में प्रवेश करता है। उलटा लिंग (कली के समान)—कमल की कली की तरह का स्वयंभू लिंग सीधा हो जाता है। उलटा कमल-नाल इस सम्बन्ध में लिंग का प्रतीक है, जिसे बिना सीधा किये मनुष्य का जीवन परमात्मा की ओर जा ही नहीं सकता।

स्वयंभू लिंग के ऊपर सुषुप्त कुण्डलिनी है, जो कमल के नाल के समान कोमल है। यह कुण्डलिनी ही ब्रह्मद्वार के मुख को बन्द किये हुए है। स्वयंभू को लपेटे प्रेमी भंवरे के समान यह गुञ्जन कर रही है। इस मूलाधार में पड़ी प्रेमिका को जगाना है। इसे तृप्त करना है। यह—

तन्तु सोदारलसतसूक्ष्मं जगन्मोहिनी,
मधुरस-नवीन-चपला, माला, विहासपादा—
कोमल-भेदातिभेदक्रम—

बिन्दुरूपी स्वयंभू लिंग से भेद करने पर अव्यक्त रव (नाद) करती है। यही विपरीत रति (पुरुष नीचे) है। कुण्डलिनी जाग्रत होकर स्वयभू लिंग का मुख खोलकर अपने में ले लेती है। और फिर चित्रणी नाड़ी के मुख में प्रवेश करा देती है। अतएव साधक को कुण्डलिनी को जाग्रत करके स्वयंभू लिंग उसमें प्रवेश कराना है।

मनुष्य को पूर्णता प्राप्त करने के लिए यह करना ही पड़ेगा। कुण्डलिनी तथा स्वयंभू लिंग में 'रति' होनी ही चाहिए। बिना शिव तथा शक्ति के मेल के कोई चीज़ पूरी नहीं हो सकती। चन्द्रमा में से चाँदनी अलग नहीं की जा सकती। शिव से भिन्न शक्ति नहीं—

न शिवेन बिना शक्तिः न शक्त्या रहितः शिवः।
अतस्तयोरभेदश्च चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥

१. वही, पृष्ठ ३४४।

यह शक्ति ही अपनी प्रेरणा तथा स्फूर्ति से संसार को धारण किये हुए है।[१] आनन्द-लहरी में कुण्डलिनी-क्रिया पर लिखा है--

महीमूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं, स्थिते स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्वा कुलपथं, सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसि।।

सर्प, शिव-लिंग, त्रिकोण, बीज--सबका रहस्य अब स्पष्ट हो गया।

सर्प-प्रतीक पर हमने थोड़ा-बहुत प्रकाश डालकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उसका असली रूप न समझकर पाश्चात्य विद्वानों ने उसे अनायास लिंग यानी जननेन्द्रिय तथा काम-वासना का प्रतीक मान लिया है। "स्वयंभू लिंग" का प्रतीक शिव-लिंग है। सर्प उसे घेरे बैठा है--वह कुण्डलिनी का प्रतीक है। इस महान् अर्थ को न लेकर हेय अर्थ में पड़ना उचित नहीं है।

१. वही, पृष्ठ ३४८--"She who maintains all the beings of the World by inspiration and expiration."

वृषभ तथा नन्दी

इसी प्रकार का भ्रम वृषभ—बैल—नन्दी के प्रतीक के विषय में है। इनमान, कटनर या मार ऐसे लेखकों ने उसे पुरुष-स्त्री-सम्बन्ध, गर्भ धारण करानेवाला इत्यादि प्रतीक मानकर उसकी छीछालेदर की है। कटनर ने एक स्थान पर सूर्य के वृषभ राशि में आने की बात स्वीकार की है। पर उस अर्थ पर वे टिक न सके। उन्होंने सूर्य के साथ वृषभ का सम्बन्ध केवल गर्भ-धारण-सम्बन्ध माना है, यानी प्रजनन-शक्ति का प्रतीक माना है। यूनानी देवता प्रियापस को सूर्य देवता लिखा है। लिखा है कि उनका विशाल लिंग था जिस पर गुलाब के फूलों की माला चढ़ायी जाती थी। उनके समान ही रोमन देवता म्यूटुनस थे। वे भी सूर्य देवता थे तथा दीर्घलिंगी थे। इनको सन्तुष्ट करने के लिए दीर्घलिंगी गधे का बलिदान करते थे। प्लेटो की परम्परा के दार्शनिक जैम्बियस ने—जो रोमन नरेश कुस्तुन्तुनिया (ईसवी सन् २६३ से ३३७) के समय में थे—तो यहाँ तक लिख दिया था कि "संसार में जो कुछ उत्पत्ति तथा सृष्टि चल रही है, वह लिंग-उपासना का परिणाम है।"

मिस्र में व्यूरी (बकरा) की पूजा चल पड़ी थी। जिस बकरे का लिंग जितना अधिक बड़ा होता था वह उतना ही अधिक पूजनीय होता था। एशिया के कुछ देशों में जिस वृषभ का लिंग जितना ही बड़ा होता था वह उतना ही अधिक पूजनीय होता था। मिस्री लोग भी वृषभ की पूजा करते थे। नन्दी को वे "एपिस" कहते थे। यूनान में भी वृषभ की पूजा होती थी। उसे "कैडमस" देवता कहते थे। यहूदी लोग सुनहला बछड़ा बनाकर, प्रतिमा बनाकर पूजते थे। यहूदी देवी बाल पीयूर के मन्दिर में कुमारी कन्याओं तथा कुमार लड़कों के साथ व्यभिचार होता था। यह एक प्रकार की वृषभ उपासना थी। यहोवा ने वृषभ-उपासना की निन्दा की, मनाही की। अतएव इज़रायेल तथा सीरिया में सुनहले बछड़े के कम-से-कम ३००० पुजारी कत्ल कर दिये गये तथा "बाल पीयूर"[१] देवी के २५००० पुजारी तलवार के घाट उतार दिये गये थे।[२]

१. Ball Peor देवी का शाब्दिक अर्थ है "कुमारियों की योनि को क्षत करानेवाली।"

२. देखिये Thomas Inman की दो पुस्तकें "Ancient Faith embodied in Ancient names" and "Ancient Pagan and Modern Christian Symbolism Exposed and Explained."

इस प्रकार वृषभ पुरुष-लिंग का प्रतीक देवता उसी प्रकार था जिस प्रकार इब्रानी (हिब्रू) देवी अशीरा तथा फ़ोयेनिशियन देवी अशलोरेथ स्त्री-योनि की प्रतीक देवियाँ थीं। इनकी प्रतिमा में विशेष रूप से केवल **भग** ही बना रहता था।[१] प्रतिमा के स्थान पर केवल "भग" की मूर्त्ति हमारे देश में भी बहुत पायी जाती है। ग्रांट अलान[२] ने अपनी पुस्तक में साबित किया है कि यहूदी देव अथवा पैगम्बर यहोवा भारत के देवता शिव के समकालीन थे। उन्होंने दोनों में बहुत कुछ "साम्य" प्रमाणित किया है। सर विलियम जुंग का कथन है कि रोमन देवी वेनस भारतीय देवी भवानी की रूपान्तर–समानांतर हैं। देवी यूरोपा की सवारी में वृषभ है। कटनर का कथन है कि बाल पीयूर देवी के मुख में पुरुष-लिंग-प्रतीक रखा रहता था, प्रतिमा के मुख में। स्पेन पर विजय करने के बाद रोमन लोगों ने बाल देवी को स्पेन भी पहुँचा दिया। वहाँ उनका नाम "हार्तनीज" हो गया। महेंजोदड़ो की खुदाई में, सिन्ध में, एक ऐसे देवता की प्रतिमा मिली है जो बैठे हुए हैं। उनके सिर में सींग हैं। उनके पास एक शेर, एक हाथी, एक गैंडा तथा एक बैल खड़ा है। ह्वीलर का कथन है कि यह देवता वास्तव में शंकर हैं, जिनके वे सब वाहन हैं।[३]

शिव, शिव-लिंग तथा शिश्नदेव की व्याख्या करने के समय हम वृषभ पर और भी प्रकाश डालेंगे। पर यहाँ वृषभ प्रतीक का वास्तविक अर्थ समझा देना उचित होगा। आर्य सभ्यता ने शिव-उपासना को चारों ओर फैला दिया था। जिस प्रकार शंकर के साथ सर्प का प्रतीक चारों ओर फैल गया, उसी प्रकार वृषभ भी चारों ओर अपना लिया गया। यह हो सकता है कि समय पाकर उस प्रतीक का अन्य रूप में उपयोग होने लगा हो। यह हो सकता है कि उसका और भी अर्थ लगाया गया हो। पर वास्तविक महत्त्व तथा प्रतीक वह नहीं था जो पाश्चात्य लोगों ने समझा है।

देवता का पूजन करते समय **"साङ्गाय सपरिवाराय सवाहनाय"**—अपने अंग, परिवार तथा वाहन-सहित उनका पूजन होता है। पराशिव से हमने शिव की कल्पना की। सृष्टि की रचना में पोषण-तत्त्व अन्न, दूध, घी तथा वर्षा—इन सबका प्रतीक वृषभ है। नन्दी को "नन्दिकेश्वर' की भी उपाधि है। किन्तु यह स्वयं वृषभ हैं या शंकर के कोई प्रमुख गण हैं, यह कहना कठिन है। नन्दिकेश्वर के नाम से कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ तथा तंत्र उपलब्ध हैं। चतुर्दश व्याकरण सूत्रों की आध्यात्मिक व्याख्या "काशिका" नन्दिकेश्वर-रचित है। साहित्यशास्त्र एवं कामशास्त्र के सम्प्रदाय में नन्दिकेश्वर को आचार्य कहा

१. कटनर की पुस्तक।
२. Grant Allen—"Evolution of the Idea of God."
३. R. E. M. Wheeler—Five Thousand Years of Pakistan—page 28.

गया है। कामशास्त्र के आचार्य नन्दिकेश्वर थे—इतनी बात तो मिस्र के तथा एशिया के वृषभ-प्रतीक से मिल ही गयी कि उनके लिए कामवासना के देवता वृषभ देव थे। हमारे देश में कामशास्त्र के आचार्य वात्सायन ने अपने कामसूत्र में कहा है कि पार्वती के साथ विषयप्रसंग के सुख का जब महादेव अनुभव कर रहे थे, उनके द्वार पर बैठे पहरेदार नन्दी ने "कामसूत्र" कहा—

"उमया सह सुरत सुखमनुभवति महादेवे द्वारस्थो नन्दी कामसूत्रं प्रोवाच",

किन्तु, नन्दी का वास्तविक रूप यह सब नहीं है जो हमने अभी तक लिखा है। विद्वद्वर पं० रामचन्द्र शास्त्री वझे ने हमें वृषभ की—नन्दी की जो व्याख्या भेजी है वह हृदयग्राह्य तथा बुद्धिग्राह्य है। नन्दिकेश्वर काम तथा साहित्य के आचार्य हैं—यह प्रतीक-रूप में सत्य है क्योंकि कामशास्त्र, योगशास्त्र तथा रस-शास्त्र के आधार-स्रोत शंकर हैं। उनकी नन्दी सवारी है। नन्दिकेश्वर को इन तीनों मुख्य शास्त्रों का प्रतीक बनाया गया है। पर सबसे महत्त्व की चीज़ है धर्म। हमारे शास्त्रों में धर्म का प्रतीक वृषभ माना गया है। शास्त्र के अनुसार वृष-रूप में ही धर्म रहता है। धर्म के आधार, स्रोत, लक्ष्य तथा उसकी पूर्ति परा शिव में है। शिव में है। शिव की सवारी नन्दी है। धर्म पर आरूढ़ शिव हैं। वृषभ सीधे रास्ते चलता है। किसी की हानि नहीं करता। सबका पोषण करता है। पृथ्वी को सींचता चलता है। शरीर की पुष्टि करता है। वीर्य तथा बल की सजीव मूर्त्ति है। संसार में जहाँ कहीं भी वृष की मूर्त्ति बनी, वह धर्म के प्रतीक-रूप में। बाद में उसके अर्थ का अनर्थ हो गया।

शंकर के उपासक नन्दी को चारों ओर देश के बाहर ले गये। वैदिक काल में लोग "शंकर" या "शिव" के नहीं, उनके पर्यायवाची, वैदिक कालीन "रुद्र" के उपासक थे। रुद्र शब्द "रुक्' 'धातु से बना है। रौति—शब्द करता है। ददाति—देता है। रैं—जो भुक्ति तथा मुक्ति देता है। जो भुक्ति तथा मुक्ति को दे, यह लोक और परलोक बनाये, वे हैं भगवान् रुद्र।[1] रुद्र के वैदिक कालीन सबसे बड़े उपासक थे व्रात्य लोग। अथर्ववेद का २७-२८वाँ अध्याय ही "व्रात्य-अध्याय" है। व्रात्य लोग बिना यज्ञोपवीत के आर्य थे। यज्ञोपवीत नहीं धारण करते थे। एक जर्मन विद्वान् ने कहा है कि वैदिक काल में कर्मकाण्डी तथा शैव योगी होते थे। उसी जर्मन विद्वान् के अनुसार वे योगी किसी प्रकार के "प्रतीक" का उपयोग अपनी उपासना में करते थे। अथर्ववेद के पञ्चम अध्याय—रुद्राष्टाध्यायी में, जिसे हम रुद्री कहते हैं "नमो व्रात्याय"—व्रात्यों को नमस्कार लिखा है।

१. डॉ० सम्पूर्णानन्द की व्याख्या।

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार भी व्रात्य हमेशा "यात्रा" किया करते थे। वे पर्यटक थे। अतएव इन्होंने रुद्र की उपासना तथा भुक्ति तथा मुक्ति–भोग तथा योग दोनों के देवता का वाहन भोगी के साथ ही योगी वृष को, नन्दी को रुद्र का वाहन प्रतीक-रूप में बनाकर चारों ओर उसका प्रचार किया होगा।

इस प्रकार हमने यह सिद्ध किया कि वृष, नन्दी धर्म का प्रतीक है। शिवालयों में हो या मिस्र तथा एशिया, यूरोप के अन्य किसी भाग में भी हो, वह धर्म के प्रतीक के रूप में तथा मुक्ति और भुक्ति लेनेवाले देवता के वाहन या स्वयं देवता के प्रतीक के रूप में ही स्थापित किया गया था। बाद में उसके अर्थ का जो भी अनर्थ किया गया हो, वृषभ धर्म का प्रतीक है।

सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि की उपासना का महत्त्व हम पिछले अध्यायों में समझा आये हैं। सूर्य तथा चन्द्र की उपासना यूरोप में कितनी अधिक फैली हुई थी, इसके प्रमाण पर प्रमाण भरे पड़े हैं। स्वेडन तथा नार्वे देश १४वीं सदी के पहले ईसाई नहीं बने थे। उन्होंने ईसाई धर्म को नहीं अपनाया था। अतएव आर्य धर्म, हिन्दू धर्म का उन पर इतना अधिक प्रभाव जम गया था कि ईसाई होने के बाद भी सदियों तक उन्होंने चन्द्र, सूर्य, अग्नि की उपासना जारी रखी। ईसाई मज़हब के प्रतीक "क्रास" + को अपनाते हुए उसमें सूर्य को भी शामिल कर लिया था। क्रास के नीचे सूर्य का गोल मुख लटकता रहता था।[१] वहाँ पर हाथ में सूर्य का "पट्टा" पहनने की बड़ी चलन थी।

अण्ड-प्रतीक का भी हमने परिचय करा दिया है। अण्ड-प्रतीक सृष्टि का बीज-रूप में प्रतीक है। एक बिन्दु से इस शरीर की रचना हुई है। एक बिन्दु से संसार बना है। एक बिन्दु से संसार में सब कुछ है। अण्ड ही ब्रह्माण्ड का प्रतीक है। उस अण्ड-प्रतीक के रूप में शालग्राम की बटिका को मानना चाहिए। शालग्राम या विष्णु सृष्टि के, ब्रह्माण्ड के पालक हैं। गोल पत्थर के शालग्राम उस ब्रह्म तथा ब्रह्माण्ड की व्याख्या हैं। श्रीमती मरे ने तो यहाँ तक लिखा है कि "शैव लोग मुर्गी के अण्डे को ब्रह्माण्ड का प्रतीक मानते हैं। इसलिए अण्डा खाना पाप समझते हैं।"[२] किन्तु, अण्डा खाने में केवल शैव ही नहीं वैष्णव आदि को भी काफी आपत्ति होती है। तांत्रिक पूजा में अण्डे को "ब्रह्माण्ड" कहा भी जाता है।

पूजा के लिए ब्रह्माण्ड कहीं छोटे गोल पत्थर का होता है, कहीं बड़े गोल पत्थर का। नार्वे के फ़्लेकफोर्ड[३] नगर में ९ इंच लम्बा तथा ७ इंच गोलाई का पत्थर मिला है, जिसकी

१. Symbolism of the East & West, पृष्ठ ७२।

२. वही, पृष्ठ ८४।

३. Flekkefjord.

किसी ज़माने में पूजा होती थी। बर्गेन के अजायबघर में[1] सफ़ेद पत्थर के मुर्गी के अण्डे के बराबर दो "ब्रह्माण्ड"-प्रतीक रखे हुए हैं। ऐसे "शालग्राम" नार्वे, उत्तरी जर्मनी, लियोनिया, डेन्मार्क आदि में काफ़ी संख्या में पाये जाते हैं। ये काफ़ी पुराने तथा पूजा के काम में आनेवाले पत्थर मालूम होते हैं। आर्य सभ्यता के साथ अण्ड-प्रतीक भी चारों ओर फैल गया था।

इसी प्रकार वृषभ या वृष, नन्दी या बैल का भी प्रतीक चारों ओर उपलब्ध था। जापान के मियाओ नगर में नन्दीश्वर का मन्दिर ही है। स्वर्ण के चबूतरे पर वृष देव खड़े हैं। अपने अगले दोनों पैरों में वे एक अण्डा पकड़े हुए हैं जिसे सींग से मारने ही वाले हैं। वहाँ के विश्वास के अनुसार वह अण्डा प्रलयकाल का प्रतीक है। प्रलय के समय सर्वत्र जल ही जल था। उस पर, समूची सृष्टि का सार बटोरकर एक अण्ड तैर रहा था। चन्द्रमा ने अपनी शक्ति से जल के भीतर से पृथ्वी-तत्त्व को ऊपर खींच लिया जो ऊपर आकर कठोर शिला का रूप धारण कर गया। इस कठोर शिला पर अण्ड ने विश्राम किया। इस अण्ड को सर्वप्रथम वृष देव ने देखा और अपने सींग से उसे तोड़ दिया। अण्ड के टूटते ही उसमें से यह संसार निकल पड़ा। वृष के श्वास से मानव की उत्पत्ति हुई।[2] जापान के पंडितों के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति की यही कथा है। यही सत्य है। ऐसा हुआ हो या न हो, पर प्रतीक-शास्त्र के विद्यार्थी के लिए यह मंदिर, यह मूर्त्ति, यह अण्ड, यह प्रतीक बड़े महत्त्व की वस्तु है। अफ़गानिस्तान में कई स्थानों पर अण्ड-प्रतीक प्राप्त हुए हैं। किन्तु, अफ़गानिस्तान हज़ारों वर्ष तक भारत का ही एक प्रदेश था। अतएव वहाँ पर वृष अथवा अण्ड-प्रतीक का पाया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

शालग्राम की बटिका के समान पत्थर यूरोप के अनेक स्थानों में उपलब्ध हैं। कहीं पर इनको चन्द्र-प्रतीक, कहीं पर सूर्य-प्रतीक तथा कहीं पर अण्ड-प्रतीक मान लिया जाता है। स्वेडन की राजधानी स्टाकहोम के अजायबघर में ऐसे बहुत-से गोल पत्थर सुरक्षित हैं। श्रीमती मरे ने इन पत्थरों को शिव-लिंग तथा शालग्राम[3], दोनों या दोनों के बीच की चीज़ माना है। वे लिखती हैं—"यह विचारणीय प्रश्न है कि ये शैव पाषाण हैं। तांझेम के बड़े पादरी महाशय शोनिंग की एक हस्तलिखित पुस्तक में से महाशय लिलिग्रेन ने ऐसे ही कुछ पत्थरों का जिक्र किया है तथा १८वीं सदी के अन्त में नार्वे में प्रचलित इनसे सम्बन्धित एक प्रथा का ज़िक्र किया है।"[4] शोनिंग के अनुसार नार्वे के ईसाई लोग इन पत्थरों को नित्य दूध से नहलाते थे और ईसाई बड़ा दिन में ताज़ी बियर शराब से स्नान

१. वही पुस्तक, पृष्ठ ८४।
२. वही पुस्तक, पृष्ठ ८५।
३. वही, पृष्ठ ७७।
४. वही, पृष्ठ ८५-८६।

कराते थे। इसे राई (नाज) की गोल चपाती का भोग लगाते थे। श्री रिवेट कार्नेक के कथनानुसार भारतवर्ष में कुमाऊँ की पर्वतमाला में पन्दकोलि पर्वत पर, जो समुद्र से ८००० फुट ऊँचा है, चार पाषाण-स्तम्भों का एक स्थान है जहाँ पर वसन्त ऋतु में सन्तान की कामना से पुत्र-रहित स्त्रियाँ आती हैं। इन चार पत्थरों में एक चन्द्र-प्रतीक तथा एक सूर्य-प्रतीक बना है।

ठीक इसी प्रकार का पर्व, जिसमें सन्तान की कामना से सन्तान-रहित स्त्रियाँ दर्शनार्थी होती हैं, फ्रान्स के ब्रिटैनी प्रदेश में मनाया जाता है। वहाँ के "बॉड" नगर के निकट मॉरविहन नामक स्थान में पत्थर की एक शिला पर ८ फुट ऊँची एक पाषाण-प्रतिमा खड़ी है। चेहरा मिस्री चेहरे के समान चपटा है तथा सिर पर के केश भी मिस्री ढंग के मालूम होते हैं। यहाँ पर पुराने ज़माने में तांत्रिक अर्थात् गुप्त ढंग की उपासना होती थी।[१] सन्तान की कामना से स्त्रियाँ यहाँ आकर प्रतिमा के निचले हिस्से से अपना सिर रगड़ती हैं। ब्रिटैनी प्रदेश के अनेक भागों में किसान स्त्रियाँ अब भी ऐसा करती हैं।[२] कुछ लोगों का कहना है कि जिन परिवारों की स्त्रियाँ यहाँ पर पूजन के लिए आती हैं, उनकी रखवाली के लिए घर के पुरुष लोग डण्डे लेकर उनके साथ चलते हैं और यदि पूजा के समय कोई पराया व्यक्ति नज़र आ गया तो उसकी मरम्मत हो जाती है। इस प्रतिमा का नाम है "मेन हिर"।[३]

यूरोप के लोगों ने भारतीय ढंग की पूजा, भारतीय ढंग की तांत्रिक पूजा और भारतीय चन्द्र-सूर्य-अण्ड-प्रतीक हमसे प्राप्त किये तथा अपना लिये थे, इसके काफ़ी प्रमाण मिलते हैं। पाषाण-प्रतिमा तथा पाषाण-प्रतीक का पूजन भी वहाँ चारों तरफ था। हम जिस प्रकार अपने देश के लिए कहते हैं, वही पश्चिमी देशों के लिए कहा जा सकता है कि पहले प्रतिमा-पूजन का रिवाज़ नहीं था। प्रतीक प्रतिमा से भी पुराने हैं। पत्थर या कांसे के युग का सवाल नहीं है। मानव-विकास तथा दर्शन का भी सवाल है कि मनुष्य ने पहले प्रतीक-रूप में अपने विचार तथा विश्वास को व्यक्त करना प्रारम्भ किया। पत्थर पर प्रतीक बनाना सबसे आसान था। उसने पत्थर के प्रतीक, पत्थर में प्रतीक तथा पत्थर-रूपी प्रतीक की उपासना की और उनकी रचना की। यूरोप, मेक्सिको, भारत कहीं भी चले जाइए, पत्थर में खुदे हुए सूर्य, चन्द्रमा, अण्ड-प्रतीक तथा देवी-देवता मिलेंगे। नैनीताल में हज़ारों साल से पाषाण देवी का पूजन तथा माहात्म्य है। युगों के बाद मनुष्य के शरीर में देवता का रूप उतारा गया तथा देवता की प्रतिमा बनी। प्रतीक के समान वह भी पाषाण में ही ढाली गयी, काढ़ी गयी। इस प्रकार पाषाण-पूजन प्राचीनतम है और

१. वही, पृष्ठ ८८। २. वही, पृष्ठ ८८। ३. वही, पृष्ठ ९१।

हर धातु की प्रतिमा से पाषाण-प्रतिमा पुरानी है। श्रीमती मरे ने लिखा है कि रोम, यूनान, एट्रेरियन सभ्यता[१] के विकास की कई शताब्दियों के बाद उनकी कला ने मानव के रूप में देवता की प्रतिमा बनाना प्रारम्भ किया। उनके पूर्वज पेड़ के तनों की अथवा काले पत्थरों की[२] शिला की पूजा किया करते थे। उनके साहित्य से पता चलता है कि युगों तक उनके यहाँ के नीची श्रेणी के लोगों में ऐसी पूजा प्रचलित थी। वारो के कथनानुसार लगभग १७० वर्ष तक सभ्य रोमन लोग बिना कोई प्रतिमा बनाये ही अपने देवताओं का पूजन करते थे। प्लूटार्क का कहना है कि जब न्यूमा ने रोमनों के रीति-रिवाजों तथा उपासना-विधि को निश्चित किया तो किसी प्रकार के रूप या कलेवर में सार्वजनिक उपासना के लिए प्रतिमा या प्रतीक का निषेध किया था। स्पष्ट है कि जब रोमन लोगों में देवता की भावना वर्तमान थी, उनकी कोई प्रतिमा भी नहीं थी तो उनका प्रतीक अवश्य रहा होगा। मानसिक उपासना भी प्रतीक का रूप धारण कर लेती है। केवल योगी या ब्रह्मज्ञानी को प्रतीक की आवश्यकता नहीं होती। प्रतीक सदैव वर्तमान था। मानव ने अपने आदि काल से प्रतीक की रचना कर ली थी। जब देवताओं की प्रतिमा नहीं थी, उस समय सूर्य-चन्द्र-अण्ड-प्रतीक थे। कई विद्वानों की राय में तारक्विनियस प्रथम के शासन-काल में, जो एट्रेरिया के निवासी थे, प्रतिमा-पूजन रोम में प्रारम्भ हुआ। यूरोप में सबसे पुराने मूर्त्तिपूजक एट्रेरियन लोग थे।

यूरोप में पाषाण का तथा पाषाण-प्रतिमा का पूजन हज़ारों वर्ष से चला आ रहा है। इंग्लैण्ड में सैकड़ों वर्ष पूर्व एक कानून के अनुसार पाषाण-पूजा करनेवाले को "गिरजाघर को आर्थिक दण्ड" देना पड़ता था।[३] कैण्टरबरी के बड़े पादरी थियोडोर ने सातवीं सदी में पाषाण-पूजन का निषेध किया था। दसवीं सदी में ब्रिटेन के सैक्सन नरेश एडगर ने भी पाषाण-पूजन की मनाही की थी। टूअर्स नगर में एक धार्मिक सभा में पाषाण-पूजन के विरुद्ध घोषणा की गयी थी। श्री होम्बो ने लिखा है कि नार्वे में वैसे ही पाषाण तथा पाषाण-प्रतिमाएँ पूजा के काम आती थीं जैसे भारत में।[४] फ़िनमार्क के ट्रामजो नगर के निकट एक ऐसे ही पूजित पाषाण को वहाँ के पादरी ने नदी में फेंकवा दिया था। स्कैंडिनेविया में लौह-युग से पूजित पाषाण तथा पाषाण-प्रतिमाएँ आज भी उपलब्ध हैं।[५]

१. वही, पृष्ठ ८१-८२।
२. शालग्राम का पूजन काली पाषाण-बाटिका में ही होता है।
३. Waring in "Stone Monuments & Tumuli."
४. Holmboc—"Buddhism in Norwege."
५. श्रीमती मरे की पुस्तक, पृष्ठ ८३।

वहाँ का एक पुराना क़ानून, जो कि ईसवीय सन् पहली सदी का, ईसाई धर्म के इस देश में प्रारम्भ काल का है, पाषाण-पूजन को मना करता है।[१] लगभग सन् ६५८ में नान्ते की एक ईसाई धार्मिक सभा ने निश्चय किया था कि सभी पाषाण-प्रतिमाएँ तथा पाषाण-पूजा को नष्ट कर दिया जाय। एक प्रसिद्ध धार्मिक ग्रन्थ में लिखा है—

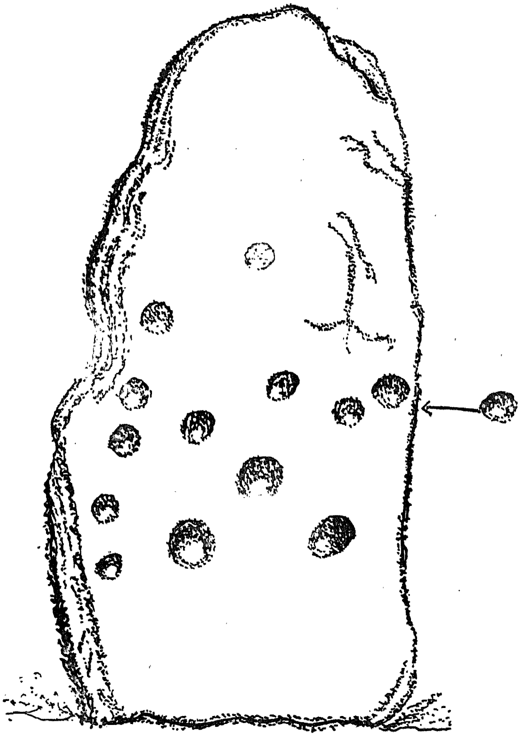

[इंग्लैण्ड में प्राप्त शिवलिंग]

"वे बड़े अभागे लोग हैं जो मरी (निर्जीव) चीज़ों में विश्वास करते हैं, जो लोग मनुष्य के हाथों बनायी चीज़ को देवता कहते हैं, निरर्थक पत्थर में कला दिखलाने के लिए चाँदी-सोने का उपयोग करते हैं, आदमी या जानवर की मूर्त्ति बनाकर उस पर चन्दन या लाल

१. वही, पृष्ठ ८४।

रंग लगाते हैं. . .तब उसके सामने अपनी स्त्री तथा बच्चे के कल्याण के लिए प्रार्थना करते हैं, उनको इस निर्जीव वस्तु के बारे में बातें करने में लज्जा भी नहीं आती ।"[१]

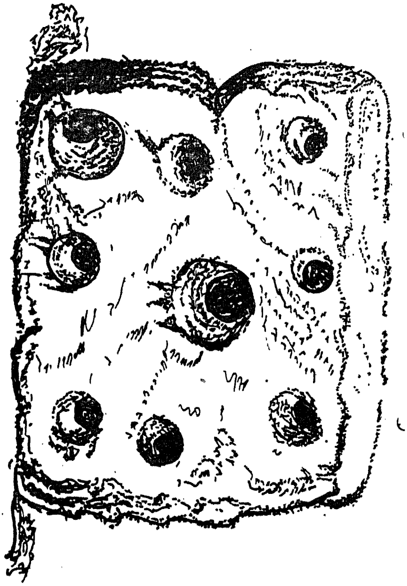

[फ्रांस में प्राप्त शिव लिंग]

यदि यूरोप में इतना अधिक "प्रहार" तथा "संहार" न हुआ होता तो वहाँ हर नगर में पाषाण की प्रतिमा, चन्द्र-सूर्य-अण्ड-प्रतीक उपलब्ध होते । किन्तु यह निश्चित है कि हमारे ये प्रतीक संसार के हर एक सभ्य देश द्वारा अपनाये गये थे ।

१. वही, पृष्ठ ८१ ।

कमल, कौड़ी तथा घण्टा

श्रीमती मरे ने वाराणसी के ठठेरी बाज़ार में एक मूर्त्ति ख़रीदी थी। वह वृषभ की मूर्त्ति थी। उसकी पीठ पर कमल की कली बनी थी। वह कली कुछ ऊपर जाकर खुल जाती थी। उसके बीच में एक छोटा-सा अण्डा बना हुआ था। वृषभ के पीछे गेहुँअन साँप बना हुआ था। वह तना खड़ा था——मानों अभी काटनेवाला हो। उसके मुख में एक अंगूठी-सी पड़ी हुई थी जिसमें एक तश्तरी स्थिर थी। तश्तरी में एक छेद था। इस छेद से पानी डालने पर कमल के बीच में स्थित अण्ड या लिंग-प्रतीक पर जल गिरता था। श्रीमती मरे ऐंसले के अनुसार कमल के बीच में वह अण्ड-प्रतीक "रत्न" है, मुख्य वस्तु है।[1]

वृषभ तथा कमल के सम्बन्ध का क्या अर्थ है ? हम पहले ही लिख आये हैं कि वृषभ का अर्थ है धर्म। डॉ० सम्पूर्णानन्दजी के कथनानुसार आध्यात्मिक सूर्य में से मनरूपी कमल विकसित होता है। आध्यात्मिकता का प्रतीक धर्म है। धर्म का प्रतीक वृषभ है। धर्म से मन को विकसित करनेवाला कमल है। कमल के बीच में, मन के बीच में परम तत्त्व ब्रह्माण्ड का ज्ञान है। अण्ड-प्रतीक ब्रह्माण्ड है। मनरूपी कमल के बीच में परम ज्ञानरूपी रत्न "मणि" ही वह सार तत्त्व है जिस पर सब कुछ एकाग्र होकर केन्द्रीभूत करना चाहिए। प्राणरूपी जल को हम वहाँ पर गिराकर उसके प्रति अपनी जागरूकता (जागर्ति) को प्रकट करते हैं।

मन-कमल के विकसित होने पर उसमें मणिरूपी ज्ञान का बोध होता है। इसी लिए तिब्बत के बौद्धों का उपासना का मंत्र है——

ॐ मणिपद्मोऽहम्,

ॐ की व्याख्या हम कर चुके हैं। "मैं मनरूपी कमल के बीच में मणि हूँ।" श्रीमती मरे ऐंसले ने इस मंत्र का अनुवाद इस प्रकार किया है——

"कमल के बीच में मणि को अभिवादन।"[2]

किन्तु इतने से ही कमल का अर्थ समझ में नहीं आ सकता। इसके सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं। पं० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते का कथन है कि "कमल" भारत का

१. वही, पृष्ठ ९९।   २. वही, पृष्ठ ९७।

सर्वप्रधान पुष्प है। यह सभी जगह उपलब्ध होता है। प्रत्येक भाषा का साहित्य अत्यन्त प्राचीन काल से इसके वर्णनों से भरा पड़ा है। पौराणिक कथा है कि विष्णु ने अपने नेत्र को ही कमल के स्थान पर शंकर भगवान् को अर्पित कर दिया था। इस कथा से ही पुष्पों में कमल की प्रतिष्ठा स्पष्ट होती है।

पं० रामचन्द्र शास्त्री वझे के कथनानुसार स्वस्तिक प्रतीक ही कमल का पूर्वरूप था। स्वस्तिक से ही कमल प्रतीक बना। "स्वस्तिक" पर विचार करते समय हम इस सम्बन्ध में भी विचार कर लेंगे। तांत्रिक उपासना के "अष्टदल कमल" "द्वादशदल कमल", "षोडशदल कमल" आदि का प्रायः उपयोग मंत्रों के निर्माण में तथा पूजा-पद्धति में मिलता है। हृदय-कमल के विकसित होने का साहित्यिक उपयोग हम प्रायः पढ़ते हैं। सूर्य के उदय होने पर कमल खिलता है। उसी प्रकार ब्रह्मरूपी सूर्य के ज्ञान से मनरूपी कमल भी विकसित होता है। सूर्य तथा कमल के इस आध्यात्मिक सम्बन्ध के कारण ही कमल का प्राचीन काल से इतना महत्त्व चला आया है। कमल की यह व्याख्या स्पष्ट तथा सही भी प्रतीत होती है। बहुत-सी व्याख्याएँ देखने के बाद हमको डॉ० सम्पूर्णानन्द जी की व्याख्या ही सबसे उचित प्रतीत होती है। मनरूपी कमल-प्रतीक चारों ओर फैल गया था—मिस्र, ईरान, बैबीलोन, यूनान से लेकर स्पेन तक फैल गया था।

कमल के प्रतीक की एक नहीं, अनगिनत व्याख्याएँ हो सकती हैं। कमल कीचड़ में पैदा होता है। जल में रहकर भी इसके पत्तों पर जल नहीं टिकता। जल के भीतर कीचड़ से उत्पन्न होने पर भी वह पुष्प जल के ऊपर बना रहता है। यही आदर्श जीवन है। संसाररूपी दलदल में, संसाररूपी कीचड़ में रहकर भी जो मनुष्य उसकी ममता-माया से ऊपर उठ जाता है, जो संसार की माया के जल को अपने ऊपर टिकने नहीं देता, वही मुक्त मानव है, वही सच्चा मनुष्य है। मन ही मनुष्य के बन्धन तथा मोक्ष का कारण होता है—मन एवं मनुष्याणां कारणंबंधमोक्षयोः। फिर लिखा है कि "मनोमयः पुरुषः" पुरुष मन-मय ही है। अतएव कमल का पुष्प मानव-जीवन को महान् उपदेश देता है। पौराणिक विश्वास के अनुसार लक्ष्मी का वास कमल पर है। वैभव तथा सम्पदा की प्रतीक लक्ष्मी हैं। यह प्रतीक हमें उपदेश देता है कि सब कुछ वैभव होते हुए भी धन, मान, मर्यादा के नश्वर तथा तुच्छ कीचड़ से ऊपर उठकर रहो।

हमारे सभी प्रतीक यूरोप, एशिया तथा अमेरिका (मेक्सिको आदि) पहुँच गये थे। इसका हम काफ़ी प्रमाण देते आये हैं। यहाँ पर एक छोटा-सा उदाहरण दे दें। ज़रा-सा विषयान्तर तो होगा। सभी हिन्दू लोग वर्षा तथा मेघ के स्वामी इन्द्र भगवान् से परिचित हैं। वैदिक युग में इन्द्र ही प्रधान देवता थे। देवताओं के राजा थे। हमारे यहाँ लोगों में साधारण विश्वास है कि इन्द्र जब अपनी गदा से मेघ को मारते हैं तब वर्षा होती है।

इन्द्र का प्रधान अस्त्र वज्र है। इस वज्र के प्रहार से ही बिजली चमकती-कड़कती है और वर्षा होती है। "वज्रपात" शब्द की उपत्ति ही "वज्र" से तथा उसके "प्रहार" के विश्वास से हुई है। श्रीमती मरे ऐंसले ने "वज्र के देवता" तथा वज्र का प्रतीक प्राचीन कालीन पत्थर की कुल्हाड़ी का बहुत-से यूरोपीय देशों में पाया जाना सिद्ध किया है।[१]

इसी प्रकार कमल का प्रतीक भी चारों ओर फैला था। इन पंक्तियों के लेखक ने एक हज़ार वर्ष पुरानी "क़ुरान शरीफ़" की एक प्रति देखी थी। उस पर पुस्तक भर में हाशिये पर कमल बना हुआ था। मन्दिरों पर कमल का प्रतीक संसार भर में प्राप्त पुराने मंदिरों में मिलता है। सुमात्रा, जावा, जापान, चीन में मन्दिरों पर कमल बना मिलेगा। कलश भी मन्दिरों पर सबसे ऊपर बना मिलेगा। कलश या घट का अर्थ बड़ा सुन्दर है। विद्या, ज्ञान, सृष्टि, देवगण तथा ब्रह्माण्ड (अण्ड) के साथ ही सूर्य तथा चन्द्र का सम्मिलित प्रतीक कलश है —

कलशस्य मुखे विष्णुः कण्ठे रुद्रः समाश्रितः।
मूले त्वस्य स्थितो ब्रह्मा मध्ये मातृगणाः स्मृताः॥
कुक्षौ तु सागराः सप्त सप्तद्वीपा वसुन्धरा।
ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदो सामवेदो ह्यथर्वणः॥
अंगैश्च सहितास्सर्वे कलशन्तु समाश्रिताः।
देवदानवसंवादे मथ्यमाने महोदधौ।
उत्पन्नोऽसि तदा कुंभ विधृतो विष्णुना स्वयम्॥
तत्वार्थाः सर्वतीर्थानि देवास्सर्वे त्वयि स्थिताः॥
त्वयि तिष्ठन्ति भूतानि सर्वकामफलप्रद॥
त्वत्प्रसादादिमं यज्ञं कर्तुमीहे जलोद्भव।
सान्निध्यं कुरु मे देव प्रसन्नो भव सर्वदा॥

फिर बचा ही क्या? ब्रह्मा, विष्णु, महेश, संसार, सागर, नदियाँ—सब कुछ कलश में सम्मिश्रित हैं। अतएव कलश प्रतीक बना।

अनगिनत शिवालयों पर तथा बौद्ध चैत्यों में सबसे ऊपर कमल बना हुआ है, पर यह कमल उलटा है। हैवेल ने अपनी पुस्तक में इस प्रतीक को समझा ही नहीं। हमने पिछले एक अध्याय में, सर्प-प्रतीक की व्याख्या करते हुए शरीर के भीतर स्वयंभू लिंग तथा कुण्ड-लिनी का जिक्र किया था। उसमें हमने बतलाया था कि यह स्वयंभू लिंग मूलाधार

१. वही पुस्तक, पृष्ठ ९३ से ९६ तक।

में उलटे कमल के समान है जिसे जाग्रत कर उलट देना है। सर्परूपी कुण्डलिनी, इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना नाड़ियाँ एक-दूसरी में गुथी हुई उसे लपेटे हुए "भौंरे" की तरह गुञ्जन कर रही हैं। योगी इस कमल को उलटकर स्वयंभू लिंग का मुख ऊपर कर देता है जिसके छिद्र में कुण्डलिनी प्रवेश करती है। यानी, कमल ऊपर हो जायगा, नाल नीचे हो जायगी। योगाभ्यास से ही ऐसा हो सकता है। मूलाधार में (गुदा तथा लिंग के ज़रा नीचे) स्थित उलटा कमल ही शिवालयों तथा बौद्ध चैत्यों पर बना हुआ है।

कमल-प्रतीक पर हम अभी और भी प्रकाश डालेंगे। किन्तु वह अन्य प्रतीकों के सम्बन्ध में ही हमारे सामने आता रहेगा। यहाँ पर हम एक दूसरे महत्त्वपूर्ण प्रतीक का भी उल्लेख कर दें। वह है "घण्टा" या "घण्टी"। हेवेल[१] का कहना है कि यह प्रतीक भारत में ईरान से आया। एक दूसरे विद्वान् का कहना है कि दुष्ट आत्माओं—भूत-प्रेत को भगाने के लिए घण्टा बजाते थे।[२] किन्तु यहूदी लोग जिस "सुनहले बछड़े" की पूजा करते, थे उसके गले में भी घण्टी के समान चीज़ क्यों रहती थी? मिस्र में वृषभ देव को "एटिस" कहते थे। उनके गले में घण्टी के समान कोई चीज़ थी। असीरिया के वृषभ देव के पंख होते थे।

वृष देव—नन्दी के गले में घण्टी देखने के हम आदी हैं। वृषभ "नाद" का, "शब्द" का भी प्रतीक है। वृष "नाद" करता है। नाद पर, शब्द पर, वाणी पर, मातृका शक्ति पर हम अपनी समझ से काफ़ी प्रकाश डाल चुके हैं। प्रथम शब्द "ॐकार" था। "ॐ इत्येदक्षरमिदम् सर्वम्"[३] प्रथम अक्षर ॐ था। योगाभ्यास से जब शरीर के भीतर का कमल सीधा हो जाता है तथा नाल नीचे हो जाती है, जिस समय स्वयंभू लिंग में कुण्डलिनी प्रवेश करती है, शरीर के भीतर बड़ा मधुर नाद होता है—ॐकार की टंकार होती है, जिसे कबीरदास ने "अनहद नाद" लिखा है। जब मनुष्य संसार से अपने मन तथा बुद्धि को एकदम खींचकर अपनी आत्मा में लीन कर लेता है, उसी को **समाधि** कहते हैं। जब समाधि लग जाती है तो शरीर के भीतर नाद होता है। घण्टा इस नाद का प्रतीक है। वृषभ देव धर्म तथा नाद, दोनों के प्रतीक हैं। इसलिए उनके गले में नाद का, धर्म के द्वारा प्राप्त समाधि-अवस्था में उत्पन्न नाद का प्रतीक घण्टी या घण्टा बँधा है।

मन्दिरों में भी घण्टा बँधा रहता है। पूजन के लिए जानेवाले लोग घण्टा बजाते हैं। जिसे पश्चिमीय विद्वान् "भूत-प्रेत-बाधा" भगानेवाली चीज़ समझते हैं वह वास्तव

१. Havell.
२. W. J. Perry—"Origin of Magic & Religion."
३. माण्डूक्योपनिषद्—१

में "पूजा में विरोधी शक्तियों को भगानेवाला" नाद है। किसी भी पूजन के प्रारम्भ में "अपक्रामन्तु"—इस मंत्र से पूजा-विरोधी वातावरण को दूर करने के लिए बायें पैर से पृथ्वी को तीन बार मारकर—"वामपादेन भूमिं त्रिस्ताडयेत्"—कुछ ध्वनि की जाती है। यह प्राचीन क्रम है। इसी प्रकार देव-दर्शन में पूजा का आरम्भ करने की क्रिया का पहला काम है "घण्टा" बजाना। नाद कर विरोधी तत्त्वों को दूर कर देवता से शरीर के भीतर के नाद को जाग्रत करने की यह प्रार्थना मात्र है। साथ ही, अपनी उपस्थिति का अव्यक्त अङ्कन है, साक्षी है। फिर एक महत्त्व की बात और है। देवता जीवन्मुक्त हैं। इनकी सहज समाधि होती है। इनके शरीर में या निराकार मन में सदैव नाद होता रहता है। ये नाद-प्रिय होते हैं। अतएव नाद करने से ये प्रसन्न होते हैं।

डॉ० सम्पूर्णानन्द के कथनानुसार घण्टा समाधि में उत्पन्न नाद का प्रतीक है। मन्दिरों में घण्टा बजाने के विषय में पं० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते का कथन है कि "शास्त्रों की आज्ञा है कि मंदिर में प्रवेश के समय घण्टा बजाया जाय। इससे अपनी उपस्थिति सूचित होती है।"

"आगमार्थञ्च देवानां गमनाय च रक्षसाम् ।।"

इत्यादि श्लोकों से भी घण्टा-पूजन विहित है। इससे अनिष्ट जीवों का अपसारण तथा देवताओं का आवाहन भी सूचित होता है।

किन्तु, सबसे उपयुक्त अर्थ तथा व्याख्या डॉ० सम्पूर्णानन्द की प्रतीत होती है। घण्टा उस नाद, उस शब्द का प्रतीक है जिसके साथ सृष्टि का आरम्भ हुआ था तथा अन्त भी होगा। वृषभ धर्म का प्रतीक तो है ही, नाद का भी प्रतीक है। वास्तव में नाद का ही मुख्यतः प्रतीक है। नाद के देव वृष देव के सम्बन्ध में ही ऋग्वेद का मंत्र है—

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे
सप्त हस्तास्तो अस्य त्रिधा बद्धो वृषभो रौरवीति
महादेवो मर्त्या ँ आविवेष ।

यानी चार सींग, तीन पैर, दो सिर, सात हाथ, तीन जगह बँधा है, ऐसा जो वृषभ शब्द कर रहा है, (वह) महादेव यान, नाद मनुष्यों में प्रवेश कर गया।

घण्टा के बारे में जिस प्रकार लोगों को भ्रम हो गया है उसी प्रकार कौड़ी के उपयोग के बारे में भी काफी ग़लतफ़हमियाँ हैं। पेरी ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि कौड़ी स्त्री की योनि का प्रतीक है। वह "जीवन-दाता" तथा "जन्म-दाता" शक्ति का प्रतीक है। सूदान में स्त्रियाँ कौड़ी की करधनी कमर में इसलिए पहनती हैं कि उनको अधिक-से-अधिक सन्तान हो। बाद में जब मनुष्य को पीली धातु स्वर्ण का पता चला तो उन्होंने सोने की कौड़ी

बनाकर उसका उपयोग शुरू किया ।[1] पेरी के कथनानुसार सोने की कौड़ी के उपयोग से ही मनुष्य ने स्वर्णमुद्रा का उपयोग सीखा ।[2] सर जार्ज इलियट स्मिथ का यही मत है। पेरी के कथनानुसार पहले भिन्न देशों की देवियाँ जैसे वेनस (कामदेवी), सिब्रेला (कामदेवी), अफ्रोदाइत (कामदेवी), अस्तार्ती (कामदेवी), इन सबकी उपासना कौड़ी में ही होती थी । इनका रूप 'कौड़ी' की तरह का ही बनाया जाता था । बाद में चलकर उस कौड़ी में हाथ-पैर आदि जोड़कर पूरी प्रतिमा बना दी गयी ।

हमारे देश में आज भी पूजा के कार्य में कौड़ी का उपयोग केवल प्राचीन मुद्रा के रूप में होता है। कौड़ी के मुद्रा के रूप में उपयोग का पता वैदिक साहित्य से भी नहीं लगता। वैदिक साहित्य से हिरण्यहरित यानी स्वर्ण के उपयोग या उसकी जानकारी का पता चला है, कौड़ी का नहीं । वैदिक युग में सिक्के के स्थान पर जानवर के, 'पशुधन' के उपयोग की कल्पना तो होती है । यूनानी सभ्यता के आदिकाल में भी पशुधन का ही मुद्रा के रूप में उपयोग होता था । मुद्रा के लिए उनके शब्द का आधार भी, अर्थ भी 'पशु' है ।[3]

संस्कृत में कौड़ी के लिए 'वराटक' या 'वराटिका' शब्द मिलता है । यह काफी प्राचीन शब्द प्रतीत होता है । अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'गणकतरंगिणी' में विद्वद्वर पं० सुधाकर द्विवेदी (वाराणसी-निवासी) ने भारतीय गणितशास्त्र के आचार्य भास्कराचार्य का समय १०३६ शाके, यानी शक संवत्सर निर्धारित किया है । इस प्रकार आज के लगभग ८८० वर्ष पूर्व भास्कराचार्य ने अपने गणितशास्त्र के विश्वविख्यात तथा गणित पर संसार के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ' लीलावती' में द्रव्य की परिभाषा में लिखा है—

वराटकानाम् दशकद्वयं यत्
सा काकिणी ताश्च पणश्चतस्रः ।
ते षोडश द्रम्म इहावगम्यो
द्रम्मैस्तथा षोडशभिश्च निष्कम् ।।

अर्थात् बीस कौड़ी की एक काकिणी, चार काकिणी का एक पण (पैसा), सोलह पण का एक द्रम (चवन्नी), सोलह द्रम का एक निष्क (रुपया—आज के चार रुपये का एक निष्क) ।

१. W. J. Perry—"The Origin of Magic & Religion"—page 22.
२. Sir G. Elliot Smith—"The Evolution of the Dragon"—
३. लैटिन भाषा का शब्द Pecus है, जिसका अर्थ है पशु । उसीसे Pecuniary = आर्थिक, माली—शब्द बना है ।

इससे स्पष्ट है कि कौड़ी का उपयोग, आज के एक हजार वर्ष पहले मुद्रा के रूप में होता था । अतः जिस प्रकार हमारे यहाँ भी कौड़ी की माला, कौड़ी का गहना तथा द्रव्य के रूप में, लक्ष्मी के प्रतीक कौड़ी के पूजन की प्रथा है, उसी प्रकार अन्य देशों में, चाहे मिस्र हो या कोई दूसरा एशियाई देश, कौड़ी का उपयोग द्रव्य तथा शृंगार के लिए होता था । उसे अनायास स्त्री की योनि का प्रतीक मान लिया गया है । श्रीमती मरे ऐंसले ने भी कौड़ी के उपयोग का गलत अर्थ लगाया है । सम्भवतः सर्वप्रथम गणना के साधन के लिए कौड़ियों का उपयोग हुआ होगा । समुद्रतीर-निवासी आर्यों की जब आवश्यकताएँ बढ़ीं तबसे कौड़ी का प्रयोग आरम्भ हुआ होगा, क्योंकि यह समुद्र में ही प्राप्त होती थी । होते-होते मुद्राओं की प्राथमिक प्रतिनिधि कौड़ियाँ बन गयीं । कुछ समय बाद कतिपय कौड़ियों से गणना आरम्भ कर दुकड़ा, अधेला, पैसा आदि मुद्राएँ बनी होंगी । हमारी प्राचीन मुद्रा 'पण' तथा 'निष्क' का उपयोग तथा कौड़ियों का इनका सम्बन्ध भास्कराचार्य की 'लीलावती' से अकाटच रूप से सिद्ध हो जाता है ।

त्रिशूल

'त्रिशूल' प्रतीक यूरोप तथा एशिया में प्रचुर संख्या में पाया जाता है । पाश्चात्य लेखकों ने स्वस्तिक, त्रिशूल तथा ईसाई 'क्रास' प्रतीक को एक-दूसरे से मिलता-जुलता तथा एक-दूसरे से उत्पन्न प्रतीक माना है । किन्तु हरएक प्रतीक को कामवासना से सम्बन्धित करनेवाले लेखकों ने घूम-फिरकर इन प्रतीको को स्त्री योनि तथा पुरुष लिंग से सम्बन्धित कर दिया है । कटनर[१] ने लिखा है कि मिस्र की कुछ प्राचीन 'ममी' यानी मसाला भरकर सुरक्षित रखे हुए मुर्दों पर, विशेषकर स्त्री के शव के ऊपर—उसके बक्स पर पुरुष-लिंग बना हुआ है । मिस्री स्त्रियाँ लिंग की शक्ल का ताबीज पहनती थीं । पुराने ज़माने में हेरोडेटस[२] नामक इतिहासकार ने मिस्र में एक जुलूस देखा था जिसमें लोग तीन महान् लिंग एक साथ जोड़कर ले जा रहे थे । यही 'त्रिशूल' था । ईसाई 'क्रास' भी 'लिंग' का ही प्रतीक है । लिंग से सृष्टि होती है । यही बात प्रकट करने के लिए 'क्रास' बनाया गया । पेन नाइट तथा गाडफ्रे हिगिन्स[३] का कहना है कि क्रास 'प्रजननशक्ति' को व्यक्त करता है । ईसाइयों ने इसी प्रतीक को अपने धर्म में अपना लिया । मिस्र में यह प्रतीक बहुतायत से अब भी पाये जाते, यदि चौथी शताब्दी में बड़े पादरी बिशप थियोसोफ़िलीज़ ने रोमन सम्राट् थियोडोसिनिस की आज्ञा से मिस्री देवालयों तथा प्रतीको को नष्ट न किया होता।[४] कटनर के कथनानुसार ईसाई धर्मग्रन्थ बाइबिल के पुराने संस्करण[५] में, जो हिब्रू भाषा में था, लिंग-प्रतीक का काफ़ी ज़िक्र था, पर उसका अनुवाद करते समय सी०डी० जिसबर्ग[६] ने उन चीजों को हटा दिया था । वॉल ने अपनी पुस्तक में 'क्रास' को 'उत्पन्नकर्त्ता' का

१. H. Cutner—A Short Histoɪy of Sex Worship.

२. हेरोडेटस ईसासे ४८० वर्ष पूर्व के समय में थे ।

३. Payne Knight and Godfrey Higgins.

४. कटनर की पुस्तक ।

५. OLD TESTAMENT.

६. C. D, Ginsburg.

प्रतीक माना है। मूर[1] ने मिस्री पिरामिड का जो त्रिकोण बनता

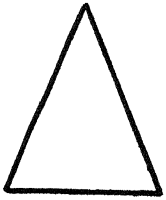

है तथा जिसमें ऊपर का कोना खड़ा रहता है, उसे पुरुष-लिंग का प्रतीक ही नहीं माना है, वे उसे भारत के 'शैव' सम्प्रदाय की प्रसादी भी मानते हैं। अनेक लेखकों ने प्रसिद्ध मिस्री 'पिरामिड' को लिंग-प्रतीक माना है। इनमान[2] ने भी अपनी पुस्तक में इसी विचार की पुष्टि की है। लिखनेवालों ने तो यहाँ तक लिखा है कि बाइबिल में 'डेविड' नाम का अर्थ ही है 'प्यारा'[3] यानी आशिक-मिज़ाज़।

मेक्सिको में 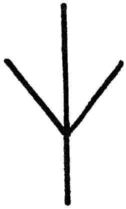 प्रतीक उत्पादनशक्ति का द्योतक था।[4]

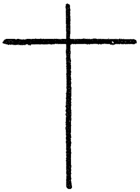

का मिस्री प्रयोग इसी रूप में होता था। इसी को

१. E. Moore—"Hindu Pantheon".

२. Inman—"Ancient Faith Embodied. in Ancient names."

३. David = Beloved in Hebrew—To Love erotically.

४. कटनर की पुस्तक, पृष्ठ १५८।

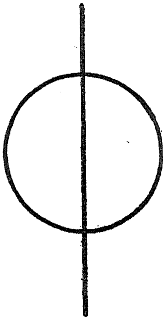

बना देते थे—मिस्र में जिसे 'आइसिस देवी का डण्डा' कहते थे। इसका मतलब था कि 'स्त्री-पुरुष' मिल गये। मिस्री भाषा में इस प्रतीक को 'आन्ख' कहते थे।

यूनानी कामदेवी वेनस का प्रतीक

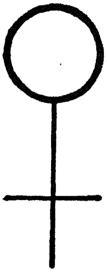

भी यही अर्थ रखता था।

हिन्दू स्वस्तिक का भी यही अर्थ था। यहूदी प्रतीक

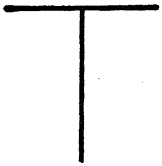

का भी यही अर्थ होता था।[१] कुमारी फ्रांसिस स्विनी ने अपनी छोटी-सी पुस्तक में लिखा है कि ⌀ का अर्थ है कि पुरुष-लिंग स्त्री के गर्भाशय में प्रवेश कर गया।[२]

१. वही, पृष्ठ १५८।
२. Francis Swiney—"The Mystery of Circle and the Cross".

कटनर की पुस्तक में लिखा है कि यूनानी देवी दियाना 'अर्द्धनारीश्वर' थीं, पुरुष तथा स्त्री दोनों ही। इनकी संहारक (शिव) शक्ति भी थी और पालक (पार्वती) शक्ति भी। ईसाइयों की कुमारी देवी मेरी-मरियम वास्तव में भारतीय 'माया' का रूपान्तर हैं। 'दुर्गा' हैं जिनके हाथ में हिन्दू लोग त्रिशूल देते हैं। यह उस देवी की तीन शक्तियों का द्योतक है—'उत्पादक—पालक-संहारक।' मिस्री भाषा में सूर्य को 'ओन' या 'औन' कहते हैं जो भारतीय ॐ से मिलता-जुलता शब्द है। ईरानी देवी उणमिया वास्तव में ईसाई 'मरियम' तथा भारतीय 'उमा' हैं।

ऐसी बुद्धिमानी की बातें कहकर भी कटनर अपने 'कामवासना' के सिद्धान्त में उलझ गये। वे हर एक चीज़ को कामवासना से जोड़ते हुए लिखते हैं—

"···पुरुष में वह मक्कारी और ताक़त है कि जब तक वह सन्तुष्ट न हो जायेगा, सभी सीमाओं का उल्लंघन कर जायेगा। विवाह का इतिहास, धर्म का इतिहास, मानव के सामाजिक जीवन का इतिहास—ये सभी सिर्फ़ यह साबित करते हैं कि मनुष्य के जीवन में उसकी कामवासना का कितना बड़ा हाथ रहा है। बिना इस तथ्य को स्वीकार किये, समूचा इतिहास ही बिना अर्थ का रह जायेगा।"[१]

कटनर यह स्वीकार करते हैं कि 'देवी'-पूजा का उपदेश ईरान या यूनान या रोम को भारतवर्ष से मिला। वे यह भी मानते हैं कि वेनस नामक यूनानी कामदेवी यूनान की सबसे प्रिय तथा पूज्य देवी थीं। इटली में उनके लिए १८५ मन्दिर थे।[२] उनके अनुसार इसका एक मात्र कारण यह था कि "सभी लोग जनसंख्या में वृद्धि चाहते थे।" वे लिखते हैं कि "बिपलोस की वेनस देवी तथा फ्रिज़िया की एलिस देवी भी एक ही थीं।" प्राचीन भूगोलकार टालमी लिखते हैं कि "असीरिया तथा ईरान में लिंग को पवित्र वस्तु मानते थे और ईरान के सूर्य देवता की, जिनका नाम 'मित्र' था, कल्पना संभोगेच्छु मुद्रा में की गयी थी।" सीरिया में हीरापोलिस नामक स्थान में एक मन्दिर था जिसमें १७० फुट लम्बे दो विशाल लिंग खड़े थे। इनका सिरा इतना चौड़ा था कि उस पर एक आदमी आराम से बैठ सकता था। एक लिंग के ऊपर एक व्यक्ति ने बैठकर सात वर्ष तक तपस्या की थी। फोयेनीसिया में लिंग-उपासना होती थी। रोम में कामदेवी की मूर्त्ति अनेक प्रकार की बनायी जाती थी। लकड़ी के हाथ-पैर, संगमरमर पत्थर का सिर, अशोभनीय मुद्रा आदि में।

इन सब बातों को लेकर पाश्चात्य लेखकों ने सभी प्राचीन प्रतीकों को कामुक प्रतीक माना है। किन्तु, यदि भारतीयों के द्वारा देवी की उपासना, लिंग की उपासना तथा उनके

१. वही पुस्तक, पृष्ठ १५४।

२. वही, पृष्ठ ४९।

प्रतीक विदेशों में पहुँचे तो उनका आधार भी, अर्थ भी भारतीय ही क्यों न रहा हो ? इसकी समीक्षा हम आगे चलकर करेंगे। त्रिशूल के तीन चिह्नों का अन्य अर्थ भी हो सकता है। मिस्र के विषय में लिखते हुए अनेक पाश्चात्य लेखक स्वीकार करते हैं कि उनके तीन मुख्य देवी-देवता थे—

(१) ओसिरिस—प्रथम कारण (सृष्टि का)।
(२) आइसिस—ग्रहण करनेवाली देवी (गर्भाधान)।
(३) होरस—प्रथम तथा द्वितीय के संयोग का परिणाम।

अब यदि इनको हम शिव, उमा तथा गणेश कहें तथा इनका परिणाम त्रिमूर्त्ति का प्रतीक त्रिशूल कहें तो पाश्चात्यों को क्या आपत्ति होगी ?

क्रास के विषय में ही लीजिए। पश्चिमी विद्वानों में इसके सम्बन्ध में भिन्न धारणाएँ हैं। पार्सन्स[१] का कहना है कि 'यह प्रतीक' जीवन के लिए था। ६ठी शताब्दी तक ईसाई मज़हब ने इस प्रतीक को नहीं अपनाया था। सबसे पहले ईसाई धर्म को अपनानेवाले प्रथम रोमन सम्राट् कांस्टेंटाइन ने एक गोलाकार क्रास को अपनाया था। यूनानी लिपि में ईसा के लिए जो अक्षर लिखे जाते थे वे तीन थे तथा X पहला अक्षर था।[२] रोमन देवता जूपिटर (गुरु) तथा सैटर्न (शनि) के हाथ में क्रास रहता था। उससे भी क्रास की प्राचीनता सिद्ध होती है। मिस्र के शाही झण्डे पर क्रास बना रहता था।

ईसाई प्रतीकों की व्याख्या करते हुए श्री गैम्बल लिखते हैं—

"ईसा मसीह की शूली (क्रास पर) तथा उसके बाद उनके स्वर्गारोहण की घटना ने उनके शिष्यों का ध्यान पृथ्वी पर से खींचकर उस स्वर्ग की ओर पहुँचा दिया जो अब उनके प्रभु का निवासस्थान हो गया था···इस प्रकार मृत्यु ने अपना साधारण रूप ग्रहण कर लिया और उसके बाद क्या होता है, यह लोगों के लिए चिन्ता तथा कामना का विषय बन गया···क़ब्रों पर फूल तथा विशेष कर गुलाब का फूल चढ़ाना वास्तव में स्वर्ग का प्रतीक है। 'अच्छा गड़ेरिया' तथा 'मेमना' ये दोनों भगवान् तथा संरक्षक (ईसा) के प्रतीक हैं। ईसाइयों में मछली का प्रतीक ईश्वर के साथ एकत्व का द्योतक है (जैसे पानी में मछली रहती है)। 'सुराही में से कबूतर पानी पी रहा है' का प्रतीक इस बात को प्रकट करता है कि जीवन में (शरीर धारण कर) आत्मा अपने को ताजा बना रही है। जीवन में ज्यों-ज्यों भय तथा विपत्तियाँ बढ़ती गयीं, ईसाइयों के गिर्जाघरों के साथ भय के प्रतीक

१. J. D. Parsons—'Non-Christian Cross."
२. PI=Christ.

अधिक सम्बद्ध होते गये। क्राइस्ट (ईसा) की मूर्त्तियाँ अधिक कठोर चेहरेवाली बनती गयीं तथा कुमारी मरियम को कष्टों से त्राण देनेवाली बनाया गया।"[१]

क्रास के सम्बन्ध में गैम्बल लिखते हैं—

"क्रास तो बाद में आया। सम्राट् कांस्टेंटाइन ने मैक्सेंटियस के विरुद्ध अपने धर्म-युद्धों में सिपाहियों की ढाल पर क्रास का चिह्न बनाया था। यह ईसवी सन् ३१२ की बात है। इसके पहले यह प्रतीक केवल एक ईसाई क़ब्र पर मिलता है । यह कांस्टेंटाइन के युग के पहले का है। सम्भवत: चौथी सदी का। P से तात्पर्य है 'पैशन' यानी वासना। पर, जब क्रास का प्रतीक चालू हुआ तो उस पर गुलाब की पत्तियाँ भी रखी थीं। असल में साधु पाल ने अपने धर्मशास्त्र में क्रास की वर्तमान महत्ता का सूत्र-पात किया। पहले तो क्रास का प्रतीक 'रास्ते की ठोकर यानी बाधा' व्यक्त करता था। बाद में वह 'अभ्युदय' का प्रतीक बन गया···गिर्जाघरों पर क्रास बनना सातवीं सदी से शुरू हुआ। लैटिन गिर्जा पर एक मेमना बनाया जाता था, जिसके सीने से रक्त बहता रहता था और हाथ में क्रास लिये हुए था।[२] मिस्री क्रास T बनता था।"[३]

डॉ० वारज़ेक[४] के अनुसार क्रास का प्रतीक स्वस्तिक से निकला है। बीच में गोल बनाकर चारों तरफ़ क्रास के चिह्न सूर्य देवता के प्रतीक हैं । 'तीन भुजा'वाला क्रास स्वस्तिक से निकला है।[५] वेल्स तथा इटली में ऐसे बर्तन मिले हैं जिनमें बीच में क्रास है तथा चारों ओर गोलाई है—यह भी सूर्य का प्रतीक

१. J. Gamble's Article—"Christian Symbols"—In "Symbolism" Encyclopaedia of Religion and Ethcs"—Editor—James Hastings—Page 134.
२. Come ye after me, and I shall make ye fishers of men—(Mathew-4 and 1).
३. वही पुस्तक, पृष्ठ १३५।
४. Komer Aerr Dr. Worsaac, Head of the Archeological Department, Denmark, 1896.
५. Symbolism of the East and West, page 33.

प्रतीत होता है।[1] अरीज़ोना की मोकीज़ जाति के लोग सर्प-नृत्य के समय जो वस्त्र पहनते हैं उस पर T क्रास बना रहता है।[2] ईसवी सन् ३७० में अफ्रीका के ईसाई सम्राट् प्रेस्टर जान ने ईसाई धर्म के प्रचारक साधुओं के काले वस्त्रों पर T प्रतीक नीले रंग में बनवाया था। आस्ट्रिया की राजधानी वियेना में सन् १०६५ में एक रईस गिरोंद नामक व्यक्ति ने ईसाई साधुओं के काले वस्त्रों पर T का प्रतीक बनवाया था। सन् १२६४ में इन्हीं साधुओं के द्वारा यह प्रतीक इंगलैण्ड पहुँचा। बवेरिया (जर्मनी) के राजा अलबर्ट ने सन् १३८२ में इसी प्रतीक को अपनाया था। पर, इन ईसाई लोगों के बहुत पहले क्रास का प्रतीक वर्तमान था। जब स्पेन के लोग सबसे पहले दक्षिण अमेरिका पहुँचे तो उन्होंने वहाँ के मन्दिरों पर उस प्रतीक को देखा। इन मंदिरों में नर-बलि भी होती थी। स्पेनी लोगों ने इसे दुष्ट प्रतीक समझा। उन्हें नहीं मालूम था कि "यूरोप के इतिहास के प्रारम्भ होने के बहुत पहले स्वस्तिक प्रतीक एशिया में वर्तमान था।"[3] (क्रास तो स्वस्तिक का अंश माना जाता है।) मेक्सिको के आदिम निवासी क्रास का उपयोग करते थे। उसमें चार पंक्तियाँ होती थीं +। यह प्रतीक 'वर्षा' तथा 'उपज' का प्रतीक था। चार हवाओं से वर्षा होती थो। इस प्रतीक का उनकी भाषा में नाम था "तोमाकुआ हुइतिल,[4] यानी जीवन दायक वृक्ष।" वे इसे ताऊ भी कहते थे, यानी 'जीवन दायक वृक्ष के द्वारा मुक्ति।' मेक्सिको में एक स्थान पर, जहाँ पर आज वेराक्रूज नामक नगर खड़ा है, संगमरमर का एक क्रास बना था, जिस पर स्वर्णमुकुट रखा हुआ था। वहाँ के रहनेवालों ने ईसाई पादरियों को बतलाया था कि यहाँ पर "सूर्य से भी अधिक प्रतिभाशाली की मृत्यु इसी क्रास पर हुई थी।"

उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका के आदिम निवासियों के अधिकांशतः धार्मिक तथा ज्योतिष सम्बन्धी विश्वास समान-से थे। इसके काफ़ी प्रमाण मौजूद हैं कि उनको ज्योतिष की भी जानकारी थी। अपने इन 'धार्मिक विचारों' को प्रकट करने के लिए उन्होंने चिह्न बना रखे थे।[5] अतएव उनके चिह्नों को समझने में विशेष कठिनाई नहीं होती है। कुछ आदिम लोग पत्थर के टुकड़े को क्रास के रूप में खड़ा कर देते थे। उनके विश्वास के अनुसार यह प्रतीक उस "वृद्ध पुरुष का था जो सूर्य में बैठकर वायु पर नियंत्रण रखता है।" देलावेयर के लोग ज़मीन में क्रास बनाकर ज़ोर-ज़ोर से वर्षा का आवाहन करते थे। क्रास

१. वही पुस्तक, पृष्ठ ४३। २. वही, पृष्ठ ६८। ३. वही, पृष्ठ ७०।
४. Tomaquahuitl. ५. वही, पृष्ठ ७१।

प्रतीक अमेरिका कैसे पहुँचा, यह इतिहास के गर्भ में पड़ी बात है, पर ऐतिहासिक काल के पूर्व से इसका उपयोग वहाँ होता आया है, यह निश्चित है।[१]

कटनर ने अपनी पुस्तक में स्वीकार किया है कि चीनी लोगों में भी क्रास प्रतीक होता था। प्राचीन चीनी मत के अनुसार प्रकृति के दो रूप हैं—दो प्रकार हैं—एक यांग, जो पुरुष है तथा दूसरी यिन, जो स्त्री है। प्रकृति के इन दो रूपों का द्योतक T भी हो सकता है। ईसाई धर्म में त्रिमूर्त्ति है—पिता—परमात्मा—पुत्र-रूप में परमात्मा तथा पवित्र प्रेत यानी पिता-माता, पुत्र। इन तीनों का प्रतीक भी T हो सकता है। ग्रांट की पुस्तक में लिखा है कि इज़रायलियों के देवता यहोवा छोटे आकार के लिंग रूप में थे। उनके सामने फ़िलस्तीनों के देवता देगोन टुकड़े-टुकड़े होकर गिर पड़े थे। यूरोप आदि देशों में क्रास से चिह्नित पवित्र पत्थरों की उपासना सन्तान-रहित स्त्रियाँ अब भी करती हैं।[२]

क्रास को स्वस्तिक का अंश माननेवाले लेखक वाल कहते हैं कि + का मतलब है कि चार लिंग एक केन्द्र में स्त्री-योनि को बेध रहे हैं।[३] जर्मन विद्वान् शिमान[४] का कथन है कि ऐसे प्रतीक तथा स्वस्तिक यूरोप में सर्वथा पाये जाते हैं। विल्किंसन[५] का कहना है कि T प्रतीक मिस्र में बहुतायत से पाया जाता है। उसके लिए उनका शब्द भी 'ताऊ' था। मिस्र में नरेश का राज्याभिषेक बड़े समारोह के साथ होता था। उनके शरीर में सुगंधित तेल चुपड़ा जाता था। वे मूल्यवान् वस्त्र धारण करते थे। मंत्रोच्चार के साथ देवगणों का आवाहन होता था। देवगण उनके मस्तक पर हाथ रखकर नरेश के हाथ में ताऊ देते थे जो कि वास्तव में जीवन तथा पवित्रता का प्रतीक होता था। मिस्री लोग नील नदी के सहारे ही जीते थे। वे उससे अच्छी-अच्छी नहरें निकालकर खेतों को पानी पहुँचाते थे। नदी में पानी के उतार या चढ़ाव की बराबर जाँच होती रहती थी। इसके लिए सरकारी कर्मचारी रहते थे, जो रजिस्टर में आँकड़े दर्ज करते रहते थे। उनकी रिपोर्ट पर ही नहरों का पानी खोला जाता था। निश्चित ऊँचाई पर नदी का पानी पहुँचने पर ही नहरों का पानी खोला जाता था। अतएव बहुत सम्भव है कि 'जीवन-दायिनी नील नदी के जल की कुंजी' का प्रतीक ताऊ T था जिसे देवगण नये नरेश के

१. वही, पृष्ठ ७२।
२. Grant Allan–"Evolution of the Idea of God".
३. Cutner—Page 187.
४. Schhimann.
५. Sir J. Gardner Wilkinson—Ancient Egyptians.

हाथ में देते थे।'[१] यह भी सम्भव है कि आगे चलकर यही प्रतीक मिस्रियों के लिए प्रकाश तथा उत्पादन का प्रतीक बन गया हो या मृत्यु तथा विनाश का भी प्रतीक बन गया हो, क्योंकि ज्योतिष में T क्षीणता का प्रतीक माना जाता है। मूर लेखक का कहना है कि यूनानी लोग ताऊ T का प्रयोग उन लोगों के लिए करते थे जो युद्ध से जीवित लौटते थे। मृतक के लिए ⊖ प्रतीक बनाया जाता था। इस प्रकार T 'जीवन का प्रतीक बन गया।'[२] मूर के अनुसार यह प्रतीक यूनान में भारतवर्ष से आया।

श्रीमती मरे ऐंसले ने प्रतिपादित किया कि है T प्रतीक से ही हथौड़े 0—का प्रतीक बना, जो कि वर्षा के देवता का वज्र बन गया, जिसकी चोट से मेघ पानी बरसाता था। यूनानी देवता जियूस वर्षा, अग्नि तथा पानी के देवता थे। रोमन देवता जोव का भी यही कार्य था। स्वेडन-नार्वे के थार देवता का भी यही कार्य था, हमारे इन्द्र देव की तरह। इन्द्र देव के वज्र के समान उन सभी देवताओं के हाथ में हथौड़ा अस्त्र रहता था। इन्द्र के समान थार देवता भी राक्षसों से बराबर युद्ध किया करते थे। इनके हाथ में एक 'संहारकारी' अस्त्र रहता था जो T प्रतीक था। न्यूजीलैण्ड के भावरी लोगों में भी ऐसे ही प्रतीक की पूजा होती है।

इस प्रकार त्रिशूल या उसके एक रूप T या क्रास के सम्बन्ध में हमने यूरोपीय विद्वानों की खोज तथा सूझ दोनों का संक्षेप में परिचय दे दिया। ऊपर की पंक्तियों से हमारे इस विश्वास की पुष्टि होती है कि चाहे शिव-लिंग की उपासना हो या त्रिशूल की या स्वस्तिक की या क्रास की—यह सब कुछ भारत से ही आर्यों के द्वारा संसार को प्राप्त हुआ है। देश, काल तथा युगों के हेर-फेर से इनके आदि या मौलिक नाम बदल गये, उच्चारण बदल गया, भावना बदल गयी, रूप भी बदल गया, पर अन्ततोगत्वा चीज़ एक ही थी, चाहे वह इन्द्र भगवान् की कल्पना हो या सूर्य की। इसी प्रकार भिन्न प्रतीकों की रूप-रेखा तथा तत्सम्बन्धी भावना भी बदल गयी और हमारे देश के उपदेश का ग़लत अर्थ भी लगा लिया गया होगा। पर भारत के आर्यों ने कामवासना को तथा प्रजनन को वह ऊँचा स्थान नहीं दिया था जैसा कि पाश्चात्य विद्वान् समझते हैं या जैसा कि वे सिद्ध करना चाहते हैं। हमारे यहाँ आध्यात्मिकता ही, उच्च भावना ही मौलिक आधार रही है और चाहे प्रतीक हो या प्रतिमा, उसका अर्थ तथा रूप वह नहीं है जो लोग साधारणतः समझते हैं।

१. Symbolism of the East & West—page 64.
२. Moor—Oriental Fragments–Hindu Pantheon—page 477.

इसी दृष्टि से त्रिशूल का भी बड़ा महत्त्वपूर्ण तथा व्यापक अर्थ है और उसी रूप में उस प्रतीक को हमारे देश ने संसार को दिया था। हमारे पूर्वजों ने शंकर या दुर्गा के हाथ में त्रिशूल को किसी कामुक भावना से नहीं दिया था। त्रि-शूल का अर्थ समझने की चेष्टा करनी चाहिए।

शंकर की, रुद्र की उपासना संसार में सबसे पुरानी उपासनाओं में से है, यह बात हम आगे चलकर और भी विस्तार के साथ सिद्ध करेंगे। पिछले अध्यायों में हम लिंग-पूजन का बार-बार उल्लेख करते आये हैं। हम यह सिद्ध करेंगे कि शंकर देवता का प्रतीक लिंग था और उसका वह अर्थ नहीं है जो पाश्चात्य लेखकों ने लगा लिया है। यह सत्य है कि भारत से लिंगपूजा संसार में फैली और शताब्दियों बाद उसका अर्थ तथा भाव लोगों ने भुला दिया और लिंगपूजन का महान् आध्यात्मिक महत्त्व विस्मृत हो गया तथा उसको वासना का प्रतीक बना लिया गया। शिव-लिंग शंकर का प्रतीक था। प्रतीक के रूप में ही यह संसार में पहुँचा। 'प्रतीकोपासना' का ज़िक्र आदि शंकराचार्य ने अपने वेदान्त में—शंकरभाष्य में किया है। शिव-लिंग शंकर का प्रतीक था, वैदिक युग में भी। ऋग्वेद में 'शिश्न देवता' का ज़िक्र आया है। कुछ पंडितों का कहना है कि 'शिश्न देवता' का अर्थ इन्द्रियपरायण व्यक्ति है। कुछ का कहना है कि इसका उपयोग शिव-लिंग-पूजकों की निन्दा के रूप में है। हर दशा में 'लिंग-पूजन' की सत्ता तो सिद्ध होती ही है। मोहेंजोदाड़ो (सिन्ध) की खोदाई में, ५००० वर्ष पूर्व भी लिंग-पूजन के प्रमाण मिलते हैं।

शंकर योगिराज हैं। सभी रसों के अवतार हैं—हास्य, शृंगार, रौद्र, बीभत्स, करुण इत्यादि सभी रसों का उनमें समन्वय है। शंकर के हाथ में 'त्रिशूल' है। जहाँ भी कहीं शिव-लिंग मिलता है, देश-विदेश में, वहाँ नन्दी तथा त्रिशूल भी मिलते हैं। नन्दी प्रतीक का अर्थ हम समझा चुके हैं। त्रिशूल का अर्थ भी काफ़ी गूढ़ है। क्रास के सम्बन्ध में हमने ऊपर बहुत कुछ लिखा है। यह क्यों न मान लें कि भारतीय त्रिशूल विदेशी क्रास बन गया? स्वस्तिक प्रतीक की व्याख्या करते हुए हैवेल ने लिखा है कि प्राचीन हिन्दू नगर इस प्रकार बसाये जाते थे कि नगर के बीच एक बड़ी सड़क पूर्व से पश्चिम तथा एक बड़ी सड़क उत्तर से दक्षिण को जाती थी। इसलिए 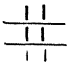 प्रतीक बना जो नगर का प्रतीक था। उसी से स्वस्तिक प्रतीक निकला। डॉ० सम्पूर्णानन्द का कहना है कि हमारे शरीर के भीतर जो मूल कमल है उसका रूप + है। अतएव यह परम कल्याण-वाचक प्रतीक हुआ। इसी का रूपान्तर स्वस्तिक है जो परम कल्याण-वाचक प्रतीक है। इस सिद्धान्त से + क्रास का बड़ा व्यापक अर्थ हो गया। क्रास से तथा कामवासना से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा।

+ से ही त्रिशूल † प्रतीक भी बन सकता है या बना होगा। परम योगिराज शंकर के हाथ में परम कल्याणकारक † प्रतीक रहता है। किन्तु त्रिशूल की इतनी सरल व्याख्या नहीं है। पं० रामचन्द्र शास्त्री वझे का कहना है कि शिवजी के स्वरूप में 'त्रि' का अत्यन्त महत्त्व है। शंकर के 'त्र्यम्बक' (त्र्यम्बकं यजामहे) नाम से ही यह बात स्पष्ट है। शंकर में तीन तत्त्व सन्निहित हैं---शान्ति, वैराग्य तथा बोध (ज्ञान)। इन तीनों तत्त्वों का प्रतीक त्रिशूल है। ऐतिहासिक दृष्टि से त्रिशूल अनादि है। जब शिवतत्त्व साकार हुआ, उसके साथ ही त्रिशूल भी साकार हो गया। पौराणिक दृष्टि से इस अस्त्र से त्रिपुरासुर का वध शंकर ने किया था, इसी लिए त्रिशूल का महत्त्व हो गया।

शान्तिवैराग्यबोधाख्यैस्त्रिभिरस्त्रैस्तरस्विभिः।
त्रिगुणं त्रिपुरं हन्ति त्रिशूलेन त्रिलोचनः॥

पं० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते की व्याख्या अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है। उनके मतानुसार प्रागैतिहासिक काल से त्रिशूल भारतीय सभ्यता में चला आया है। 'नकुलीश पाशुपत' आदि सम्प्रदायों में प्राप्त मूर्त्ति या मूर्त्ति के ध्यानों में 'लगुड' या 'डण्डा' भी है। सम्भवतः यह 'लगुड' ही त्रिशूल का पूर्वरूप रहा होगा या रूपान्तर होगा।

त्रिशूल 'कुण्डलिनी' तत्त्व का परिचायक भी है। शरीर के भीतर इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना---तीन मुख्य नाड़ियाँ हैं, जो मूलाधार लिंग को भी लपेटे हुए हैं। इस तीन--त्रि--संख्या का परिचायक भी त्रिशूल है। योगिराज शंकर ने कुण्डलिनी को वश में कर रखा है। अतएव उनके हाथ में त्रिशूल है।[1]

तंत्रशास्त्र में, शैव आगमों में, त्रिशूल पर काफ़ी प्रकाश डाला गया है। काश्मीरीय शैवागम या अद्वैतप्रधान भैरवागमों में देवताओं के यंत्र त्रिशूलात्मक पाये जाते हैं। त्रिशूलात्मक यंत्र का ही बोध---

'शूलाऽब्जमण्डलम्'

ऐसे वाक्यों से होता है। तंत्र में त्रिशूल से तात्पर्य है---परा, अपरा तथा पराऽपरा शक्तियाँ। देवी के हाथ में त्रिशूल इन तीन आदि शक्तियों का बोध कराता है। परा-अपरा शक्ति पर हम तंत्र-सम्बन्धी अपने अध्याय में विवेचन कर चुके हैं।

अन्य आगमों में (शक्ति-प्रधान तंत्रशास्त्र में) शिव से उद्भूत तीन प्रधान शक्तियाँ बतलायी गयी हैं---इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया। इन तीनों को त्रिशूल में स्थान दिया गया

१. "गुरु-तत्त्वाधिष्ठाता" शिव की कृपा से ही कुण्डलिनी की तीनों शक्तियाँ विकसित होकर साधक को पूर्ण शिवतत्त्व प्राप्त कराती हैं। इसलिए शिव के हाथ में त्रिशूल है।---लेखक

है। इन तीनों शक्तियों को शंकर या दुर्गा या काली या पार्वती अपने हाथ में धारण किये हुए हैं। मानव-जीवन का समूचा खिलवाड़ इन्हीं तीनों शक्तियों के भीतर केन्द्रीभूत है—इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया। शरीर-रचना-विज्ञान के अनुसार मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) के ऊपरी हिस्से को सूक्ष्म रूप से तीन विभागों में बँटा हुआ देखा जा सकता है। शरीर के भीतर यही त्रिशूल है। बनर्जी ने अपनी पुस्तक में[१] त्रिशूल की जो विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की है, वह भी उपरिलिखित व्याख्या में आ जाती है। कुछ लोग कहते हैं कि वात-पित्त-कफ, ये तीन शूल ही मनुष्य की शारीरिक व्याधियों के कारण हैं। देवों ने त्रिशूल धारण कर मनुष्य को निर्भय करने का आश्वासन दिया है। कुछ लोगों ने जन्म-मृत्यु-पुनर्जन्म के पीड़ाजनक चक्र के द्योतक को त्रिशूल कहा है। कुछ लोग काम-क्रोध-लोभ को त्रिशूल कहते हैं। किन्तु इन सब व्याख्याओं में श्रेष्ठ परिभाषा कुण्डलिनी रूपी त्रिशूल है। जीवन का समूचा सार इसी में है। शंकर ने जो कुछ किया है, मानव के कल्याण के लिए। उसका परम कल्याण मोक्ष पाना है। इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया के द्वारा इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना को जाग्रत कर स्वयंभू लिंग में समाविष्ट कर अपनी आत्मा में लीन हो जाना ही मोक्ष है।

त्रिशूल इसी का प्रतीक है। क्रास इसी का रूपान्तर है। स्वस्तिक तथा त्रिशूल में मौलिक भेद है। उस भेद को पहचानने के लिए हमारा अगला अध्याय पढ़ना चाहिए। किसी एक वस्तु को देखकर उसका अर्थ स्पष्टतः समझ में आ जाना निश्चित नहीं है। एडवर्ड सैपिर ने लिखा है कि "कुछ अधिक निकटवर्ती यानी घनिष्ठ तथा प्रकट आचरण और वास्तविक आचरण के बीच के छिपे आचरण को व्यक्त करनेवाली चीज़ का नाम प्रतीक है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि सभी प्रतीकों का जो वास्तविक प्रतिपादन तथा भाव होता है वह केवल उस सम्बन्ध में प्रकट अनुभव से नहीं ग्रहण किया जा सकता। प्रतीकों के सम्बन्ध में दूसरी मार्के की बात यह है कि उन्हें देखकर प्रकट में जो तात्पर्य या अर्थ उनसे हम निकाल लेते हैं उससे कहीं अधिक भिन्न तथा विस्तृत उनका अर्थ होता है। प्रतीक की बड़ी व्यापक शक्ति को संकलित कर संक्षिप्त रूप दे दिया जाता है।"[२]

त्रिशूल को समझने के लिए आध्यात्मिक अध्ययन आवश्यक है।

डॉ० रोअर ने त्रिशूल की बड़ी अच्छी व्याख्या की है। वे वैदिक मंत्र का उद्धरण देते हैं—

१. Hindu Iconography–pase 387.
२. Edward Sapir—Article in "Encyclopaedia of the Social Sciences–"Symbolism"—page 493.

तदेतदक्षरं सत्यमिति स इत्येकमक्षरं तित्येक-
मक्षरं यमित्येकमक्षरम्

स तथा य का अर्थ है सत्य । बीच के त् का अर्थ है अनृत, यानी झूठ । † त्रिशूल में दोनों तरफ सत्य के बीच में असत्य है, जिससे सदैव सतर्क तथा सावधान रहना चाहिए ।[१]

ऊपर हम यह लिख चुके हैं कि शिव के साथ 'त्रि' का—तीन का घनिष्ठ सम्बन्ध है । मनुष्य के जीवन में भी तीन अवस्थाएँ होती हैं—सुषुप्त (सोया हुआ), तन्द्रा (न सोया-न जागा) तथा (जाग्रत्, जागती हुई स्थिति) । बाहर का ज्ञान जाग्रत् अवस्था में ही होता है । उसी को 'बहिष्प्रज्ञ'—'जागरितस्थानौ बहिष्प्रज्ञौ' कहते हैं । मनुष्य की सुप्तावस्था में भी क्रियाएँ होती रहती हैं । सुप्तावस्था में ही उसे इच्छा भी होती है या हो सकती है । ज्ञान भी होता है या हो सकता है । किन्तु जाग्रति पर ही क्रिया होगी । सोने की दशा में भी लोग हाथ-पैर चला लेते हैं, पर वह निष्परिणाम होता है । असली चीज़ क्रिया है, जो ज्ञान तथा इच्छा को कार्यरूप में परिणत करती है । त्रिशूल में एक तरफ़ इच्छारूपी शूल (बाधा) है तथा दूसरी तरफ ज्ञानरूपी शूल (यानी बाधा) । बीच में क्रिया है, जो दोनों का परिणाम है । मोक्ष के लिए इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया, तीनों को लय कर देना होगा । ज्ञान भी असल में बन्धन का कारण हो सकता है । ज्ञान से ही अज्ञान उत्पन्न होता है, जो बन्धन का कारण हो जाता है तथा जिससे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

अज्ञानेन विना बंधमोक्षो नैव व्यवस्थया ।।[२]

हमारे जीवन में जो कुछ है, वह तीन चीजों में बँधा हुआ है । यदि इन तीनों को अपनी मुट्ठी में कर लें तो संसार का कोई बंधन ही नहीं रह सकता—

सकलान्तास्तु तास्तिस्र
इच्छाज्ञानक्रिया यतः ।
सप्तधेत्थं प्रमातृत्वं
तत्क्षोभो मानता तथा ।।[३]

यहाँ पर क्षोभ शब्द का अर्थ है 'आशंका' या 'दुःख' । मान का अर्थ है 'शक्ति ।' जब तक आशंका रहेगी, शक्ति नहीं प्राप्त होगी । शक्ति प्राप्त करने के लिए तथा आशंका

१. Dr. E. Roer—The Twelve Principles of Upanishads—Vol. II—(1931) page 389.

२. अभिनव गुप्तपाद का "तन्त्रालोक," प्रकाशक—कश्मीरराज्य, १९२५—भाग ८, आह्निक १३, श्लोक ४१ ।

३. वही, भाग ७, आह्निक १०, श्लोक १८१ ।

को दूर करने के लिए मनुष्य को गुरु से दीक्षा लेनी चाहिए ; त्रिशूल में एक तरफ़ क्षोभ है, दूसरी तरफ़ मान, यानी शक्ति । इन दोनों के बीच में दीक्षा विराजमान है ।

तंत्रशास्त्र में क्षोभ शब्द की बड़ी भारी मर्यादा है । यह शरीर, यह सृष्टि, सब कुछ एक 'बीज' से ही तो हुआ है । जड़ बीज में क्षोभत्व से सृष्टि की या मनुष्य की उत्पत्ति हुई । उस क्षोभ का आधार थी योनि ।' 'मयूराण्डरसन्यायेन'[१] यानी जिस प्रकार मयूर (मोर) के अण्डे में केवल रस रहता है, पर उसमें मयूर के सुन्दर रंग-बिरंगे पंख आदि सभी वर्तमान रहते हैं—उसी प्रकार बीज में सब कुछ अन्तर्निहित है । पुरुष के बीज में, जिसे स्त्री की योनि धारण करती है, गुण, कर्म, स्वभाव, ये तीनों वर्तमान हैं । लिखा है—

प्रक्षोभकत्वं बीजत्वं
क्षोभाधारश्च योनिता ।
क्षोभकं संविदो रूपं
क्षुभ्यति क्षोभयत्यपि ।।[२]

गुण, कर्म, स्वभाव का क्षोभ त्रिशूल के रूप में वर्तमान है, जिसके आवरण में मनुष्य फँसा हुआ है । बीज क्षोभ है । योनि क्षोभ्य है । क्षोभ तथा क्षोभ्य को क्षुभित करनेवाला, यानी क्षोभक ही वह परम शिव है । इनके रहस्य को तंत्रालोक में प्रतिपादित किया गया है—

क्षोभ्यक्षोभकभावस्य
सतत्वं दर्शितं मया ।
श्रीमन्महेश्वरेणोक्तं
गुरुणा यत्प्रसादतः ।। २–३–६०

बीज की व्याख्या करते हुए लिखा है 'वर्णचतुष्टयम् ।' बीज से ही अक्षर तथा शब्द की उत्पत्ति हुई है । 'अकाराकारौ'—अकार इत्यादि—का इकारोकाराभ्यां'—इकार आदि से संधि, शब्द तथा मातृकाएँ बनीं । इस संधि से ही त्रिकोण बना ।

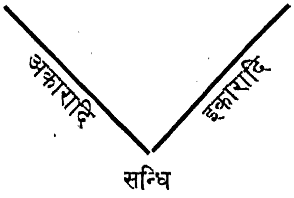

१. वही, भाग २, पृष्ठ ९३ । २. वही, भाग २, आह्निक, ३, श्लोक ८२ ।

इस त्रिकोण के बीच बें बीज है—

अनुत्तरानन्दचिती

इच्छाशक्तौ नियोजिते ।। २–३–६४

त्रिकोणमिति तत्प्राहु-

विसर्गामोदसुन्दरम् ।। (६५ का अर्द्धांश)

अक्षरों के योग में जो विसर्ग होता है, उसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—'विसर्गः परा शक्तिः । तस्या आमोदः—आनन्दोदयक्रमेण क्रियाशक्तिपर्यन्तमुल्लासः'[1] उस परा शक्ति का आनन्द तथा उल्लास ही विसर्ग है । सन्धि ही विसर्ग है । अक्षर अनादि हैं । बीज से प्रादुर्भूत हैं । इस सम्बन्ध में हम पिछले अध्यायों में काफ़ी विवेचन कर चुके हैं । अकार, इकार तथा संधि से जो त्रिकोण बनता है, वही बीज को धारण करनेवाली योनि है, क्षोभ्य है । बीच के बिन्दु हैं । इस त्रिकोण की व्याख्या करते हुए राजानक जयरथ लिखते हैं कि त्रिकोण को ही भग कहते हैं, जिसमें गुप्त मण्डल स्थित है । इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया से त्रिकोण बनता है और उसके बीच में बिन्दु है, बीज है ।

त्रिकोणं भगमित्युक्तं वियत्स्थं गुप्तमण्डलम् ।[1]

इच्छा ज्ञानं, क्रियाकोणं तन्मध्ये चिञ्चिनी क्रमम् ।।

इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया, इन तीनों को ही जीतना मनुष्य के जीवन का अन्तिम लक्ष्य है । लिखा है—

शक्तिमाञ्जयते यस्मान्न

शक्तिर्जातु केनचित् ।

इच्छा ज्ञानं क्रिया चेति

यत्पृथक् पृथक् जयेत् ।।[2]

इन्हीं तीनों को, जिनको मनुष्य को शक्ति की कृपा से, भगवती की कृपा से, पृथक्-पृथक् जीतना है, तंत्रालोक में 'त्रिशूल' कहा गया है—

त्रिशूलत्वमतः प्राह

शास्ता श्री पूर्वशासने ।

निरञ्जनमिदं चोक्तं

गुरुभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।।[3]

१. वही, भाग २, पृष्ठ १०४ । २. वही, भाग २, पृष्ठ १०४ ।

३. वही, भाग २, आह्निक ३, श्लोक १०६ ।

गुरु द्वारा तत्त्व-दर्शन से, भगवती की कृपा से इस त्रिशूल को अपने वश में करके ही मनुष्य अलख-निरञ्जन बन जाता है।

इच्छा कामो विषं ज्ञानं
क्रिया देवी निरञ्जनम् ।।१७२
एतत्त्रयसमावेशः
शिवो भैरव उच्यते ।[१]

इच्छा, ज्ञान, क्रिया—इस त्रिशूल का समावेश शिव में है। उन्हें भैरव कहते हैं। 'विश्वमयत्वेन पूर्णत्वात्, अतएव तदेव ब्रह्म परमं'[२]— शिव विश्वमय है। शिव 'पूर्णत्व' प्राप्त है। शिव ही परम ब्रह्म है।

यह भैरव 'त्रितयं" है[३] —पर-विश्वापूरकं शाक्तं तेजः प्राहुः—इसी लिए भैरव के हाथ में त्रिशूल है। चूंकि गुरुकृपा से ही इच्छा, ज्ञान, क्रिया पर विजय प्राप्त हो सकती है तथा तत्त्वज्ञान हो सकता है, आदि गुरु शिव ही हैं, उनके हाथ में त्रिशूल है। आदि गुरु शिव के वश में यह तीन आदि तत्त्व हैं, इसी लिए वे आदि गुरु हैं।

इत्युक्ते परमेशान्या
जगादादिगुरुः शिवः।
शिवादितत्त्व त्रितयं
तदागमवशाद्गुरोः ।।[४]

किन्तु तीन आदि तत्त्व—इच्छा-ज्ञान-क्रिया पर विजय प्राप्त करने के लिए भी तीन ही सहारे हैं—

किरणायां तथोक्तं च
गुरुतः शास्त्रतः स्वतः ।।[५]

गुरु के द्वारा, शास्त्र के द्वारा तथा स्वयं अपने द्वारा ही मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है। त्रिशूल ही हमको 'गुरुतः शास्त्रतः स्वतः' की शिक्षा देता है। मनुष्य की समस्याओं का एक बड़ा कारण यह है कि उसके मन तथा बुद्धि में भेद चलता रहता है। प्रभु की कृपा से, शक्ति से यदि विवेक उत्पन्न हो जाय तो फिर भेद भी मिट जाता है। अतः त्रिशूल में एक ओर मन तथा दूसरी ओर बुद्धि है। बीच में विवेक बैठा हुआ है। विवेक इन दोनों को मिलाकर हमारे भीतर की उथल-पुथल समाप्त कर देता है।

१. वही, भाग २, आ० ३, श्लो० १०५। २. वही, पृष्ठ १७२।
३. वही, पृष्ठ १७२। ४. वही, पृष्ठ १८७।
५. वही, भाग ८, आ० १३, श्लो० १७३।

मनोबुद्धी न भिन्ने तु
कस्मिंश्चित्कारणान्तरे ।
विवेके कारणे ह्येते
प्रभुशक्तिपवृंहितेः ।।[१]

किन्तु ऐसी शक्ति बिना गुरु की दीक्षा के नहीं प्राप्त हो सकती । जिसने दीक्षा प्राप्त की, उसी को कैवल्य प्राप्त होता है । गुरु के सहारे से ही, शिव की कृपा से ही इन तीनों तत्त्वों पर विजय हो सकती है ।

केवलस्य ध्रुवं मुक्तिः
परतत्वेन सा ननु ।
नृशक्तिः शिवमुक्तं हि
तत्त्वत्रयमिदं त्वया ।।[२]

हमने ऊपर ही लिखा है कि सब कुछ मूलतः बीज से ही प्रारम्भ हुआ । बीज से ही सृष्टि हुई—पहले अंकुर, फिर पल्लव, फिर पुष्प या फल । शिव बीजरूप हैं । उनके हाथ में त्रिशूल है—अंकुर-पत्ल्लव-पुष्प । उस बीज का ठीक से सिंचन करने से ही उसमें अंकुर निकलेंगे, पत्ते निकलेंगे तथा फल-फूल की प्राप्ति होगी । इसलिए आदि गुरु शिव, भैरव शिव का आराधन करे, तांत्रिक बीज मंत्र का जप करे तब जाकर त्रिशूल की, यानी अंकुर, पल्लव, पुष्प की प्राप्ति होगी—

यथोक्तं कालतो ह बीजं
तत्सुसिक्तमथक्रमात् ।
अंकुरैः पल्लवैराढ्यां
तत्पुष्पादिफलान्वितम् ।।[३]

शिव की व्याख्या करते हुए आचाराध्याय में याज्ञवल्क्य ने लिखा है—

शिवः शान्तः शाम्बरूपः ।

शिव-शान्त-शाम्ब भी तो त्रिशूल बन गया । शाम्ब का अर्थ है माता सहित यानी परम शिव तथा परा शक्ति का सम्मिलित प्रतीक शिव है ।

त्रिशूल की व्याख्या करते समय हमने सृष्टि का कारणभूत बीज बतलाया है । बीज ही नाद है । स्वर है । अक्षर है । सृष्टि के आदि में शब्द था । शब्द से सृष्टि हुई । इसी लिए परा शक्ति का आवाहन भी बीज मंत्र से होता है ।

१. वही, ८, १३, १९० । २. वही, ८, १३, १७० । ३. वही, पृष्ठ ११२ ।

बीजयोनिसमापत्ति-
विसर्गोदयसुन्दरा
मालिनी हि परा शक्ति-
र्निर्मिता विश्वरूपिणी ।। तं० २-३-२३३

बीज से नाद उत्पन्न हुआ। उसके तीन भाग हो गये—इस प्रकार अक्षर बने, वर्ण बने। वे तीन भाग थे—पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी।

विभागाभासने चास्य
त्रिधा वपुरुदाहृतम् ।
पश्यन्ती मध्यमा स्थूला
वैखरीत्यभिशब्दितम् ।। तं० २-३-२३६

इन तीनों के स्थूल तथा सूक्ष्म भेद से तीन रूप हो गये। स्वर-सन्दर्भ से वर्ण आदि में विभक्त हो गये।

तासामपि त्रिधा रूपं
स्थूलसूक्ष्मपरत्वतः ।
तत्र या स्वरसन्दर्भ-
सुभगा नादरूपिणी ।।२३६

शिव के हाथ में त्रिशूल है—पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी है, समूचा नाद ब्रह्म है। इसके अतिरिक्त तीन और महत्त्व की वस्तुएँ हैं—उत्पादक शक्ति, पालक शक्ति तथा संहारक शक्ति। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश। शिव के हाथ में ये तीनों शक्तियाँ हैं। संसार में तीन विकार हैं—सात्त्विक, राजसिक, तामसिक। इनमें सात्त्विक श्रेष्ठ है। इन तीनों विकारों का द्योतक त्रिशूल है। जो देवता त्रिशूल धारण किये हुए हैं वे हमको इन तीनों से ऊपर उठाकर मोक्ष दिलायेंगे। संसार में तीन शूल हैं, विपत्तियाँ हैं—कायिक, वाचिक तथा मानसिक—शरीर से, वचन से तथा मन से। शिव ने त्रिशूल को ग्रहण किया है—हमारी तीनों बाधाएँ दूर करेंगे। ब्रह्म का बोधक ऊँकार भी तीन अक्षरों का है—अ, उ, म्। जैनियों के एक ग्रन्थ में तीन बाधाएँ लिखी हैं—[1]आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक। ये तीन शूल हैं।

१. त्रिशूल पर Bannerjea—"Hindu Iconography"—पृष्ठ ११५ भी देखिए।

स्वस्तिक

त्रिशूल का वास्तविक अर्थ जिस रूप में हमने समझाया है, उससे यह स्पष्ट है कि पाश्चात्यों ने उस प्रतीक को समझने में कितनी गहरी भूल की है तथा त्रिशूल को कामुक प्रतीक मानकर कितना बड़ा अन्याय किया है। क्रास प्रतीक के सम्बन्ध में भी पाश्चात्य विद्वानों ने वही भूल की है तथा उसकी पवित्रता को अनायास नष्ट करने का प्रयास किया है। बहुत-से विद्वानों ने क्रास, त्रिशूल तथा स्वस्तिक को एक ही आधार का प्रतीक माना है तथा उसमें समानता-सी सिद्ध की है। किन्तु यह कितना बड़ा भ्रम है, यह इसी अध्याय में स्पष्ट हो जायेगा।

श्रीमती मरे ऐंसले ने अपनी पुस्तक में स्वस्तिक प्रतीक पर एक अध्याय ही लिखा है। जार्ज वर्डउड ने यूनानी 'क्रास' को, बौद्धों के धर्म-चक्र (पहिया) को तथा स्वस्तिक को सूर्य का प्रतीक माना है।[१] उनका कहना है कि यह अत्यधिक पुराना प्रतीक है। डॉ० विल्सन ने अपनी रिपोर्ट में स्वस्तिक की बड़ी भ्रमपूर्ण व्याख्या की है।[२] प्राचीन वैदिक काल में 'अरणी' में एक लकड़ी में गोल सूराख़ कर उसमें लकड़ी लगाकर इतनी ज़ोर से रगड़ते थे कि अग्नि उत्पन्न हो जाती थी। अग्नि उत्पन्न करने का यही तरीका था। वैदिक यज्ञों में इस सम्बन्ध में, अग्नि के उत्पन्न करने का पूरा कर्मकाण्ड है।[३] चूँकि 'अरणी' के दोनों तरफ़ लकड़ियाँ लगाकर अग्नि का मंथन होता है, अतएव स्वस्तिक उसी क्रिया का प्रतीक है। आदिकालीन लोगों के लिए अग्नि का इतना बड़ा महत्त्व था कि वे उसको प्रज्वलित करने की क्रिया को इतनी मर्यादा दे बैठे। डॉ० विल्सन के इस विचार की पुष्टि में श्रीमती मरे ने टाइलर की एक पुस्तक[४] का हवाला दिया है कि एस्किमो लोग भी इसी क्रिया से आग पैदा करते हैं। उनका तात्पर्य यह है कि आग पैदा करने की यह प्रथा इतनी प्राचीन है कि यूरोप-एशिया हर जगह वर्तमान थी। अतएव स्वस्तिक प्रतीक का इसी

१. Symbolism of the East and West–page XVIII
२. Dr. Thomas Wilson—"Report of the U. S. National Museum for 1894–pages 757–1011.
३. यज्ञों में, वैदिक अनुशासन के अनुसार आग पैदा करने के लिए अस्वत्थ (पीपल) तथा शमी की लकड़ी श्रेष्ठ समझी जाती है।
४. Tylor—Early History of Mankind.

प्रथा से प्रारम्भ होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। किन्तु, क्या 'अग्नि-सञ्चार' की क्रिया के कारण ही विश्वव्यापी बौद्ध, अरब के मुसलिम[१] तथा चीन-जापान के लोग इस प्रतीक का प्रयोग करते हैं? क्या स्वेडन-नार्वे के इन्द्र के समान 'थोर' देवता का प्रतीक भी यह इसी लिए बना था? तिब्बत के लामाओं के निवासस्थान तथा मन्दिरों में स्वस्तिक बना है। हिन्देशिया, जावा, सुमात्रा, कम्बोज देश (कम्बोडिया), चीन, जापान, मेक्सिको तक में स्वस्तिक वर्तमान है। जैनी लोग सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का प्रतीक

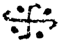 मानते हैं।

पर, श्रीमती मरे का ध्यान अग्नि की ओर ही गया। उनका कथन है कि प्राचीन यूनानी तथा रोमन भी इसी प्रकार आग पैदा करते थे। ईरानी लोग आग के परम पुजारी थे। पारसी धर्म में अग्नि को पिता माना गया है। पारसी स्त्रियों को बत्ती बुझाने या प्रकाश बुझाने की अनुमति नहीं है। हिन्दू भी अग्नि-पूजक हैं। अतएव स्वस्तिक भी 'आग पैदा करने की क्रिया का प्रतीक है।' मिस्र में भी स्वस्तिक प्रतीक काफ़ी मिलता है। श्रीमती मरे के कथनानुसार स्पेन में स्वस्तिक को भारत के हिन्दुओं ने पहुँचाया।[२] तो फिर यह क्यों न मान लें कि मिस्र, रोम, यूनान, ईरान सब जगह यह प्रतीक भारतवर्ष से पहुँचा होगा। संस्कृत भाषा के पश्चिमी विद्वान् प्रो० मैक्समूलर ने डॉ० श्लीमन को एक पत्र में लिखा था कि "इटली के हर कोने में—मिलन, रोम, पाम्पियाई में, स्कॉटलैण्ड के नारफ़क नगर में, हंगरी में, यूनान में, चीन में, हर जगह स्वस्तिक पाया जाता है।" मैक्समूलर ने एक दूसरे पत्र में लिखा था कि "स्वर्गीय ई० टामस[३] की यह खोज सही है कि स्वस्तिक गतिशील सूर्य का प्रतीक है। सूर्य के रथ के पहिये, जिनमें धुरिया बनी हुई हैं, उनका प्रतीक स्वस्तिक है।" उसी पत्र में मैक्समूलर साहब लिखते हैं "कि पर्सी गार्डनर[४] की यह खोज भी सही है कि प्राचीन काल का यूनानी नगर मेसोम्ब्रिया (इस शब्द का अर्थ हुआ मध्याह्न का नगर) में जिस प्रकार से प्राप्त सिक्कों पर लिखा हुआ है वह निश्चित रूप से यूनानी लिपि में स्वस्तिक का बोध कराता है—

M E Σ 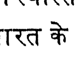

१. कश्मीर से कुछ मील दूरी पर एक मस्जिद पर स्वस्तिक बना हुआ है।
२. Symbolism of the East & West—page 50
३. E. Thomas—"Numismatic Chronicle"—1860—Vol. XX-p. 18–43.
४. Percy Gardner—"Athenaeum". Aug., 13, 1892.

निश्चयत: यह स्वस्तिक है। अनेक रूपों में स्वस्तिक हर देश में प्रचलित था तथा उसका निरन्तर उपयोग होता था। इंगलैण्ड में इसका सैकड़ों वर्ष पूर्व रूप था 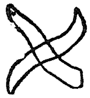 डेन्मार्क, नार्वे, स्वेडन, हर एक देश में प्राप्त स्वस्तिक प्रतीक का रूप भिन्न होता गया। स्वेडन में तो उसका रूप था । ईसाई गिर्जाघरों में भी स्वस्तिक का प्रयोग होता था, यह हम कई स्थानों पर लिख चुके हैं और इसका उल्लेख आगे भी करते रहेंगे। किन्तु ईसाई स्वस्तिक में, जिसे आर्य प्रतीक मानकर हिटलर ने अपने नाजी दल का प्रतीक बनाया था, उसमें तथा भारतीय, बौद्ध, जैन प्रतीक में बड़ा भारी अन्तर यह है कि भारतीय स्वस्तिक दायें से बायें चलता है और ईसाई स्वस्तिक बायें से दायें। भारतीय प्रतीक पूर्व से (दायें) चलता है। इस सम्बन्ध में यूरोपीय विद्वानों ने अनेक कारण बतलाये हैं। कश्मीर की एक मस्जिद पर जो स्वस्तिक है—यह मस्जिद जहाँगीर के शासनकाल में (सन् १६०५ से १६२८) में बनी थी—वह हिन्दू स्वस्तिक के समान है। यारकन्द आदि में जो स्वस्तिक प्राप्त हुए हैं, वे चीनी स्वस्तिक के समान हैं, जो काफ़ी मोटी पंक्तियों में हैं, पर भारतीय स्वस्तिक की तरह दायें से बायें हैं। 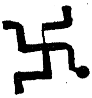 । स्वेडन में प्राप्त स्वस्तिक क्रास के रूप में हैं। उनके चारों ओर गोलाई बनी है 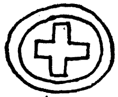 ।

मेजर आर० सी० टेम्बुल ने बायें दायें के भेद को कोई महत्त्व नहीं दिया है। वे बौद्ध स्वस्तिकों तथा उनके साथ प्राप्त पाली शिलालेखों का उल्लेख करते हुए[1] लिखते हैं कि कोल्हापुर में प्राप्त पाली शिलालेख तथा उसके नीचे बने हुए स्वस्तिक से स्पष्ट है कि हमेशा एक प्रकार से स्वस्तिक नहीं बनते थे। जैसा चाहा, बना

१. Inscriptions from the Cave Temples of Western India, Bombay, 1881.

लिया ।[१] बीच का क्रास + होना चाहिए । कुड़ा में प्राप्त बौद्ध स्वस्तिक बायें से दायें है ।

किन्तु आज भी भारतवर्ष में बहुत-से लोग अज्ञान तथा भ्रमवश बायें से दायें स्वस्तिक बनाते हैं । श्रीमती मरे ने इंगलैण्ड, नार्वे, कश्मीर, नेपाल आदि के प्राचीन मकानों के चित्र देकर यह साबित करने का प्रयास किया है कि पुराने ज़माने में मकान भी एक ही तरह के बनते थे ।[२] यानी प्राचीन कला की भावना तथा रूप-रेखा भी एक ही प्रकार की थी । इस कथन से हमारे सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि प्रतीक के सम्बन्ध में भी हमने संसार को जो उपदेश या कला प्रदान की थी, वह एक ही प्रकार की थी, पर समय तथा देशों में पहुँचते या अपनाते उसका रूपान्तर होता गया । स्वस्तिक प्रतीक की गति तथा प्रगति का भी यही इतिहास है ।

पश्चिमी लेखक कटनर तथा जी० मार ने स्वस्तिक के सम्बन्ध में जो मत व्यक्त किया है, उसका हम क्रास के परिचय के साथ उल्लेख कर आये हैं। किन्तु यह कितना मूर्ख विश्वास है, यह धीरे-धीरे स्पष्ट होता जा रहा है । त्रिशूल के परिचय के साथ हमने नाद-ब्रह्म का, शब्द-ब्रह्म का यानी आदिकाल में बीज से उत्पन्न नाद का जिक्र किया है। उसी से अक्षर तथा वर्णमाला बनी, मातृका की उत्पत्ति हुई । नाद से पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी, ये तीन उत्पन्न हुए । इनके भी स्थूल तथा सूक्ष्म दो भाग थे । इस प्रकार नाद-सृष्टि के ३ × २ = ६ रूप हो गये । तंत्रालोक में आचार्य अभिनव गुप्त ने लिखा है—

> **पृथक्पृथक्तत्त्रितयं**
> **सूक्ष्ममित्यभिशब्द्यते ।**
> **षड्जं करोमि मधुरं**
> **वादयामि ब्रुवे वचः ।। २–३–२४६ ।**

यही छः पंक्तियाँ स्वस्तिक में हैं 卐, अतः स्वस्तिक समूचे नाद-ब्रह्म तथा सृष्टि का प्रतीक है । वैखरी वाणी दो भागों में विभक्त है—स्वर तथा व्यञ्जन ।

> **इत्थं यद्वर्णजातं तु**
> **सर्वं स्वरमयं पुरा ।।२–३–१८१ ।**
> **व्यक्तियोगाद्व्यञ्जनं तत्**
> **स्वरप्राणं यतः किल ।। १८२ का अर्द्धांश**

१. Symbolism of the East & West–page 62—Major R. C. Temple's Note.

२. वही, पृष्ठ, १८०—८४ ।

मुख्य स्वर छः हैं—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, शेष इनसे ही बनते हैं। ये छः स्वर ही षड् देवता हैं। सूर्य की छः मुख्य रश्मियाँ हैं, किरणें हैं—

स्वराणां षट्कमेवेह
मूलं स्याद्वर्णसंततौ ।।२–३–१८४ ।
षड् देवतास्तु ताएव
ये मुख्याः सूर्यरश्मयः ।। (१८५ का अर्द्धांश ।)

सूर्य की छः मुख्य रश्मियों को 'षड्देवतात्मकं सूर्यरश्मित्वम्' षड् देवता माना है। इन मुख्य किरणों के नाम हैं—

दहनी, पचनी, धूम्रा, कर्षिणी, वर्षिणी, रसा ।

(आकर्षण करनेवाली, जलानेवाली, वर्षा करनेवाली, रस देनेवाली, इत्यादि।)

स्वर के ये छः मुख्य गुण सृष्टि के मूल कारण हैं। प्रकाश-रूप में दाहक–जलाने की अपनी शक्ति के कारण ये सूर्य की रश्मियाँ हैं।

षडेवेह स्वरा मुख्याः कथिता मूलकारणम् ।
ते च प्रकाशरूपत्वाद्विज्ञेयाः सूर्यरश्मयः ।।[1]

सूर्य की ये छः रश्मियाँ ही स्वस्तिक हैं। सूर्य पूर्व से पश्चिम की ओर जाता प्रतीत होता है। सूर्योदय हमारे देश में पूर्व की ओर होता है। इसलिए प्राचीन आर्य-स्वस्तिक भी दायें से बायें की ओर बनता था और अब भी बनता है। किन्तु, हर एक प्राचीन चीज़ के अर्थ का गहराई में जाने पर ही पता चलेगा।

उदाहरण के लिए, यदि कोई इस बात की हँसी उड़ाना चाहे कि हिन्दू लोग, अर्थात् सनातनी हिन्दू अर्घा से देवता तथा पितरों को जल क्यों देते हैं? थाली से या लोटे से या आचमनी से भी जल गिराया जा सकता है। कटनर ने अर्घा को स्त्री-योनि का प्रतीक माना है। अतएव उनके ऐसे विचारकों के लिए उपहास की बात हो सकती है। पर हम निरर्थक उपहासी की उपेक्षा ही न करें, असली अर्थ भी लोगों को बतलावें। अर्घा का अर्थ है बुद्धि। हम बुद्धि में पूजा करते हैं। बुद्धि में आवाहन करते हैं। अर्घ्यते पूज्यते अस्मिन् इति अर्घ्यम्। विष्णु का सूक्ष्म रूप मन है। विष्णुर्ज्योतिः कल्पयितुः। अर्घा में विष्णु का वास है। यानी वह मन है। पूजन-तर्पण सब मन के द्वारा होता है। अतएव अर्घा मन तथा बुद्धि का प्रतीक है।

१. तन्त्रालोक—टीकाकार का—पृष्ठ १८१।

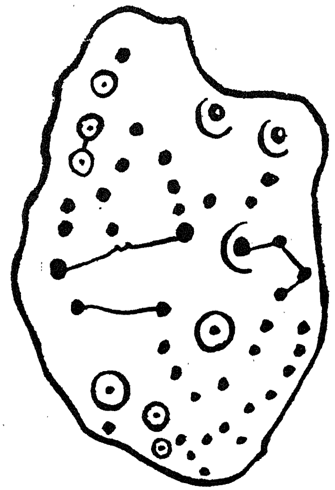

स्विटज़रलैण्ड में प्राप्त राशिमंडलयुक्त शिवलिंग

सूर्य के साथ प्राचीन प्रतीकों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। फ़ॉब्रिज ने मिस्र, बैबीलोन तथा असीरिया के विशाल मन्दिरों में प्राप्त वृषभ को सूर्य का प्रतीक माना है। बैबीलोन में काँसा धातु के वृषभ तथा सर्प पाये जाते हैं। वहाँ १२ वृषभ एक स्थान पर बैठे हुए हैं, जो सूर्य की १२ राशियों के द्योतक हैं।[१] सूर्य से सम्बद्ध स्व स्तिकमण्डल कितना अधिक है, यह नीचे की पक्तियों से प्रकट होगा। पर, वृषभ तथा सूर्य का सम्बन्ध मिलाना सही है या नहीं, इस पर हम वृषभ अध्याय में काफ़ी प्रकाश डाल चुके हैं।

पौराणिक तथा वर्तमान वैज्ञानिक विश्वास के अनुसार भी पृथ्वी सूर्य से ६ करोड़ ८० लाख मील की दूरी पर है।[२] सूर्यमण्डल स्वयं ५२ हज़ार मील के घने अग्नि-समुद्र का गोला है। इस अग्निपिण्ड की सात तहें हैं, जिनमें सात रंग की सात विद्युत्-अग्नियाँ हैं। सूर्यमण्डल के चारों ओर चार विद्युत्केन्द्र हैं। वेदों में इनको कल्याणवाची स्वस्तिक-मण्डल कहा गया है—

पथ्या स्वस्तिः पन्था अन्तरिक्षं तन्निवासात्।

(यास्कीय निरुक्त, अ० ११, खंड ४५)

सूर्यमण्डल का प्रतीक कल्याणवाची स्वस्तिक-मण्डल है, इसमें संदेह नहीं रहना चाहिए, यद्यपि इसकी अनेक आध्यात्मिक व्याख्याएँ भी हैं। डॉ० सम्पूर्णानन्द का सिद्धान्त हम ऊपर दे आये हैं कि शरीर के भीतर कमल का आकार + है। अतएव परम कल्याणवाचक स्वस्तिक हमारे लिए यौगिक अर्थ रखता है। वर्णमाला में हर एक अक्षर का अपना निजी

१. Encyclopaedia of Religion and Ethics—Article on Semitic Symbols" By Maurile H. Faubridge—page 147.

२. चन्द्रमा की औसत दूरी पृथ्वी से १,३८,८४० मील बतलायी जाती है।

अर्थ होता है। क् का अर्थ है सुख, स्वस्ति। क का अर्थ ब्रह्मा भी है। सम्राट् अशोक के शासन के समय के प्राप्त शिलालेखों में क को + लिखते थे। यह अक्षर स्वस्ति-वाचक भी था। अतएव इसी को सजाकर स्वस्तिक बना दिया गया 卐।

स्वस्तिक चतुर्दल कमल का सूचक माना गया है। अतएव यह गणपति का निवास-स्थान भी है। गणपति के बीजाक्षर 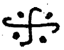 (गं) का चतुरस्र मण्डल ही स्वस्तिकाकार होने से सर्वदा मंगलप्रद माना गया है। हर एक कार्य में बाधाओं को दूर कर कल्याण का आवाहन किया जाता है। स्वस्तिक हर मंगल-काय में, हर स्थान पर, कल्याण का 'पहरेदार' है।

लोक-परलोक (आत्म-जगत्) तथा स्वर्ग लोक के दाता शिव हैं। इसी से उनके हाथ में त्रिशूल है। वे त्रिकालदर्शी हैं—भूत, वर्तमान तथा भविष्य को जानते हैं तथा उनकी कृपा से ही ये तीनों समय हर एक के जीवन में सुधरते तथा बनते हैं। अतएव त्रिशूल इन तीनों समयों का द्योतक प्रतीक है। शिव ही त्रिमूर्त्ति हैं—उत्पादक शक्ति ब्रह्मा, पालक शक्ति विष्णु, संहारक शक्ति शंकर। उत्पत्ति, पालन तथा नाश की तीनों अवस्थाओं का प्रतीक त्रिशूल है। शंकर की कृपा से ये तीनों अवस्थाएँ सुधर जाती हैं। मनुष्य के जीवन की तीन अवस्थाएँ हैं—कर्म, अकर्म तथा दुष्कर्म। कर्म में नित्य प्रति की साधारण क्रियाएँ शामिल हैं। अकर्म में निष्क्रियता है, कोई काम नहीं होता। दुष्कर्म में बुरा काम होता है। अतएव इन तीनों को हाथ में धारण करनेवाले शिव हैं। इसलिए यही धर्मराज हैं। कर्मों को सँभालनेवाले तथा विघ्न-बाधा से दूर करनेवाले गणपति हैं, गणेश हैं। इसी लिए गणेश के हाथ में भी त्रिशूल है। हिन्दू शास्त्र में किसी भी देवता के हाथ में जो शस्त्र है, वह वास्तव में उसके स्वभाव तथा गुण का प्रतीक है। उदाहरण के लिए, इन्द्र देवराज हैं। राक्षसों का संहार करते हैं। उनके हाथ में वज्र है। क्षेत्रपाल गण चारों दिशाओं में खड़े विघ्न-बाधा से रक्षा कर रहे हैं। उनके हाथ में शक्ति है। यम का कार्य है पाप का दण्ड देना। उनके हाथ में दण्ड है। नियम तथा व्यवस्था के स्वामी वरुण हैं। उनके हाथ में पाश है। सृष्टि को उत्पन्न करनेवाले पितामह ब्रह्मा के हाथ में शरीर के भीतर के कमल का प्रतीक कमल है। कालचक्र के स्वामी विष्णु के हाथ में चक्र है। योगिनी गणों के हाथ में अंकुश, सोम के हाथ में गदा, गणेश के हाथ में त्रिशूल तथा बटुक के हाथ में खड्ग है। देवताओं के हाथ के आयुध प्रतीकरूप में हैं। निरर्थक शोभा की वस्तु नहीं हैं।

मंत्र जपने के लिए माला का भी विशिष्ट महत्त्व है । माला के दो प्रकार हैं——वैजयन्ती-माल तथा रुद्र माल । इनमें १०८ दाने होते हैं । ९ दाने की भी माला होती है जिसका अर्थ है राग-द्वेष से उत्पन्न काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मत्सर (कुल ९) पर विजय प्राप्त करना । हर दाने को मेरु कहते हैं । सृष्टि के आदि से लेकर कलिकाल तक १०८ महान् सिद्ध, योगी, ऋषि तथा देवताओं ने इस संसार में पदार्पण किया । उन्होंने राग-द्वेष-अहंकार आदि सब पर विजय प्राप्त की । इसी लिए १०८ की माला को वैजयन्ती-माल कहते हैं । माला के दानों के दो मुख होते हैं । एक ब्रह्मा का प्रतीक है, दूसरा सरस्वती का । इन दानों पर जप करने से सभी मानसिक मल धुल जाते हैं । उन पर विजय प्राप्त होती है । इसी लिए उसे रुद्र-माल भी कहते हैं ।

लिंग-प्रतीक

प्राचीन प्रतीकों में सबसे अधिक विवादास्पद विषय लिंग-उपासना है। लिंग-उपासना कब से शुरू हुई, यह बड़े झगड़े की पहेली है। कटनर ने अपनी पुस्तक में यह सिद्ध कर दिया है कि संसार के हर कोने में वासना तथा प्रजनन की प्रेरणा से लिंग-उपासना चालू थी। उनका कथन है कि आदिकाल के पुरुषों के इतिहास का पहला पन्ना खोलते ही सामने काम-उपासना आ जायगी।[१] और ऐसी उपासना लिंग[२] की पूजा के रूप में थी। कटनर के कथनानुसार लिंग की पूजा सबसे पहले मिस्र देश तथा मिस्री लोगों द्वारा शुरू हुई। इस सम्बन्ध में वे एक कथा देते हैं कि हजारों वर्ष पूर्व मिस्र के नरेश ओसिरिस ने राज्य में चारों ओर घूम-घूमकर अपनी प्रजा को संगठित रूप में खेती करने की शिक्षा दी। उनके यात्राकाल में उनके भाई टाइफन ने उनके विरुद्ध षड्यन्त्र रचा तथा वापस आने पर उन्हें पकड़कर एक बड़े बर्तन में बन्द करके ऊपर से गरम-गरम पिघला जस्ता उड़ेल दिया। इस बर्तन को बन्द करके नील नदी में फेंक दिया गया।

ओसिरिस की पत्नी आइसिस ने अपने इस विश्वास के कारण कि मृतक को बिना समुचित ढंग से दफ़नाये उसके शरीर तथा आत्मा की गति नहीं होती, अपने पति का मुर्दा ढूँढ़ना शुरू किया। फ़ोयेनीशिया के बैबीलोस नगर में वह बर्तन मिल गया। महारानी को उसी समय अपने बेटे होरस से मिलने जाना था। वे मुर्दे को (बर्तन को) एक स्थान में छिपाकर होरस से मिलने चली गयीं। भाग्य की बात, उधर से नरेश ओसिरिस के भाई टाइफन शिकार खेलने निकले। उनको वह बर्त्तन मिल गया। अब उन्होंने मुर्दा के १४,२६ या ४० टुकड़े किये (संख्या ठीक नहीं मालूम)। टुकड़े-टुकड़े करके उसे हवा में फेंक दिया। महारानी आइसिस जब लौटीं तो उन्होंने हर एक टुकड़े को एकत्रित किया और जहाँ भी कोई टुकड़ा गिरा था, वहाँ अपने पति का स्मारक बनवाया। शरीर

१. H. Cutner—A Short History of Sex Worship—page 6.

२. कटनर ने पुरुष लिंग के लिये Phallus or Lingam लिखा है तथा फ्रेंच लेखक लैम्प्रीर (Lampriere) की व्याख्या दी है—Ligneum Membre Virilis—Hebrew word for Phallus is "Palash"—and "Palas" in Assyrian. It means "which breaks through and presses into"—In Latin it is "Palus"

के सब टुकड़े मिल गये । केवल नरेश का लिंग नहीं मिला । लिंग के संस्मरण में उन्होंने अंजीर का बड़ा पेड़ लगवाया । यह वृक्ष ही लिंग का प्रतीक हो गया । महारानी के आज्ञानुसार इस प्रतीक का पूजन काफ़ी यत्न से होता था । मिस्र में लिंग की उपासना इसी समय से शुरू हुई तथा ईसवीय सन् चौथी शताब्दी तक चलती रही ।

श्री मार ने अपनी पुस्तक में इसी महारानी आइसिस के मंदिर का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इसके पुजारियों को आजन्म ब्रह्मचर्य का व्रत लेना पड़ता था । रोम में आइसिस के मंदिर में पवित्र अग्नि सदैव प्रज्वलित रखी जाती थी । उसकी देख-रेख अक्षतयोनि कुमारियाँ किया करती थीं । यदि वे अपने ब्रह्मचर्य से ज़रा भी विचलित हो जाती थीं तो उनको प्राणदण्ड मिलता था ।[१]

परब्रह्म तथा पुरुष-प्रकृति के प्रतीक शिव की उपासना हजारों वर्षों से चली आ रही है । संसार में यह सबसे प्राचीन उपासना है । मूर्त्ति तथा प्रतीक-पूजा की दृष्टि से भी शिव का लिंग-रूप में अर्चन सबसे प्राचीन प्रतीकार्चन है । शिव-लिंग न तो प्रतिमा है और न मूर्त्ति । वह तो शुद्ध प्रतीक है । इस प्रतीक के विकास में भी शिव-उपासना के हजारों वर्ष लगे होंगे । शिव की अनेक रूप में वैदिक काल में भी पूजा होती थी । रुद्र देवता का बार-बार ज़िक्र वेदों में आया है । शिव के रूप की भी एक जगह व्याख्या है—

अघोरेभ्योऽथ धोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः ।

अघोर और फिर घोर से भी घोरतर ऐसा 'रुद्र-रूपेभ्यः'—रुद्र का रूप है । किन्तु, लिंग के रूप में शिव की उपासना कब से शुरू हुई, इस विषय में यदि यह कह दिया जाय कि जब से सभ्यता का इतिहास शुरू हुआ, तभी से, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी । ऋग्वेद में शिश्नदेव का जिक्र है । १०वें अध्याय में—९९.३ में इन्द्र की प्रशंसा है कि उसने १०० फाटकोंवाले किले पर अधिकार कर बड़ी धनराशि प्राप्त की तथा 'शिश्नदेवों' का संहार किया । कुछ लोगों का कहना है कि शिश्नदेव से तात्पर्य उन लोगों से है जो लिंगपूजक थे । सायण ने इसकी व्याख्या की है—'शिश्नेन दिव्यति'—लिंग से खेलनेवाले यानी व्यसनी लोग ।[२] शिश्न का अर्थ लिंग है, यह ऋग्वेद में शाश्वती की कथा से ही स्पष्ट है । इसलिए यह सम्भव है कि वैदिक काल में शिश्न-पूजन प्रचलित रहा हो और इन्द्र आदि देवता लिंगपूजकों के विरोधी रहे हों । पर, आर्यावर्त में लिंगपूजा काफ़ी प्रचलित थी,

१. G. Simpson Marr—"Sex in Religion"—page 95.
२. Jitendra Nath Bannerjia—"The Development of Hindu Iconography"—Calcutta University. 1941—page 70.

इसके प्रमाण में सिंधु नदी की घाटियों में प्राप्त अत्यधिक शिवलिंग हैं। प्रो० बनर्जी के कथनानुसार लिंग का पूजन इसलिए होता था कि सृष्टि की रचना तथा उत्पत्ति का कारण लिंग ही है।[१] भारत तथा ईरान-मिस्र आदि की सभ्यता एक सूत्र में पिरोयी हुई थी। अतएव एक देश का प्रतीक दूसरे देश में पहुँच जाता था। उदाहरण के लिए आज से २००० वर्ष पूर्व के कुशन-नरेश शिवलिंग-उपासक थे। किन्तु इनके सिक्कों पर अग्नि तथा सूर्य आदि के प्रतीक मिलते हैं, जो इस बात के प्रमाण हैं कि ईरानी प्रभाव हमारे यहाँ पड़ा। ये सिक्के चौथी-पाँचवीं सदी के हैं।'[२]

किन्तु लिंग के प्रतीक में शिव का पूजन तथा मूर्ति[३] के रूप में शिव का पूजन, इन दोनों के समय में काफ़ी अन्तर अवश्य है। पर यह कहना भी गलत होगा कि प्रतिमा नामक वस्तु से लोग अपरिचित थे। प्रतिमा शब्द ऋग्वेद के दसवें मण्डल में आया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के अध्याय ४, श्लोक ६ में भी है। कठोपनिषद् के अध्याय २, मण्डल ३, श्लोक ६ में है। पर देव-पूजा में प्रतिमा का उपयोग बाद में शुरू हुआ होगा। बनर्जी के कथनानुसार किसी-न-किसी प्रकार की देव:पूजा वैयाकरणाचार्य पाणिनि के समय में किसी-न-किसी रूप में प्रारम्भ हो गयी थी।[४] पाणिनि का समय, जो अभी तक विवादास्पद है, आज से ३००० से ६०० वर्ष पूर्व के बीच में था। सबसे प्राचीन उपलब्ध मूर्त्तियाँ भी ३००० वर्ष पुरानी प्रतीत होती हैं। बनर्जी ने अपनी पुस्तक में एक शिव-पशुपति की मूर्त्ति का ज़िक्र किया है जिसमें मूर्त्ति के तीन सिर हैं, सिर में सींग हैं। यह मूर्त्ति सिन्धु घाटी में प्राप्त एक मुहर पर बनी हुई है। महेंजोदाड़ो तथा हड़प्पा में प्राप्त मूर्त्ति (शिव की) इससे भी अधिक पुरानी—लगभग ४००० वर्ष पहले की है। पर, उस समय पूजा के लिए ही मूर्त्ति बनती थी, यह कहना कठिन है। प्रो० बनर्जी ने शिव की मूर्त्तिवाली कई प्राचीन मुहरों का ज़िक्र किया है।[५] पर्वत के रूप में पूजित शिव का ज़िक्र किया है।[६] शिव की प्रतीकोपासना का उल्लेख किया है।[७] त्रिशूल का वर्णन किया है।[८] पादपेश्वर की प्रसिद्ध मूर्त्ति का परिचय दिया है।[९] प्रतिमाओं को सुसज्जित करनेवाले आभूषणों का रोचक संवाद दिया है।[१०] प्रतिमाओं की नाप-जोख दी है।[११] प्रतिमाओं की लम्बाई-ऊँचाई बतलायी है।[१२] बिहटा में प्राप्त मुहर की उनकी समीक्षा अध्ययन

१. वही पुस्तक, पृष्ठ ७० । २. वही, पृष्ठ २१५ ।

३. मूर्त्ति—Icon—(Greek)—Eikon—A Figure representing a Deity or a Saint in painting etc.

४. वही, पृष्ठ ४४ । ५. वही, पृष्ठ १५६ । ६. वही, पृष्ठ ११४ ।

७. वही, पृष्ठ ११३ । ८. वही, पृष्ठ ११५ । ९. वही, पृष्ठ १७९ ।

१०. वही, पृष्ठ २९१-९२ । ११. वही, पृष्ठ ५९५ से ५९९ । १२. वही, पृष्ठ २१६–१८ ।

की चीज़ है।[१] किन्तु इन सबमें वर्णित प्रतिमाएँ अथवा प्रतीक भी २००० वर्ष से अधिक पुराने नहीं हैं। पर, बनर्जी ने सिद्ध किया है कि शिव की उपासना महाभारत-काल में भी थी।[२] पाश्चात्य विद्वानों ने भी स्वीकार कर लिया है कि कम से कम ५००० वर्ष पूर्व महाभारत हुआ था। यानी शिव-पूजा उस समय थी और मूर्त्ति-पूजा के रूप में थी, यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है। किन्तु मूर्त्ति-पूजा में केवल 'शिवलिंग' था या हाथ-पैर-वाली मूर्त्ति, इसका पता नहीं चलता है। महाभारत-काल में शिव की लिंग-उपासना थी, यह तो प्रमाणित है। इसलिए यदि वैदिक युग को १०००० वर्ष पहले का मान लें तो ५००० वर्ष पूर्व के पौराणिक युग में शिव-लिंग-पूजन होता था। वाल्मीकि की रामायण कब लिखी गयी थी, यह हम नहीं कह सकते। अधिकांश लोग त्रेतायुग के राम को महा-भारत के कृष्ण से बहुत पहले का अवतार या महापुरुष मानते हैं। राम ने लिंग-पूजन किया था, वाल्मीकि भी इसका वर्णन करते हैं। अतएव लिंग के रूप में शिव की उपासना काफ़ी पुरानी है। प्रतिमा या मूर्त्ति के रूप में शिव-पूजन काफ़ी बाद की चीज़ है।

भारत में बौद्धकाल में, बौद्ध नरेशों के शासन में, हिन्दू धर्म के विस्तार तथा प्रचार में किसी प्रकार की बाधा नहीं थी। इसी लिए सम्राट् अशोक के समय से लेकर सम्राट् हर्षवर्धन के युग तक बौद्ध तथा हिन्दू प्रतिमाएँ साथ-साथ निर्माणकला में उन्नति करती गयीं।[३] भगवान् बुद्ध की सभी प्रतिमाएँ मनुष्य की मूर्त्ति में हैं। उनके साथ धार्मिक प्रतीक सम्बद्ध हैं, जैसे हाथ की मुद्राएँ। ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्धकाल में तथा ईसवी सन् १ से तीसरी शताब्दी तक गुप्त साम्राज्य के शासनकाल में भी, बौद्धों के प्रभाव से, शिव की भी हाथ-पैरवाली प्रतिमाएँ काफ़ी बनीं। पर शिव की वास्तविक तथा प्राचीन उपासना लिंग के प्रतीक में ही होती चली आयी है। प्रतीक की कला भारत की अपनी ख़ास देन है।[४] इस सम्बन्ध में, शिव-उपासना तथा शिवलिंग के सम्बन्ध में, पश्चिम के विद्वानों ने काफ़ी प्रकाश डाला है।[५] उन ग्रन्थों के अध्ययन से भी यह सिद्ध है कि लिंग के रूप में शिव की उपासना सबसे प्राचीन है।

१. वही, पृष्ठ १८२। २. वही, पृष्ठ १८३। ३. वही, पृष्ठ १८५।

४. Edward Clodel—"Animism"—page 78.

५. निम्नलिखित पुस्तकें देखिए :—

(i) T. A. G. Rao—"Elements of Hindu Iconography"—Vol. I & II.
(ii) G. Allan—"Evolution of the Idea of God."
(iii) N. Macnicoll—"Indian Theism".
(iv) Wall—Sex and Sex worship.
(v) A. K. Coomarswami— (i) History of India & Indian Art.
(ii) Dance of Siva

किन्तु यह पूजन अथवा लिंगोपासना कामवासना का प्रतीक थी, ऐसी बात नहीं है। आज की फ़ैशनेबुल भारतीय स्त्रियों में तथा यूरोप-अमेरिका की अधिकांश स्त्रियों में बहुत ही महीन तथा अर्ध-नग्न वस्त्र पहनने की प्रथा चल पड़ी है। महाभारत-काल में भी दूसरों को मोहित करने के लिए स्त्रियाँ ऐसा ही वस्त्र धारण करती थीं। महाभारत के अरण्य-पर्व की कथा है[१] कि शंकर से पाशुपतास्त्र प्राप्त कर अर्जुन इन्द्र के यहाँ अतिथि हुए। उस समय 'स्त्रीसंसर्ग-विशारद' चित्रसेन[२] ने उनके पास उर्वशी नामक अप्सरा को भेजा। वह ऋषियों के भी मन को मोहित-विचलित करनेवाली सूक्ष्म वस्त्र धारण किये हुए आयी।[३]

ऋषीणामपि दिव्यानां मनोव्याघातकारणम्।
सूक्ष्मवस्त्रधरं याति जघनंचानवद्यया॥

इस प्रकार उस युग की तथा आज की वासना में कोई भी अन्तर नहीं हुआ। पर अन्तर एक है और था। वासना के अंधे अवसर पर भी मनुष्य धर्म का ज्ञान नहीं छोड़ बैठता था। अर्जुन ने उर्वशी को इसलिए ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया कि वह इन्द्र की अप्सरा थी अतएव गुरु-पत्नी के समान थी।[४] वन में द्रौपदी के रूप को देखकर जयद्रथ मोहित हो गया था। उसे द्रौपदी ने जो उत्तर दिया था—उसके दूत को—उससे भी उस काल की धर्मशील सभ्यता का अनुमान लगता है।[५] मनुस्मृति में मनु ने मनुष्यों को वासना के विरुद्ध जो उपदेश दिया है, वह उस समय की सच्चरित्रता की पवित्र मर्यादा को पुकार-पुकारकर घोषित करता है। मनु ने ही कहा था—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते।—मनु०, अ० २, श्लोक ६, पृ० ६४।

घी के डालने से आग बढ़ती है, शान्त नहीं होती। भोग से कामवासना बढ़ती है, उसका शमन नहीं होता। स्त्री के लिए भी ब्रह्मचर्य का इतना स्पष्ट आदेश था कि विधवा के लिए वासना छू तक नहीं जानी चाहिए:—

मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥[६]

—मनु०, अ० ५, श्लोक १६०।

१. Mahabharat—Southern Edition—Editor. P. P. S. Shastri, Pub. V. Ramaswami Shastrulu & Sons, Madras, 1933—Part I—p. 231.

२. अरण्यपर्व, अ० ४१, श्लो० ३।
३. वही, श्लो० २९।
४. वही, पृष्ठ २३८।
५. वही, पृष्ठ १२४१—४२।
६. मनुस्मृति, टीकाकार पं० केशवप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक—क्षेमराज श्रीकृष्णदास, सन् १९४८, पृष्ठ १७५।

विधवा स्त्री यदि निस्सन्तान भी हो तो पराये पुरुष से सम्बन्ध न करे। वह अपने ब्रह्मचर्य की साधना से स्वर्ग चली जायगी, प्राप्त करेगी।

जहाँ पर विधवाओं के लिए इतना स्पष्ट आदेश हो, वहाँ की विधवाएँ शिवलिंग का उपयोग अपनी कामवासना की तृप्ति के लिए करेंगी, ऐसी गन्दी बात उन्हीं लोगों के दिमाग में घूमती है, जो हर एक वस्तु को कामवासना के साथ जोड़ देते हैं। कटनर ने अपनी पुस्तक में इस प्रकार की गन्दी बातें लिखी हैं। कटनर के दिमाग में एक मात्र यही बात समायी हुई थी कि संसार में जो कुछ भी सत्य तथा सुन्दर है, वह कामवासना से सम्बन्धित है। अपनी पुस्तक के प्रारम्भ में ही वे लिखते हैं कि आदिकालीन मानव के जीवन का संघर्ष इतना विकट था कि उसकी सत्ता के लिए अधिक से अधिक सन्तानोत्पत्ति जरूरी थी।[१] वे आगे चलकर लिखते हैं—"सभी प्राचीन धार्मिक सम्प्रदायों में जो अनेक प्रतीक प्रचलित थे, वे सभी या तो लिंग-उपासना से सम्बन्धित थे या सूर्य-उपासना से। ये दोनों उपासनाएँ (सम्प्रदाय) साथ-साथ चलती थीं···भोजन के बाद मनुष्य की सबसे बलवान् आवश्यकता कामवासना है···हजारों वर्ष पूर्व, सबसे प्रारम्भिक पुजारी यह अनुभव करता था कि अपने देवता के साथ उसका प्रकट सम्बन्ध है। वह देवता चाहे ओसिरिस की मूर्त्ति हो, शिव की मूर्त्ति हो, अदोनिस या वेनस (कामदेवी), जुपिटर (गुरु) या प्रियापस (प्रजापति) की मूर्त्ति हो।"[२] स्मिथ ने भी अपनी पुस्तक में लिंग-उपासना के संगठित तथा व्यापक सम्प्रदायों का विवेचन करते हुए उसे कामवासना का परिणाम सिद्ध करने का प्रयास किया है।[३] ब्रिटिश अब्दकोष में शक्तिपूजा की बड़े गलत ढंग से व्याक्या की गयी है। उससे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि वास्तविक शक्ति-पूजन लिंग-योनि-पूजन है जो वासना तथा प्रजनन का प्रतीक है।[४] इन सभी लेखकों ने 'लिंगवाद' शब्द भी गढ़ डाला है।[५] लेखक फौरलोंग का कहना है कि ख़तना कराने की प्रथा, लिंग के अग्रभाग का चमड़ा कटाने की प्रथा, यहूदियों ने शुरू की। वह लिंग-उपासना ही थी। कटनर यह बात नहीं मानते। उनके अनुसार यह प्रथा अति प्राचीन मिस्र से शुरू हुई और केवल जननेन्द्रिय

१. H. Cutner—A Short History of Sex-worship—page 2.
२. वही, पृष्ठ ३ से ५ तक।
३. Robertson Smith—"Religion of the Semites"—3rd Edition—page 456.
४. Shakti Puja—Referred to in British Encylopaedia—14th Edition, Volume, 17, page 688.
५. Phallicism or Phallism.
६. कटनर, पृष्ठ २३।

की सफाई के लिए चालू हुई थी।[१] एकलिपट स्मिथ के अनुसार 'ख़तना' कराने का मतलब था 'विवाह के लिए जननेन्द्रिय को उपयोग के लिए तैयार करना।' हैनी[२] ने लिखा है कि यहूदी यानी ज्यू शब्द पहले 'इयू' लिखा जाता था। ई—पुरुष, यू—स्त्री, यानी लिंग-योनि। लैम्प्रियर के कथनानुसार प्राचीन काल में देवी-देवताओं में लिंग-योनि के सम्बन्ध में कोई मर्यादा नहीं थी। प्रसिद्ध यूनानी देवी अदोनिस की माता का नाम मायरा देवी था। देवी अदोनिस के पिता साइप्रस टापू के नरेश सिनरास थे। मायरा सिनरास की ही बेटी थीं और उस बेटी से ही नरेश सिनरास ने देवी अदोनिस को उत्पन्न कराया था।

यूनान के सूर्य देवता का नाम प्रियापस (प्रजापति) था। रोम के एक कामदेव का नाम मूतुमस (मूत्रमान) था। प्रियापस देवता की प्रतिमा में बड़ा भारी लिंग बनाते थे। वसन्त ऋतु में इस लिंग पर गुलाब का फूल चढ़ता था। यही ऋतु कामवासना के लिए आदर्श होती है। पतझड़ के दिनों में इस लिंग पर अंगूर चढ़ाते थे, जाड़े में जैतून। गर्मी में काम-क्रीड़ा निषिद्ध है, अतएव काँटा चढ़ाते थे। प्रियापस देवता के सामने दीर्घलिंगी गधे का बलिदान होता था। रोम के सम्राट् कांस्टेंटाइन के शासनकाल में जैम्लिबक्स नामक दार्शनिक थे, जिनका कहना था कि "संसार में लिंग-उपासना के कारण ही जनसंख्या की वृद्धि होती है।"

यूनान के प्रियापस देवता रोम में काम-देवता बनाकर पूजे जाने लगे। कामदेवी वेनस को रोमन लिवरा, यानी माता कहते थे तथा कामदेव प्रियापस को लाइबर, यानी पिता कहते थे। मिस्र के लोगों से रोमन लोगों ने भी मार्च के महीने को कामवासना का त्योहार मानने का महीना बना लिया था। इस अवसर पर रथ पर रखकर एक बड़े लिंग का जलूस निकालते थे। रास्ते भर रोमन नर-नारी इस लिंग का पूजन करते थे। इसे कामदेवी का त्योहार कहते थे। रथ-यात्रा के दो-चार दिन बाद स्त्रियों का जुलूस निकलता था। वे अपनी छाती पर लकड़ी के लिंग रखकर चलती थीं। रोम में आइसिस देवी का मंदिर लिंग-योनि-पूजन तथा भ्रष्टाचार का केन्द्र था। देवी र्‌ही[३] तथा शनिदेव से उत्पन्न वेस्तादेवी का मन्दिर रोम में काफी प्रसिद्ध था। इस मन्दिर में सेविका के कार्य के लिए १० वर्ष की उम्र से लड़कियाँ भर्ती की जाती थीं। ३० वर्ष की उम्र तक इनको

१. J. B. Hannay Says—"Jew (Word) was previously written as I. U—I for one male, U for one female, Jesus was written as Iesu. es is Hindu word for Flesh."

२. Lampriere.

३. भारतीय तांत्रिक बीजमंत्र "ह्रीं"।

अक्षत कुमारी रहकर मन्दिर में सेवा करनी पड़ती थी। यदि इन अक्षत कुमारियों में से किसी का ब्रह्मचर्य खण्डित हो जाता था तो वे दण्ड-स्वरूप जमीन में ज़िन्दा गाड़ दी जाती थीं। कम से कम १००० वर्ष तक यह प्रथा रही। ईसवी सन् ३९ में यह मंदिर नष्ट कर दिया गया और वह सम्प्रदाय ही नष्ट हो गया। अनेक पश्चिमी विद्वान् वेस्तादेवी के उपासकों को भारतीय तांत्रिक उपासना से सम्बन्धित उपासना मानते हैं।

ऐसा सम्बन्ध पीटरसन[1] तथा कटनर ने भी स्थापित किया है। पीटरसन के कथनानुसार भारतवर्ष के काल (महाकाल) देवता तथा काली (महाकाली) देवी की उपासना मिस्र, यूनान तथा रोम पहुँची। भिन्न देशों में उनका नाम बदल गया। उनके कथनानुसार महाकाल—मोलोश, क्रोनोस, सैटर्न, प्लूटो, ताइफ़न देवता तथा महाकाली—हिकात, प्रोसर्पाइन, दियाना देवी इत्यादि कहलाने लगीं।

कटनर कहते हैं कि तारिपस नगर में दियाना देवी की पूजा भारतीय महाकाली के समान पशुबलि आदि के साथ होती थी। मिस्र के ओसिरिस देव तथा आइसिस देवी भारतीय शिव-भवानी के समकक्ष थे।[2] हमें यह बात मानने में आपत्ति नहीं है। देश-काल के अनुसार उपासना का प्रकार दूषित हो गया हो, पर उपासना के सिखानेवाले हमी थे। इस प्रकार लिंग-उपासना भी मिस्री या इब्रानी या यूनानी चीज़ नहीं थी। लिंगोपासन भारत से बाहर गया। और जिस समय लिंग की उपासना हमने बाहरवालों को सिखायी, उसका सिद्धान्त तथा शास्त्र दूसरा ही था। बाद में अर्थ का अनर्थ हो गया। लिंग-उपासना ने संसार में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था कि दीर्घलिंगधारी प्रियापस देवता का प्रभाव हटाने में ईसाई पादरी जब असफल होने लगे तो उन्होंने उसे ईसाई प्राचीन महापुरुषों[3] में स्थान दे दिया। ईसाई धर्म के प्रचार के बाद भी काफ़ी समय तक लिंगोपासना यूरोप में प्रचलित थी। ईसाई काल में ही बने हुए लिंग-प्रतीक फ्रांस तथा जर्मनी में बहुतायत से पाये जाते हैं। बेल्जियम राज्य का एक प्रदेश ऐंतवर्प है। यहाँ पर लिंग-पूजक प्रियापस सम्प्रदाय १७वीं सदी तक वर्तमान था। जर्मनी में इस देवता को प्राइपे कहते थे और १२वीं सदी तक वहाँ लिंग-पूजा होती थी। यूरोप के आदि निवासी गॉल लोग, बाद में डेनमार्क से लेकर इंगलैण्ड तक शासन करनेवाले सैक्सन लोग तथा स्वेडन और नार्वे के लोग फ्रिक्को या फ्रिस्को नामक देवता की पूजा करते थे, जिनका बड़ा दीर्घ लिंग होता था। प्राचीन रूस में स्कौप्ज़ी नामक एक सम्प्रदाय था, जिसका

१. Peterson in "Asiatic Researches."
२. कटनर, पृष्ठ ८९—९१।
३. Christian Saint.

विश्वास था कि जो पुरुष ख़तना नहीं कराता उसकी मुक्ति नहीं होती। कुमारियाँ अपनी छाती कटवा देती थीं। इस सम्प्रदायवालों ने एक अनुष्ठान किया जिसमें १,४४,००० ऐसी कुमारियों तथा कुमारों की आवश्यकता थी जो अपनी छाती कटवा लें तथा ख़तना करा लें। पर इतनी संख्या न मिलने के कारण ही वह अनुष्ठान असफल रहा।[1]

कौंगो में मन्दिरों पर लिंग तथा भग बना देते थे। मलाया अन्तरीप में एक देवता करायनालोवे की पूजा होती थी जिनके शरीर में लिंग तथा योनि (अर्द्धनारीश्वर) दोनों ही बने रहते थे। उत्तरी अमेरिका में धार्मिक पर्वों पर वृषभ-नृत्य होता था जिसमें नाचने-वाले अपने वस्त्रों में बड़े-बड़े लिंग छिपाये रहते थे। स्त्रियाँ झपटकर इन्हें खींच लेती थीं और अपने गाँव ले जाती थीं।[2] श्रीमती स्टिवेंसन का कहना है कि संसार के हर कोने में लिंग-प्रतीक की पूजा होती थी।[3]

और, लेखक मार के अनुसार 'जीवन में जीवन की शक्ति' की परिकल्पना से ही लिंग की उपासना प्रारम्भ हुई।[4] इसी भावना के कारण यूनानियों ने वसन्त-ऋतु को लिंग-उपासना की ऋतु बना लिया था। यूनानी देवी अफ्रोदाइत की पूजा में भद्दा से भद्दा कामुक कार्य होता था। यूनानी देवता दायोनिसस के उपासकों का एक गुप्त सम्प्रदाय था, जो भारत के एक वाममार्गी सम्प्रदाय की तरह मद्य-मांस-मैथुन का सेवन करने के बाद सूर्यास्त के उपरान्त देवता का जुलूस निकाला करता था, जिसमें 'लिंगदेव' की प्रशंसा में भजन गाये जाते थे। इटली के प्राचीन नगर पाम्पियाई के नाम से हम सभी परिचित हैं। नेपुल्स नगर के दक्षिण-पूर्व १३ मील पर यह अति सुन्दर नगर बसा हुआ था। ईसवी सन् ७६ में वेसूवियस ज्वालामुखी के भयंकर विस्फोट से यह नगर समाप्त हो गया। इसके भग्नावशेष में ऐसे मंदिर मिले हैं जिनमें हमारे देश के जगन्नाथपुरी के मन्दिर के समान दीवालों पर लिंग तथा उसकी क्रियाएँ खुदी हुई हैं।

यूनानी तथा रोमन प्रतीकों की व्याख्या करते हुए श्री गार्डनर लिखते हैं—

'प्रतीक उसे कहते हैं जो देखने या सुनने में किसी विचार, भावना या अनुभव को व्यक्त

१. कटनर, पृष्ठ १९९।

२. कटनर, पृष्ठ २०० से २१२ तक।

३. Mrs. Sinclair Stevenson—"The Rites of the Twice Born," Pub. 1920.

४. G. Sampson Marr—Sex in Religion—1936—page 36.

करता हो; जो चीज़ केवल बुद्धि या कल्पना से ग्राह्य हो, उसकी ऐसी व्याख्या कर देना कि आँख के सामने आ जाय।'[१] वे फिर लिखते हैं—

"आदिकालीन लोग अपनी कन्दरा की दीवालों पर जानवरों का चित्र बना देते थे और अपने को उसी से सुरक्षित समझते थे। यूनान में युवती कन्याएँ भालू का बाना पहनकर भालू-नृत्य करती थीं, जिससे आर्तिमीस देवी प्रसन्न हों। उसी देश में एक त्योहार 'दियासिया' मनाया जाता था जिसमें पुरोहित भैंसे की बलि देता था। फिर वह अपने को ही हत्या का दोषी घोषित करता था। तब वह अपनी कुल्हाड़ी को, जिससे बलिदान किया था, हत्या का दोषी ठहराता था और बड़े समारोह के साथ वह हत्यारिन कुल्हाड़ी जल में फेंक दी जाती थी। छठी-सातवीं शताब्दी में वहाँ एक प्रथा यह थी कि दो बड़े बर्तनों में पानी भरकर पूर्व तथा पश्चिम की तरफ़ मंत्र पढ़कर जल फेंकते थे। उस मंत्र का अर्थ था—'आकाश, तू वर्षा कर। पृथ्वी, तू अन्न उत्पन्न कर।' यूनानी प्रतीक सीरिया तथा मेसोपोटामिया से प्राप्त किये गये थे। वहीं से यूनान आये थे। देवी आर्तिमीस के हाथ में शेर तथा चीता रहता था। उनके शरीर में पर भी थे, जो उनकी शीघ्र गति के परिचायक थे। पाँचवीं सदी में वहाँ ज्यूस देवता की पूजा होती थी जिनके हाथ में वज्र रहता था। भारत या मिस्र की तरह (जहाँ आदमी का मुर्दा जानवरों को खाने के लिए फेंक दिया जाता था) यूनान की कला में कोई बीभत्सता नहीं थी।"[२]

यहूदियों के प्रतीकों की व्याख्या करते हुए श्री अब्राहम लिखते हैं कि यहूदियों के देश में दूसरी सदी में यह स्पष्ट आदेश था कि कौन पशु भोजन के काम में आ सकता है, कौन नहीं। उनके प्रतीक भी फलों से सम्बन्ध रखते थे—जैसे टोकरी भरा फल, सूखी अंगूर की लता, बादाम का वृक्ष इत्यादि, ये सब उनके प्रतीक थे। यहूदी लोग व्रतोपवास को भी 'बलिदान' मानते थे। तैबरनकलीज़ की 'दावत' के त्योहार में कई प्रकार के पत्ते पहने जाते थे। हर एक पत्ते का अपना अर्थ होता था। जैसे खजूर की पत्ती अहंभाव तथा अहंकार को व्यक्त करती थी, इत्यादि।[३]

यूनान में दायोनिसियस देवता के सामने बकरे का बलिदान उसी प्रकार होता था, जिस प्रकार भारतीय मंदिरों में। अब इन बातों से प्रकट है कि भारतीय आर्य सभ्यता से धर्म का जो रूप बना, वही प्राचीन सभ्यताओं पर छा गया। सभी प्राचीन सभ्यताओं में, भिन्न तथा पृथक् रूप से, धर्म की एक ही धारा बह रही थी। इतिहास के नवीन शोधों से

१. Encyclopaedia of Religion & Ethics—Symbolism—Greek and Rome, by P. Gardner—page 139.

२. वही, पृष्ठ १४०। ३. वही, पृष्ठ १४४।

भी यही बात प्रमाणित हो रही है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की सांस्कृतिक शाखा की ओर से श्रीमती ऐनी मेरी हुसेन का एक लेख प्रकाशित हुआ है।[१] पश्चिमी पाकिस्तान के स्वात नामक स्थान में इतालियन अनुसन्धान के संचालक प्रोफेसर तुच्ची[२] खुदाई का कार्य कर रहे हैं। उनके कथनानुसार भारत का यह भाग एशिया तथा यूरोप के बीच का प्रवेश-द्वार है। जापान और फ्रांस से भी ऐसे ही अन्वेषकों की टोली शोधकार्य के लिए यहाँ आयी हुई है। सिन्धु की घाटी में प्राप्त प्राचीन सामग्री का हमने अपनी इस पुस्तक में बार-बार उल्लेख किया है। हिमालय से लेकर भारतीय महासागर में गिरने तक १८०० मील की लम्बी यात्रा सिन्धु नदी करती है। सन् १९१८ में इसी घाटी के निचले भाग में महेंजोदाड़ो का नगर मिला था जिससे आर्य सभ्यता से कुछ भिन्न या पुरानी सभ्यता का पता चला था। यह सभ्यता प्राचीन मेसोपोतामिया की अरबी सभ्यता से बहुत मिलती-जुलती थी। विदेशी पंडितों का यह अनुमान है कि आर्य जाति भारत में बाहर से आयी। लोकमान्य तिलक भी साइबेरिया के उत्तरी प्रदेश में आर्य जाति का प्रारम्भिक निवास मानते थे।[३] श्रीमती ऐनी मेरी के अनुसार ईसा से १५०० वर्ष पूर्व आर्य भारतवर्ष में आये। पूर्व विश्वास के अनुसार उस समय यहाँ असभ्य तथा बर्बर लोग ही रहते थे। वर्तमान पंजाब आर्यों का प्रथम भारतीय निवास-क्षेत्र था। पर नयी खोजों से यह साबित होता है कि उस समय भी यहाँ पर विशिष्ट सभ्यता थी जो आसाम से अफ़गानिस्तान तक फैली हुई थी। ऐनी मेरी लिखती हैं कि "हिमालय की ठंडी दीवालें ऐसी अजेय नहीं थीं जैसी कि हम समझते हैं।" उनके ही मार्ग से इस सभ्यता का एशिया-यूरोप के अन्य भागों से सम्बन्ध स्थापित था। सिन्धु घाटी पर पहले ईरानियों का, फिर यूनानियों का, तदुपरान्त भारतीयों का आधिपत्य था। अतएव यह सभ्यता इन तीनों की मिली-जुली सभ्यता बन गयी थी...आर्य आक्रमण के पहले, ईसा से ३००० वर्ष पूर्व भी, सिन्धु घाटी की सभ्यता बहुत ऊँचे दर्जे की थी। वास्तव में सिन्धु घाटी तथा मेसोपोतामिया का व्यापारिक, सांस्कृतिक, सभी प्रकार का घनिष्ठ सम्बन्ध था। पश्चिमी पाकिस्तान की खुदाई तथा उमड़ी नगर में प्राप्त ज़मीन के नीचे पड़ा हुआ समूचा नगर इसका साक्षी है...किन्तु यह कहना ग़लत होगा कि दोनों सभ्यताएँ एक ही थीं। दोनों का अपना अलग विशिष्टत्व भी था...क्या इन दोनों की पूर्ववर्ती कोई एक ही सभ्यता थी? पुरातत्त्व-वेत्ताओं का अनुमान है कि ऐसा हो सकता है। काँसे के युग के पूर्व ईरान के मैदानों में

१. Unesco—Anne—Marie Hussein—देखिए Pioneer 15-7-1960.

२. Professor Tucci.

३. Lokmanya Tilak—Arctic Home of the Vedas.

रहनेवाले लोगों की सभ्यता ही इनकी पूर्ववर्ती गुरु सभ्यता थी। पाँच लाख वर्ष पूर्व बलूचिस्तान की पहाड़ियों पर काफ़ी घनी आबादी थी और वे लोग ईरानी सभ्यता में थे। उनके पास पत्थर की कुल्हाड़ियाँ थीं और वे संघर्षमय जीवन बिता रहे थे। इन पहाड़ियों पर प्राचीन भग्नावशेष ऐसी पुरानी बस्ती तथा लोगों के रहने के साक्षी हैं। यही लोग पहाड़ी पार कर, टाइग्रीज़ तथा यूफ्रेटीज़ नदी को भी पार कर एशिया के अन्य भागों में पहुँच गये। यही लोग पूर्व की तरफ सिन्धु घाटी में उतर आये।"

उमड़ी में प्राप्त पीले रंग के बर्तन, उन पर की गयी पच्चीकारी, चित्रकला आदि भी इसी बात की पुष्टि करते हैं। ये सामग्रियाँ महेंजोदाड़ो में प्राप्त सामग्री से भी पुरानी हैं। महेंजोदाड़ो की खोज करनेवाले सिंधु घाटी के निचले भाग से परिचित हैं। उमड़ी की खुदाई करने वाले जापानी तथा इतालियन उत्तरी तथा ऊपरी भाग से परिचय प्राप्त करने में समर्थ हुए हैं। पेशावर के आस-पास बौद्ध प्रतिमाएँ तथा सामग्रियाँ भरी पड़ी हैं। यहाँ पर बौद्ध धर्म का प्रचार अशोक ने किया था। सिंधुघाटी के ऊपरी हिस्से में बुद्ध की लगभग ६,००,००० स्वर्ण-प्रतिमाएँ तथा संघ-आश्रम स्थापित थे। इसी लिए दूर-दूर से बौद्ध यात्री यहाँ काफ़ी संख्या में आते थे। पेशावर से कुछ ही मील की दूरी पर शहबाज़गढ़ी में अशोक के १४ आदेश शिलालेख के रूप में आज भी प्राप्त हैं। अशोक-काल से ही गांधार-कला का इस क्षेत्र में जन्म हुआ था। मध्य एशिया से जब कुशन लोगों ने यहाँ आकर शासन प्रारम्भ किया, उन्होंने बौद्ध सभ्यता तथा कला को अपनाया और उसमें मध्य एशिया की कला को जोड़कर उसे और भी मुखरित कर दिया। कुशन नरेशों की राजधानी पेशावर थी। उन दिनों ईरानी साम्राज्य विदेशियों के यातायात पर कठोर प्रतिबन्ध रखता था। अतएव चीन के सिल्क तथा अन्य सामग्री के व्यापारी पेशावर के मार्ग से भूमध्य सागर तथा तुर्किस्तान पहुँचते थे। सिंधु घाटी उस समय—ईसवी सन् के प्रारम्भ में—संसार में सबसे धनी तथा उन्नत सीमा बन गयी थी। प्रोफ़ेसर तुच्ची के अनुसार इस घाटी में उन दिनों १४०० संघ-विहार थे। यूनानी-रोमन कला का भारतीय कला के साथ अभूतपूर्व मिश्रण यहीं देखने में आता था।

श्रीमती ऐनी मेरी हुसेन तथा प्रोफ़ेसर तुच्ची की इन खोजों से डॉ० सम्पूर्णानन्द का ही सिद्धान्त पुष्ट होता है कि आर्यों का आदि देश पंजाब-ईरान था।[१] और भी आर्य बाहर से आये होंगे, पर ३००० वर्ष ईसा से पूर्व यहाँ पर आर्य के इतर कोई सभ्यता थी, यह मानने का कारण नहीं प्रतीत होता। यह हो सकता है कि वह प्राचीन सभ्यता लिंग-पूजकों की थी, जिसके विरोधी आर्य नरेश या देवता इन्द्र रहे होंगे। ऐसे लिंग-पूजक

१. डॉ० सम्पूर्णानन्द—आर्यों का आदि देश।

'शिश्नदेवों' के साथ इन्द्र का झगड़ा हुआ होगा, जिसका उल्लेख ऋग्वेद में है। पर, लिंग-पूजन हमारे देश से ही बाहर गया, यह बात भी 'सभ्यताओं के मेल' की ऊपर लिखी बातों से सिद्ध हो जाती है।

जो लोग हर एक धर्म को कामवासना का परिणाम नहीं मानते, वे प्राचीन धर्मों के विकास का संयत इतिहास हमारे सामने रखते हैं। प्रसिद्ध यूनानी कवि होमर ने लिखा था कि सभी मनुष्यों को देवताओं की आवश्यकता होती है। मार भी अपनी पुस्तक में यही बात स्वीकार करते हैं और प्रोफ़ेसर नील भी इसे दुहराते हैं। सभी पुराने धर्म 'एक ईश्वर' को मानते हैं। बुतपरस्ती (मूर्त्ति-पूजा) तथा अनेक देवी-देवता तो बाद में आये। प्रोफ़ेसर नील के कथनानुसार प्राचीन बैबीलोनियन धर्म भी एक ईश्वर-वादी था। उसका दर्शन काफ़ी ऊँचा उठ चुका था। मूर्त्ति-पूजा उसमें बाद में आयी।[1] इब्रानी हिब्रू धर्म की व्याख्या करते हुए प्रो० चीन[2] तथा प्रो० मूलर[3] ने भी घूम-फिरकर एक-ईश्वर-वाद तथा बाद में मूर्त्ति-पूजा तथा अनेक देवी-देवता के प्रादुर्भाव का सिद्धान्त स्वीकार किया है। यूनान का दर्शनशास्त्र भी ईश्वर तथा एक महाप्रभु की सत्ता का सिद्धान्त प्रतिपादित करता है। मेक्सिकन लोगों का 'अजतेक' धर्म, ईरान का जरतुश्त तथा बाब्र-धर्म, चीन का ताओवाद, जापान का शिन्तोवाद भी तो यही 'एक ईश्वर' तथा उसकी सत्ता का प्रतिपादन है। अरब का बर्बर नरेश सुधरिर बिन मसम्मा (सन् ५०५-५५४) तक ईसाइयों की हत्या उसी एक ख़ुदा के नाम पर करता था। प्राचीन अरब लोग आपस में बहुत लड़ते थे। पर जब वे 'ख़ुदा के नाम पर' सुलह करते थे तो कोई किसी को एक तिनके से भी नहीं मारता था।[4] हिन्दू धर्म शुरू से ही एक ईश्वर को मानते हुए भी अनेक देवी-देवताओं की कल्पना करके इतना उदार हो गया था कि उसके भीतर सब धर्म पूर्ण सौहार्द के साथ रह सकते थे।[5] मिस्र के प्राचीन लोगों का पवित्र धर्म-ग्रन्थ, जिसे 'मृतकों की पुस्तक' अब कहते हैं, एक ईश्वर की ही कल्पना सिखलाता है।[6] प्राचीन पुस्तकों को पढ़ने तथा समझने की कला अभी तक पूरी तरह से संसार नहीं सीख पाया है, वरना आज तथा पाँच हजार वर्ष पहले की 'ज्ञान की भूख' में कमी

१. The Historians History of the World-Edited by Dr. Henry-Smith William, London, Introductory, page 84.
२. Prof. Thomas K. Cheyne, Oxford University.
३, Prof. D. H. Muller, Vienna University.
४. वही पुस्तक, भाग ८, पृष्ठ ९।
५. वही, भाग २, पृष्ठ ५४५।
६. वही, भाग १, पृष्ठ २५२। —"The Book of the Dead"

नहीं थी। ईसा से २००० वर्ष पूर्व बैबीलोनिया में पुस्तकालय रखने की प्रथा थी। उस समय पुस्तकें ईंट या मिट्टी को पकाकर बनाये हुए 'कागज' पर लिखी जाती थीं। अगाने नगर में सारगोन के पुस्तकालय की सूची से पता चलता है कि हर पुस्तक पर नम्बर पड़ा रहता था और पाठक नम्बर बतलाकर किताब प्राप्त करता था।[१]

अस्तु, प्रश्न हो सकता है कि धर्म क्या है? प्राचीन लोगों में धर्म की भावना किस प्रकार थी? एलिक रेक्लस इसकी व्याख्या करते हैं—"अज्ञात के समक्ष मनुष्य के मन में जो भावनाएँ उठती हैं, वही धर्म है।"[२] अज्ञात और अनन्त शक्ति से मनुष्य हमेशा डरता रहता है। इसी अज्ञात शक्ति को साकार बनाकर वह अपने भय तथा आशंका का निवारण करता है। अज्ञात, परम शक्ति एक ही हो सकती है। जूलस बैज़ाक ने धर्म के उद्‌गम की व्याख्या करते हुए लिखा है कि शुरू में मनुष्य के लिए माता पृथ्वी ही सब कुछ थी। सूर्य, चन्द्र आदि सब देवता उसके सेवक थे। चन्द्रमा को पुरुष देवता मानते थे। इसी माता पृथ्वी के प्रति श्रद्धा तथा आदर से धर्म की प्रेरणा का प्रारम्भ हुआ। औक्टर लोनी का कहना है कि प्रारम्भिक प्राणी का विश्वास था कि हर एक वस्तु में जीव है, आत्मा है।[३] जैनी भी प्रत्येक वस्तु में जीव मानते हैं।[४] प्रारम्भिक लोगों में यह विश्वास था कि सबसे ऊपर एक 'अच्छी' आत्मा है और एक 'बुरी' आत्मा है। इन दोनों में बराबर संघर्ष चला करता है। उत्तरी अमेरिका से लेकर साइबेरिया तक, आर्कटिक सागर के किनारे रहनेवाले एस्किमो लोगों के धर्म की व्याख्या करते हुए प्रो० नील लिखते हैं कि वे लोग तोर्नगर्सुक को 'प्रधान आत्मा' मानते हैं।[५] पूल के कथनानुसार मिस्र के प्राचीन महाप्रभु 'सूर्य देव' थे।[६]

इस प्रकार एक 'महादेव', 'प्रभु', ईश्वर की कल्पना प्रायः सभी प्राचीन सभ्यताओं में व्याप्त थी। प्रो० एलिक रेक्लस सभी धर्मों की इस तात्त्विक एकता को देखकर पूछते हैं—"क्या यह सम्भव है कि प्राचीन लोगों में परस्पर का सम्बन्ध उससे कहीं अधिक था जितना कि आज हम समझते हैं? क्या इससे यह साबित होता है कि हम सब एक ही सभ्यता के प्रसाद हैं? या, इसका मतलब यह है कि समान कारण उत्पन्न होने से समान

१. "A Review of the Tenth Edition of Encyclopaedia Britannica"-Pub. Adam & Charles Black, London, page 123.
२. वही, पृष्ठ १५७।
३. A. C. Ouchter Lonie. वही, पृष्ठ १५९।
४. T. W. Rhys Davids. वही, पृष्ठ १५९।
५. Prof. C. P. Tide. वही, पृष्ठ १६०।
६. Reginald Stuart Poole & Stanley Lane Poole—वही, पृष्ठ १६०।

परिणाम पैदा होते हैं और चूँकि मानव-मस्तिष्क समान है अतः समान विश्वास भी उत्पन्न होते गये।"[१]

रेक्लस ने ये पंक्तियाँ संसार में प्रचलित धार्मिक अंधविश्वास के सम्बन्ध में लिखी हैं। पर शुद्ध धर्म की व्याख्या करने में भी हम इन पंक्तियों को बड़े महत्त्व की मानते हैं। निश्चय ही सब धर्मों की तात्विक एकता का पाठ भारतवर्ष ने ही पढ़ाया है। ईश्वर एक है। १ की संख्या, १ ईश्वर का प्रतीक, १ परब्रह्म की व्याख्या, १ अज्ञात महाशक्ति का प्रतीक शिवलिंग है जो अर्घ्य में बैठा हुआ प्रकृति तथा पुरुष को मिलाकर एक महती शक्ति का द्योतक है। न तो यह कामवासना का प्रतीक है, न यह पुरुष-लिंग का प्रतीक है। बाद में चलकर लोगों ने इसका जो कुछ भ्रष्ट अर्थ लगा लिया हो, पर मूलतः शिवलिंग का अर्थ 'एकोऽहं, द्वितीयो नास्ति' है—'मैं एक हूँ। दूसरा और कुछ भी नहीं।' और इसी भावना से संसार ने शिवलिंग को ग्रहण किया था। ऐसे ही एक मात्र प्रभु के पुजारियों से इन्द्र का इसलिए भी झगड़ा हो सकता है कि वे ईश्वर के साथ ही देवताओं की सत्ता में भी विश्वास करते रहे होंगे। पर, यह तो कल्पना की बात हुई।

इसी शिवलिंग[२] के पूजन के सम्बन्ध में, महाभारत के अनुशासनपर्व में, मार्कण्डेय-उपाख्यान में, अश्वत्थामा से कहा गया है—

जन्मकर्मतपोयोगास्तयोस्तव च पुष्कलाः।
आद्यो लिंगेऽर्चितो देवः त्वयार्चायाम् युगे युगे॥

अर्थात् "तुम्हारा जन्म, कर्म, तप, योग तथा कृष्ण और अर्जुन का भी बहुत बड़ा है। कृष्ण तथा अर्जुन ने लिंग में पूजन किया है।"

लिंग-पूजन वास्तव में आध्यात्मिक पूजन है। लिंग-पूजा मानसिक वस्तु है।

लयं गच्छति इति लिंगम् मनः।

लिंग का अर्थ है मन। मन का आश्रय योनि है। योनि का अर्थ है बुद्धि। अर्थात् योनि (बुद्धि) में लिंग (मन) को लीन कर देना। यही लिंग-पूजन है। मन से बुद्धि में आओ। 'उर्ध्वमूल' का हमारे यहाँ बड़ा आध्यात्मिक माहात्म्य है—'शुंगेन मूलमन्विच्छ।' जटा के नीचे आओ। यह उपनिषद्वाक्य है। लिंग-पूजन का असली अर्थ है बुद्धि में मन को लीन कर लेना। मोक्ष का यही मार्ग है।

एक मत यह भी है कि भारत अध्यात्म-प्रधान देश है। यहाँ पर निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति

१. Elic Reclus. वही, पृष्ठ १५७।
२. लिंग का अर्थ होता है चिह्न।

के लिए सगुण उपासना बतलायी गयी है। निर्गुण ब्रह्म-रूपता के लिए अन्तरंग साधन के लिए साकार-सगुण लिंग-रूप में ईश्वर की पूजा होती है। ज्ञान के दाता महेश्वर हैं।

ज्ञानं महेश्वरादिच्छेत्।

लिंग-पूजन ज्ञान की प्राप्ति के लिए ही है। यह प्राचीन पूजन है, इसका प्रमाण ऋग्वेद का १०-६२-६ तथा १-११४-१.४,१० इत्यादि ऋचाएँ भी हैं। काशीखण्ड में, अध्याय ३९ में, स्वायम्भुव मन्वंतर में पाद्म कल्प में राजा दिवोदास की कथा है। राजा के किसी अपराध के कारण भगवान् शिव ने काशी में रहना छोड़ दिया, पर वहाँ से जाने के पूर्व उन्होंने गुप्त रूप से सर्वप्रथम 'अविमुक्तेश्वर' नामक शिवलिंग की स्थापना की—

यियासुना च देवेन मंदिरं चित्रकन्दरम्।
निजमूर्त्तिमयं लिंगमविज्ञातं विधेरपि।।
स्थापितं सर्वसिद्धीनां स्थापकेभ्यः समर्पितुम्।।[1]

पौराणिक रूप से, इस कथा के अनुसार शंकर ने स्वयं अपना प्रतीक शिवलिंग बनाया। पौराणिक कथा के अनुसार मुनियों के शाप से एक बार शिवजी का गुप्त लिंग कटकर गिरने लगा। सारे संसार में नाश का भय उत्पन्न हो गया। जगत् की रक्षा के लिए ब्रह्मा तथा विष्णु क्रमशः पीठ तथा योनि बने। इस प्रकार वह लिंग धारण किया गया तथा उसकी पूजा प्रारम्भ हुई। पीठ-योनि सहित ही लिंग प्रायः देखने में आता है। एक कथा यह भी है कि ब्रह्मा तथा विष्णु में यह विवाद छिड़ा कि कौन बड़ा है। तब ज्योतिर्मय लिंग प्रकट हुआ। महाभारत के आदिपर्व में शिवभक्त उपमन्यु तथा इन्द्र का संवाद देखने योग्य है। सृष्टि शैवी, शिव की है, यह कहते हुए उपमन्यु ने दलील दी है—

न पद्मांका[2] न चक्रांका[3] न वज्रांका[4] मतः प्रजा।
लिंगांका च भगांका च तस्मान्माहेश्वरी प्रजा।।

आध्यात्मिक दृष्टि से 'लीनमर्थं गमयति'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार परम गूढ़ ब्रह्मतत्त्व का प्रतीक लिंग है। उपासनाकाण्ड में स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण, तीनों रूपों की समष्टि रखते हुए ही उपासना करने का निर्देश है। तदनुसार ऐसे वचन मिलते हैं—

अन्तर्लिङ्गं दृढं बद्ध्वा
बहिर्लिङ्गं यजेत् शिवम्।।

१. काशीखण्ड, अ० ३९, श्लो० ७०-७१।
२. ब्रह्मा। ३. विष्णु। ४. इन्द्र।

अन्तर्लिंग क्या है ? हम मूलाधार में स्थित स्वयंभू लिंग[१] का वर्णन कर आये हैं। उस स्वयंभू लिंग को जाग्रत करने के लिए बाहरी शिव लिंग का पूजन आवश्यक हो सकता है। पार्थिव पूजन का इसी लिए महत्त्व है। लिंग का पूजन ही ऐसा पूजन है जिसमें 'सपरिवार' शिव का ध्यान किया जाता है। ऐसी उपासना का अर्थ न समझकर विदेशी पंडितों ने कामवासना के साथ लिंग-पूजन जोड़ दिया है।[२] जिस लिंग के सम्बन्ध में शंकर ने स्वयं पार्वती से कहा है कि समूची सृष्टि में मैं लिंग-स्वरूप हूँ—क्या यह कामवासना का प्रतीक हो सकता है ?

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं लिंगरूपोऽस्म्यहं प्रिये

लिंगार्चनतंत्र से हिन्दू लोग भी प्रायः कम परिचित हैं। इसमें बड़े सुन्दर ढंग से लिंग का शरीर के भीतर स्थान समझाया गया है। योगी लोग ही नीचे लिखे श्लोकों का अर्थ ठीक से समझ तथा समझा सकते हैं। लिखा है—

महाशून्ये महाकालम् महाकालीयुतः सदा ।
देहमध्ये महेशानि लिंगाकारेण वेष्टितः ।।
मूलाधारे स्वयंभूश्च कुण्डलीशक्तिसंस्थितः ।
स्वाधिष्ठाने स्वयं विष्णुस्त्रैलोक्यपालकः सदा ।।
मणिपूरे महारुद्रः सर्वसंहारकारकः ।
अनाहते ईश्वरोऽहं सर्वदेवेनसेवितः ।।
विशुद्धाख्ये षोडशारे सदाशिव इति स्मृतः ।
आज्ञाचक्रे शिवः साक्षात् चित्तरूपेण संस्थितः ।
सहस्रारे महापद्मे त्रिकोणनिलयान्तरे ।
बिन्दुरूपो महेशानि परमेश्वर ईरितः ।।

(जिस समय सृष्टि में कुछ नहीं था, महाशून्य था, उस समय केवल महाशिव तथा महाकाली—परम शिव तथा परा शक्ति ही—वर्तमान थे। उस समय देहमध्य में लिंग के रूप में महेश स्थित थे। मूलाधार में स्वयंभू लिंग कुण्डली शक्तियों के साथ स्थित था। स्वाधिष्ठान, यानी लिंग-स्थान में त्रैलोक्यपालक विष्णु स्थित थे। मणिपुर, यानी

१. Conns Medulleris.
२. "The Dictionary of Religion and Ethics"—Edited by Hastings—Article on "Phallicism—A worship of Reproductive Powers of Nature." and see also the Book "Bibliography of Sex Rites and Customs"—Pub—Roger Goodland, 1931. इन पुस्तकों ने ऐसी ही भूल की है।

नाभि-स्थान में सर्व-संहारक महारुद्र बैठे थे। अनाहते ईश्वरोऽहं—हृदय के द्वादश कमल में सब देवों से सेवित ईश्वर तथा विशुद्धाख्ये षोडशारे, यानी कण्ठ में षोडश कमल में सदाशिव विराजमान थे। आज्ञाचक्र, अर्थात् भ्रू-मध्य में साक्षात् शिव चित्तरूप से स्थित थे। सहस्रारे, अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में त्रिकोण के बीच में बिन्दुरूप में परमेश्वर ईरितः, यानी कथितः—कहे जाते हैं। हमारे शरीर में इस प्रकार शिवलिंग विराजमान है।)

शिवलिंग का वास्तव में समूची शक्ति के परम यौगिक प्रतीकरूप में ही प्रादुर्भाव और प्रचार हुआ तथा उसे संसार ने अपनाया।

पौराणिक रूप में भी इसकी व्याख्या बड़ी अनुपम है। शिवमहापुराण में मुनिगणों ने नन्दिकेश्वर से प्रश्न किया। नन्दिकेश्वर का उत्तर जानने तथा समझने योग्य है। नीचे हम टीकाकार के शब्दों में ही व्याख्या दे रहे हैं। नन्दिकेश्वर ने लिंग को निराकार माना है। वास्तव में १—शिव-शक्ति, पुरुष-प्रकृति सबका अन्ततोगत्वा एकाकार का प्रतीक शिवलिंग निराकर ब्रह्म का साकार रूप है। इन श्लोकों में मूर्त्ति के लिए 'बेर' शब्द आया है। लिखा है[1]—

मुनिगणों ने सूतजी से पूछा—

बेरमात्रे तु पूज्यंते सकला देवतागणाः।
लिंगे बेरे च सर्वत्र कथं सम्पूज्यते शिवः॥

(अ० ५, श्लोक ८)

बेर-मूर्त्ति मात्र में सब देवताओं का पूजन होता है। किन्तु सर्वत्र लिंग बेर में शिवजी कैसे पूजित होते हैं। सूतजी ने उत्तर दिया—

कथयामि शिवेनोक्तं भक्तियुक्तस्य तेऽनघ।
शिवस्य ब्रह्मरूपत्वान्निष्कलत्वाच्च निष्कलम्॥
लिंगं तस्यैव पूजायां सर्ववेदेषु सम्मतम्।
तस्यैव सकलत्वाच्च तथा सकलनिष्कलम्॥

(अ० ५, श्लोक २०-२१)

सूतजी ने उत्तर दिया कि गुरुमुख से सुनी हुई, शिवजी द्वारा ही कही हुई बात कहता हूँ। ब्रह्मरूप होने से वे निष्कल कहे गये हैं (श्लोक १०)। रूपवान् होने से कला सहित हुए। इस प्रकार वह सकल, यानी कला-सहित तथा निष्कल, यानी कला-रहित होने से

१. श्री शिवमहापुराण—टीकाकार पं० इन्द्र ब्रह्मचारी, प्रका० ला० श्यामलाल हीरालाल, श्याम काशी प्रेस, मथुरा, संवत् १९९६।

दोनों प्रकार के हो जाते हैं। निराकार होने से वे लिंगरूप हो जाते हैं। (श्लोक ११) इसी से उनकी ब्रह्म संज्ञा होती है। (१२) अन्य देवता ब्रह्म-स्वरूप नहीं हैं, जीव-स्वरूप हैं। अतः लिंगरूप में उनकी पूजा नहीं होती। (१४) ब्रह्म पदवी तो केवल महादेव को प्राप्त है। (१५) ओ३म् (ॐ), प्रणव शब्द के प्रकाशनार्थ वेदान्तसार से संसिद्ध प्रश्न ब्रह्मपुत्र सनत्कुमार मुनि ने श्री नन्दिकेश्वर से मयूराचल पर किया था। (१६) श्री सनत्कुमार ने पूछा——सब देवों की सब प्रकार से (१७) वेर मात्र में ही पूजा देखी और सब जगह सुनी। किन्तु एकाकी शिवजी की ही पूजा में लिंग-वेर देखे जाते हैं। (१८) अतएव कृपया सहज में समझने के लिए इस कल्याणतत्त्व को समझाइये। श्री नन्दिकेश्वर बोले——

यह ब्रह्मलक्षण-प्रश्न रहस्य-परिपूर्ण है और इसका पूरा उत्तर नहीं दिया जा सकता। (१९) हे अनघ (पुण्यात्मक), भक्तियुक्त, आपके लिए, जैसे शिवजी द्वारा मुझे ज्ञात है, वैसे मैं कह रहा हूँ। शिवजी के ब्रह्मरूप होने से उनका निष्कल (२०) रूप लिंग-पूजा के लिए सब वेदों ने माना है, क्योंकि वे कलायुक्त हैं और कलारहित भी हैं। (२१) इसलिए कलापूर्ण शिव भगवान् का वेरपूजन लोकसम्मत है। शिव के अतिरिक्त अन्य देवताओं के जीव होने से और शिव भगवान् की सर्वत्र कला व्याप्त होने से (२२) पूजा में लिंग-वेर मात्र की पूजा का विधान वेद ने किया है। देवताओं के प्रकट होने पर सकल रूप ही है (२३) और शिव का दर्शन-शास्त्र में लिंग-वेर देखा जाता है (क्योंकि देवताओं की जीव संज्ञा है)।

इस प्रकार शिवपुराण ने लिंग को निराकार, निर्गुण, ब्रह्म का प्रतीक माना है। यदि हम इस विवाद की ओर न जायें कि शिव ही ब्रह्म-स्वरूप तथा सकल और निष्कल हैं, विष्णु आदि क्यों नहीं (क्योंकि यह तो साम्प्रदायिक प्रश्न उठ खड़ा होगा), पर केवल इतनी-सी बात ले लें कि शिव ब्रह्म-स्वरूप होने के कारण लिंग-रूप में पूजित होते हैं तो यह सिद्धान्त भी निश्चित हो जाता है कि हमारे देश से लिंग-पूजन इसी भावना को लेकर संसार में फैला था। बाद में लोगों ने अर्थ का जो भी अनर्थ लगा लिया हो, पर लिंग-पूजन कामवासना की कल्पना से परे प्रारम्भ हुआ था। इसका जो गूढ़ अर्थ है, वही इसका आधार था। यही लिंग-पूजन की व्याख्या है। जो लोग लिंग-प्रतीक का इसके अतिरिक्त कोई सांसारिक अर्थ लगाते हैं, वे गहरी भूल कर रहे हैं।

लिंग-प्रतीक का विषय इतना महत्त्वपूर्ण तथा रोचक है कि उस पर जितना ही लिखिए, एक-न-एक नयी बात निकलती आती है। लिंग शिव-तत्त्व का प्रतीक है। इस शिव तत्त्व से ही अक्षर तथा वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। अकारादिविसर्गान्तं

शिवतत्त्वं ।[१] इस शिव-तत्त्व की जानकारी प्राचीन आर्यों को बहुत प्राचीन काल से थी, यह सिद्ध हो चुका है। महेंजोदाड़ो तथा हड़प्पा की खुदाई ने भारत-भूमि पर प्रचलित सभ्यता की प्राचीनता सिद्ध कर दी है। हमारे देश का भूगोल हजारों वर्षों में भूकम्प, वर्षा, नदियों के कटाव आदि से काफ़ी बदल गया है। हमारे प्राचीन स्मारक प्राकृतिक प्रभाव से बहुत कुछ नष्ट हो गये तथा मन्दिर, मकान, प्रतिमाएँ, मूर्त्तियाँ पृथ्वी के गर्भ में चली गयीं। मिस्र या ईरान के समान हमारा देश पर्वत तथा नदियों से शून्य नहीं है। हमारा देश जिस प्रकार प्राकृतिक उपद्रवों तथा परिवर्तनों का शिकार प्राचीन काल में रहा है, वैसा भौगोलिक इतिहास न तो ईरान का है और न मिस्र का। इसी लिए उन देशों में ४००० से ६००० वर्ष पुरानी चीजें मिलती हैं। हमारे यहाँ नहीं। हमारे यहाँ २००० से २२०० वर्ष पुरानी मूर्त्तियाँ या खंडहर प्राप्त नहीं थे। इसी लिए पश्चिम के विद्वानों ने यह अनुमान लगा लिया कि कला आदि की हमारी जानकारी इन देशों के द्वारा हुई। किन्तु महेंजोदाड़ो की खुदाई ने वह कल्पना भ्रमात्मक घोषित कर दी है।

महेंजोदाड़ो या महेंजोदरो तथा उससे लगभग १९० कोस उत्तर में हड़प्पा या हरप्पा है। मुलतान से निकट, सिन्ध प्रदेश आज के हजारों वर्ष पहले का वह देश है जहाँ आदि आर्य निवास करते थे तथा जिसे डॉ० सम्पूर्णानन्द ने 'आर्यों का आदि देश सिद्ध किया।'[२] यह वैदिक युग का देश है। इसे सप्त-सिंधव कहते थे। ऋग्वेद में इसको इसी नामसे पुकारा गया है।

"सर्तवे सप्तसिन्धून्"[३] "इन्द्र ने गौओं को जीता, सोम को जीता और सप्त सिन्धुओं के प्रवाह को मुक्त कर दिया।" यह प्रयोग इन्द्र के सबसे पहले के पराक्रम के वर्णन में किया गया है। इस प्रदेश में सात नदियाँ थीं। यह देश सिन्धु नदी से लेकर सरस्वती तक था। इन नदियों के बीच में कश्मीर तथा पंजाब देश भी आ गये। कुभी नदी

१. अकारादिविसर्गान्तं शिवतत्त्वं, कादिङान्तं धरादिनभोऽन्तं
भूतपञ्चकं, चादिणान्तं गन्धादि शब्दान्तं तन्मात्रपंचकं,
टादिणान्तं पादादि वागन्तं कर्माक्षपञ्चकं, तादिनान्तं
घ्राणादि श्रोत्रान्तं बुद्धिकरणपञ्चकं, वाग्वादि शब्दवाच्या
दयो वकारान्ताः राग-विद्या-कला-मायाख्यानि तत्त्वानि।

—पारात्रिंशिका पर अभिनव गुप्त की विवृति, पृष्ठ ११३.

२. डॉ० सम्पूर्णानन्द—"आर्यों का आदि देश", प्रकाशक लीडर प्रेस, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, सं० २०१३, पृष्ठ ४६ से ५६ देखिए।

३. ऋग्वेद १—३२—१२।

का भी जिक्र आता है। इसका नाम आजकल काबुल है। इसलिए काबुल नदी का देश भी सप्तसिंधव में था।[१] गान्धार देश भी इसी में शामिल था। ऋग्वेद का सूक्त ही इसका प्रमाण है—गन्धारीणामिवाविका:—गन्धार के भेड़ों की भाँति रोयेंवाली। (ऋ० मण्डल १–सू० १२६)। डॉ० सम्पूर्णानन्द ने श्री ए० सी० दास के[२] मत को स्वीकार किया है—सप्तसिंधव के उत्तर में हिमालय पहाड़ था। उसके बाद एक समुद्र था जो वर्तमान तुर्किस्तान के उत्तरी सिरे से आरम्भ होकर पश्चिम के कृष्ण सागर[३] तक जाता था। इस समुद्र के उत्तर में फिर भूमि थी जो उत्तरी ध्रुव तक चली जाती थी। दक्षिण में भी एक समुद्र था जो अब सूख गया है। उसकी निशानी साँभर झील बची है। शेष स्थान को हम राजपूताना या राजस्थान कहते हैं। यह समुद्र वहाँ तक जाता था जहाँ आज अर्वली पर्वत है। पश्चिम में सप्त सिंधव अरब सागर से मिला हुआ था। पूर्व में भी एक समुद्र था। यह समुद्र प्राय: सारे उत्तर प्रदेश तथा बिहार को ढँकता हुआ आसाम तक चला गया था—हिमालय की तलहटी के नीचे से। पश्चिम में सुलेमान पहाड़ था जिसके नीचे सकरा समुद्र था। पर भूगर्भशास्त्र से स्पष्ट है कि २५,५०,००० वर्ष में यह नक्शा बहुत कुछ बदल गया है। यह सिद्ध हो चुका है कि विंध्य पर्वत आदि की अपेक्षा हिमालय नया पहाड़ है। गंगा-यमुना उसकी छोटी-छोटी नदियाँ थीं। पहाड़ के उठने पर ज़मीन में गहरा गड्ढा हो गया। ज्यों-ज्यों भूमि भरती गयी, गंगा-यमुना आगे बढ़ती गयीं। गंगा तो गंगासागर पहुँच गयी। उत्तरप्रदेश तथा बिहार ऐसे उर्बर प्रदेश ऊपर निकल आये। राजस्थान में मिट्टी लानेवाली नदियों की कमी थी, अतएव समुद्र सूखकर बालू रह गया। प्राचीन काल की महानदी सरस्वती आज एक छोटी-सी नदी रह गयी है। यह राजस्थान के बालू में समाप्त हो जाती है। उसका नाम भी बदल गया—घाघर नाम हो गया है। हिन्दू लोगों का विश्वास है कि सरस्वती लुप्त होकर प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम में मिल जाती है। अस्तु, उत्तर का सागर भी सूख गया और उसकी सन्तान कास्पियन सागर, अरब सागर आदि बचे रह गये हैं।[४]

जिस देश का ५०,००० वर्ष पूर्व का भूगोल इतना बदल गया हो, उसकी प्राचीन कला तथा उसके अवशेष का पता लगना वास्तव में असम्भव है। लोकमान्य तिलक ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि आर्यों का मूल निवास आज के दस हजार वर्ष पहले उत्तरी ध्रुव प्रदेश में था।[५] डॉ० सम्पूर्णानन्दजी ने इस मत का खण्डन किया है।

१. डॉ० सम्पूर्णानन्द—४४।
२. A. C. Das—Rigvedic India.
३. Black Sea.
४. देखिए—वही, पृष्ठ ५१–५३।
५. वही, पृष्ठ ३४।

वे आर्य सभ्यता को इससे कहीं अधिक पुराना मानते हैं। उनके अनुसार आर्यों का आदि देश सप्तसिंधव प्रदेश था—पंजाब से काबुल तक। सम्पूर्णानन्दजी आर्य जाति के उस प्रकार के टुकड़े भी नहीं मानते जिस प्रकार पश्चिमी विद्वानों ने किये हैं। इन्होंने एक बड़ी सुन्दर दलील दी है। वे कहते हैं कि यदि 'जाति' को अंग्रेजी में 'स्पीशीज' का समानार्थक मान लें तो प्राणिशास्त्र के अनुसार जिनका यौन-सम्बन्ध होता है, वे एक जाति के हुए। घोड़े और गधे में यौन-सम्बन्ध होता है। उसकी सन्तान को खच्चर कहते हैं। पर इस सम्बन्ध से उत्पन्न सन्तान को यदि सन्तान हो जाय तब तो इनकी एक जाति हुई। खच्चर को सन्तान नहीं होती। अतएव घोड़ा और गधा भिन्न जाति के हुए। पर काला, गोरा, हब्शी, नीग्रो, किसी भी रंग, रूप, देश का मनुष्य हो, उनमें आपस में यौन-सम्बन्ध तो होता ही है, सन्तान पैदा होती है। अतएव वे भिन्न जातियाँ कैसे हो गयीं ? श्री सम्पूर्णानन्दजी लिखते हैं—

"उपजातियों में जो प्रत्यक्ष भेद है, उनका कारण भी कुछ होना चाहिए। जब यह बात निश्चित है कि मनुष्य मात्र की जाति एक ही है, तब फिर उपजातियों की उत्पत्ति उसी प्रकार हुई होगी कि लोग एक-दूसरे से बहुत प्राचीन काल में पृथक् हो गये। सबके पूर्वज एक रहे हों या अनेक और सब आदिम मनुष्यों का जन्म किसी एक प्रदेश-विशेष में हुआ हो या युगपत् कई प्रदेशों में, परन्तु बहुत दिन हुए, मनुष्य अलग-अलग टोलियों में बँट गया। यह बँटवारा कब हुआ, ठीक नहीं कहा जा सकता। पृथ्वी पर कई बार भौगोलिक उपद्रव हुए हैं, ऋतु-विपर्यय हुआ है। जहाँ आज ठंढ पड़ती है, वहाँ कभी गर्मी पड़ती थी। जहाँ आज गर्मी है, कभी वहाँ बर्फ बिछी थी। जहाँ आज समुद्र है, वहाँ स्थल था। जहाँ स्थल है, वहाँ समुद्र था। फिर भी अलग हुए ४०–५० हजार वर्ष तो हुए ही होंगे। क्योंकि १०–१२ हजार वर्ष पहले तो पृथक् उपजातियाँ बन चुकी थीं[१]।

एक ही जाति नहीं, एक ही भाषा भी थी। डॉ० सम्पूर्णानन्द का कहना है कि[२] "सचमुच कोई आर्य उपजाति है, इस ओर पहले-पहल आज से लगभग १५० वर्ष पहले ध्यान गया। उन दिनों कलकत्ता में सर विलियम जोन्स[३] संस्कृत पढ़ रहे थे। उनको पढ़ते-पढ़ते यह देख पड़ा कि संस्कृत कई बातों में ग्रीक, लैटिन, जर्मन और केल्टिक भाषा से मिलती है। यह विलक्षण बात थी···इस भाषा-साम्य का एक ही कारण समझ में आता था। अति प्राचीन काल में कोई भाषा रही होगी जो अब कहीं बोली नहीं जाती। उसी से यह सब विभिन्न भाषाएँ निकली होंगी, जैसे संस्कृत या प्राकृत से हिन्दी, मराठी,

१. वही, पृष्ठ २७।
२. वही, पृष्ठ ३१–३२।
३. Sir William Jones.

गुजराती आदि···सर विलियम जोन्स ने तीन ही चार भाषाओं के साम्य पर ख्याल किया, परन्तु बाद में देखा गया तो बीसों भाषाएँ संस्कृत से मिलती पायी गयीं। यदि हम भारत से पश्चिम चलें तो पहले पश्तो, फिर बलूची, फिर ईरानी (फ़ारसी) मिलेगी। यह तीनों प्राचीन जेन्द भाषा से निकली हैं। जेन्द संस्कृत से बिलकुल ही मिलती है।"···"जो आर्य उपजाति थी, उसकी दो ही निश्चित शाखाएँ हुईं। एक वह जिसका सम्बन्ध भारत से हुआ, दूसरी वह जिसका सम्बन्ध ईरान से हुआ, पहिली की भाषा संस्कृत, दूसरी की जेन्द या पलहवी थी। पहली का धर्म-ग्रन्थ वेद, दूसरी का अविस्ता है।"[1]

भाषाओं के साम्य के उदाहरण में डॉ० सम्पूर्णानन्द ने कई प्रचलित शब्द बतलाये हैं। वे लिखते हैं कि "इन सभी भाषाओं में लड़की के लिए जो शब्द आया है वह संस्कृत के दुहितृ (दुहिता) से मिलता है। दुहितृ दुह् धातु से निकला है। इसका अर्थ है—दुहनेवाली। इससे अनुमान होता है कि उन दिनों गऊ दुहने का काम लड़की के सुपुर्द था···द्यौस (द्यौः, द्यावा) दिव् धातु से निकला है। इस धातु का अर्थ है चमकना। इसी धातु से देव निकला है। द्यौस ग्रीक में ज्यूस[2] रूप में पाया जाता है···द्यौः पितर ज्युपिटर[3] हो गया। इससे यह सिद्ध होता है कि आर्य लोग अपने उपास्यों को चमकते शरीरोंवाला मानते थे। द्वार, दर, डोर बतलाते हैं कि उनके घरों में दरवाजे होते थे।"[4]

कुछ अन्य शब्दों का उदाहरण देखिए—

संस्कृत	ईरानी	अंग्रेजी
पितृ	पिदर	फादर
मातृ	मदर	मदर
भ्रातृ	बिरादर	ब्रदर
दुहितृ	दुख्तर	डॉटर
पद, पाद	पा	फुट
गो	गाव	काउ
भ्रू	अब्रू	ब्राउ
भू	(बू) दन	बी
अस्	अस्—हस्त (तन)	(शुद्ध रूप नहीं मिलता। इज़ (है) में विद्यमान है)[5]

१. वही, पृष्ठ ३७। २. Zeus—यूनान के सबसे बड़े देवता।
३. गुरु। ४. वही पृष्ठ ३५। ५. वही, पृष्ठ ३२।

इसी आदि भाषा को इण्डो-यूरोपीयन (भारत-यूरोपीयन) तथा इण्डो-जर्मन कहा गया। एक ही जाति को यूरोप-एशिया की आर्य जाति का पूर्वज मानने में हिचक करनेवालों अथवा अपने को भारत के आर्यों की सन्तान मानने में संकोच करनेवालों ने, पाश्चात्यों ने 'इण्डो-आर्यन'—भारतीय-आर्य का नामकरण किया है। पर, इससे हमारे धर्म, हमारी सभ्यता की प्रचीनता सिद्ध तथा स्थापित हो ही जाती है, हमारा यह कथन भी सिद्ध हो जाता है कि भारत में जो प्रतीक बने, वे मध्य एशिया से लेकर यूरोप-अमेरिका तक फैल गये। इनमें सबसे प्राचीन प्रतीकों में शिवलिंग था।

पूरब-पश्चिम की मिली-जुली सभ्यता को किसी-न-किसी रूप में हैवेल ने भी स्वीकार किया है। उन्होंने हिन्द आर्यन[१] सभ्यता का बार-बार उल्लेख किया है। हैवेल की पुस्तक काफ़ी पुरानी हो गयी है। उसमें लिखी बातों का आज खण्डन किया जा सकता है, जैसे, उन्होंने लिखा है कि ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व से प्राचीन भारतीय कला की सामग्री उपलब्ध नहीं है[२]। महेंजोदाड़ो तथा हड़प्पा की खुदाई से अब ईसा से ३००० वर्ष पहले की सामग्री प्राप्त होने लगी है। अशोक-काल की कला के सम्बन्ध में हैवेल का विचार है कि उन्होंने ईरानी-यूनानी मज़दूरों को नियुक्त कर इमारतें तथा स्तूप आदि बनवाये थे, अतएव उस समय की कला भारतीय-यूनानी-ईरानी सम्मिश्रण है। वह युग बड़े महत्त्व का था, यह निस्सन्देह है। इसी शताब्दी में (अशोक ने ईसा से २५६ वर्ष पहले बौद्ध मत ग्रहण किया था) साइरस ने ईरानी साम्राज्य की स्थापना की थी। सिकन्दर महान् ने उसे नष्ट कर दिया था। यूनानी सेना भारत चढ़ आयी। अतएव कई देशों की कला का समन्वय तो हुआ होगा। पर, हैवेल इसके भी पूर्व का इतिहास देकर मिली-जुली सभ्यता का अच्छा प्रमाण देते हैं। उनके कथन के अनुसार प्राचीन आर्य लोग अग्नि-पूजक होते थे। अतएव वे अपनी झोपड़ी ऐसी बनाते थे जिसमें अग्नि-पूजन बराबर होता रहे तथा धुआँ इत्यादि ऊपर से निकलता रहे। मेसोपोटामिया तथा ईरान के आर्य लोग भी अपनी कच्ची झोपड़ियाँ इसी प्रकार तिकोनिया बनाते थे। उसी से मन्दिरों का तिकोना शिखर बनना शुरू हुआ[३]। ईसा से १७४६ वर्ष पूर्व बैबीलोन साम्राज्य नष्ट हो गया। हित्ती लोगों ने उसे तहस-नहस कर डाला। जब वे नगर छोड़कर चले गये तो कस्सित (क्षत्रिय) जाति का शासन प्रारम्भ हुआ।[४] इनका ६०० वर्ष तक शासन रहा।

१. E. B. Havell—"A Hand-book of Indian Art"—Pub, John Murrey, Albemarle Street, London, Edition 1920-page 10.

२. वही, पृष्ठ ३।

३. वही पुस्तक, पृष्ठ ९ तथा ११।

४. वही पुस्तक, पृष्ठ ९।

कस्सित लोगों के मुख्य आराध्य देव सूर्य थे। इनके राज्य के ज़रा उत्तर, ताइग्रीज़ तथा पूफ्रेतीज नदियों के बीच में मित्तनी (मिजाणि) साम्राज्य की स्थापना हुई। इनके उपास्य देव इन्द्र, वरुण, सूर्य तथा अग्नि थे। ये लोग अश्विनीकुमार का भी पूजन करते थे। इन्हीं मित्तनी लोगों में दशरथ नामक राजा हो गये हैं जो रामायण के दशरथ हो सकते हैं या सम्राट् अशोक के पुत्र दशरथ भी हो सकते हैं। मिस्र में तेल-अल-अमनो नगर में जो सामग्री मिली है उसमें मिट्टी के कागज पर (ठीकरों पर) दशरथ नरेश का अपने रिश्तेदार मिस्र के नरेश अमेन हेतय तृतीय के नाम पत्र-व्यवहार है[१]। मित्तनी लोगों के राज्य में लारस नामक पर्वतमाला थी जिसे वे लोग वृषभ देव की सम्पत्ति मानते थे तथा तारागणों के बीच से सूर्य का अपना मार्ग निकाल लेना—इस बात का प्रतीक उस पर्वत को मानते थे। मित्तनी लोगों के पड़ोसी हित्ती[२] लोग थे। वे शिव-लिंग के उपासक थे। उनके एक प्रदेश तथा नगर का नाम ही 'शिव' था। ऐसा लगता है कि इस क्षेत्र में यह लारस पर्वत ही 'कैलास' पर्वत था जिस पर शंकर का वास समझा जाता था[३]। हित्ती लोग जिस देवता की पूजा करते थे वह त्रिशूलधारी थे। उनका वाहन वृषभ था।

इस प्रकार डॉ० सम्पूर्णानन्द के सिद्धान्त का प्रतिपादन हो जाता है कि भारत से लेकर एशिया-यूरोप तक एक ही आर्य सभ्यता फैली हुई थी। अशोक के स्तूप तथा मिस्र के पिरामिड भी तिकोने ही हैं। अशोक के स्तूपों तथा शिलालेखों पर 'छत्र' बना हुआ मिलता है। हैवेल इसे 'अधिकार' का भी प्रतीक मानते हैं। हैवेल ने यह भी सिद्ध किया है कि स्तूपों की रचना प्राचीन आर्यों की धार्मिक क्रियाओं के आधार पर हुई है। स्तूपों में प्रायः भगवान् बुद्ध अथवा महान् सन्तों का फूल (अस्थि) रखा जाता था। अतः वह उपासना का श्रेष्ठ स्थल हुआ। उसके चबूतरों को 'वेदिका' कहते थे। वैदिक काल में वैदिक यज्ञों के स्थल को—पीठ को—वेदिका कहते थे। वहीं पर बलि होती थी। इसी को 'मेधा' कहते थे। स्तूप के चारों ओर प्रदक्षिणा का जो स्थान होता था उसे 'मेधी' कहते थे[४]। इस प्रकार हैवेल के कथनानुसार बौद्ध धर्म-चक्र से लेकर स्तूप तथा संघों की रचना में वैदिक सभ्यता की कला का अनुकरण किया गया है।

मूर्त्ति-काल की कला का ज़िक्र करते हुए हैवेल 'त्रिमूर्त्ति' के सिद्धान्त को मानते हैं—ब्रह्मा, विष्णु, महेश[५], इसीलिए विष्णु के मन्दिर में शिव की 'प्रतिमा' मिलती है। द्राविड़

१. वही, पृष्ठ १०।

२. हित्ती असल में क्षत्रिय थे। सिकन्दर के समय तक सिन्ध के आस-पास इनको "खत्ती" कहते थे। इन्हीं को सम्भवतः आज "खत्री" कहा जाता हैं।

३. वही, पृष्ठ १०। ४. वही, पृष्ठ १५। ५. वही, पृष्ठ ८६-८७।

लोगों के शैव मन्दिर में शिखर पर उलटा कमल बना हुआ है।[१] प्रतीत होता है कि मन्दिर के बनानेवाले यह घोषित करना चाहते हैं कि शिव ही विष्णु हैं तथा विष्णु शिव हैं। दक्षिण भारत में प्राप्त शंकर की मूर्त्तियों में सबसे बड़ी प्रतिमा तंजोर में मिली है—नटराज की। वेदी की ऊँचाई छोड़कर यह ४ फुट लम्बी है, ऊँची है। एलीफैंटा तथा एलोरा की गुफाओं में शिव-ताण्डव की विशाल प्रतिमाएँ उपलब्ध हैं। त्रिमूर्त्ति शंकर के सत्त्व, रज, तम (त्रिशूल) तीन गुणों में संहार का रूप—तामसिक रूप ताण्डव नृत्य है। शिव का वह भयावह रूप, उनकी संहार-मुद्रा ज्ञानमार्गी शैवों को बहुत प्रिय है। ताण्डव नृत्य की उनकी प्रतिमा में संहारक शक्तियों के अनेक प्रतीक वर्तमान है।[२] शिव का तामसिक रूप ही 'भैरव' है। शिव की अर्द्धांगिनी पार्वती का ही दूसरा नाम दुर्गा है जो अंधकार तथा अनाचार की शक्तियों से बराबर संघर्ष करती रहती हैं। ये महिषासुर-मर्दिनी हैं। महिषासुर-वध की इनकी विशाल मूर्त्ति जावा में प्राप्त हुई है जो डच अजायबघर, लेडन में रखी हुई है।[३] जिस प्रकार हिन्दुओं की त्रिमूर्त्ति है, उत्पादक (ब्रह्मा), पालक (विष्णु) तथा संहारक (शिव), उसी प्रकार शिव की तीन शक्तियाँ हैं, सत्त्व-रज, तम, तीन गुण हैं, तीन शूल—त्रिशूल हैं, उसी के अनुसार बौद्धों के भी तीन रत्न हैं—त्रि-रत्न, बुद्ध-संघ-धम्म (धर्म)।[४]

कमल के प्रतीक पर हैवेल ने काफ़ी विस्तार से विचार किया है। यह प्रतीक रहस्यमय है,[५] यह वे भी स्वीकार करते हैं। बौद्ध लोग शरीर के भीतर महापद्म की रचना मानते थे। प्रतीकरूप में उनकी इमारतों पर कमल बना हुआ है, उन्हीं के अनुकरण में मुग़ल इमारतों पर, अकबर के शासनकाल से, कमल बनने लगे थे।[६] कमल को सूर्य का प्रतीक भी मानते थे। "सृष्टि की तरंगो में कमल के समान प्रवाहित होनेवाला सूर्य।"[७] कमल का यह प्रतीक ईरान ने भारत से सीखा तथा अपनाया था।[८] श्री ई० ए० सी० क्रेसवेल का कहना है कि तैमूर लंग ने इस प्रतीक को भारत से प्राप्त कर समरकन्द की अपनी इमारतों पर तथा दमिश्क में अपनी मस्जिद पर स्थापित किया था।[९] विंसेंट स्मिथ ने इस बात का खण्डन किया है।[१०] हैवेल लिखते हैं कि कमल-पुष्प की

१. उलटे कमल के सम्बन्ध में हम कमल के अध्याय में लिख आये हैं।
२. वही, पृष्ठ १८३।
३. वही, पृष्ठ १८३।
४. वही, पृष्ठ १८७।
५. वही, पृष्ठ १३६।
६. वही, पृष्ठ १३६-३७।
७. वही, पृष्ठ १४५।
८. वही, पृष्ठ ४१ तथा १४५।
९. E. A. C. Cresswell का लेख—"Indian Antiquary"—July 1915.
१०. Vincent Smith—Akbar, The Great Moghul—page 435.

भूमि भारतवर्ष है। वैदिक आर्यों का सम्बन्ध यूफ्रेतीज नदी-तट के आर्यों से--असीरिया, मिस्र तथा ईरान के आर्यों से था। अतएव भारतीय कमल का प्रतीक चारों ओर भारत से ही पहुँचा था।[१]

यदि कमल-भारत से संसार में प्रतीक के रूप में पहुँच गया और सबने इसका यौगिक तथा रहस्यमय रूप समझकर नहीं ग्रहण किया तो इसमें प्रतीक का दोष नहीं है। समय तथा दूरी के अनुसार वस्तु का तात्त्विक अर्थ बदलता जाता है। इसी प्रकार अन्य भारतीय प्रतीकों का रूप भी और अर्थ भी विदेशों में बदलता गया। जावा में ब्रह्मा की जो मूर्त्ति मिली है (लेडन के अजायबघर में सुरक्षित है) उसमें उनकी सौम्य मुद्रा है, दाढ़ी है। जावा में सभी देवताओं के दाढ़ी है।[२] किन्तु भारत में दाढ़ी-सहित देव-मूर्त्तियाँ बिरले ही मिलेंगी। महेंजोदाड़ो में प्राप्त मूर्त्तियों के दाढ़ी है··मूँछें नहीं हैं। यह भी बड़ा प्रकट अन्तर हो गया। विष्णु आकाशगर्भ हैं--सूर्य हैं। रात्रि में अनन्त रूप में अनन्तनाग--शेषनाग पर शयन करते हैं। उषा लक्ष्मी हैं। इनका स्वागत करती हैं। इस प्रकार उषारूपी लक्ष्मी के स्वागत से विष्णुरूपी सूर्य प्रकट होते हैं। यह सब प्रतीक के रूप में नहीं है तो और क्या है? हैवेल के अनुसार प्राचीन समय में लिंग ब्रह्मा का, सृष्टि के उत्पादक का प्रतीक होता था। संसार के उत्पन्नकर्ता के रूप में पितामह ब्रह्मा ही शिव हैं।[३] एलीफैंटा गुफा (बम्बई) में शिव-मंदिर के चार द्वार तथा अष्ट दिग्पाल से मुक्त चतुर्मुखी ब्रह्मा लिंगाकार बने हुए हैं। इसी प्रकार मेसोपोटामिया में सूर्य का प्रतीक वृषभ तथा लिंग दोनों ही था।[४] चार द्वार चार दिशाओं के प्रतीक हैं। इससे ही मिलता-जुलता प्रतीक 'आदि-बुद्ध' का भी है। उनकी शक्ति का नाम था--प्रज्ञाऽपरिमिता यानी, अपरिमित ज्ञान। पहले प्रतिमा के रूप में लिंग बनते थे। बहुत बाद में सादा लिंग ही सृष्टि के रचयिता का प्रतीक बन गया--ऐसा हैवेल का मत है।[५]

प्राचीन काल तथा प्राचीन वस्तुओं का निर्णय करने में महेंजोदाड़ो की खुदाई ने नयी जान पैदा कर दी है। हड़प्पा महेंजोदाड़ो से लगभग १९० कोस उत्तर है। खुदाई से यह बात सिद्ध हो गयी है कि आज के ५००० वर्ष पहले उस प्रदेश में बड़े-बड़े नगर बसे थे। पक्के घर थे, कला का काफ़ी विकास हो चुका था। ईरान के पश्चिम यूफ्रेतीज (फरात) तथा टाइग्रीज (दजला) नदियों के बीच के प्रदेश की सभ्यता का ज़िक्र हम कर आये हैं। वहाँ की सबसे पुरानी सभ्यता सुमेर-अक्काद की सभ्यता थी। चैल्डिया, बैबिलन आदि

१. हैवेल की पुस्तक, पृष्ठ ४४। २. वही, पृष्ठ १६४। ३. वही, पृष्ठ १६३। ४. वही, पृष्ठ १६३। ५. वही, पृष्ठ १६३।

की सभ्यता बाद की है। सुमेर-अक्काद की खुदाई से वह सभ्यता ६००० वर्ष पुरानी सिद्ध हो चुकी है। उसके भग्नावशेष जो प्राप्त हो रहे हैं उनसे प्रकट होता है कि महेंजोदाड़ो तथा हड़प्पा और सुमेर-अक्काद की सभ्यता में बड़ा साम्य था। एक ही धारा प्रकट होती है। मकानों की बनावट, मूर्त्तियाँ—सब मिलती-जुलती हैं। दोनों की भाषा भी एक ही है।[१] उनके नाम भी समान हैं।

इनके एक उपास्य, इन्दुरु (वैदिक इन्द्र) तथा शमस (सूर्य), थे। सूर्य को शु-खा—परदार मछली और वि-इ-एश—बड़ी मछली मानते या कहते थे।

देवों की मूर्त्तियों में आधा शरीर मनुष्य का, आधा मछली का है। हम भी मत्स्यावतार-रूप में विष्णु की पूजा इसी रूप में करते हैं। देवी की मूर्त्तियाँ एक ही प्रकार की दोनों भागों में मिलती हैं। शिव की मूर्त्तियाँ भी मिलती हैं। शिव की मूर्त्ति योगी-मुद्रा में है (महेंजोदाड़ो में)। ध्यान लगाये सिंहासन पर बैठे हैं। मस्तक पर दो सींग हैं। सिंहासन के नीचे दो हिरन हैं। मूर्त्ति के चारों ओर चार पशु बैठे हैं—व्याघ्र, हाथी, भैंसा और गेंडा। शिव की इससे प्राचीन प्रतिमा भारत में नहीं मिलती।[२] ऐसे ही साम्य आदि के आधार पर डॉ० बैडेल ने प्रतिपादित किया है कि सुमेर-निवासी ही प्राचीन आर्य थे। सुमेर की सभ्यता ही प्राचीन आर्य सभ्यता थी। सुमेरवालों की एक शाखा ने सिन्ध प्रान्त को जीतकर महेंजोदाड़ो बसाया और बाद में उसकी धाराएँ सप्तसिन्धव तथा भारत के कोने-कोने में पहुँचीं।[३] जो हो, समूची आर्य सभ्यता मिली-जुली थी, इसका एक सुन्दर प्रमाण डॉ० सम्पूर्णानन्दजी ने दिया है। वे लिखते हैं कि वेदों में कई ऐसे शब्द हैं जिनका कुछ ठीक अर्थ नहीं लगता—जैसे जर्भरी, तुर्फरी इत्यादि। इनका अर्थ लगाने के लिए भारत के बाहर दृष्टि डालनी पड़ेगी। ये ईराक की नदियों, पहाड़ों तथा नगरों के प्राचीन नाम हैं। वेदों में कई ऐसे नरेशों के नाम आये हैं जो भारत में नहीं, ईरान में शासन करते थे।[४]

आर्य सभ्यता का विस्तार, भारतीय सभ्यता की छाप तथा हमारे प्रतीकों का चतुर्दिक् प्रचार, इन सभी बातों पर काफ़ी प्रकाश डाला जा चुका। जिन प्रतीकों की व्याख्या करने में पश्चिम के विद्वान् इतना उलझ गये, उन प्रतीकों के सम्बन्ध में वास्तविक जानकारी के लिए उन्हें भारत की सभ्यता तथा इतिहास का अध्ययन करना चाहिए था। इसी लिए वृषभ, सर्प, कमल, शिवलिंग आदि प्रतीकों के सम्बन्ध में बराबर भ्रान्ति में वे पड़ते गये। अनेक विद्वान् यहाँ तक कहते हैं कि शिव प्राचीन देव नहीं हैं। उन्हें प्राचीन देव नहीं

१. सम्पूर्णानन्द—आर्यों का आदि देश, पृष्ठ १९७।
२. वही, पृष्ठ १९८। ३. वही, पृष्ठ १९९। ४. वही, पृष्ठ १९८।

कहा जा सकता है। वे बाद में आर्य देवताओं में मिला लिये गये। ऋग्वेद में कई मंत्रों में रुद्र को **घोर** कहा गया है। रुद्र का रूप तथा स्वभाव भयानक है, अतएव वैदिक देवता रुद्र तथा शिव भिन्न हैं। वैदिक विधानों में यज्ञभाग सब देवों का अग्नि में डाला जाता था, पर रुद्र का कहीं चौराहे पर रख दिया जाता था। मार्शल का ऐसा ही मत है।

इसका खण्डन करते हुए डॉ० सम्पूर्णानन्दजी लिखते हैं कि वेदों में देवों की नहीं, प्रत्युत देवताओं की, जगत् का सञ्चालन करनेवाली शक्तियों की उपासना की जाती है। "वैदिक ऋषि ऐसा मानते थे कि विश्व के मूल में एक परा शक्ति है। उसके सौम्य और असौम्य दोनों रूप हैं। सौम्य-भेद से तदभिमानी देव को ईशान, पशुपति, शिव, शम्भु, ईश्वर आदि नामों से पुकारते थे। रुद्र को 'शिवा, तनू अघोरा, पापकाशिनी' कहकर स्मरण किया जाता था। परा शक्ति स्वयं कहती है—"अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्म-द्विषे शरवे हन्तवा उ' (मैं ब्रह्मद्वेषी का हनन करने के लिए रुद्र को धनु देती हूँ)। यह शिव और सौम्य रूप सम्पूज्य हैं। परन्तु रुद्र शब्द उन शक्तियों का भी वाचक है जो रोग, शोक, कलह के रूप में जीवों को सताती हैं। यह अशिव है। एक मंत्र में असंख्याता रुद्रः कहा गया है। ऐसे रुद्र दूर रखे जाते हैं।"[१]

शिव की प्राचीनता तथा उनके आर्य देवता होने के सम्बन्ध में इससे अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। हमारा आशय इतनी पंक्तियों से ही स्पष्ट हो गया है। शिवलिंग की महत्ता तथा प्राचीनता भी सिद्ध हो गयी।

१. वही, पृष्ठ २०८।

अन्धविश्वास-प्रतीक

अंध-विश्वास किसे कहते हैं ? इसकी व्याख्या कुछ विस्तार से करनी पड़ेगी। पर ऐसी व्याख्या करने के पूर्व ऐसे विश्वास के कुछ उदाहरण देना उचित होगा। ऐसा विश्वास जो अंधा हो, तर्क से दूर हो, उसी को अंध-विश्वास कहेंगे। फ़ंक और वैगनल ने अपने शब्दकोष में इस प्रकार के अंध-विश्वास की व्याख्या करते हुए लिखा है——

"ऐसा विश्वास जो तर्क से परे हो, विशेष कर भय की भावना से उत्पन्न हुआ हो तथा चमत्कारों में विश्वास से संयुक्त हो। ऐसी ही भावना से उत्पन्न रीति-रिवाजों को अंध-विश्वास कहते हैं। ऐसी धार्मिक प्रथा में विश्वास जिसे अन्य लोग कारणहीन समझते हों, आधिदैविक चीज़ों में विश्वास के साथ ही तर्क-रहित रूप से जंतर-मंतर, संकेत तथा शकुन-अपशकुन में विश्वास।"[१]

इस प्रकार अंध-विश्वास में मनुष्य ने अपने लिए ऐसे करोड़ों प्रतीक बना रखे हैं जिनका भिन्न अर्थ होता है तथा जिनका वह भिन्न रूप में उपयोग करता है; अंध-विश्वास से उत्पन्न प्रतीकों की संख्या इतनी अधिक है कि उनकी गणना करना या विवेचन करना, दोनों ही कठिन हैं। सैकड़ों वर्षों में, अपने नित्य के जीवन से ऐसे प्रतीक बने होंगे, ऐसे संकेत बने होंगे जिन पर काफ़ी संख्या में सभ्य तथा असभ्य, पढ़े-लिखे तथा अपढ़ लोग विश्वास करते हैं।

भारतवर्ष में ऐसे हज़ारों व्यक्ति मिलेंगे जो मार्ग में मुर्दा मिलना, शव मिलना, और वह भी दायीं तरफ़ शव या अर्थी मिलना, बड़ा शुभ मानते हैं। उनका यह विश्वास है कि यह बड़ा शुभ शकुन है और काम ज़रूर सफल होगा। किन्तु रास्ते में जिसको भी दायीं तरफ मुर्दा मिले, उसका काम बन जायगा, यह तो असम्भव बात है। पर कुछ का विश्वास, कुछेक का काम बन जाना ही अंध-विश्वास का कारण बन जाता है। यदि घर से निकलते समय धोबी, मछली, दही आदि पहले मिल जाय तो कहा जाता है कि काम का बनना निश्चित है। इस प्रकार शव, दही, धोबी, मछली, ये सभी शुभ-शकुन हुए। कार्य की सफलता के प्रतीक हुए।

१. Funk and Wagnalls—Practical Standard Dictionary of the English Language—Vol. II—page 1130 (1945).

इसके विपरीत यदि घर से निकलते ही तेली मिले, तेल मिले, काना आदमी मिले, खाली घड़ा मिले, पीठ पीछे छींक हो तो समझा जाता है कि काम चौपट हो गया। अक्सर लोग घर वापस आ जाते हैं। एक ग्लास पानी पीकर या पान खाकर तब फिर बाहर निकलते हैं। मैंने एक बुजुर्ग को चार बार इसी प्रकार घर के भीतर-बाहर करते देखा। जब निकले, कोई-न-कोई अपशकुन हो ही गया। आख़िर उन्होंने उस दिन घर से बाहर निकलना ही अस्वीकार कर दिया।

अपशकुन-प्रतीक में एक विशेषता यह भी है कि सब जगह इनका एक ही गुण नहीं माना जाता। हमारे देश में भरा घड़ा बड़ा शुभ माना जाता है। कई देशों में यह मृत्यु-सूचक हो जाता है। बिल्ली या स्यार, चाहे किसी रंग का, यदि रास्ता काट दे तो बड़ा अशुभ समझा जाता है। अक्सर लोग उस रास्ते को छोड़ देते हैं। पर, अंग्रेज लोग ख़ास तौर पर बिल्ली को, उसमें भी काली बिल्ली को, बड़ा शुभ मानते हैं। यदि काली बिल्ली रास्ता काट दे तो कहना ही क्या है। यदि भूल से कोई व्यक्ति उलटी कमीज, उलटा जांघिया पहन ले और फिर उसे सीधा कर ले तो अंग्रेज या फ्रेंच इसे बड़ा शुभ समझते हैं। उनके अंध-विश्वास के अनुसार कार्य अवश्य सिद्ध होगा। पर हमारे देश में उलटा वस्त्र पहन लेना शुभ नहीं समझा जाता।

कुछ अंध-विश्वास समान रूप से मान्य हैं। छींक यदि सम्मुख हो तो कम अशुभ होती है, यदि पीठ-पीछे हो तो अति अशुभ होती है। ऐसा विश्वास अंग्रेज-फ्रेंच, हिन्दुस्तानी, पाकिस्तानी सभी का है। पुरुष के लिए दायीं आँख फड़कना तथा स्त्री के लिए बायीं आँख फड़कना, ये सभी लोग शुभ तथा इसके विपरीत अशुभ मानते हैं। घर पर यदि रात को उल्लू बोले तो मृत्यु का संकेत है। कौवा बोले तो समझिए कि मेहमान आनेवाला है। पैर में उलटा जूता पहनना अशुभ होता है, इत्यादि।

अभी हम स्वप्न-प्रतीक की बात नहीं करते हैं। पर, ऊपर लिखे शुभ-अशुभ प्रतीक आख़िर कैसे और क्यों बने? काना आदमी अपशकुन क्यों समझा जाता है? उस बेचारे का क्या दोष यदि भगवान् ने उसकी एक आँख छीन ली? तेल मनुष्य का भोजन है। मछली भी। तेल या घी में मछली पकायी या भूनी जाती है। दही भी भोजन की वस्तु है। पर दही चाहे सड़ा-गला ही क्यों न हो, वह शुभ-सूचक बन गया और शुद्ध तेल अशुभ हो गया। हिन्दू मुर्दा छूकर स्नान करता है। जिसके घर का प्राणी उठ गया वह रोता-कलपता जा रहा है और सड़क पर चलनेवाला यह सोचकर प्रसन्न है कि उसे कोई शुभ प्रतीक मिल गया! इस प्रकार की बातें सोचने से तर्कयुक्त नहीं प्रतीत होतीं, पर इनके शुभाशुभ फल का कोई-न-कोई इतिहास अवश्य होगा।

किन्तु अंध-विश्वास तर्क के तराजू पर नहीं तौले जा सकते। वे उस आशंका तथा

भय से उत्पन्न होते हैं जिसके लिए मनुष्य के पास साधारणतः कोई उत्तर नहीं है। किसी से अपना ऋण दिया रुपया वसूल करने जाना हो या ऋण लेना ही हो, यदि रास्ते में यह शंका मन में हो कि सफल होंगे या नहीं, तो ऐसी अनिश्चित दशा में शकुन-अपशकुन का बड़ा भारी सहारा हो जाता है। इसलिए आशंका तथा निश्चितता में अंध विश्वास बनते-बिगड़ते हैं, यह तो निश्चित-सी बात है। दक्षिण अफ्रीका में एक ऐसी जंगली जाति है जो मुक्ति के लिए, भगवान् के पास पहुँचने के लिए किसी गेहुँअन सर्प से काटा जाना ही एकमात्र उपाय समझती है। अतएव जब किसी को मरना होता है, गेहुँअन सर्प के बिल में हाथ डाल देते हैं। यह अंध-विश्वास इसलिए पैदा हुआ कि एक बार उस जाति के लोगों ने एक वृक्ष के नीचे खूब पूजा-पाठ किया कि भगवान् प्रकट हो। रात्रि में वहीं गेहुँअन साँप अण्डे दे गया। दूसरे दिन लोगों ने उसी को भगवान् का रूप समझा। उन अण्डों की पूजा होने लगी। कई दिन तक पूजा चलती रही। आख़िर उससे सर्प निकले। एक कुमारी कन्या उन पर ही गिर कर प्रार्थना करने लगी। सर्प ने काट लिया। वह विक्षिप्त-सी हो गयी। लोगों ने समझा कि उस पर भगवान् सवार हो गये हैं। वह मर गयी। लोगों ने समझा कि भगवान् अपने घर ले गये। बस, यही कथा है उस अंध-विश्वास के उदय की।

प्रायः सभी अंध-विश्वासों की ऐसी ही कहानी है। काना आदमी देखना भारत में अनेक स्थानों में अशुभ मानते हैं। यह अंध-विश्वास धीरे-धीरे पनपा होगा। ऐसे ही मुर्दा देखना शुभ, तेल या तेली देखना अशुभ, दही तथा मछली देखना शुभ, दूध देखना अशुभ, धोबी तथा भंगिन देखना शुभ——यह सब यात्रा के लिए शुभाशुभ विचार किसी-न-किसी कारणवश ही पैदा हुए होंगे। श्रीमती मरे ऐंसले ने 'नज़र' लगने की बात को भी अंध विश्वास की श्रेणी में रखा है। 'नज़र' लग जाने का अंध विश्वास अपढ़ लोगों में ही नहीं, पढ़े-लिखे भारतीयों में भी प्रचुर संख्या में पाया जाता है। यहाँ तक कि शनि-वार या मंगलवार को यदि किसी को यह कह दें कि "तुम्हारा स्वास्थ्य बहुत अच्छा है" तो वह बुरा मान जायगा। बच्चों को 'नज़र' से बचने के लिए उसके मस्तक पर काजल का टीका लगा दिया जाता है। श्रीमती मरे के कथनानुसार भारतीय हिन्दुओं से कहीं अधिक भारतीय मुसलमानों में 'नजर' सम्बन्धी अंध-विश्वास है।[१] वे लिखती हैं कि भारतीय लोगों का विश्वास है कि काने आदमी की नजर जल्दी लगती है। जिनकी आँखों में काजल लगा रहता है, उनकी आँखों से किसी को नज़र नहीं लगती।[२] जादू, टोना, टोटका से बचने के लिए तावीज़ बाँधने का भी तरीका है।

१. Symbolism of the East & West. पृष्ठ १३९। २. वही, पृष्ठ १३९।

यूरोपियन लोग भी नज़र, जादू, टोना, टोटका तथा अपशकुन काफ़ी मानते हैं। श्रीमती मरे का कहना है कि एक स्कॉच महिला कहीं जा रही थीं। रास्ता काटकर एक ख़रगोश निकल गया। बस, लाख समझाने पर भी वे आगे नहीं बढ़ीं। वापस लौट गयीं। घोड़े की नाल अगर मार्ग में मिल जाय तो ख़ास तौर से अंग्रेज इसे बड़ा शुभ मानते हैं। अंग्रेज लोग कुछ खास पत्थरों को भी बहुत शुभ समझते हैं।[१] यूनान में सुन्दर बच्चों को नज़र बहुत जल्दी लगती है। इसी लिए उनकी माताएँ उनकी टोपी में सिक्के सी देती हैं। यूनान के कुछ भाग में किसी बच्चे को 'कितना प्यारा बच्चा' कहना भी अशुभ माना जाता है। स्मरना (तुर्किस्तान) में ऐसा विश्वास है कि कुछ लोग जन्म से ही अशुभ पैदा होते हैं। भूरी आँखवालों को ख़ास तौर पर अशुभ समझा जाता है।[२] नेपुल्स (इटली) में बच्चों को नज़र से बचाने के लिए सीप इत्यादि हाथ या गले में पहना देते हैं। दक्षिणी टाइरोल में घुड़सवार लोग हवा में चाबुक फटकारते रहते थे ताकि भूत-प्रेत की बाधा न लगे। ताजा मक्खन या दूध पर क्रास बना देते थे ताकि भूत उसे जूठा न कर दे। दक्षिणी आयरलैण्ड में भी कुछ इसी प्रकार की क्रियाएँ होती थीं और हैं भी। टाइरोल निवासी अपने टूटे हुए दाँतों को फेंकते नहीं, किसी सुरक्षित स्थान पर रख देते हैं ताकि क़यामत के दिन जब वे क़ब्र से उठें, उनके शरीर का कोई भाग खोया हुआ नहीं पाया जायेगा। सेवाय प्रदेश (फ्रांस) में सोमवार तथा शुक्रवार को मुर्दा दफ़नाना अशुभ मानते हैं। जिस प्रकार हमारे यहाँ पञ्चक में मरने पर ऐसा विश्वास है कि साल के भीतर पाँच मौतें होंगी, सेवायवालों का विश्वास है कि यदि सोमवार या शुक्रवार को मुर्दा दफ़नाया गया तो साल के भीतर कोई-न-कोई मौत जरूर होगी। ग्लौस्टरशायर (ब्रिटेन) में यदि कोई पालतू पशु अशुभ समझा जाता है तो उसे त्रि-मुहानी (जहाँ तीन सड़कें मिलती हैं) पर खड़ा कर देते हैं। इंगलैण्ड तथा जर्मनी के कुछ देहातों में बच्चों का सितारों की ओर उँगली उठाना बुरा समझा जाता था।[३] सितारों को देवदूतों का नेत्र समझा जाता था। जिस व्यक्ति को बहुत संतानें मर जाने पर बच्चा होता है, उसकी नाक छेद दी जाती है। उसे नत्था या नत्थी (नत्थू) कहते हैं। यूरोप के कई स्थानों में यह रिवाज प्रचलित था।[४] लंका में अपने शत्रु के संहार के लिए उसका पुतला बनाकर, उसमें सूइयाँ चुभोकर, जमीन में गाड़ देते हैं।[५] राइन नदी के तट पर स्थित मेयीन नामक स्थान में ऐसा विश्वास है कि यदि कोई

१. वही, पृष्ठ १४१। २. वही, पृष्ठ १४४।

३. वही, पृष्ठ १५३। ४. वही, पृष्ठ १६९।

५. वही, पृष्ठ १६९।

व्यक्ति अपने पुराने कपड़ों में, जिन पर उसका नाम लिखा हो, दफना दिया जाय तो साल भर के भीतर उसके घर में सात मौतें होंगी ।[१]

ये सब क्या हैं ? अंध-विश्वास से उत्पन्न प्रतीक हैं । इनकी सत्ता स्वतः नहीं, परम्परा तथा रूढ़ि से है । यदि किसी के घर में किसी कार्य के बाद कोई अशुभ हो गया तो वह सदा के लिए उस कार्य को अशुभ का प्रतीक मान लेता है और धीरे-धीरे इस विश्वास की छूत चारों ओर फैल जाती है । यह बड़े ही मार्के की बात है । बड़े महत्त्व की बात है । इस पर ध्यान देना आवश्यक है । सभ्यता के प्रसार से अंध-विश्वास भी समाप्त हो रहे हैं, पर बहुत धीरे-धीरे ।

अंध-विश्वास प्रतीक का रूप तभी धारण कर लेते हैं जब उनका धार्मिक स्वरूप बन जाता है । एडोल्फ हार्नक ने[२] यूनानी तथा रोमन धर्म पर अच्छा प्रकाश डाला है । आत्मा की सत्ता में यूनानियों का विश्वास था । वे आध्यात्मिक विवेचन की ओर मुड़े । प्लेटो, सुकरात ऐसे लोगों ने आध्यात्मिकता की ओर ध्यान दिलाने के लिए धार्मिक रूढ़िवाद तथा धार्मिक अंध-विश्वास के विरुद्ध विद्रोह किया । इसी लिए सुकरात को प्राण-दण्ड मिला था । ब्रिटेन में द्रुयिदवाद[३] ने पुनर्जन्म का, आवागमन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया । उन्होंने भी प्राचीन धार्मिक अंध-विश्वास के विरोध में आवाज़ उठायी । नार्वे तथा स्वेडेन में भी प्राचीन काल में यही हुआ । प्राचीन बैबीलोन तथा असीरिया की सभ्यता में भी देवत्व के नाम पर, हजारों वर्ष पहले, धार्मिक अंध-विश्वासों की परिपाटी बन गयी थी जिनके विरुद्ध बराबर नये-नये आदेश निकला करते थे । प्रसिद्ध प्राचीन इतिहासकार हीरोदोतस् और दायोदोरस[४] ने इस विषय पर प्रकाश डाला है । वेलहासेन ने प्राचीन अरब निवासियों के धार्मिक विश्वास का इतिहास लिखते हुए उनके अंध-विश्वास की कथाएँ दी हैं । कोरे पत्थर को प्रतिमा के रूप में पूजते-पूजते अरब निवासी इधर-उधर काफ़ी बहक गये थे ।[५] समूचे अरब देश में नर-बलि होती थी। उसके काफ़ी प्रमाण मौजूद हैं । केवल देवी-देवताओं से उनका काम नहीं चलता था । विपत्ति के समय वे अपने मृत पूर्वजों को पुकारते थे —"आओ, हमारे निकट रहो ।" उनके एक नरेश मुधीर-बिन-मअ-असम्मा ने 'कामदेवी' की प्रसन्नता के लिए हजारों ईसाइयों को बलिदान पर चढ़ा दिया था ।[६] प्रोफेसर तील के कथनानुसार प्राचीन

१. वही, पृष्ठ १७० ।
२. Adolf Harnack.
३. Druidism.
४. Herodotus and Diodorus.
५. Wellhausen—"Reste arabischen Heidenthums".
६. Historians History of the World—Edited by Henry Smith William, Pages 505-544.

बैबिलोनियन धर्म एक-ईश्वरवादी था।[1] फिर भी उसमें ख़राबियाँ आ गयीं थीं। प्राचीन मिस्र का धर्म भी एक-ईश्वरवादी था, पर बाद में चलकर उसमें पशुओं की उपासना ने अच्छा स्थान प्राप्त कर लिया था।

जिस प्रकार भूखा व्यक्ति बिना यह सोचे कि क्या लाभदायक होगा या क्या हानिकारक, जो कुछ मिलता है, वह खा लेता है, उसी प्रकार 'ईश्वर' की भूख में इंसान इधर-उधर भटक जाता है। ईश्वर की भूख बहुत पुरानी है। यूनानी कवि 'होमर' ने ईसा से १००० वर्ष पूर्व लिखा था कि 'हर एक व्यक्ति को देवताओं की आवश्यकता होती है।' अपनी उस आवश्यकता की पूर्ति में वह तरह-तरह के देवी-देव, प्राचीन अंग्रेजों की तरह 'शाह बतूत' ऐसे वृक्षों को भी, बनाता रहता है।

प्रतीक का विश्वास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। पर विश्वास केवल भावना नहीं है। विश्वास में भावना तथा किसी वस्तु की सत्ता का विचार, दोनों ही सम्मिलित रहते है। इसी लिए विश्वास को बुद्धि का एक नया दृष्टिकोण मानना चाहिए। किसी बात को देख लेने से ही विश्वास नहीं बनता। किसी बात को यदि दृढ़ता के साथ तथा विश्वास के साथ कहा जाता है तो उसका अर्थ इतना ही है कि बुद्धि भावना के ऊपर उठकर विचार तथा विश्वास दोनों का समन्वय कर रही है। इसी दृष्टि से प्रतीक सही या गलत दोनों हो सकते हैं। कोरी भावना से प्रतीक नहीं बनेगा। भावना के बाद हम मन में निर्णय करते हैं कि भावना सही है या गलत। निर्णय करने के बाद हम तर्क द्वारा उस निर्णय की समीक्षा करते हैं। अतएव तर्क-सिद्ध बात ही विश्वास का रूप धारण कर सकती है।[2] पर, यदि हम कहें कि 'ईश्वर की सत्ता है'—तो इस विश्वास में घोर प्रयत्न करने पर भी सत्ता को सिद्ध नहीं किया जा सकता। टाल्स्टाय ने यदि कहा था कि "मैं ईश्वर में विश्वास करता हूँ। मैं समझता हूँ कि वह एक आत्मा है, वह प्रेम करता है। सब चीजें उसी से प्रारम्भ हुई हैं,"[3] तो यदि महान् लेखक तथा विद्वान् टाल्स्टाय इतना ही लिख देते कि "मैं ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता हूँ", तो उनका आशय कभी स्पष्ट न होता। अतएव उन्होंने पूरा वाक्य लिखकर अपना विश्वास प्रकट किया था। केवल एक शब्द कह देने से 'सच',-'झूठ' का पता नहीं चलता। एक शब्द कह देने से ही प्रतीक का बोध नहीं

१. Prof. Tiele.
२. Symbolism and Truth—Ralph Monroe Eaton-Harward University Press, Cambridge, 1925-Page 18?
३. A Review of the Tenth Edition of Encyclopaedia Britannica-page 121.

होता । भावना के साथ सत्ता दोनों का समावेश होना चाहिए । 'ईश्वर', 'बुराई'—ऐसे शब्द से समूची बात नहीं मालूम होती है । 'ईश्वर' कहने के साथ 'ईश्वर है'—'ईश्वर नहीं है'—कहना पड़ेगा । पूरा वाक्य कहने से 'निश्चितता' का बोध होता है । ऐसे ही बोध से प्रतीक बनते हैं । केवल एक शब्द कह देने से नहीं होता ।[१]

इसी लिए बहुत-से प्रतीकों को, जो किसी निश्चित वस्तु या पदार्थ को व्यक्त करते हैं, यदि उसी समय तक सत्य या सही प्रतीक माना जाय जब तक वे प्रत्यक्ष रूप से निर्दिष्ट पदार्थ का बोध कराते हैं, तो इस बात में किसी को आपत्ति न होगी । पर ज्यों ही किसी प्रतीक द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से, घुमा-फिराकर, अप्रकट रूप से किसी वस्तु का बोध कराया जाता है, तभी वह प्रतीक 'झूठा' और ग़लत हो जाता है ।[२] कौन ऐसा है, जो कह सकता है कि ईश्वर का प्रतीक चाहे किसी भी रूप में हो, सही है, जिसको देखा नहीं, जो केवल भावना में है, वह प्रतीक कैसे बनेगा ? इसी लिए भारतीय प्रतिमाएँ या शिव-लिंग ईश्वर के प्रतीक नहीं हैं, उसकी विभूति तथा विशेष भावना और घटना के प्रतीक हैं । 'विश्वास' हवा में टँगी हुई वस्तु नहीं है । जब विश्वास जमता है तो उस विश्वास के आधार पर संकेत मनुष्य स्वयं बना लेता है । विश्वास से ही कार्य करने की प्रेरणा मिलती है ।[३] विश्वास चाहे 'अंध' हो या 'सत्य', वह कार्य के प्रति प्रेरित करता है । इसी लिए अंध-विश्वास के प्रतीक सही प्रतीक हैं, चाहे उनका परिणाम कितना ही गलत हो ।

१. Symbolism and Truth—page 183
२. वही, पृष्ठ १८४ ।
३. वही, पृष्ठ, १८४-८५

स्वप्न-प्रतीक

जब भावना तथा सत्ता का समन्वय होगा, प्रतीक का जन्म होगा--यह हम ऊपर लिख आये हैं। सत्ता न होते हुए भी सत्ता की कल्पना से जो प्रतीक बनते हैं उनको अंध-विश्वास की श्रेणी में रखा जा सकता है। पर स्वप्न में जो कुछ दिखाई पड़ता है, वह क्या है? वह प्रतीक है भी अथवा नहीं। सत्रहवीं सदी में रेने विसकार्त्ते नामक प्रसिद्ध दार्शनिक फ्रांस में पैदा हुए थे। उनका कहना था कि बुद्धि सदैव सोचती रहती है। किन्तु, लॉक इस मत के विरुद्ध थे। यदि विसकार्त्ते की बात मान ली जाय तो रात में जो कुछ सपना देखा जाता है वह निश्चित विचार, चिन्तन तथा मनन का परिणाम है। लॉक कहते कि 'यह क़यास के बाहर बात है कि जब शरीर सो रहा है, आत्मा विचार-निमग्न है और ज्यों ही नींद खुली, सुप्तावस्था में सोची हुई बातें भूल जाती हैं। आत्मा और शरीर दोनों मिलकर 'चिन्तन' का काम करते हैं। एक सोया तथा दूसरा जागता नहीं रहता। पर, लॉक का खण्डन लीबनिज ने किया है। उनका कहना था कि अचेतन अवस्था में भी चेतन चिन्तन होता है, यद्यपि उसकी भावना अस्पष्ट होती है। वे यह भी कहते थे कि हर एक व्यक्ति की अपनी अलग सत्ता है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से भिन्न है। दोनों का स्वभाव, विचार, विश्वास, सभी कुछ अलग-अलग हैं। इसी लिए सुप्तावस्था में, जब वह व्यक्ति एकदम अकेले होता है, वह एकदम अलग बात सोचता है। इसलिए स्वप्न की बातें सभी व्यक्तियों के लिए प्रतीक नहीं हो सकतीं। दार्शनिक हीगल भी बुद्धि को हजारों भूलों के बाद एक क्रमागत विकसित वस्तु मानते थे, जो सही या ग़लत दोनों बातें सोच सकती है। अतएव नींद में भूल की सम्भावना अधिक होते हुए भी सही बातें सोच सकने की भी सम्भावना है। दार्शनिक कैण्ट की बात सबसे निराली है। वे कहते थे कि बिना स्वप्न के आदमी सो नहीं सकता। स्वप्न सोने की क्रिया का एक अंगमात्र है।[१]

स्वप्न की ऐसी व्याख्या करते समय एक शंका का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। यदि स्वप्न के साथ विचार, विवेक, बुद्धि का कोई मेल है तो जो भी सपने में दिखाई पड़े वह तर्क तथा विवेचन की वस्तु हो जायेगी। पर तर्क या ऊहापोह की वस्तु 'प्रतीक' नहीं बन सकता। बिना एक निश्चित विचार या निर्णय के, चाहे उस विचार या निर्णय की तह में कितनी

१. Kant—Anthropoligie.

बड़ी भूल भी क्यों न हो, प्रतीक बन नहीं सकता। यदि लोगों ने नीलकण्ठ पक्षी को उसका नीला कण्ठ होने के कारण नीलकण्ठ शंकर भगवान् का प्रतीक मान लिया है, तो यह तर्क करने से कि शंकर का कण्ठ हलाहल विष के पान से हुआ था, नीलकण्ठ पक्षी का तो नहीं, अतएव वह प्रतीक क्यों है, तो ऐसे तर्कों की न तो कोई महत्ता है, न उससे लाभ होगा।

स्वप्न का वैज्ञानिक विवेचन तो हम आगे चलकर करेंगे। पर इतना तो मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि जो लोग स्वप्न को किसी होनेवाली घटना का, परिस्थिति का प्रतीक मानते हैं, उनके इस विश्वास के साथ 'अंध-विश्वास' का भी मेल अवश्य है। जिस चीज़ की जानकारी न हो, उसके प्रति जो विश्वास बनता है, वह या तो विगत अनुभव के आधार पर या धार्मिक भावनावश होता है। धर्म क्या है? 'धर्म' शब्द से क्या बोध होता है? यों तो हमारी भाषा में धर्म शब्द का बहुत व्यापक अर्थ है। पर यहाँ पर 'धर्म' से हमारा तात्पर्य अंग्रेजी शब्द 'रेलिजन' तथा उर्दू शब्द 'मज़हब' से है। एली रेवलस के अनुसार 'अज्ञात शक्ति के सम्मुख मन में जो भाव उत्पन्न होते हैं, उनका नाम धर्म है।'[१] जब मनुष्य का मन अत्यधिक उत्तेजित हो उठता है तो वह 'अज्ञात शक्ति' को 'साकार' बना देता है, देवता बना देता है। विद्वानों के अनुसार "प्राचीन धार्मिक विश्वासों के वे भग्नावशेष जिन पर सदियाँ गुज़र गयीं, आज के अंध-विश्वास हैं।" 'अंध-विश्वास प्राचीन विश्वासों के प्रतीक हैं।' एली रेक्लस के अनुसार अंध-विश्वास सब जगह हैं, "जिस प्रकार के अंध-विश्वास अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया के घोर असभ्य भागों में पाये जाते हैं, वैसे ही सभ्य यूरोप के अनेक भागों में।" अतएव अंध-विश्वास की भित्ति पर अच्छी और बुरी चीजें भी बन सकती हैं।

एक प्राचीन हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थ में स्वप्न का फलादेश दिया हुआ है। रात में, नींद में, क्या चीज़ देखने का क्या फल होता है—यह श्लोकों में दिया गया है। मैं नहीं कह सकता कि स्वप्न के इन प्रतीकों का वही फल होता होगा जो लिखा गया है, पर विश्वास के लिए वे कितना बड़ा काम करते हैं, यह भी स्पष्ट है। उस हस्तलिखित ग्रन्थ के कुछ श्लोक हम नीचे दे रहे हैं—

प्रतीक	फल[२]
१. विधि-कन्या (सरस्वती)	मंगलं सर्वकार्यञ्च, पुत्र पौत्र समागमे।

१. Elie Reclus—"The Growth of belief in God"—Article in Encyclopaedia Britannica.

२. श्लोकों में बहुत-सी अशुद्धियाँ हैं। पर उन्हें शुद्ध करने का प्रयास न कर ज्यों-का-त्यों दे दिया गया है—लेखक।

सर्वसिद्ध भर्वेत्तस्य विधि - कन्या च दर्शनं ।।

२. शूकर
अशुभं सर्वं कार्यञ्च, अशुभो सर्वं जायते ।
अल्पं चैव कर्मञ्च स्वल्पं, शूकर - दर्शनम् ।।

३. चन्द्रमा और हिरन
शीतलं शुभ कार्यञ्च, आरोग्यं, कुशलं तथा ।
कार्यसिद्धिमवाप्नोति शसचन्द्रस्य दर्शनम् ।।

४. कुत्ता
कुशब्दं च कुकार्यं च, कलहं, चैव जायते ।
कार्यसिद्धि र्न जायेते, श्वान वक्रस्य दर्शनम् ।।

५. मित्र
संतोषं पुत्रलाभं च, आनन्दं यत्र गच्छति ।
भार्यारत्नं च सौभाग्यं, बंधु दर्शनम् भवेत् ।।

६. लावक पक्षी (लाल)
अशुभं तत्र तत्रैव, विनाशं चैव जायते ।
कथितं नैव जायंते लावकानां च दर्शनम् ।।

७. तोता
सुशब्दं सर्वं कार्यञ्च सुविद्या यशमेव च ।
शुभ कार्यनित्य मेवं च, शुकपक्षी च दर्शनम् ।।

८. सूखा वृक्ष
निर्फलं फलहानि च, मध्यमं कार्यमेव च ।
निज कार्यञ्च हानि च, शुष्क वृक्षस्य दर्शनम् ।।

९. फलदार वृक्ष
सफलं शोभनं चैव, संतोषं चैव सिद्धिदा ।
पुत्र पौत्र जयमेवं च, सफल वृक्षस्य दर्शनम् ।।

१०. मृत्यु, यमस्य (यमदूत को देखना)
अशुभं, मित्रहानिश्च, बुद्धिभ्रंशं तथैव च ।
शुभ कार्य विनाशं च, यमस्य च दर्शनम् ।।

११. गंगा नदी
पुत्र पौत्रं च आरोग्यं, कार्यं निर्मलमेव च ।
धन धान्यं च कल्याणं, गंगा दर्शन मात्र च ।।

१२. गधा
विलम्बं चैव विघ्नं च, उद्विग्नं कलहमेव च ।
उत्पातं अद्भुतं चैव, खरश्चैव तु दर्शनम् ।।

१३. सूर्य
निर्मलं रोगनाशं च, शत्रुनाशं च मेव च ।
अचिंतितं शुभ कार्याणि, सूर्यरूपस्य दर्शनम् ।।

१४. कुश्ती
दुःखंतिदुःख यायंति, संतोषं नैव दृश्यते ।
सर्व-बुद्धि-विनाशं च, मल्लयुद्धस्य दर्शनम् ।।

१५. सग्गड़ या गाड़ी (ठेला)
उत्तमं मध्यमं चैव, सन्मानं सम दर्शनम् ।
सामान्यंश्चैव कार्याणि, शकटस्य च दर्शनम् ।।

१६. भरा घड़ा
अन्नं च भवेत्तस्य, पुत्रलाभस्तथैव च ।
सर्वं लाभ भवेत्तस्य, पूर्ण कुम्भश्च दर्शनम् ।।

१७. अंधा व्यक्ति	अशुभं दर्शते कार्यं, रोग पीड़ा तथैव च ।
	अर्थ हानि स्तथैव च, चक्षुहीनं च दर्शनम् ।।
१८. रावण (राक्षस)	सफलं सर्व कार्याणि, अर्थ लाभस्तथैव च ।
	कुशलं सर्व कार्येषु, राग्वणानां च दर्शनम् ।।
१९. लक्ष्मी	धन धान्यं सुपुत्रं च, आरोग्यं सफलं भवेत् ।
	श्री लाभ सर्व लाभं च, लक्ष्मि रूपस्य दर्शनम् ।।
२०. दासी	दुष्कार्यं च दुर्भिक्षं, दुर्लभं, दुःखजं भवेत् ।
	सर्व कार्य बिनाशं च, दासि रूपस्य दर्शनम् ।।
२१. कोकिला पक्षी	संतोषं सर्व कार्याणि विद्या वाणि तथैव च ।
	संतोषं च भवेत्कार्यं, कोकिला यत्र दर्शनम् ।।
२२. मुर्गा	कुक्कुटं अपवित्रं च, कुचेष्टा नष्टजं भजेत् ।
	कलहं कष्टमायांति, कुक्कुटस्य च दर्शनम् ।।
२३. चंचला स्त्री	चंचलं च अलाभं च, उदासं मृत्युमेव च ।
	मनसा चंचलं कार्यं, चंचल नारि च दर्शनम् ।।
२४. बिल्ली	अशुभं कार्य हानिश्च, निज गुणं हानिमेव च ।
	रोग हानि द्वेषमेवं च, मार्जारस्य दर्शनम् ।।
२५. हनुमान	सर्व कार्यं च सिद्धि च, शत्रुनाशं च कारकं ।
	राजमाना शमायांति हनुमन्तश्च दर्शनम् ।।

इसी हस्तलिखित ग्रन्थ में, जिसमें भाषा का दोष भरा पड़ा है, जो स्वप्न-प्रतीक दिये गये हैं, उनके अनुसार—

शुभ फल देनेवाले—

कार्य की सिद्धि, शत्रु का नाश, मनोकामना की सिद्धि, पुत्र-पौत्र-लाभ, सन्तान को सुख, यश का लाभ, विजय, स्त्री-सुख, यात्रा में सफलता आदि के प्रतीक हैं—

१. सरस्वती, २. विष्णु, ३. शंकर-पार्वती, ४. चन्द्रमा और हिरन, ५. मित्र, ६. तोता, ७. फलदार वृक्ष, ८. गंगा नदी, ९. सूर्य, १०. वणिक, ११. गरुड़, १२. भरा घड़ा, १३. धर्मराज, १४. रावण, १५. लक्ष्मी, १६. राम-लक्ष्मण १७. हनुमान, १८. कोकिला, १९. मयूर, २०. मछली।

अशुभ फल देनेवाले—

१. शूकर, २. कुत्ता, ३. लावक पक्षी (लाल), ४. सूखा वृक्ष, ५. मृत्यु, ६. यमदूत, ७. गधा, ८. कुश्ती, ९. ठेला, १०. अंधा व्यक्ति, ११. लड़ाकू स्त्रियाँ, १२. दासी, १३.

मुर्गा, १४. सूना मन्दिर, १५. चंचल स्त्री १६. चोर-तस्कर, १७. बिल्ली, १८. स्यार, १९. शुक्राचार्य, २०. दुर्वासा रूपी साधु ।

ऊपर लिखी वस्तुएँ स्वप्न में देखने से निर्दिष्ट घटनाओं की सूचना हैं, चिह्न हैं, लक्षण हैं, प्रतीक हैं । मन्त्रमहार्णव में लिखा है—

लिंगं चन्द्रार्कयोर्विम्बं भारती जाह्नवी गुरुः ।
रक्ताब्धितरणं युद्धे जयोऽनलसमर्चनम् ।।
शिखिहंसरथागाढ्ये रथे स्थानं प्रमोहनम् ।
आरोहणं सारसस्य धरालाभश्च निम्नगा ।।

अर्थात् शिवलिंग, सूर्य-चन्द्र का प्रकाश, सरस्वती, गंगा, गुरु, लाल पानी के समुद्र में तैरना, युद्ध में जय, अग्नि का पूजन, मयूर, हंस, रथ पर चढ़ना, यात्रा करना, सारस पर सवारी करना—यह सब (इनमें से कोई भी) स्वप्न होने पर भूमि का लाभ होता है ।

वाल्मीकीय रामायण के सुन्दरकाण्ड में लंका की अशोकवाटिका में त्रिजटा राक्षसी का स्वप्न दिया गया है । त्रिजटा सीता के पहरे पर थी । उसका स्वप्न काफी लम्बा था । मुख्य बात त्रिजटा ने यह देखी कि चार दाँतवाले बड़े हाथी पर सूर्य के समान प्रकाशवान् श्री रामचन्द्रजी सीता सहित बैठे हुए हैं—

रामेण संगता सीता भास्करेण प्रभा यथा ।
राघवश्च मया दृष्टश्चतुर्दन्तं महागजम् ।।

चार दाँतवाले विशाल हाथी पर राम-जानकी किस प्रकार बैठे हुए हैं, इसका सुन्दर वर्णन है । त्रिजटा के इस स्वप्न को लंका पर राम की विजय तथा सीता का राम से पुनर्मिलन का प्रतीक बनाया गया है । इसके विपरीत त्रिजटा ने रावण के सम्बन्ध में बड़ा अशुभ स्वप्न देखा । तैल में डूबा हुआ, रक्त पीता हुआ, पुष्पक विमान से गिर पड़ा है, उसके रनिवास की स्त्रियाँ एकदम दुर्बल हो गयीं हैं—

रावणश्च मया दृष्टः क्षितौ तैलसमुक्षितः ।
रक्तवासाः पिबन्मत्तः करवीरकृतस्रजा ।।
विमानात्पुष्पकादद्य रावणः पतितो भुवि ।
कृष्यमाणः स्त्रिया दृष्टो मुण्डः कृष्णाम्बरः पुनः ।।

बृहस्पतिकृत स्वप्नाध्याय में लिखा है कि यदि रात्रि के द्वितीय याम यानी प्रहर में स्वप्न देखे तो छः महीने में फल होगा । यदि तीसरे प्रहर स्वप्न देखे तो तीन महीने में फल होगा । अरुणोदय के समय स्वप्न देखने से दस दिन में फल मिलेगा ।

षड्भिर्मासैर्द्वितीये तु त्रिभिर्मासैःस्तृतीयके ।
अरुणोदयवेलायां दशाहेनफलं भवेत् ।।

इसके बाद उस ग्रंथ में स्वप्न-प्रतीक दिये गये हैं। बैल, हाथी, मंदिर, वृक्ष या नौका पर चढ़ना, स्वयं या किसी अन्य को हाथ में वीणा लिये हुए देखना, भोजन करते हुए, रोते हुए, यह सब यदि दिखाई पड़े तो ऊपर लिखी अवधि में निश्चय ही अर्थ-लाभ होगा। यदि स्वप्न में देखे कि कोई शरीर में विष्टा (मल) लगा रहा है, रक्त देखे, हाथी, राजा, सुवर्ण या टूटा सींग देखे तो कुटुम्ब की वृद्धि होगी। यदि सागर में तैरता हुआ देखे या अपने से नीच वंश में जन्म लेता हुआ देखे तो वह राजा होता है। यदि स्वप्न में मनुष्य का मांस भक्षण करे तो—

पैर खाते हुए—मणि का लाभ हो।

बाहु खाते हुए—हज़ार मणि प्राप्त हो।

सिर खाते हुए—राज्य प्राप्त हो।

स्वप्न में यदि जूता देखे—कहीं यात्रा करनी हो।

नौका पर चढ़े या नदी पार करे—प्रवास होगा।

दाँत या केश उखड़ जाय—धननाश, रोग, व्याधि आदि।

यदि स्वप्न में वानर या सूअर दौड़कर सींग मारे तो समझ लीजिए कि राजा या उसके कुल से भय है। यदि तेल, घी, मक्खन आदि से मालिश करता हुआ या कराता हुआ देखे तो समझ लेना चाहिए कि कोई बीमारी होनेवाली है। पीताम्बर वस्त्र पहिने, लाल चन्दन लगाये तथा लाल माला पहने स्त्री देखे तो तात्पर्य होगा कि ब्रह्महत्या लगनेवाली है।

वैद्यक ग्रन्थ शार्ङ्गधरसंहिता में स्वप्न पर काफ़ी विचार किया गया है। प्रथम खण्ड के तीसरे अध्याय में दुष्ट-स्वप्न-प्रतीक इस प्रकार दिया गया है—

स्वप्नेषु नग्नमुण्डांश्च रक्तकृष्णाम्बरावृतान्।
व्यङ्गांश्च विकृतान्कृष्णान्सपाशान्सायुधानपि ॥१४॥
बध्नतो निघ्नतश्चापि दक्षिणां दिशमाश्रितान्।
महिषोष्ट्रखरारूढान् स्त्रीं पुंसान्यस्तु पश्यति।
स स्वस्थो लभते व्याधिं रोगी यात्वेव पञ्चताम् ॥१५॥

स्वप्न में नंगे, मुण्डन कराये हुए, लाल या काले कपड़े पहने हुए, नकटे, कनकटे आदि अंगविहीन, विकृताङ्ग यानी लूले, लँगड़े, कुबड़े इत्यादि, काले वर्ण के, हाथों में पाश (फाँसी) तथा शस्त्र लिये हुए, बाँधते, मारते हुए, दक्षिण दिशा की ओर भैंसा, ऊँट, गधे पर बैठे हुए स्त्री-पुरुषों को जो व्यक्ति देखे वह यदि स्वस्थ हो तो रोगी हो जाय, यदि रोगी हो तो मर जाय।

शार्ङ्गधरसंहिता वैद्यक ग्रंथ है। रोग तथा उसकी चिकित्सा का ग्रंथ है। आयुर्वेद में लघुत्रयी तथा बृहत्त्रयी सर्वप्रधान ग्रंथ हैं। माधवनिदान, भावप्रकाश और शार्ङ्गधर-संहिता, ये तोन ग्रन्थ लघुत्रयी कहलाते हैं। चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता और अष्टाङ्ग-हृदय—ये बृहत्त्रयी हैं। वैद्यक ग्रन्थों में शार्ङ्गधर का बड़ा मान है। इसलिए इसमें दिया हुआ स्वप्न-विचार करोड़ों भारतीयों के लिए बड़ा महत्त्व रखता है। दुष्ट स्वप्नों की तालिका देते हुए इसी संहिता में १६, १७, १८ श्लोकों में दिया गया है—

"जो स्वप्न में अपने को किसी ऊँचे स्थान से गिरता हुआ देखे, जल या आग में समा जाय, कुत्ता काट खाय, मछली निगल जाय, नेत्र खराब हो जायँ (सपने में), दीपक बुझ जाय, तेल या शराब पिये, पूड़ी-कचौड़ी आदि पकवान प्राप्त हो या खाय, कुआँ या ज़मीन के भीतर घुस जाय, इत्यादि, तो यदि स्वस्थ हो तो रोगी हो जाय, यदि रोगी हो तो मर जाय।"

शुभ स्वप्नों की भी लम्बी सूची दी गयी है। नीचे लिखी चीज़ों के देखने से सुख प्राप्त होगा, रोगी होगा तो स्वस्थ हो जायगा। स्वस्थ होगा तो धन प्राप्त करेगा—

देवता, राजा, जीवित मित्र, ब्राह्मण, गौ, जलती हुई अग्नि, तीर्थ स्थान, कीचड़ भरे पानी को पार करना, सफेद कोठी, बैल, पर्वत, हाथी, घोड़े आदि की सवारी करना; सफेद फूल, सफेद कपड़ा, मांस, मछली, फल आदि देखना, जिस स्त्री के साथ भोग नहीं करना चाहिए, उसके साथ भोग करना, शरीर में विष्ठा (मल) का लेपन, कच्चा मांस खाना, रोना, मरना, जोंक-भ्रमरी या साँप से काटा जाना इत्यादि—ये सब शुभ प्रतीक है।[1]

संहिता ने बुरे स्वप्नों का परिहार भी बतलाया है—दुःस्वप्न देखकर किसी से न कहे। सबेरे तड़के स्नान कर सुवर्ण, लोहा तथा तिल का दान करे। ईश-प्रार्थना करे। रात में देवालय में रहे। तीन दिन तक ऐसा करने से स्वप्न का बुरा फल नहीं होता।

इसी अध्याय में यह भी निर्देश है कि जब वैद्य रोगी देखने चले तो उसे यदि शुभ शकुन दिखाई पड़े तो समझना चाहिए कि रोगी अच्छा होगा, अन्यथा नहीं।

यात्रेयं सौम्य शकुनं प्रोक्तदीप्तं न शोभनम् ॥१२॥

संहिता के टीकाकार पं० दुर्गादत्त शास्त्री ने 'शकुन' पर फुटनोट देते हुए अच्छे-बुरे शकुनों को गिनाया है।[2]

१. शार्ङ्गधरसंहितायां तत्त्वदीपिकायां प्रथमखण्डे। तृतीय अध्याय, श्लो० २१ से २५ तक।

२. शार्ङ्गधरसंहिता—हिन्दी टीकाकार—पं० दुर्गादत्त शास्त्री, प्रकाशक—बैजनाथप्रसाद बुक्सेलर, वाराणसी, सन् १९४२—पृष्ठ ३१।

शुभ शकुन—

भेरी, मृदंग, दुंदुभी आदि का नाद, मधुर मंगल गीत; पुत्रवती स्त्री, युवती, बछड़े सहित गौ, श्वेत वस्त्रधारी पुरुष या स्त्री, धोबी, भरा कलश, छत्र, वीणा, मछली, कमल, दही, गोरोचन, कन्या, पुष्प, ब्राह्मण, रत्न इत्यादि।

यदि यात्रा में ये चीजें मार्ग में पड़ें तो शुभ प्रतीक हैं।

अशुभ शकुन—

दक्षिण का मार्ग, कुत्ता, स्यार, नेवला, ख़रगोश, सर्प, खाली घड़ा, तिल, टूटा बर्तन, आग, तेल, मद्य, सूखी लकड़ी इत्यादि।

शुभ और अशुभ के इतने अधिक प्रतीक क्या आज भी हमारे जीवन में लागू होते हैं या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है, पर यह कहना अनुचित होगा कि इनकी कोई सत्ता नहीं है। सैकड़ों वर्षों के अनुभव से ही ये प्रतीक बने होंगे। बृहस्पति के स्वप्नाध्याय तथा शार्ङ्गधरसंहिता के अशुभ प्रतीकों में कोई अन्तर भी नहीं है। चिकित्साशास्त्र के परम पंडित चरक ने अपनी संहिता में भी स्वप्न-प्रतीक पर काफ़ी विचार किया है। उनके द्वारा निर्दिष्ट शुभाशुभ स्वप्न-प्रतीक अन्य ऐसे भारतीय प्रतीकों से भिन्न नहीं हैं। चरक ने स्वप्न की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "मन की इन्द्रिय से व्यक्ति अधकचरी नींद में सफल तथा विफल कार्यों को स्वयं देख लेता है।" चरक के अनुसार "स्वप्न सात प्रकार के होते हैं—देखा, सुना, अनुभूत, भावना में लाया हुआ, कल्पना किया हुआ, भाविक तथा पोषज। पहलेवाले पाँच प्रकार के स्वप्नों का कोई फल नहीं होता। दिन के स्वप्न का फल बहुत कम होता है। रात्रि के पहले प्रहर में जो सपना देखा जाता है, उसका अल्प फल होता है, जिस सपने को देखकर फिर नींद न आ जाय उसका तुरत महाफल होता है। यदि बुरा स्वप्न देखने के बाद अच्छा स्वप्न देख लें तो शुभ फल ही होगा।"[१]

> **दृष्टः प्रथमरात्रे यः स्वप्नः सोऽल्पफलो भवेत्।**
> **न स्वपेद्यः पुनर्दृष्ट्वा स सद्यः स्यान्महाफलः॥**
> **अकल्याणमपि स्वप्नं दृष्ट्वा तत्रैव यः पुनः।**
> **पश्येत्सौम्यं शुभाकारं तस्य विद्याच्छुभं फलम्॥**

चरक के अनुसार अशुभ फलदायक जो बहुत से प्रतीक हैं उनमें ऊँट या गधे की

१. चरकसंहिता—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, सन् १९२२—पञ्चम अध्याय—"इन्द्रियस्थानम्"—श्लोक ४५-४६।

सवारी, दक्षिण दिशा को जाना, प्रेत के साथ शराब पीना इत्यादि जो प्रतीक हैं उनका भिन्न-भिन्न रोगों पर फल है, जैसे—

१. ऊँट-गधे की सवारी	—यक्ष्मा से मृत्यु।
२. प्रेत के साथ मद्य पीना	—घोर ज्वर से मृत्यु।
३. हृदय में कांटेदार लता का चुभना	—घोर गुल्म रोग।
४. बदन पर मक्खी बैठे	—प्रमेह रोग होगा।
५. नाचना	—उन्माद रोग।
६. पूड़ी, कचौड़ी, मालपूआ, आदि भोजन	—मृत्यु।
७. गृद्ध, उल्लू, कौआ, प्रेत, पिशाच, चाण्डाल, अंधा, लता-पाश, तृण या कांटे का संकट, काना, श्मशान, काला जल, कीचड़, कुआँ, अंधकार, स्वप्न में स्नान, घी पीना, अंग में घी लगाना, सुवर्ण मिलना, कलह, स्वप्न में हर्ष, पिता द्वारा भर्त्सना, दाँत, आँख तथा तारों का गिरना, दीपक का बुझना, चिता, नग्न व्यक्ति।	अशुभ, कष्टदायक, रोग-वर्द्धक, मृत्यु-कारक फल होता है।[२]

ऊपर लिखे तीन ग्रन्थों के उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि जिन दृश्यों या वस्तुओं को हम साधारण जीवन में जाग्रत अवस्था में बहुत शुभ तथा आनन्ददायक समझते हैं, जैसे घी पीना, तेल मालिश करना, प्रसन्न रहना, स्नान करना इत्यादि, वही स्वप्न में अनर्थकारी प्रतीक बन जाते हैं। चरक ने 'स्वप्न' की व्याख्या में एक बड़ी मार्के की बात कही है। वह है—'नातिप्रसुप्तः पुरुषः' यानी अधकचरी नींद में 'इन्द्रियेशेन मनसा' 'पश्यति'—मन की इन्द्रिय से जो 'देखा' जाय, वह स्वप्न है। जाग्रत अवस्था में मन जो देखता है, सुप्त अवस्था में वह उलटी बात सपने में क्यों देखता है—जैसे विष्ठा से सभी घृणा करते हैं, पर सपने में यदि उसकी मालिश की जाय तो वह इतनी शुभ वस्तु कैसे बन गयी? मन ने ऐसी चीज़ देखी ही क्यों? चरक ने 'इन्द्रियस्थान' अध्याय में 'स्वप्न' को स्थान देकर इसे मन की इन्द्रिय से उत्पन्न वस्तु माना है। मन से सम्बन्ध होने के कारण स्वप्न के प्रतीक तर्क के दायरे में आ जाते हैं। फिर चरक ने मन की ऐसी क्रिया के सात प्रकार भी बतलाये हैं, जिनमें अनुभूति भी एक कारण है।

न्यायशास्त्र में भी स्वप्न की व्याख्या दी गयी है। उसके अनुसार बुद्धि के दो भेद हैं। एक है नित्या, दूसरी है अनित्या, नित्या बुद्धि ईश्वर में रहती है। अनित्या जीव

२. पृष्ठ ४०७-४०८।

में रहती है। जीव की बुद्धि दो प्रकार की होती है। एक है अनुभव। दूसरी है स्मृति। 'स्मृति' से भिन्न 'ज्ञान' का नाम अनुभव है। इस चीज़ को हम याद रखें या न रखें कि आग छूने से जल जाते हैं, हमारे माता-पिता हमको मना करते थे कि आग मत छूना, वरना जल जाओगे। पर अनुभव से हम जानते हैं कि आग छूने से हाथ जलता है। यह अनुभव इतना ठोस है कि इसके लिए स्मृति की आवश्यकता नहीं है। पर अनुभव भी दो प्रकार का होता है--१. यथार्थ और २. अयथार्थ। यथार्थ अनुभव उसे कहते हैं जिसमें वस्तु के विशेषण तथा विशेष्यांश में एक-रूपता हो, जैसे घड़ा। घड़ा का विशेषण है, गुण है पानी को धारण करना। यदि घड़ा घड़ा के रूप में ही भासित हो तो वह यथार्थ है। इसे ही यथार्थ अनुभव कहते हैं। इसी यथार्थ अनुभव को 'प्रमा' कहते हैं।[१]

अयथार्थ अनुभव के तीन भेद हैं--१. संशय, २. विपर्यय, ३. तर्क। संशय उसे कहते हैं जहाँ एक ही वस्तु में परस्पर-विरुद्ध भिन्न-भिन्न गुणों की स्थिति भासित हो, जैसे अँधेरे में स्पष्ट नहीं मालूम होता कि आदमी खड़ा है या ठूंठ--सूखा पेड़। विपर्यय मिथ्या ज्ञान को कहते हैं। उदाहरण के लिए, बालू में चमकती हुई सीप चाँदी का टुकड़ा मालूम होती है। इसे ही "भ्रम' कहते हैं। व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप करना तर्क है। जैसे, अगर मटर न खाते तो पेट में दर्द न होता। अगर आग न हो तो धुंआ भी न होगा।[२]

नैयायिकों (न्याय-शास्त्रियों) के अनुसार अनुभव के दूसरे भेद (श्रेणी-विपर्यय) यानी मिथ्या ज्ञान को ही स्वप्न कहते हैं। इसका अर्थ तो यह हुआ कि जब स्वप्न मिथ्या ज्ञान है, विपर्यय है तो उसमें बननेवाले प्रतीक भी मिथ्या हैं, भ्रम हैं। यदि वे भ्रम हैं तो उनकी सत्ता ही क्या रही। एक निरर्थक वस्तु पर विचार करने से क्या लाभ होगा। स्वप्न में हम अपने मन में जो चित्र बना लेते हैं वे केवल 'भ्रम' ही तो हैं। मन में बनाये गये चित्रों के विषय में श्री विटिगेंस्टीन का कहना है कि "हम अपने लिए (विचारों में) वास्तविकता का चित्र बना लेते हैं। चित्र और चित्रित वस्तु में कुछ ऐसी समानता तो होनी ही चाहिए कि जिसका चित्रण हो उससे मेल खा जाय। वास्तविकता तथा उसके चित्रण में जो चीज़ होना इसलिए ज़रूरी है कि सही या ग़लत ढंग से वह उसको प्रकट कर सके---वह है उसको व्यक्त करने का तरीका।" इस पर टीका करते हुए प्रसिद्ध विद्वान् बर्ट्रेंड रसेल कहते हैं--"जब हम किसी चित्र को तर्क-रूप से वास्तविकता का चित्रण कहते हैं तो हमारा तात्पर्य केवल यही होता है कि वह वास्तविकता इतनी मिलती-जुलती तस्वीर ज़रूर है कि किसी रूप में उसका चित्र कहा जा सके, यानी हम केवल इतना ही

१. न्यायप्रदीप, परिच्छेद ६, पृष्ठ ८९।
२. तर्कसंग्रह गुणग्रन्थ--पृष्ठ ८८।

कहना चाहते हैं कि तर्क द्वारा असली बात से उसका मेल, उसकी निकटता साबित की जा सके।"[१]

स्वप्न में जो प्रतीक बनते हैं वे भी चित्र ही हैं, जो किसी वास्तविकता का मन द्वारा चित्रण है। पर इन चित्रों पर हमें विश्वास क्यों नहीं होता? भौतिक बातों को देखकर उन पर विश्वास जम जाता है। हवाई जहाज आकाश में उड़ रहा है, अब इसमें कोई तर्क की गुञ्जाइश नहीं है। हमने हवाई जहाज को उड़ते देखा, यह ठोस सत्य है। अब हम अधिकारपूर्वक हवाई जहाज के बारे में कह सकते हैं। अगर यह कहें कि लाल रंग का हाथी देखा है या दो सरवाला शेर देखा है तो उस पर विश्वास क्यों नहीं होता? हम इसे ख्याली बातें क्यों कहते हैं? इसीलिए न कि अभी तक जितने लोगों ने पशुओं के बारे में अध्ययन किया है, उनके ज्ञान के विरुद्ध यह कथन है। इसी लिए ज्ञान उस वस्तु को कहते हैं जो ज्ञात के विषय में प्राप्त किया जाय। बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों को ईश्वर ज्ञात था। उनके ज्ञान के आधार पर हम उस ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। जो ज्ञात है ही नहीं उसके विषय में ज्ञान क्या होगा? यह ज्ञात है कि इस सृष्टि में 'शून्य' तथा 'अंधकार' की भी सत्ता है। इसलिए शून्य का ज्ञान प्राप्त करने की भी चेष्टा की जाती है। ज्ञान में सत्य, भ्रम, विश्वास, भावना, तात्पर्य, वैज्ञानिक नियम, सिद्धान्त तथा अर्थ (तात्पर्य, मतलब) भी शामिल है। हर प्रकार के ज्ञान में 'अर्थ', 'तात्पर्य' सन्निहित है। यदि हम कहते हैं 'गाय' तो बिना 'गाय' का अर्थ हुए उसका ज्ञान कैसे होगा?

इसीलिए ज्ञान के विषय में एक ख़ास बात याद रखनी चाहिए। वह यह है कि ज्ञान उस वस्तु को कहते हैं जो प्रकट की जा सके, व्यक्त की जा सके।[२] ईश्वर की सत्ता के बारे में तर्क-वितर्क तो हो सकता है, पर उस विषय में अधिकारपूर्वक यह साबित करना कि अमुक प्रकार का, अमुक श्रेणी का ईश्वर है, यह भाषा तथा भाव दोनों की शक्ति के बाहर है। इसी लिए न तो कोई ऋषि-मुनि, न वेदान्ती ईश्वर-ज्ञान के बारे में अधिकार पूर्वक कुछ कह सकता है। ज्ञान पुस्तकों में बन्द रह सकता है। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को दिया जा सकता है। शब्दों द्वारा एक मुख से दूसरे मुख, एक मन से दूसरे मन, एक बुद्धि से दूसरी बुद्धि को दिया जा सकता है। ज्ञान ठोस गूढ़ वैज्ञानिक

१. L. Wittigenstein—"Tractatus Logico-Philosophicus (1922) Introduction—page 10
२. Ralph Monroe Eaton, Ph. D., —"Symbolism and Truth"—Harward University Press, 1925—page 5

सिद्धान्तों के रूप में प्रकट हो सकता है। ऐसे सिद्धान्तों को प्रकट रूप से व्यक्त करनेवाली वस्तु का नाम प्रतीक है। ज्ञान द्वारा जिस विचार को प्रकट करना है, उससे प्रतीक का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। "प्रतीकों के विश्लेषण से ही हम ज्ञान की असलियत का अनुमान लगा सकते हैं।"[१]

यह प्रश्न हो सकता है कि क्या ज्ञान उसी वस्तु का होगा या हो सकता है जो वास्तव में हो, सत्य हो, निश्चय रूप से हो? क्या वास्तविकता ज्ञान पर निर्भर करती है या ज्ञान वास्तविकता पर? इसका मतलब यह हुआ कि दो चीजें हैं। एक है ज्ञान, दूसरा है ज्ञेय। एक है जाननेवाला, जिसके पास विचार है, भावनाएँ हैं, अनुभूतियाँ हैं तथा दूसरा है जो सृष्टि में वर्तमान है, पर ज्ञाता—जानकारी करनेवाले—से भिन्न है, पृथक् है। इसी लिए जिस चीज़ को जानना है, जो ज्ञेय है, उसकी यदि व्याख्या न कर दी जाय तो यह सोचना या कहना कठिन होगा कि क्या ज्ञान प्राप्त किया जाय। उदाहरणार्थ, जीव-शास्त्र के पंडितों ने पैत्रागति की विज्ञान या वंश-परम्परा सम्बन्धी खोज को तब तक करना अस्वीकार कर दिया था जब तक 'जीव' तथा 'जीवन' की व्याख्या न कर दी जाय।[२] इसी लिए ज्ञान की परिभाषा के लिए भी आवश्यक होगा कि ज्ञेय की परिभाषा कर दी जाय। क्या जानना है, जब यह मालूम हो, तब जानने की बात सोची जाय।

ज्ञान की ऐसी स्थिति के कारण ही डॉ० ईटन प्रश्न करते हैं[३] कि "स्वप्न में देखी गयी बातों के लिए क्या कहा जाय। सपने में देखी गयी घटनाएँ तथा व्यक्ति उसी प्रकार प्रत्यक्ष रूप से वास्तविक में हैं जिस प्रकार इस समय सड़क पर कोई घटना हो रही है या लोग चल-फिर रहे हैं। जाग्रत अवस्था में हम जो कुछ देखते हैं, सुनते हैं, वह हमारी अनुभूति का तीन-चौथाई हिस्सा तो है। फिर हम जागते हुए जो कुछ देखते हैं उस पर इतना अधिक विश्वास क्यों करते हैं? निश्चयतः स्वप्न भी ज्ञान का एक रूप है।"

सवाल यह रहा कि कौन चीज़ ग़लत है, कौन चीज़ सही, इसकी पहचान अवश्य कठिनाई से होगी। हम किसी चीज़ को सही या ग़लत दो प्रकार से साबित करते हैं। कोई बात हमारे सामने आयी, हमने अपने अनुभव से उसे काटनेवाली दूसरी बात सामने रख दी। इस हिसाब से तो "जिस चीज़ का खण्डन न हो, वह सही है"[४] का सिद्धान्त मानना पड़ेगा, पर, हमारे जीवन में किसी वस्तु को सही या गलत मानने का एक और मापदण्ड है—वह है हमारा विश्वास। किसी ने हमसे कहा कि कल रात को शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी विष्णु भगवान् को देखा था। यदि हम साकार भगवान् में विश्वास

१. वही, पृष्ठ ५।
२. वही, पृष्ठ ६।
३. वही, पृष्ठ, ४।
४. वही, पृष्ठ २१६।

नहीं करते तो हम तुरत कह देंगे कि इस सूरत का कोई भगवान् नहीं है। तुमने अपनी गलत धारणा से एक मानसिक चित्र बना लिया था। हम जब कोई बात कहते हैं तो उसके साथ 'जानकारी' भी शामिल होती है। यदि हम यह कहें कि जो व्यक्ति समाज के नियमों को तोड़ता है वह दण्डनीय होता है, तो हमारे इस कथन की तह में हमारी दो धारणाएँ भी हैं—एक यह कि "हर एक अपराधी को दण्ड मिलता है तथा हर एक अपराध पकड़ में आ जाता है।"[१] किन्तु, वह तो हमारे विश्वास की बात हुई। न तो सभी अपराध पकड़े जाते हैं और न सभी अपराधी दंडित होते हैं। इसलिए विश्वास सत्य होता है, यह कहना गलत है। विश्वास भी भ्रमात्मक हो सकते हैं—होते भी हैं।

स्वप्न को अयथार्थ अनुभव कहा गया है—तर्कसंग्रह ने ही उसे यह संज्ञा दी है। ऊपर हमने इस कथन को समझाने का प्रयत्न किया है। न्याय-शास्त्र के पण्डित, यानी नैयायिक लोग अयथार्थ अनुभव के दूसरे भेद (विपर्यय) में स्वप्न का अन्तर्भाव करते हैं। स्वप्न में कभी-कभी अनुभूत वस्तुओं का ही स्मरण-दर्शन होता है। या फिर बात-पित्त-कफ आदि धातुओं के विकार से शुभ या अशुभ अनुभव होते हैं। किन्तु, चाहे अयथार्थ ही क्यों न हों, है तो अनुभव ही। पर, अनुभव होते हुए भी वे विपर्ययात्मक-भ्रमात्मक ज्ञान हैं, इसलिए कि मन उन परिस्थितियों में काम नहीं कर रहा है जिन परिस्थितियों में यथार्थता तथा वास्तविकता का असली बोध हो सके। यह ध्यान रखना होगा कि प्रत्यक्ष विपर्यय न होने पर भी स्वप्न-दशा मानस-विपर्यय ही कही जायेगी। वस्तुतः प्रदेश विशेष में मनःसंयोग होना ही स्वप्न है।[२] इसी लिए 'नीलकंठी' के अनुसार प्रदेश-विशेष में अवस्थित मन के संयोग को 'स्वप्न' कहते हैं। यानी 'पुरीतद्' नामक नाड़ी और बाहरी भाग के संधि-स्थान में, यानी उसकी सरहद पर जब मन रहता है, उसी को प्रदेश-विशेष कहते हैं। उस अवस्था में स्वप्न होता है। यदि मन पुरीतद् नाड़ी में चला जाय तो फिर सुषुप्ति—गहरी नींद की अवस्था हो जाती है। यह बात सभी मानते हैं कि एकदम गहरी नींद में सपना नहीं होता।

दूसरा मत है कि 'मेध्या' नामक नाड़ी में मन का संयोग होने पर स्वप्न होता है।[३] एक मत यह भी है कि निरिन्द्रिय यानी इन्द्रिय-सम्बन्ध-शून्य आत्मा का प्रदेश स्वप्न-दशा में अनुभूत होता है। जो लोग स्वप्न की पिछली व्याख्या से ही सन्तुष्ट हो सकते हैं, उनके लिए मन की नाड़ी से संयोग या आत्मा का इन्द्रिय-सम्बन्ध-शून्य क्रम समझ में नहीं आ

१. वही, पृष्ठ २१७।
२. अन्नम् भट्टकृत "तर्कसंग्रह"—दीपिका तथा "नीलकंठी" टीकाएँ।
३. बृहदारण्यक उपनिषद्।

सकता। पश्चिमी विद्वान् फ्रायड[१] ने स्वप्न की व्याख्या में लिखा है कि "जाग्रत तथा सचेत अवस्था में हम अपने मन की जिन इच्छाओं या कामनाओं को प्रकट करने या कार्यरूप में परिणत करने में संकोच करते हैं या डरते हैं, वे ही रात की एकान्त अवस्था में बाहर निकल पड़ती हैं—स्वप्न के रूप में। ज्यों ही हम जागते हैं, सपना भी भूल जाता है। इसका सिर्फ यही कारण है कि जाग्रत अवस्था का 'डर' फिर उन्हें पीछे धकेल देता है।"

पर जिस प्रकार के विचित्र स्वप्न होते हैं, उनको 'जाग्रत अवस्था की अतृप्त कामना' कैसे कहा जा सकता है ? हम सपना देख रहे हैं कि सामने किताब खुली पड़ी है। यह एक साधारण स्वप्न हो सकता है। पर, फ्रायड ऐसा नहीं मानते। उनका कथन है कि 'खुली किताब' 'स्त्री की योनि' का प्रतीक है। स्वप्न की ऐसी व्याख्या के कारण ही पश्चिमी विद्वानों ने अनगिनत प्रतीक बना डाले। डॉ० पद्मा अग्रवाल ने प्रतीक को अचेतन अवस्था की 'भाषा' कहा है।[२] पर फ्रायड, ऐडलर, जुंग आदि मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि मन के भीतर की छिपी हुई तथा गुप्त भावनाओं को प्रकट करने के अनेक तरीकों—उपायों में एक प्रतीक भी है। फ्रायड ने तो यहाँ तक कह दिया कि 'ठोस कामना' 'निश्चित इच्छा' को व्यक्त करनेवाली वस्तु प्रतीक है।[३] वे यह भी प्रतिपादित करते थे कि हम अपने मन में जिन इच्छाओं को मार बैठते हैं, दबा देते हैं, दबाये रहते हैं, वही प्रतीक रूप में व्यक्त होती हैं। जो वस्तु किसी अज्ञात वस्तु को नाटकीय रूप में, संक्षिप्त ढंग से प्रकटित करे, उसी का नाम प्रतीक है। देश के इतिहास को प्रकट करनेवाला राष्ट्रीय प्रतीक राष्ट्रीय झण्डा है। इसी प्रकार अपने अहंभाव को व्यक्त करनेवाले व्यक्तिगत प्रतीक भी होते हैं।[४]

इस दृष्टि से विचार करने से तो स्वप्न की पहेली और भी कठिन हो जायेगी। यदि अव्यक्त भावनाएँ स्वप्न में व्यक्त होती हैं, तो हर एक स्वप्न की मीमांसा करनी पड़ेगी और यदि फ्रायड की राय मान ली गयी तो स्वप्न की सभी बातें—यहाँ तक कि बिल्ली, कुत्ता देखना भी—कामुक भावनाओं तथा भोग-विलास की प्रेरणा का परिणाम है। पर आधुनिक मनोविज्ञान आज हमारे प्राचीन भारतीय सिद्धान्त की ओर बढ़ रहा है। एक अंग्रेजी दैनिक में अभी हाल में एक लेख 'बच्चों के स्वप्न' पर था।[५] लेखक का कहना था कि

१. Dr. Sigmund Freud.

२. Dr. Padma Agarwal—"A Psychological Study in Symbolism"—Manovigyan prakashan, Varanasi—1955—preface page iii.

३. वही, पृष्ठ, २६। ४. वही, पृष्ठ १६।

५. अंग्रेजी हिन्दुस्तान टाइम्स, २५ सितम्बर, १९६०।

आज की आधुनिक सभ्यता में पलनेवाले बच्चे रात्रि में सपने में प्रायः वह सब कुछ नहीं देखते जो दिन में या जाग्रत अवस्था में देखते हैं । न तो वे हवाई जहाज की यात्रा नींद में करते हैं, न ट्रेन में । प्रायः सभी बच्चे, सभी देशों के, अंधेरे से डरते हैं । सभी छोटे बच्चे जंगल, जंगली जानवर, भयावह जानवर, पहाड़, नदी, समुद्र आदि का दृश्य देखकर सपने में रोते हैं । जब कोई उनको सपने में ही उस स्थिति से निकाल लेता है तो वे प्रसन्न होकर मुस्करा पड़ते हैं । सभ्यता के युग के बच्चे आदिम निवासियों की परिस्थिति में पहुँच जाते हैं । मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि चूँकि मानव-समाज उसी स्थिति से गुज़रकर आज सभ्यता की स्थिति में आया है, इसलिए अबोध बच्चे के मन पर उसके शैशवकाल में, हजारों वर्ष पहले का संस्कार ही खेल रहा है । कहने का तात्पर्य यह कि दूसरे शब्दों में आज के पश्चिमी मनोवैज्ञानिक यह मान गये हैं कि मन का संस्कार अर्द्ध-निद्रित अवस्था में तरह-तरह के स्वप्न उपस्थित करता है । जन्म-जन्मांतर के संस्कार मन को ढँके हुए हैं । रात्रि के एकान्त में वे मन को संस्कारों की रंगशाला में खड़ा कर देते हैं । हम अपने प्राचीन संस्कारों से परिचित नहीं हैं । अतएव हम अपने सपनों को समझ भी नहीं पाते । इसी लिए बहुत-से सपने रहस्य बने रह जाते हैं । जिस प्रकार जाग्रत अवस्था में पुराने संस्कार मन के भीतर छिप जाते हैं उसी प्रकार जागते ही प्राचीन संस्कारों की रंगशाला का दर्वाजा बन्द हो जाता है । अधिकांश सपने एकदम भूल जाते हैं ।

तर्कशास्त्र के भारतीय पंडितों का कथन था कि बुद्धि की एक अवस्था का नाम 'अविद्या' है । इसी अवस्था में स्वप्न होते हैं । स्वप्न के तीन कारण हैं—

(१) असमवायिकारण—स्वप्न ही स्वयं कारण है ।

(२) निमित्त कारण—धातु (वात, पित्त, कफ)-दोष या अदृष्ट—दैव के कारण ।

(३) समवायिकारण—आत्मा के कारण ।

सपना देखा, सपना हुआ—यानी स्वप्न स्वयं अपना कारण है । इस बात को पुष्ट किया है, प्रशस्त पादाचार्य ने । वे कहते हैं कि स्वप्न केवल स्मृति ही है । सपने में हम अपने पिछले ज्ञान को फिर से दोहरा लेते हैं । तर्कसंग्रह के टीकाकार नीलकंठ इस मत को नहीं मानते । 'न्यायलीलावती' में निस्संकोच लिख दिया है कि "मिथ्या ज्ञानों की धारावाहिक परम्परा ही स्वप्न-ज्ञान है ।" प्रशस्त पादाचार्य स्वप्न की स्पष्ट व्याख्या करते हुए लिखते हैं—"इन्द्रियों के द्वारा मानसिक अनुभूति ही स्वप्न है । दिन भर बुद्धिपूर्वक अपने शरीर के द्वारा अनेक कार्य करने पर मनुष्य शान्त होकर या भोजन पचाने के लिए विश्राम ग्रहण करने जाता है । उस समय अदृष्ट की अतवर्य चेष्टा से आत्मा और अन्तःकरण का सम्बन्ध होता है । हृदय के भीतर इन्द्रिय-शून्य-प्रदेश में मन निश्चल होकर बैठ जाता है । इस दशा को हम 'प्रलीन-मनस्क' कहते हैं । इस दशा में

इन्द्रिय-समुदाय स्वयं ही शान्त हो जाते हैं। प्राण और अपान अपना काम करते रहते हैं। आत्मा और मन के संयोग का ही एक फल 'स्वाप' यानी सोना है। उससे तथा अनेक प्राचीन संस्कारों से अ-विद्यमान विषयों में भी (भविष्य के बारे में भी) प्रत्यक्ष घटना के समान ज्ञान होता है।"[1]

वैशेषिकसूत्र की दूसरी टीका के कथनानुसार[2] स्वप्न-ज्ञान के तीन प्रकार हैं—१. संस्कार से, २. धातुदोष से तथा ३. अदृष्ट से। संस्कार से ज्ञान का उदाहरण यों दिया जा सकता है कि कामी पुरुष या क्रुद्ध पुरुष जो बातें सोचता है, उन्हें ही रात में सपने में देखता है। या, जैसे महाभारत आदि की कथा जाग्रत अवस्था में सुनी गयी और रात में उसकी घटनाएँ दिखाई पड़ें।

धातुदोष से विचित्र स्वप्न होते हैं, जैसे यदि शरीर में वात-वायु-का दोष अधिक हो तो रात में आसमान में उड़ना, जमीन पर दौड़ना, जंगली जानवरों का भय आदि दिखाई पड़ता है। पित्तदोष से आग लगना, आग की लपटों में फँसना, स्वर्ण के पहाड़ पर चढ़ना, बिजली चमकना आदि दिखाई पड़ता है। कफदोष से समुद्र या नदी में तैरना या डूबना, वर्षा, झरना, फुहारा, सफेद पहाड़ आदि दिखाई पड़ता है।

स्वप्न-ज्ञान का तीसरा प्रकार है—अदृष्ट से। इसमें इस जन्म के, पूर्वजन्म के, अपने जन्म-जन्मांतर के संस्कार के अनुसार, अपने धार्मिक जीवन के अनुसार रात्रि में शुभ या अशुभ सूचना देनेवाले प्रतीक दिखाई पड़ते हैं। दिन में भी स्वप्न होते हैं, पर वे उतने प्रभावशाली नहीं होते। वैशेषिकसूत्र के अनुसार स्वप्न के नीचे लिखे शुभ प्रतीक हैं—

१. हाथी पर चढ़ना। २. छत्र धारण करना। ३. पर्वत पर चढ़ना। ४. खीर खाना या राजा का दर्शन होना।

अशुभ प्रतीक हैं—

१. तेल लगाना, २. कुएँ में गिर पड़ना, ३. ऊँट या गधे पर चढ़ना, ४. कीचड़ में फँसना या ५. अपना विवाह देखना—ये सब घोर अशुभ प्रतीक हैं। मत्स्यपुराण में स्वप्नों का शुभ-अशुभ तथा फल काफ़ी विस्तार से दिया गया है।[3] किन्तु, प्रशस्तपाद आदि की व्याख्या से यह स्पष्ट है कि मन के संस्कारवश तथा धातुदोष से होनेवाले सपनों का कोई फल नहीं हो सकता। फल तो 'अदृष्ट'वाले स्वप्न से होगा—तीसरे प्रकार के स्वप्न से। अतएव हर एक स्वप्न को प्रतीक मानना गहरी भूल होगी। जब तक वैद्य या डाक्टर यह न तय कर दें कि तीन प्रकार में से किस प्रकार का स्वप्न है, उसके फल या परिणाम की छानबीन नहीं हो सकती।

१. वैशेषिकसूत्रों पर प्रशस्तपाद-भाष्य।
२. वैशेषिकसूत्र—उपस्कार टीका।
३. मत्स्यपुराण, अध्याय २४२।

स्वप्न को कोरी माया माननेवालों के लिए भी उसका कोई महत्त्व नहीं है—

मायामात्रं तु कात्स्न्येनाभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ।।[१]

बृहदारण्यक उपनिषद् में भी स्वप्न को इसी प्रकार मिथ्या माना गया है । जो चीज़ नहीं है, उसको भी मन अपने से गढ़ लेता है ।[२] सांख्य और अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि संस्कार-मात्र से बुद्धि का विभिन्न विषयों का आकार धारण करनेवाला परिणाम ही स्वप्न है । अधिकांश वेदान्ती स्वप्न-दृष्ट विषय को सर्वथा मिथ्या मानते हैं । किन्तु, सभी वेदान्ती स्वप्न को असत्य नहीं समझते । आदि गुरु शंकराचार्य ने भी सपने में हाथी पर चढ़ना शुभ तथा गधे पर चढ़ना अशुभ माना है ।[३] छान्दोग्य उपनिषद् ने भी स्वप्न के शुभ तथा अशुभ प्रतीकों का समर्थन किया है । लिखा है—

"यथा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेऽभिपश्यति ।
समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने ।।"

(छान्दोग्य उपनिषद् ५,२,६)

अर्थात् "काम्य कर्म करते हुए यदि स्वप्न में स्त्री (सुलक्षणा) को देखे तो कर्म की सफलता निश्चित है ।"

पुराणों में भी स्वप्न की जो व्याख्या की गयी है उसके अनुसार परमेश्वर की इच्छा से जीव को अपने मनोगत संस्कार दिखाई पड़ते हैं, यही स्वप्न है ।

मनोगतांश्च संस्कारान् स्वेच्छया परमेश्वरः ।
प्रदर्शयति जीवाय स स्वप्न इति गीयते ।।[४]

यदि परमेश्वर की इच्छा से जीव को अपने मनोगत संस्कार दिखाई पड़ते हैं तो उनका फल भी होगा । संस्कार बड़ी विचित्र तथा व्यापक वस्तु है । यह आगे-पीछे सब काल की बातों की तस्वीर खींच देता है । मन और बुद्धि के साथ जो कुछ है वह संस्कार ही तो लगा हुआ है । जिस समय संस्कार छूट जाता है, संस्कार से मुक्ति मिलती है, उसी का नाम मोक्ष है; अतएव संस्कार 'प्रतीक'-रूप में भविष्य की सूचना भी दे सकता है । पर,

१. ब्रह्मसूत्र, अध्याय ३, पाठ २, सूत्र ३ ।
२. "स यत्र प्रस्वपिति"'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते"—बृ० उप० ।
३. "आचक्षते स्वप्नाध्यायविदः कुञ्जरारोहणादीनि स्वप्ने धन्यानि, खरयानादीन्यधन्यानि"—शारीरक भाष्य—शंकराचार्य ।
४. न्यायकोश, पृष्ठ १०५४ ।

सबसे कठिन बात है उस प्रतीक को, उस संकट को, उस भाषा को ठीक से समझ सकना। पश्चिमीय विद्वान् जिस चीज़ को केवल भौतिक दृष्टि से देखते हैं, जो मन तथा संस्कार की मर्यादा को नहीं समझते, वे स्वप्न के प्रतीक को भी ठीक से नहीं समझ पायेंगे। जिस की जैसी बुद्धि होगी, वह वैसा ही समझेगा।

कामवासना को ही जीवन का सार-तत्त्व समझनेवाले तथा मनुष्य के सभी कार्यों को कामवासना से सम्बद्ध करनेवाले डॉ० फ्रायड कला, साहित्य, लिखने में भूल हो जाना, ज़बान से अनाप-शनाप बातें निकल जाना—यानी जीवन की प्रत्येक घटना को उससे सम्बन्धित समझते हैं। मनुष्य की अतृप्त इच्छाएँ ही सब बातों में प्रकट हो जाती हैं। मानव के मन के भीतर का संघर्ष इन्हीं अतृप्त इच्छाओं के अनुसार, जीवन की समूची शक्ति, केवल वासना की प्रेरणा से सञ्चालित होती है।[१] डॉ० जुंग ने फ्रायड के विचारों का काफ़ी तर्कपूर्ण खण्डन किया है।[२] फ्रायड का मत था कि मानव के मन की समूची इच्छाएँ कामवासना से, यौनेन्द्रिय से सम्बन्ध रखती हैं। पर डॉ० जुंग ने इसका खण्डन करते हुए सिद्ध किया है कि मनुष्य की काम-प्रेरणा के अतिरिक्त उसकी वास्तविक इच्छा कहीं अधिक व्यापक है। उसमें आत्मश्लाघा, सामाजिक, धार्मिक तथा रचनात्मक प्रवृत्तियाँ भी सन्निहित हैं। इसी लिए अज्ञात मानस—अचेतन अवस्था के विचार सचेत मानस या सचेतन अवस्था के विचार हो सकते हैं। मानव-स्वभाव की इस सत्यता को पटनम नामक विद्वान् ने भी स्वीकार किया है। वे लिखते हैं कि "मैं भी शुरू में वैज्ञानिक विश्लेषण से यही समझ पाया था कि प्रतीकों की तह में अतृप्त वासनाएँ–कामुक वासनाएँ विशेषतः छिपी हुई हैं। पर, धीरे-धीरे मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि ऐसा कहना एक-तरफा बात होगी। केवल ऐसी बात ही नहीं है। इसके अलावा और कुछ भी है···"[३] इसी लिए कहा जाता है कि अज्ञात मानस में जो प्रतीक बनते हैं, वे मनोवैज्ञानिक सत्य को प्रतिपादित करते हैं। मानव-जीवन का पथ-प्रदर्शन करनेवाले ये प्रतीक होते हैं। स्वप्न में अज्ञात मानस[४] भावी जीवन का पथ-प्रदर्शन करने के लिए इसी प्रकार प्रतीक बनाता रहता है। अज्ञात मानस में मन ही भगवान् की प्रतिमा की कल्पना करता है। अज्ञात मानस की यह कल्पना सचेत अवस्था में देवमूर्त्ति का रूप धारण कर लेती

१. Dr. Sigmund Freud—"Psychopathology of Everyday Life"—pub. 1920.
२. Dr. C. G. Jung—"Psychology of the Un-conscious"—pub. 1918.
३. J. J. Putnam—"Addresses on Psycho—Analysis"—pub. 1920-page-408.
४. Unconscious—अचेतन या अज्ञात मानस।

है। इसी प्रकार स्वप्न में मनुष्य का प्रतिभाशाली मन केवल वासना की अतृप्त बातों का प्रतीक नहीं बनाता। वह अपनी अनगिनत इच्छाओं तथा संस्कारों से खेलता है, उनका प्रतीक बनाकर शुभ या अशुभ भविष्य की सूचना देता या प्राप्त करता रहता है।

फ्रायड स्वयं भी स्वीकार करते हैं कि "स्वप्न एक मनोवैश्लेषणिक वस्तु है। इसका मनोवैज्ञानिक इतिहास है।" जब अपने समूचे ग्रन्थ में वे स्वप्न को मनोवैज्ञानिक वस्तु समझते हैं तो उसका आधार केवल कामवासना को देना उनकी भूल थी।[1] मनोवैश्लेषणिक को इससे मतलब नहीं है कि सपने में क्या देखा। उसे इस बात की छानबीन करनी है कि हमारे देखने के पीछे क्या है, उसकी पृष्ठभूमि क्या है? वह स्वप्न-प्रतीकों को मन की बात तथा कामना से जोड़ना चाहता है। पर, डॉ० जुंग कहते हैं कि स्वप्न के प्रतीकों को प्रतीक-रूप में ही लेना चाहिए। उनके स्पष्ट अर्थ में नहीं जाना चाहिए।

यह सत्य है कि मनुष्य के जीवन में ऐसी अनेक बदलती इच्छाओं में संघर्ष मन के भीतर होता रहता है जिनको वह पूरा करना चाहता है, पर लोक-लाज, समाज का बंधन या नियम आदि के कारण पूरा नहीं कर सकता। अतएव अपनी उन इच्छाओं को हम मन में दबाये रहते हैं। सचेतन मन या ज्ञात मानस को उन इच्छाओं पर आपत्ति है अतएव जाग्रत अवस्था में वह उन इच्छाओं को दबाये रहता है। किन्तु, अज्ञात मानस, अचेतन अवस्था में, ऐसे विचित्र प्रतीक-रूप में उन इच्छाओं को प्रकट कर देता है कि कल्पना भी नहीं हो पाती कि सपने में वैसी असम्भव बातें क्यों देखी गयीं, क्यों दिखाई पड़ीं। जागने पर उन बहुत-सी बातों का अर्थ समझ में नहीं आता।[2] इसी लिए सपने में देखी गयी बातों का काफ़ी समीक्षण करना पड़ता है, काफ़ी विश्लेषण करना पड़ता है, तभी वे समझ में आ सकती हैं। इसी लिए डॉ० जुंग का कथन है कि स्वप्न की बातों को प्रतीक रूप में लेना चाहिए। उनका शाब्दिक अर्थ नहीं निकालना चाहिए। केवल भावना तथा इच्छा के माध्यम से इन प्रतीकों को समझा जा सकता है। फ्रायड तथा डॉ० जुंग की विचारधारा में अन्तर केवल इतना ही था कि फ्रायड के अनुसार स्वप्न में अतृप्त वासना या कामना की प्रतीक-रूप में अभिव्यक्ति होती है और जुंग के अनुसार स्वप्न "वर्तमान परिस्थितियों का व्यंग्य चित्र (कार्टून) है" और वह किसी उपमा द्वारा एक निश्चित नैतिक लक्ष्य बतला रहा है। चूँकि अज्ञात मानस का विकास नहीं हुआ है, अतएव उसकी भाषा भी विकसित नहीं है। अतएव स्वप्न के प्रतीक भी अस्पष्ट होते हैं। इसलिए

१. Freud—Interpretation of Dreams—pub. 1924, page 432.

२. Freud—" Interpretation of Dreams"—Chapter—"Distortion in Dreams."

फ्रायड तो स्वप्न को अतृप्त वासना के संकुचित दायरे में बाँध देते हैं। पर जुंग उसे वर्तमान परिस्थिति के साथ भी जोड़कर उसका क्षेत्र काफ़ी व्यापक कर देते हैं। जुंग के अनुसार स्वप्न के द्वारा महान् दार्शनिक सत्य, संकल्प, भावी परिस्थिति, महत्त्वाकांक्षाएँ, दूसरे के मन की बात इत्यादि भी जानी जा सकती है।

इस प्रकार अज्ञात तथा अचेतन अवस्था में मन की प्रतीकात्मक क्रियाओं का नाम ही स्वप्न है। स्वप्न प्रतीकात्मक होते हैं। जाग्रत अवस्था में मन को किसी की घड़ी चुराने की इच्छा हुई। सचेतन मन ने अपने को ही इसके लिए फटकार दिया, धिक्कार दिया। पर, उस घड़ी की ममता तथा चोरी का भाव मन में छिपा रह गया। अब रात को सोने में वही व्यक्ति घड़ा चोरी जाने का सपना देखता है। यह घड़ा और कुछ नहीं, उस घड़ी का प्रतीक हुआ। डॉ० जुंग का कहना है कि चूँकि हर एक व्यक्ति अपनी इच्छा तथा भावना को अपने में समेटे हुए है, इसी लिए वह नहीं चाहता कि उसके मन की बात दूसरे जान सकें। अतएव उसके स्वप्न भी प्रतीकात्मक होते हैं ताकि हर एक उनको न समझ सकें।[१] हर एक व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत कल्पना या पौराणिक गाथा का नाम स्वप्न है। चूँकि हर एक की अपनी कल्पना, अपनी इच्छा, अपना विचार पृथक् और भिन्न होता है, अतएव हर एक का स्वप्न तथा स्वप्न-प्रतीक भी भिन्न होता है। मानव-स्वभाव की यह विशेषता है कि वह 'प्रतीक-रूप में सोचता है।' मन में प्रतीक बनाता रहता है और सोचता रहता है।[२] इसी लिए वह प्रतीक-रूप में सपने देखता है। प्रतीक-रूप में मन से बातें करता है। जाग्रत अवस्था में भी अगर हमको "घर जाना होता है" तो घर का प्रतीक मन के सामने बन जाता है।

हर एक व्यक्ति के विचार, इच्छा, महत्त्वाकांक्षा, कामना, सभी भिन्न होते हैं। इस विभिन्नता के कारण किसी एक की भावना का दूसरे से मेल बैठाने में कठिनाई होती है। यह सही है कि मानव-स्वभाव की विभिन्नता में ही एकता तथा एक-स्वरिता प्राप्त होती है, पर उसका आसानी से पता लगा लेना और एक निश्चित सिद्धान्त बना लेना कठिन है। सभी माताएँ अपने पुत्र से प्रेम करती हैं, पर माँ-बेटे में झगड़ा भी होता है। सभी पत्नियाँ अपने पतियों से प्रेम करती हों, यह बात तो नहीं है। भावना मनुष्य के मन को कहाँ-से-कहाँ ले जाती है। अज्ञात मानस की कलात्मक भावना स्वप्न में जाग उठती है। इसी लिए प्रसिद्ध दार्शनिक कांट ने कहा था कि 'स्वप्न' अज्ञात मानस की स्वतः बनी हुई कविता है। प्रसिद्ध कवि दांते जो कुछ स्वप्न में देखते थे, उसे कविता

१. Jung—Psychology of the Unconscious.
२. Dr. Padma Agarwal—page 53.

का रूप देते थे। इसी लिए वे इतने महान् कवि हुए।[1] इसी लिए दांते जो कुछ लिखते थे, उसमें कितनी कविता थी, कितना स्वप्न था, यह कहना बड़ा कठिन है। अस्तु, इस कथन से इतना तो स्पष्ट हुआ कि जाति, कुल, परम्परा आदि के अनुसार मानव की विचारधारा भिन्न-भिन्न होती है। एक कलाकार के, एक लेखक के, एक ब्राह्मण के, एक शूद्र के—एक मिल-मालिक तथा एक मज़दूर के स्वप्नों का अर्थ भिन्न होगा ही। इसी लिए स्वप्न का अर्थ भी भिन्न होगा।[2] इसी लिए स्टेकल[3] ने अपनी पुस्तक में साफ़ लिख दिया है कि किसी स्वप्न-प्रतीक का सर्वव्यापक अर्थ नहीं हो सकता। फ़िस्टर ने इसका उदाहरण देकर सिद्ध किया है कि फ्रायड का यह कहना कि सपने में सर्प देखना लिंग-प्रतीक है, गलत है। सर्प अज्ञात मानस की "मृत्यु या हत्या सम्बन्धी दबायी गयी इच्छा का प्रतीक हो सकता है अथवा पत्नी की ज़हरीली जबान का भी।"[4]

इस सम्बन्ध में डॉ० जुंग तथा डॉ० फ्रायड की विचार-प्रणाली में जो महान् अन्तर है, वह स्पष्ट समझ में आ जाता है। डॉ० फ्रायड ने अपने युग में एक बड़ा भारी काम किया था। मनोवैज्ञानिकों ने अपने विश्लेषण में मन तथा आचरण पर कामुक भावना एवं ऐन्द्रिक लिप्सा के प्रभाव पर लेशमात्र भी प्रकाश नहीं डाला था। फ्रायड ने इस महान् तथ्य की ओर संसार का ध्यान आकर्षित किया। पर, अपने इस प्रयत्न में वे जरूरत से ज्यादा उलझ गये। इसी लिए डॉ० जुंग ने उनकी भूलों को सुधारा। डॉ० जुंग के विचार भारतीय मनोवैज्ञानिकों के अधिक निकट हैं। उन्होंने एक स्वप्न की समीक्षा की है। एक रोगी ने सपना देखा कि वह "अपनी माता तथा बहन के साथ जीने पर चढ़ रहा है। ऊपर पहुँच जाने पर उसकी बहन को बच्चा पैदा हुआ।" डॉ० फ्रायड इसकी समीक्षा इतनी ही करेंगे कि जीने पर चढ़ना स्त्री-संभोग की कामना का द्योतक है। साथ में माता या बहन का रहना उनके लिए इतना ही महत्त्व रखेगा कि वह बात स्त्रीमात्र को ही प्रकट करती है। पर जुंग ने इस स्वप्न की पूरी समीक्षा करके यह फ़ैसला किया कि जीने पर चढ़ना उस पुरुष के जीवन में उत्कर्ष का द्योतक है। बहन का साथ में रहना उसके भावी स्त्री-प्रेम का प्रतीक है—भविष्यवाणी है। बहन को बच्चा होने का तात्पर्य केवल इतना है कि वह अपने द्वारा नयी पीढ़ी के निर्माण की सोच गया। साथ में माता भी है। उस रोगी ने स्वयं स्वीकार किया है कि बहुत दिनों से वह अपनी माता से मिला नहीं। उसकी उपेक्षा कर रहा है। उसकी इस भूल को अज्ञात मानस ने सपने में ठीक कर दिया।

१. डा० पद्मा अग्रवाल—पृष्ठ ११२–११३। २. वही, पृष्ठ ९८।
३. William Stekel–The Interpretation of Dreams. Vol. I & II-1943.
४. O. Pfister–The Psychoanalytic Method. 1917–page 291–92.

उसे उसकी भूल के लिए फटकार भी दिया। उसे याद दिला दिया तथा अपनी माता को अपने उत्कर्ष में साथ में रखने की हिदायत भी दे दी।[१]

इसी लिए जुंग ने कहा है कि ज़ीने पर चढ़ना स्त्री-सम्भोग का ही प्रतीक नहीं है। वह उत्थान तथा उत्कर्ष का भी प्रतीक हो सकता है। डॉ० पद्मा अग्रवाल ने फ्लूगेल की पुस्तक से एक उदाहरण देकर वासना सम्बन्धी भावना का स्वप्न में क्या रूप हो जाता है, यह समझाया है। एक स्त्री ने सपना देखा कि "एक आदमी उसका पियानो बाजा ठीक करने आया। उसने बाजे को खोला। उसकी कड़ियों को भीतर से निकालकर उसमें बिठाने लगा।" इस स्वप्न का त्रिविध अर्थ हुआ। वह पियानो बाजा स्वत: उस स्त्री का प्रतीक है। पियानो ठीक करनेवाला वह पुरुष है जिससे वह स्त्री अपनी वासना शान्त कराना चाहती है। कड़ियाँ निकालकर डालने का अर्थ है उसके गर्भ में बीज धारण कराना। अब, हर एक व्यक्ति यदि बाजा ठीक करने का सपना देखे तो उसका भोग ही अर्थ होगा, यह कहना अनुचित बात होगी।

अधिकांश लोगों के निजी अनुभव में एक ही अर्थ में जो स्वप्न-प्रतीक प्रकट हों, उन्हें व्यापक स्वप्न-प्रतीक कहेंगे। बहुत-से स्वप्न-प्रतीक पौराणिक कथाओं से बहुत मिलते-जुलते हैं। जैसे, फ्रायड ने भी सपने में पानी देखने का अर्थ सन्तानोत्पत्ति माना है। पौराणिक आदेश है कि जो स्त्री किसी बच्चे को जल में डूबने से बचा ले, वही उसकी असली माता होगी। इन्हीं सब आधारों पर डॉ० पद्मा अग्रवाल ने बहुत-से सर्व-मान्य स्वप्न-प्रतीक गिनाये हैं—[२]

(१) पानी में प्रवेश करना या बाहर निकलना—सन्तान-जन्म-प्रतीक।
(२) सम्राट् तथा सम्राज्ञी देखना—पिता-माता-प्रतीक।
(३) यात्रा—मृत्यु-प्रतीक।
(४) वस्त्र—नंगा रहने का प्रतीक।
(५) प्राकृतिक दृश्य, कमरा, किला, महल, जेब, तितली—स्त्री-प्रतीक।
(६) पिस्तौल, सूई, चाकू, पेंसिल, मीनार—पुरुष-प्रतीक।
(७) गाँठ खोलना—समस्या सुलझाना।[३]
(८) पहरेदार—सचेतन क्रियाशीलता।

१. C. G. Jung–Collected Papers on Analytical Psychology–1920—chapter VII—page 229.

२. डा० पद्मा अग्रवाल, पृष्ठ ६९।

३. वही, ७९।

(९) अजायबघर—बुद्धि का कोष ।
(१०) अग्नि—देव-प्रतीक ।[१]

इन प्रतीकों का यदि सावधानी से अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि इनके साथ सार्वजनिक विश्वास का घनिष्ठ सम्बन्ध है । सभ्यता के आदि काल से अग्नि का पूजन हमारी नसों में भरा हुआ है । अतएव अग्नि देव-प्रतीक होगी ही । जो चीज़ प्रहार करे, आघात करे, चुभे, वह चोट पहुँचाये, पुरुष का गुण है, चाहे स्त्री-प्रसंग में हो या निजी अनुभव में । अतएव वह सब पुरुष-प्रतीक हो गये । इसी लिए हम कहते हैं कि व्यक्तिगत तथा सामाजिक विश्वास के आधार पर प्रतीक बनते हैं । हम कहते हैं कि पौराणिक कथाओं का[२] तथा प्रतीकों का घना सम्बन्ध है । इसलिए भी कि "पौराणिक कथाओं और लोकविश्वासों का सम्बन्ध लोक-समुदाय की धार्मिक क्रियाओं तथा जादू-टोने आदि से भी अत्यन्त निकट का होता है ।"[३] हैडले ने भी लिखा है कि वस्तुओं की उत्पत्ति की समस्या के सम्बन्ध में मनुष्य की कल्पनाशक्ति ने समय-समय पर जो उत्तर दिये हैं पौराणिक कथाएँ उनका प्रतिनिधित्व करती हैं । जिसकी जितनी कल्पना-शक्ति जाग्रत जीवन में होगी, जिसका लोकविश्वास जैसा होगा, जिसको अपनी पौराणिक गाथाओं की जितनी जानकारी होगी, उसका अज्ञात मानस भी स्वप्न में वैसा ही कार्य करेगा ।

अपनी पुस्तक में श्री श्यामाचरण दुबे ने लोक-विश्वास की विचित्रता पर अच्छा प्रकाश डाला है । वे कुछ रोचक उदाहरण भी देते हैं ।[४] उनके अनुसार छत्तीसगढ़ की कमार आदि जातियों का विश्वास है कि जब अथाह जल-सागर के वक्ष पर पृथ्वी तैर रही थी, उसे स्थिर करने के लिए महादेव ने चारों दिशाओं में चार विशाल स्तम्भ गाड़ दिये और उन पर काली सुरही गाय का चमड़ा इस तरह लगाया कि पूरी तरह से पृथ्वी को ढँक ले । फिर भी चमड़े की चादर ढीली रह गयी । इसलिए महादेव ने भिन्न प्रकार की कीलें ठोंककर उसे ठीक कर दिया । अब पृथ्वी स्थिर हो गयी । वह चादर ही आकाश है और महादेव द्वारा ठोंकी हुई वे कीलें ही आकाश में तारे हैं ।

मध्यप्रदेश के मंडला जिले के रहनेवाले सूर्य और चन्द्रमा को भगवान् रामचन्द्र के नेत्र समझते हैं । मध्यप्रदेश की एक जाति बंगा का विश्वास है कि जब पृथ्वी बन गयी, पर स्थिर न हो सकी, तो भगवान् ने भीमसेन को आज्ञा दी कि उसे स्थिर करो । भीमसेन

१. वही, ८५ । २. Mythology.
३. श्यामाचरण दुबे, "लोकविश्वास और संस्कृति"—राजकमल प्रकाशन, १९६०, पृष्ठ १८७ ।
४. वही, पृष्ठ १८९-९० ।

ने सोचा कि पहले तम्बाकू पी लूँ तब इस काम को देखूँ। उनके तम्बाकू के धुएँ से आकाश बन गया तथा तम्बाकू की आग के प्रज्वलित कणों से आकाश के तारे बन गये। उत्कल के जुआंग समाज का विश्वास है कि एक बार आदमी की जीभ पर एक बाल निकल आया। कुछ ही दिनों में वह बारह हाथ लम्बा हो गया। जीभ के बाल से बेचैन होकर उसने प्रभु से प्रार्थना की कि उसे मुक्ति मिले। प्रभु ने उसके प्राण वापस बुला लिये। उसी दिन से आदमी मरने लगा। वह पहली मौत थी।

आगस्ट कांटी के अनुसार[१] पारिवारिक जीवन से जो श्रृंखला प्रारम्भ होती है, वही सामाजिक जीवन का रूप लेती है। वही जाति की शिक्षा का आधार बनती है। आदि काल से पारिवारिक जीवन कतिपय लोक-विश्वासों के बल पर बनता है। अतएव पारिवारिक विश्वास जाति तथा समाज का विश्वास बन जाता है। बिना सामाजिक व्यवस्था के समाज नहीं टिक सकता। बिना शासन के सामाजिक व्यवस्था नहीं टिक सकती। समाज के बिना शासन नहीं चल सकता। शासन के बिना समाज नहीं चल सकता।[२]

परिवार, जाति, समाज, शासन—यह सब कुछ लोक-विश्वास पर निर्भर है। लोक-विश्वास से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी लिए स्वप्न-प्रतीक भिन्न सामाजिक जीवन में भिन्न होंगे ही। उसी प्रकार पुरुष-स्त्री के विश्वास भी अपने-अपने दायरे में भिन्न होंगे। अपनी अतृप्त इच्छा या वासना को प्रकट करने के उनके साधन भी भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिए हिस्टीरिया यानी वातोन्माद रोग को ही लीजिए। यह रोग प्रायः स्त्रियों को होता है। इसका दौरा आता है, मूर्च्छा होती है, बक-झक होती है। जोन्स के अनुसार, ऐसे दौरे के समय जो बातें मुँहसे निकलती हैं वे शब्द-रूप में भावनाओं का प्रतीकीकरण है।[३] फ्रायड के अनुसार इस रोगीको प्रतीकरूप में "अपनी अतृप्त वासना को व्यक्त करने का यही साधन है," किन्तु, जब परिवार, समाज, जाति, शासन, पुरुष-स्त्री-योनि-भेद तथा लोक-विश्वास, इतने सब कारणों से प्रतीक की व्याख्या करनी पड़ेगी तो फ्रायड की यह बात हमारी समझ में नहीं आती कि "मनोविश्लेषण द्वारा ही हर एक प्रतीक का स्थायी अर्थ होता है।"

वे लिखते हैं कि "स्वप्न की बात जानकर हम स्वप्न की व्याख्या स्वयं कर लेते हैं।

१. Auguste Comte—"Positive polity"—Vol. II—page 153.
कांट सामाजिक जीवन में पारिवारिक व्यवस्था को बड़ा महत्वपूर्ण स्थान देते हैं।

२. वही, पृष्ठ, २२४।

३. Symbolizalion by means of verbal expression-E-Jones—"Papers on Psycho-analysis"—1923—page 477.

स्वप्न देखनेवाला तो उलझन में ही रहता है कि स्वप्न का अर्थ क्या हुआ ।"[१] अपने मन के अनुसार, अपनी भावना के अनुसार, अपने विश्वास के अनुसार किसी दूसरे के स्वप्न की व्याख्या करने के कारण ही हम भूल कर सकते हैं । हमारा निश्चित मत है कि स्वप्न-प्रतीक का सर्वव्यापी तथा स्थायी अर्थ नहीं हो सकता ।

प्रतीक का उपयोग मनुष्य की कल्पना तथा बुद्धिमत्ता पर निर्भर करेगा । पशु और मनुष्य में भेद ही यह है कि मनुष्य को "प्रतीकात्मक कल्पना तथा बुद्धिमत्ता प्राप्त हुई है ।"[२] किन्तु मानव-प्रतीक की विशेषता इस बात में नहीं होती कि वे समान-रूप के होते हैं, सभी मानव-प्रतीकों में समानता नहीं होती, बल्कि उनकी विभिन्नता ही उनकी विशिष्टता है ।[३] हर वस्तु के सम्बन्ध में मनुष्य अपनी धारणाएँ बना लेता है । उन धारणाओं को लेकर बुद्धि काम करती है । धारणा तथा बुद्धि के संयोग से भावना पैदा होती है । धारणा के मूल विचार कल्पना की भूल का कारण बन जाते हैं । धारणा के परिमार्जन से ही शुद्ध ज्ञान प्राप्त हो सकता है । धारणा के आधार पर ही उन्माद हो सकता है । धारणा के आधार पर ही स्वप्न होता है । किन्तु प्रत्यक्ष देखने तथा अनुभव से धारणाएँ बदलती रहती हैं । भावना इतनी जल्दी नहीं बदलती । इसी लिए धारणा में स्थायित्व नहीं होता । भावना में अधिक स्थिरता होती है । लन्दन जाने की धारणा से बुद्धि ने लन्दन का मानचित्र तैयार कर दिया । धारणा ने लन्दन की भावना पैदा कर दी । खाट पर पड़े-पड़े सपने में हम लन्दन पहुँच जाते हैं और वापस आ जाते हैं । असल में बुद्धि के साथ भावना टिक जाती है और इसी लिए हम सपने में भी जो कुछ देखते हैं वह केवल नयी सूझ-बूझ या कल्पना नहीं है । उनकी तह में धारणा तथा भावना भी है ।[४] यह भावना तथा धारणा हर मनुष्य में भिन्न होती है ।[५] किन्तु मनुष्य की समूची धारणा, समूची भावना तथा समूची प्रगति का एकमात्र लक्ष्य है 'आत्म-मुक्ति ।' अपने बन्धनों से छुटकारा पाना । इसलिए जो कार्य जितना अधिक प्रतीकात्मक

१. Freud—New Introductory Lectures—1933—page 23-24.
२. Ernes Cassirer—"An Essay on Man"—Yale University Press, New York—1953—page 52.
३. वही, पृष्ठ ५७ ।
४. Ralph Monro Eaton—"Symbolism and Truth"—page 161-62.
५. "The Philosophy of Ernest Cassirer"—Edited by Paul-Arthur Schilpp—pub. The Library of Living Philosophers, Illinois—1949—page 752.

होगा, वह उतना ही अधिक मानवीय होगा ।[१] मानव की सांस्कृतिक प्रगति की मात्रा के अनुसार ही उसके प्रतीक होंगे ।

भारतीय विचारधारा के अनुसार इच्छा, ज्ञान, क्रिया तथा शक्ति के द्वारा ही धारणा तथा भावना बनती है । स्वप्न के वास्तविक तत्त्व को समझने के लिए बिना भारतीय दर्शन का सहारा लिये असली बात समझ में नहीं आ सकती । तंत्रशास्त्र में इस विषय पर काफी गवेषण किया गया है । तंत्रालोक में ही लिखा है कि—

कालशक्तिस्ततो बाह्ये नैतस्या नियतं वपुः ।
स्वप्न स्वप्ने तथा स्वप्ने सुप्ते संकल्पगोचरे ।। आह्नि० ६–श्लो० १८३
समाधौ विश्वसंहारसृष्टिक्रमविवेचने ।
मितोऽपि किल कालांशो विदधत्वेन भासते ।।१८४

अर्थात् प्रकट रूप में कालशक्ति होती है । कालशक्ति का कोई निश्चित स्वरूप नहीं होता । स्वप्न होने के समय उसकी पहले की पूर्वार्द्ध तथा बाद की उत्तरार्द्ध दशा में—तथा समूचे स्वप्नकाल में, सुप्त यानी सोने की दशा में, स्वतंत्र रूप से संकल्प-विकल्प करने के समय, समाधि लगाने के समय तथा संहारकाल में अति परिमित समय भी बहुत लम्बा तथा विस्तृत मालूम होता है । तात्पर्य यह कि जहाँ तक स्वप्न का सम्बन्ध है, थोड़े से समय में ही देखा गया स्वप्न काफ़ी लम्बी घटना प्रतीत होता है ।

तंत्रालोक ने स्वप्न की व्याख्या करते हुए कई मार्के की बातें बतलायी हैं । आयुर्वेद में लिखा है कि स्वप्न गहरी नींद की दशा में नहीं होता । पर यह सभी स्वीकार करते हैं कि निद्रावस्था में जो कुछ देखा जाय, उसी का नाम स्वप्न है । तंत्रालोक के अनुसार सौषुप्त अवस्था में, यानी सोने के समय शरीर के तत्त्व विलीन हो जाते हैं, यानी समाप्त हो जाते हैं और उन्हीं नष्ट हुए तत्त्वों से सम्बन्धित सपने का अनुभव प्राणी को होता है ।[२] इसलिए स्वप्नावस्था से पहले सुषुप्ति दशा, यानी नींद का आ जाना ज़रूरी है । सिद्ध हुआ कि स्वप्न का कारण निद्रा है । यदि शयन-दशा में तत्तत् तत्त्वों का लय न माना जाय तो शयनकाल में तत्तत् तत्त्वानुरूप स्वप्न का अनुभव नहीं हो सकता है । उदाहरण के लिए, सोने के समय जब शरीर से पृथ्वी-तत्त्व का लय हो जाता है, विनाश हो जाता है, तभी पर्वत पर चलना, घूमना, चढ़ना, आदि स्वप्न का अनुभव

१. वही, पृष्ठ ३०५ ।
२. सौषुप्ते तत्त्वलीनत्वं स्फुटमेव हि लक्ष्यते ।
अन्यथा नियतस्वप्नसंदृष्टिर्जायते कुतः ।।
—तंत्रालोक, दशमाह्निकम् । श्लो० १७३ ।

होता है। जल-तत्त्व का विनाश हो जाने पर समुद्र, नदी, आदि में तैरना इत्यादि स्वप्न दिखाई पड़ता है।

शयन के लिए जाने के समय मन में जिस प्रकार के गुण की, यानी सत्त्व, रज या तम की प्रधानता होती है, वैसा स्वप्न दिखाई पड़ता है। यदि 'सुखमहमस्वाप्सम्'—यानी सुखपूर्वक शयन किया, इस प्रकार की स्मृति होती है तो सत्त्व गुण की प्रधानता हुई। "दुःखमहमस्वाप्सम्"—कष्टदायक निद्रा में सोया—की प्रधानता रजोगुण-प्रधान हुआ।' "न किंचिच्चेतिवानहम्"—कुछ ज्ञान नहीं हुआ—यह तमोगुण हुआ।[1] वैसे ही चित्र स्वप्न में आते हैं।

आगे चलकर फिर लिखा है कि पंचभूत तत्त्वों से सम्बन्धित स्वप्न अधिष्ठान कारण, यानी आत्मा में ज्ञानरूप से अनुभूत किये जाते हैं। ये स्वप्न वैकल्पिक पथ, यानी भावना के अनुसार होते हैं। भावना के अनुरूप होने से उस स्वप्न की प्रतीति भावनानुरूप ही होती है। लोकप्रसिद्ध ऐसे स्वप्न प्रायः विशेष रूप से देखे जाते हैं। स्वप्न "अबाह्य-रूप", यानी अन्तःकरणमें अनुभूत होने से इनका (स्वप्न का) तथा भावना का मेल रहता है। भावना के अनुसार स्वप्न होता है।

किन्तु भावना के अनुरूप स्वप्न होते हुए भी उसे दो प्रकार का माना गया है। पहला है स्वप्न जागरा। इसकी प्रतीति उत्प्रेक्षा, स्वप्न, संकल्प, स्मृति, उन्माद, काम, शोक, भय और चोरी आदि कार्य या दशा में होती है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे जागते हुए वैसा काम कर रहे हों। सब चीजें साक्षात् दिखाई पड़ती हैं। इसी लिए इसे मुख्य स्वप्न कहते हैं। दूसरी श्रेणी का नाम केवल "स्वप्न" है। इसमें प्रतीक रूप में कुछ बातें दिखाई पड़ती हैं जो कल्पना तथा भावना के मेल से बनती हैं। इनमें वह स्पष्टता, वह प्रत्यक्षता नहीं है। इनका अर्थ समझने की जरूरत पड़ती है।[2]

ऐसे स्पष्ट "स्वप्न" को ही "स्वप्न" की संज्ञा दी गयी है। ऐसे स्वप्नों में भी उत्प्रेक्षा, कामवासना, शोक, सुख आदि सभी की अनुभूति अंतःकरण में होती है, पर उनका ज्ञान,

१. सौषुप्तमपि चित्रं च स्वच्छास्वच्छादि भासते।
अस्वाप्सं सुखमित्यादि स्मृतिवैचित्र्यदर्शनात् ॥

—वही, १७४

२. तत्स्वप्नो मुख्यतो ज्ञेयं तच्च वैकल्पिके पथि।
वैकल्पिकपथारुढ़ वेध्य साम्यावभासनात् ॥
लोकरुढोऽप्यसौ स्वप्नसाम्यं चाबाह्यरूपता।
उत्प्रेक्षास्वप्नसंकल्पस्मृत्युन्मादादिदृष्टिषु ॥

—तंत्रालोक—१०-श्लो०, २४८, २४९

उनका अर्थ स्थिर करने के लिए काफ़ी परिश्रम करना पड़ता है। सब लोग उसका अर्थ नहीं लगा सकते।[१]

स्वप्न की सृष्टि की व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनवपाद गुप्त लिखते हैं कि आत्मा में उत्पन्न होनेवाले विचारों से स्वप्न की सृष्टि होती है। अतएव स्वप्न सम्बन्धी विषय आत्मा से सम्बन्धित है, इन्द्रियों से नहीं। स्वप्न में देखा गया विषय बार-बार दिखाई भी नहीं देता। एक ही स्वप्न को सभी लोग नहीं देखते; नहीं देख सकते। इसलिए स्वप्न "सर्वजनसंवेद्य" नहीं है। यही कारण है कि जाग्रत दशा में जो कुछ हम देख रहे हैं, स्वप्न उससे भिन्न होता है। सपना लयाकाल यानी भोक्ता-यानी देखनेवाले का ही विषय होता है और वह भी अस्थिर। स्थिर रूप से स्वप्न नहीं देखा जाता।[२]

अन्तःकरण में देखी गयी चीज़ काल्पनिक नहीं हो सकती। उसका मन-बुद्धि-भावना के संयोग से सत्त्व, रज, तम गुणों के विकल्प से, वास्तविक रूप या आधार होता है। इसी लिए स्वप्न-प्रतीक का अपना विशेष महत्त्व है। तंत्रालोक के अनुसार पूर्णचिदानन्द-स्वरूप शिव में स्वप्न ज्ञानशक्ति-रूप है। जाग्रत स्वप्न में—यानी पहली श्रेणी के स्वप्न में यह शक्ति क्रियाशक्ति-रूप में है। सुषुप्ति यानी निद्रा की अवस्था बीज-भूमि है। ये शक्तियाँ उस शिव में वास्तविक रूप में वर्तमान हैं। ये शक्तियाँ लाक्षणिक नहीं हैं। काल्पनिक भी नहीं हैं। अतएव इनकी सत्ता को स्वीकार करना होगा। इनको ठीक से समझना होगा। अतएव स्वप्न कोई साधारण वस्तु नहीं। चिदानन्दस्वरूप शिव में स्वप्न ज्ञानशक्ति-रूप है।[३]

ज्ञानशक्तिः स्वप्न उक्तः क्रियाशक्तिस्तु जागृतिः।
नचैवमुपचारः स्यात् सर्वं तत्रैव वस्तुतः॥

भारतीय विद्वानों ने जिस ऊँचे दर्शन की श्रेणी में स्वप्न को पहुँचाकर उस पर विचार किया है, वहाँ तक पश्चिम के पंडित पहुँच नहीं सके। इसी लिए वे स्वप्न के भौतिक प्रतीक तक ही रह गये। यदि वे मन की प्रवृत्तियों का अधिक गहराई से अध्ययन करते तो अंतः-करण में उठे हुए विचारों के प्रतीकों की मर्यादा को अधिक अच्छी तरह समझ सकते।

१. विस्पृष्टं यद्वेद्यजातं जाग्रन्मुख्यतत्रैव तत्।
यत्तु तत्राप्य विस्पष्टं स्पष्टाधिष्ठातृ भासते॥
विकल्पान्तरगे वेद्यं तत्स्वप्नपदमुच्यते।
तदैव तस्य वेत्येव स्वपमेवेह बाह्यताम्॥ —तन्त्रालोक—१०—श्लो० २५०,२५१

२. आत्मसंकल्पनिर्माणं स्वप्नो जाग्रद्विपर्ययः।
लयाकालस्य भोगोऽसौ मलकर्मवशान्न तु॥ —वही, श्लो० २९०

३. तन्त्रालोक, दशमाह्निकम्, श्लो० ३००।

मन तथा बुद्धि के विवेचकों ने चित्त-विकृति[1] और उन्माद की दशा तथा स्वप्न की दशा को कभी-कभी एक में मिला देने की भूल की है। चित्त-विकृति एक रोग होता है। यह बीमारी सहज इच्छा तथा आदर्शवाद में संघर्ष होने के कारण पैदा होती है। ऐसी बीमारी प्रायः अन्तर्मुखी प्रवृत्तिवालों, आत्म-निरीक्षण की प्रवृत्तिवालों, अपने चित्त को खींचकर भीतर की ओर ले जानेवालों को[2] होती है। मन किसी ओर जा रहा है, विवेक-बुद्धि किसी और ओर जा रही है, दोनों में संघर्ष होता है। आदमी अपने चित्त में घोर असमंजस का अनुभव करता है। उस दशा में उसे चित्त-विकृति होती है। यह बीमारी प्रायः वातरोगी को होती है। चित्त पर उलझन के बोझ के कारण अनिद्रा, थकावट, पेट में खराबी, बदन में पीड़ा, सिर में दर्द, चिड़चिड़ापन, उदासी, गठिया, वातरोग—ऐसे न जाने कितने रोग हो जाते हैं। स्त्रियों में हिस्टीरिया की बीमारी भी प्रायः इन्हीं कारणों से होती है। ऐसे रोगी को अपनी अतृप्त इच्छा तथा आदर्शवादिता के संघर्ष के कारण जागते-उठते तथा सपने में भी तरह-तरह की चीज़ें दिखाई पड़ती हैं। किन्तु, रोग के कारण उत्पन्न स्वप्न **प्रतीक** नहीं माने जा सकते, रोग का कारण जानने में सहायक हो सकते हैं।

यदि किसी स्वस्थ स्त्री ने सपने में देखा कि कोई व्यक्ति नंगी तलवार लेकर उसके पीछे दौड़ा तो यह बहुत कुछ कामुक स्वप्न है। असल में वह स्त्री किसी से प्रेम करती है। उससे संभोग की इच्छा रखती है। "तलवार से हमला" उसकी इस कामना का **प्रतीक** हुआ। इसके विपरीत, एक दूसरी सुन्दर स्त्री है जिसका पति फिल्म-डायरेक्टर है। अपने काम से छुट्टी पाकर काफ़ी रात बीते घर आता है। स्त्री को यह बात बहुत खलती थी। पर वह अपनी नाराज़गी खुलकर प्रकट करने का साहस नहीं करती थी। अपना रोष तथा असन्तोष प्रकट करने के लिए वह नित्य सिर में दर्द तथा शरीर में रक्त की कमी का बहाना कर देती थी। धीरे-धीरे उसे सिर में दर्द रहने लगा। वह पीली पड़ गयी। बीमार-सी मालूम पड़ी, पर डाक्टर ने उसके शरीर में कोई रोग नहीं पाया।[3] स्पष्ट है कि अतृप्त वासना से उसको यह बीमारी हुई। उसके मन में यह शंका समा गयी कि उसका पति फिल्म ऐक्ट्रेसों के साथ प्रेम-लीला करता रहता होगा।

इसी प्रकार, अनेक कारणों से कुछ के मन में अनायास भय यानी वहम समा जाता है। ऐसी आशंका भूत की तरह मन के पीछे लग जाती है। किसी दुर्बल-स्वभाव व्यक्ति ने देख लिया कि किसी को साँप ने काट खाया है। उसके मन में सर्प का भय बैठ गया। सोते-जागते वह साँप का सपना देखा करता है। जिस प्रकार ऊपर लिखी स्त्री का रोग

१. Neurosis. २. Introverts. ३. डॉ० पद्मा अग्रवाल, पृष्ठ १८६।

उसकी अतृप्त वासना का प्रतीक है, इसी प्रकार इस व्यक्ति का भय उसकी मृत्यु-प्रेरणा का प्रतीक है। फ्रायड ने एक व्यक्ति का वर्णन किया है कि जब वह बारह वर्ष का था, उसके मन में १३ की संख्या के प्रति भय समा गया। यह भय इतना बढ़ा कि वह १३ नम्बर के किसी कमरे में नहीं ठहरता था। अपने मकान से १३ वें मकान के सामने नहीं जाता था। महीने की तेरहवीं तारीख को वह अपना कमरा नहीं छोड़ता था। अंग्रेजी में सत्ताईसवाँ को Twenty Seventh कहते हैं। इसमें १३ अक्षर हैं। अतएव सत्ताईसवीं तारीख को भी वह अपने कमरे से बाहर नहीं निकलता था। यदि किसी कमरे में मेज, कुर्सी आदि पर जितने व्यक्ति बैठें हों, उनकी संख्या १३ हो जाती तो वह कमरे से भाग जाता था। यदि घड़ी ने दस का घंटा बजाया और कमरे में ३ आदमी बैठे रहें तो १३ की संख्या हो जाती थी। उसे बड़ी बेचैनी हो जाती थी। हर १३ वें मिनट उसका चित्त उद्विग्न हो उठता था। बाइबिल का तेरहवाँ सूक्त भी वह नहीं पढ़ता था।

उसके इस भय के कारण की विवेचना करना कठिन हो जाता है। हो सकता है कि उसके अज्ञात मानस में १३ की संख्या के साथ कोई गुरुतर अपराध छिपा हो। हो सकता है कि उसके पूर्वजन्म के संस्कार में १३ की संख्या के साथ कोई भयानक सम्बन्ध रहा हो। पर उसका यह भय किसी विचित्र घटना का **प्रतीक** अवश्य है। अनुचित भय से एक प्रकार का उन्माद पैदा हो जाता है जिसे अंग्रेजी में पैरानोइया[१] कहते हैं। फ्रायड ने इसका एक उदाहरण दिया है। एक स्त्री का किसी पुरुष से अनुचित सम्बन्ध था। दोनों में बड़ा प्रेम था। एक दिन दोनों प्रेम कर रहे थे कि स्त्री को ऐसा आभास हुआ कि खिड़की के बाहर फोटो खींचने की **"टिक"** ऐसी आवाज़ हुई है। उसके प्रेमी ने उसे बहुत समझाया कि यह उसका भ्रम है, पर उसके दिल में बात बैठ गयी कि उसे ज़लील करने के लिए तथा हमेशा मुट्ठी में रखने के लिए उसके प्रेमी ने अपने मिलन का फ़ोटो खिचवा लिया है। उसका यह भ्रम नहीं गया। झगड़ा शुरू हुआ, चलता रहा, सम्बन्ध ही टूट गया। इस उन्माद या बहम की यदि समीक्षा की जाय तो कारण स्पष्ट हो जायगा। वह स्त्री मन ही मन अपने अनुचित सम्बन्ध से भयभीत थी। वह सम्बन्ध के लिए अपने को धिक्कारा भी करती रही होगी। आदर्श तथा वासना का ऐसा संघर्ष भय का रूप धारण कर उसके पाप का **प्रतीक** बन गया। अज्ञात मानस या मन के संस्कार के कारण हम अपने दोष-पाप से अनेक मानसिक चित्र बनाया करते हैं। किसी की हत्या करनेवाले को प्राय: मृत व्यक्ति का प्रेत खड़ा दिखाई देता है। भूत-प्रेत के सम्बन्ध में अधिकांश कथाएँ मानसिक चित्रमात्र हैं। किसी वस्तु की सत्ता न होते हुए भी हम उसकी सत्ता

१. Freud-Cellected:Papers—Vol II—"A case of Paronoia".

बना लेते हैं। मन की भावना को विस्तृत रूप दे देने का नाम ही वह "बहम" है, "आशंका" है, "मानसिक चित्र" है, जिसकी कोई सत्ता नहीं होती।

ऐसी आशंका के विपरीत भी एक भावना होती है जो मनुष्य की अत्यधिक अहंभावना से उत्पन्न होती है। ऐसे बहुत-से स्त्री-पुरुष मिलेंगे जो घंटों आइने में अपना ही रूप देखा करेंगे। उनका अहंभाव इतना अधिक बढ़ गया है कि वे अपने से ही प्रेम करने लगते हैं। कुछ ऐसे होते हैं जो अपने में ही कई प्रकार का व्यक्तित्व उत्पन्न कर लेते हैं। वे पुरुष-भाव, स्त्री-भाव, बाल-भाव, तीनों के **प्रतीक** बन जाते हैं। विद्या, सुख, नाच-रंग, संभोग आदि में कितने ही पुरुष स्त्रियों का-सा कार्य करते हैं तथा स्त्रियाँ पुरुषों के समान कार्य करती हैं।

मन की विचित्र गति है। बुद्धि का रूप इतना सूक्ष्म तथा गूढ़ है कि उसकी गहराई में पैठना बड़ा कठिन है। फिर भी, मनोवैज्ञानिक उसके सम्बन्ध में बराबर खोज करते जा रहे हैं। यह सृष्टि परमब्रह्म परमात्मा का **प्रतीक** है। इसी प्रकार मनुष्य भी संसार में जो कुछ कर रहा है या करता है, चाहे भाषा हो, कला हो, साहित्य हो, उन्माद हो, स्वप्न हो, सब **प्रतीकात्मक** है। अन्तर केवल इतना ही है कि यों तो अन्ततोगत्वा सभी प्रतीक संसार के समान ही नाशवान् हैं, पर उनमें से वास्तविक प्रतीक स्थायी तथा व्यापक अर्थवाले होते हैं और बहुत-से प्रतीक व्यापक अर्थ नहीं रखते। अधिकांश स्वप्न-प्रतीक व्यापक अर्थ नहीं रखते।

प्रतीक और अज्ञात मानस[1]

मन की जितने प्रकार की गति हो सकती है, उतने प्रकार के प्रतीक होते हैं या बन सकते हैं। मन केवल वासना का स्थल या क्रीड़ा-भूमि नहीं है। इसमें ऊँचे से ऊँचे तथा अच्छे से अच्छे विचार उत्पन्न होते रहते हैं। फ्रायड कला को मन के भीतर छिपी वासना तथा कामना का प्रकट प्रतीक मानते थे। चित्रकला को भी वे इसी दृष्टि से देखते थे। अज्ञात मानस की कामुक प्रेरणा के कारण भी कला तथा चित्रकला उत्पन्न हो सकती है। पर मनुष्य के हृदय में इनसे कहीं अधिक उदार, सुन्दर, पवित्र तथा दैवी प्रेरणाएँ भी उठती रहती हैं। कला, साहित्य तथा चित्रकला जीवन की अन्य प्रेरणाओं के भी प्रतीक हैं।

असल बात यह है कि विचार के समूचे व्यापक क्षेत्र में प्रतीक ही प्रतीक है। जिसे आज हम भाषा कहते हैं, वह शुरू-शुरू में क्या थी? केवल संकेतमात्र, प्रतीकमात्र थी। जब भाषा आज की तरह विकसित नहीं हुई थी, हम अपने विचार, अपनी इच्छाएँ, अपनी आकांक्षाएँ केवल संकेत तथा प्रतीक द्वारा प्रकट करते थे। शब्दों का स्वतः क्या अर्थ हो सकता है। पिछले अध्यायों में हमने नाद-शब्द-स्वर की काफ़ी व्याख्या कर दी है। पर, शब्द का स्वतः क्या अर्थ हो सकता है—केवल इतना ही न कि वे हमारे विचारों के प्रतीक हैं। मैंने किसी को मुख में भोजन रखते देखा। मेरे मन में विचार उठा कि "वह खाना खा रहा है।" यह "खाना खा रहा है" उसी विचार का प्रतीक हुआ। यदि हम अपना मुंह खोलकर उसमें उंगली डालकर यही बात व्यक्त करना चाहें तो दोनों बातों का अर्थ एक ही हुआ। इसलिए **खाना खाना** केवल उस बात का प्रतीक मात्र है। अन्यथा शब्द का कोई अर्थ न होगा। इस प्रकार शब्द तथा संकेत एक साथ चलकर प्रतीक का रूप धारण करते हैं। जब हर एक मनुष्य का एक ही प्रकार का विचार किसी विषय पर होता है तो एक ही प्रकार का प्रतीक बन जाता है। इसको हम समान प्रतीक कहते हैं। एक ही प्रकार के विचार को व्यक्त करनेवाले एक ही प्रकार के **शब्द** होते हैं। इसी लिए एक वर्ग में, एक ही ढंग के, एक बात को सोचनेवालों का समान प्रतीक "समान भाषा" या साहित्य के रूप में बन जाता है। डॉ० जुंग ने भाषा को मानव के व्यक्तित्व को पहचानने-

१. Unconscious mind—अचेतन मानस।

वाली प्रतीकात्मक वस्तु कहकर महत्त्व दिया है। जिस देश का जितना अधिक मानसिक विकास होगा, उस देश की भाषा उतनी अधिक उन्नत होगी।

मानसिक विकास पर ही मन में उत्पन्न होनेवाली भावनाएँ निर्भर करती हैं। ऐसी भावना को संस्कृत भाषा में **रस** कहते हैं। शंकर को हम रसावतार कहते हैं। 'रसौ वै सः''। शृंगार, वीभत्स, सभी प्रकार के रस से हमारा मन तथा जीवन ओत-प्रोत है। मन हर एक चोज को चित्र-रूप में बना लेने का प्रयास करता है। पर बहुत-से चित्र वह बना नहीं पाता। जैसे, मन में भय का संचार हो तो भय का चित्र नहीं बनता। भय का प्रतीक बन सकता है। अंधकार देखने के लिए दीपक को बुझा देना होगा। भय को देखने के लिए भय की भावना का प्रतीक बनाना होगा। मन की ऐसी उलझनों के प्रतीक विचित्र रूप के होते हैं। कोई व्यक्ति किसी कठिन समस्या की गुत्थी सुलझाने का प्रयास कर रहा है। रात को वह सपना देखता है कि किसी घने जंगल में से मार्ग ढूँढ़कर बाहर जा रहा है। उसकी गुत्थी सुलझाने का अज्ञात मानस द्वारा प्रस्तुत यही प्रतीक है। विद्वान् लेखक सिलवरर ने प्रतीक पर विचार करते हुए अज्ञात मानस—अचेतन अवस्था का चिन्तन के पहलू को छोड़ दिया है। इसी लिए कई मार्के की बातें कहते हुए भी वे असलियत तक नहीं पहुँच पाये हैं। उनके अनुसार प्रतीक दो कारणों से बनते हैं——व्यवत तथा स्पष्ट चीज़ों से तथा अव्यक्त और अस्पष्ट चीज़ों से, जैसे भय आदि। सिलवरर के कथनानुसार तीन प्रकार के प्रतीक होते हैं:——१. इन्द्रिय सम्बन्धी, २. भौतिक पदार्थ सम्बन्धी तथा ४. कायिक, यानी शरीर सम्बन्धी।

किन्तु इतने से ही प्रतीक का क्षेत्र पूरा नहीं होता। बिना "अज्ञात मानस" की गति-विधि को समझे प्रतीक समझ में नहीं आ सकता। मनुष्य ने देवता के रूप की किस प्रकार कल्पना कर ली? भक्ति रस से यह कल्पना हुई, यह तो ठीक है, पर न तो वह इन्द्रिय सम्बन्धी है, न भौतिक पदार्थ है और न कायिक, दैहिक है। डॉ० जुंग इसका उत्तर देते हैं। उनके अनुसार उपास्य देव का अज्ञात मानस में बना हुआ चित्र ही देवमूर्त्ति बन जाता है।[१] इस चित्र के निर्माण में भक्ति, शृंगार, वासना आदि सभी प्रकार के रस तथा भाव का भी हाथ रहा हो, पर चित्र को तैयार करनेवाला अज्ञात मानस ही है। किन्तु उसका मूल रूप अज्ञात मानस में ही बना है। अज्ञात मानस में बने ऐसे ही मूल रूप को साहित्य तथा कविता में प्रतीक रूप-में पाते हैं। किन्तु अज्ञात मानस (या समझने के लिए उसे अन्तर्मानस ही कहें तो उचित हो) रहस्य की बातों को रहस्यमय ढंग से सोचता है। उस बात में से अनिश्चितता तथा वास्तविकता को छांट देता है, पर

१. C. G. Jung—"Psychology and Religion"—1938—page 75.

रहस्य तो रहस्य ही रहेगा, रहस्य के ढंग से ही कहा जायगा। इसी लिए चित्त के भीतर प्रगाढ़ आध्यात्मिक भावना रखनेवाले सूर, तुलसी, कबीर या पश्चिम के दाँते ऐसे कवियों की रचनाएँ रहस्यमय हैं, प्रतीकात्मक है। उनमें उनके भीतर का प्रकाश प्रतीक-रूप से प्रतिबिम्बित है। उसे समझने के लिए प्रयत्न करना होता है। कबीर ने शरीर की सबसे बड़ी सार्थकता इस बात में समझी कि मरने के बाद वह मांसभक्षी जानवरों का पेट भरे। हिन्दू लोग एकादशी के पर्व को बड़ा शुभ समझते हैं। उस दिन की मौत शुभ समझी जाती है। कबीरदास ने लिखा है—

एकादशी को मछली खाय।
वह सीधे बैकुण्ठे जाय।।

उनका तात्पर्य है कि एकादशी को मृत्यु हो, लाश नदी में डाल दी जाय, मछलियों का पेट भरे। पर अर्थ का अनर्थ करनेवाले यह भी समझ सकते है कि जो लोग एकादशी को मछली खाते हैं, वे सीधे वैकुण्ठ जाते हैं। सूरदास के अनेक पदों का अर्थ अभी तक लोग अनुमान से लगाते हैं। आर्थर साइमन्स[१] ने यही बात दार्शनिक मेटरलिंक के नाटकों के बारे में सिद्ध की है। मेटरलिंक का मन परमात्मा की सत्ता में रम गया था। संसार की घोर सांसारिकता से वे दुःखी थे। उन्हें भय था कि जिस अज्ञान के अन्धकार से निकलकर मनुष्य प्रकाश में आया है, उसी में, उसी अन्धकार में वह फिर से लीन होने जा रहा है। इसी लिए उनके नाटकों में गूढ़ रहस्य भरा पड़ा है। मेटरलिंक नाट्यमंच को जीवन की वास्तविकता के चित्रण का प्रतीक मानते थे। संसार के "उस पार" की, मृत्यु के बाद की जीव की यात्रा का विषय भी आध्यात्मिक भावनावालों के लिए बड़ा महत्त्व रखता है। उस तत्त्व को कवि, साहित्यकार तथा विद्वान् लोग प्रतीकात्मक ढंग से ही सामने रख सकते हैं। कबीर की ही एक कविता है—

चदरिया झीनी रे झीनी।
मुनि वशिष्ठ दशरथ-से ज्ञानी, सबने निर्मल कीनी।
दास कबीर जतन से ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीनी।।

इस कविता में चदरिया से तात्पर्य मानव चोला है, यह मनुष्य योनि है। वशिष्ठ ऐसे लोगों ने मानव-शरीर प्राप्त कर उससे अपने आध्यात्मिक गुण और ज्ञान को बढ़ाया, पर कबीर को इतने पर ही सन्तोष है कि उन्होंने अपने तन-मन का दुरुपयोग नहीं किया।

१. Arthur Symons—"The Symbolic Movement in Literature."

इस कविता में "चदरिया" मानव-योनि का रहस्यमय प्रतीक है । गोस्वामी तुलसीदास ने श्री राम के परम मुग्धकारी रूप की व्याख्या न करके इतना ही लिखा है—

गिरा अनयन, नयन बिनु बानी

जीभ को आँख नहीं है । आँख को जीभ नहीं है । तो फिर रूप का बखान कौन करेगा ? परम सौन्दर्य की यह प्रतीकात्मक व्याख्या कितनी सुन्दर है ! मानव-व्यथा को स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद ने दर्शाया है:—

जो घनीभूत पीड़ा थी,
मस्तक में बनकर छायी ।
दुर्दिन में आँसू बनकर,
वह आज बरसने आयी ।

या, सुमित्रानन्दन पन्त ने लिखा है—

साकार चेतना-सी थी—
छिटकी-सी चाँदनी छायी ।

"साकार चेतना" का चांदनी के प्रतीक से वर्णन बहुत ही उत्तम है । चूंकि आँख से दूर आध्यात्म, नेत्रों से अदृश्य दैवी बातें स्वयं रहस्यमय हैं, अतएव अधिकांश प्रतीक भी रहस्यमय होते हैं । गूढ़ होते हैं, अस्पष्ट नहीं । व्यापक होते हैं, प्रच्छिन्न नहीं । रहस्यमय उनके लिए हैं जो रहस्य समझते नहीं । तंत्रशास्त्र में दिये गये प्रतीक बहुत अधिक रहस्यमय हैं । पर एक बार उनका अर्थ समझ लेने पर ज्ञान की कुंजी मिल जाती है । इस पुस्तक में हम दुर्गापूजा का एक यंत्र दे रहे हैं । इससे प्रकट है कि पुजारी को जिस मंत्र की पूजा करनी है, उसमें संसार की सभी शक्तियाँ, देवताओं के सभी गुण तथा शक्तियों के सभी स्वरूप वर्तमान हैं । एक मंत्र में सब शक्तियों तथा देवत्वों को मिलाकर एक परा शक्ति, एक परब्रह्म का रूप चित्रित कर दिया गया है । पर इस यंत्र-प्रतीक को बिना गुरु की सहायता के नहीं समझा जा सकता । इस यंत्र के बनानेवाले पं० काशीपति त्रिपाठी वाराणसी के प्रकाण्ड पंडितों में से हैं तथा दाक्षिणात्य शाक्त सम्प्रदाय में उनका प्रमुख स्थान है । यह यंत्र उनके अंतर्मानस की अनोखी रचना है, उनकी आध्यात्मिकता का प्रतीक है । तांत्रिक "यंत्र" इसी प्रकार रहस्यमय होते हैं ।

हर एक देश का प्रतीक उस देश की मनोवृत्ति (सामूहिक मनोवृत्ति) पर निर्भर करता है । भारतवर्ष अध्यात्मप्रधान देश है । हमारा शृंगार रस भी वैराग्य के साथ संयुक्त

है। हमारे देश की मूर्त्तिकला, प्रस्तरकला, निर्माणकला रस-प्रधान है, भाव-प्रधान है, इसी लिए वह इतनी सजीव है। यूनान, रोम, मिस्र आदि की कला में केवल शृंगार प्रधान है। भौतिक भावना ही है, अतएव उनमें उतनी सजीवता नहीं है। सांची, अजन्ता, एलोरा, कहीं की मूर्त्तिकला को देखने से तथा मिस्र या रोम की मूर्त्तियों से मिलान करने से यह अन्तर स्पष्ट हो जायगा। प्राचीन भारतीय कला का प्रत्येक पहलू आध्यात्मिक महत्त्व रखता है। सुन्दर, अर्द्धनग्न स्त्रियों की प्रतिमाएँ भी वासना, कामना, खेद, शोक या वैराग्य के भाव को व्यक्त करती हैं। शंकर की तीसरी आँख निरर्थक नहीं बनायी गयी है। वह उनकी आध्यात्मिक चेतना का प्रतीक है। वह दिव्य चक्षु है जो शंकर ऐसे ज्ञानी को ही प्राप्त हो सकता है। बौद्धों के स्तूप या धर्मचक्र का भी ऐसा ही आध्यात्मिक रहस्य है।

धर्म अन्तर्मानस की वस्तु है। कला तथा साहित्य का उदय अन्तर्मानस में होता है। इसलिए किसी देश की कला तथा साहित्य को जानने-समझने के लिए यह जरूरी है कि उस देश के दर्शन तथा धर्म को भी पहचाना जाय। हिन्दू, बौद्ध, ईसाई या मुसलिम कला को जानने, पहचानने तथा समझने के लिए इन धर्मों का दर्शन, इनका वेदान्त, इनकी आध्यात्मिकता को भी समझना पड़ेगा। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि कला धर्म की सहेली है। धर्म कला का सखा है। दोनों को एक-दूसरे से अलग कर देने से दोनों ही अधूरे रह जायेंगे। भारतीय कला की आध्यात्मिक महत्ता को पश्चिम के बिरले ही विद्वान् समझ पाते हैं। हमने पिछले अध्यायों में हैवल की पुस्तक[1] का जिक्र किया है। उस विद्वान् ने हमारी कला की बहुत-सी बातों को समझा था और बहुत-सी बातों को नहीं भी समझा था। पर हमारी मूर्त्तिकला पर उन्होंने लिखा है—

इनकी रचना "दैवी सत्ता को पहचानने के लिए, जीवन के अन्तर में बैठे जीवन को प्रकट करने के लिए, अवास्तविकता में वास्तविकता को प्राप्त करने के लिए, भौतिक पदार्थ के भीतर बैठी आत्मा की जानकारी के लिए" (हुई है)। हैवेल ने कुछ सुन्दर उदाहरण भी दिये हैं, जैसे शंकर के तीन मस्तक (तीन मुख)। एक मानसिक ज्ञान का प्रतीक है। दूसरा मानसिक वृत्तियों का प्रतीक है। तीसरा मानसिक वात्सल्य का प्रतीक है। या, हम यह भी कह सकते हैं कि तीनों क्रमशः उत्पत्ति, पालन तथा संहार के प्रतीक हैं। दस मस्तकवाला रावण वास्तव में दसों विद्याओं में उसके पाण्डित्य का प्रतीक है।

बिना कारण के मनुष्य के शरीर में कोई रोग नहीं लग सकता। इसी प्रकार चेतन या अचेतन मानस शून्य में नहीं सोचता। शून्य के भीतर भी प्रवेश कर उसको समझने

१. R. B. Havell—"A Handbook of Indian Art."

का प्रयास अवश्य करता है। बिना किसी विषय का मौलिक आधार हुए, बिना किसी वस्तु का मूल रूप हुए वह कल्पना तथा चिन्तन की परिधि में नहीं आ सकता। ईश्वर की सत्ता के विषय में यही सबसे बड़ी दलील है। यदि ईश्वर न होता तो उसके बारे में इतनी कल्पना तथा भावना भी नहीं बनती। बहुत-सी बातें जो प्रत्यक्षत: हमारी समझ में नहीं आतीं, वह मन की समझ में, रात्रि के शान्त वातावरण में, आ जाती हैं। पर यह तो और कुछ नहीं, अज्ञात मानस या यों कहिए कि अन्तर्मानस को वास्तविकता का "बोध" हुआ। ऐसा ही बोध ऋषियों को हुआ था। उन्होंने हमारे वैदिक मन्त्र बनाये नहीं। मंत्रों को देखा। 'ऋषयो मंत्रद्रष्टार:', ऋषियों को मंत्र-द्रष्टा कहते हैं। ऐसे ही बड़े-बड़े साधु-सन्त तथा पीर-पैगम्बरों को "इलहाम" होता है। अज्ञात मानस की अविकसित दशा में "भ्रम", "विकल्प" तथा "आशंका" भी इन्हीं कारणों से पैदा हो सकती है। जाति, कुल, परम्परा तथा संस्कार, अतृप्त वासना, इन सबका प्रभाव अज्ञात मानस पर पड़ता है और वस्तु का मूल रूप भी अज्ञात मानस धारण किये रहता है। अतएव इन सबके प्रतीक स्वप्न में तथा वाणी में, कला में तथा साहित्य में, भावना में तथा कार्य में, प्रतीक-रूप में बनते रहते हैं, पैदा होते रहते हैं।

किसी भी देश, जाति तथा धर्म का मनुष्य हो, उसके अन्तर्मानस में एक-सी धारा बह रही है। आज भौतिकता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी है, पर संसार के अधिकांश प्राणी धर्म, कला, रहस्यवाद, पौराणिक गाथा इत्यादि में समान रूप से रुचि लेते हैं। यह समान रुचि उनके "सामान्य मौलिक मानसिक एकता" का प्रतीक है। माता की ममता, पिता का भय, देवता से प्रेम, दैवी शक्ति से भय, यह सभी देशों में प्राप्त मानसिक विचार-धारा है। इसी से सभी देशों में मातृत्व के प्रतीक, शक्ति की पूजा तथा परम पिता ईश्वर की उपासना प्रारम्भ हुई। सच्चिदानन्द परब्रह्म की कल्पना हम भारतीयों ने की। अतएव हमने सभी विभूतियों से युक्त ब्रह्मा, विष्णु, महेश—त्रिभूति, सत्-चित्त-आनन्द बना डाले, मूल रूप मन में छा जाने से प्रतीक बनने-बनाने में देर नहीं लगती।

किन्तु मूल रूप अन्तस्तल में वर्तमान रहना जरूरी है। तभी प्रतीक बनते हैं। ये मूल रूप किस प्रकार वर्तमान रहते हैं, इसे समझना बड़ा कठिन है। डॉ० जंग ने इसे समझने का कुछ प्रयास किया है। वे लिखते हैं कि मूल रूप की स्थिति की उपमा सूखी हुई नदी के पेट से दी जा सकती है। अभी तो पानी सूख गया है, पर किसी समय पानी वापस आ सकता है। अज्ञात मानस में मूल रूप की सत्ता उसी प्रकार है जिस प्रकार कि जलकुण्ड में जीवन। जल कुछ समय के लिए प्रवाहित होता रहा है। उसने उसमें बहते-बहते गहराई पैदा कर दी है। जितने अधिक समय तक जल उसमें रहा है, उतनी ही गहराई होगी। यह जल अपने कुण्ड में कभी भी वापस आ सकता है। गहराई होने

की ज़रूरत है। "समाज में, या सर्वोपरि, राज्य में व्यक्ति किसी सीमा तक इस जल के प्रवाह को नहर के पानी की तरह नियंत्रित कर सकता है।"[१]

मन के भीतर बैठा हुआ मूल रूप, मौलिक आधार या तात्त्विक सत्य किसी समय भी अज्ञात मानस द्वारा प्रकट किया जा सकता है। अज्ञात मानस केवल निजी तथा व्यक्तिगत बातों का ही प्रतीक नहीं बनाता। अतृप्त वासना एक निजी बात है। उसका मनुष्य से व्यक्तिगत सम्बन्ध है। अतएव उसका प्रतीक तो निजी उपयोग का होगा। पर मनुष्य सामाजिक जन्तु है। देश, काल, परम्परा के अनगिनत सामूहिक विचार और प्रश्न उसके सामने रहते हैं। वह अपने अज्ञात मानस द्वारा सामूहिक प्रतीक भी बनाता है, ऐसे प्रतीक भी बनते हैं जिनका महत्त्व सबके लिए है और होना भी चाहिए। यह भेद इसी बात से स्पष्ट हो जायगा कि कला की अभिव्यक्ति अज्ञात मानस द्वारा हुई। पर वह प्रतीक सबके लिए है, पर स्वप्न की अभिव्यक्ति अज्ञात मानस द्वारा होने पर भी उसका केवल निजी तथा व्यक्तिगत महत्त्व ही है। धार्मिक प्रतीक भी व्यक्तिगत नहीं हो सकते। इनका भी सामूहिक उपयोग होगा।

अज्ञात मानस की गति को जो नहीं समझना चाहते वे प्रतीक के रहस्य को भी नहीं समझ सकते। प्राचीन काल में विश्वास था कि ईश्वर का श्रेष्ठ प्रतीक एक गोलाकार चिह्न है ○। प्राचीन सभ्यताओं का विश्वास था कि ईश्वर ने सबसे पहले सृष्टि को चार तत्त्वों में विभाजित किया। एक गोलाकार के चार भाग हो गये। ऐतिहासिक काल से पूर्व के युग में "चार" की संख्या ईश्वरत्व का तथा उसके बनाये चार भौतिक तत्त्वों का प्रतीक समझी जाती थी। अब यह विश्वास किसी मनुष्य के अन्तर्मानस में हो सकता है। किन्तु ऐसा विश्वास एकदम भीतर बैठा है। कभी उसने इसके विषय में न तो सोचा, न बातचीत की। एक दिन ऐसा मनुष्य सपना देख सकता है कि "पहले एक गोला बना। फिर उसने सर्प का रूप धारण किया और स्वप्न देखनेवाले को चारों ओर से घेर लिया। फिर इसी के बीच में एक गोल घड़ी बन गयी जिसमें एक केन्द्र-बिन्दु है। फिर इनका एक चौकोण नगर के रूप में बन गया। तब, यह चौकोण गोलाकार रूप धारण करने लगता है।"[२] और सपना समाप्त हो जाता है। इस स्वप्न द्वारा स्वप्न देखनेवाले को समूची सृष्टि को ईश्वररूपी एक केन्द्र-बिन्दु द्वारा सञ्चालित होने का बोध कराया जा रहा है।

१. C. G, Jung—"Essays on Contemporary Events"—1947—page 12
२. Jung- "The Integration of Personality"—1940.

स्टेकल[१] ने एक रोचक उदाहरण दिया है। एक सुन्दर युवक था जो सुन्दरी लड़कियों को आकृष्ट किया करता था। पर उसके मन में ईश्वर का भय समाया हुआ था। एक दिन उसने सपना देखा कि "मेरी पाठशाला में, मेरी कक्षा में धार्मिक शिक्षा पर परीक्षा होनेवाली है और मैं परीक्षा देने के लिए तैयार नहीं हूँ। मास्टर साहब के पास एक बड़ी-सी, मोटी-सी किताब है जिसमें मुझे जो बुरे नम्बर मिले हैं, वे दर्ज हैं। जागते ही मैं बहुत चिन्तित हो जाता हूँ। मेरा दिल धड़कने लगता है।"

यह स्वप्न स्पष्टतः उस युवक के दैवी भय का, अपने बुरे कामों के प्रति क्षोभ का द्योतक-मात्र है। फ्रायड लिखते हैं कि जो स्वप्न जैसा दिखाई पड़ता है, वैसा नहीं है। उसका अर्थ भिन्न होगा। फ्रायड यह बात अपनी "कामवासना" के सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के लिए कहते हैं, पर बात हर हालत में सत्य है। "मास्टर साहब" को युवक ने सपने में देखा था। वे और कोई नहीं, स्वयं उसकी अन्तरात्मा है जो उसके कार्यों पर कड़ी निगाह रखती है। फ्रायड लिखते हैं कि "हर एक प्रतीक ठोस इच्छा को व्यक्त करता है। समूची इच्छा को प्रकट करता है।" डॉ० पद्मा अग्रवाल ने भी सिद्ध किया है कि "मनोवैश्लेषणिक रूप से हर एक प्रतीक का स्थायी अर्थ होता है।"

प्रत्येक संकेत का निश्चित अर्थ होता है, यह भी सत्य है, पर हर प्रतीक का, संकेत के समान ही, स्थायी अर्थ होते हुए भी सबके लिए समान अर्थ नहीं हो सकता। अमेरिका में यदि मोटर ड्राइवर को चौराहे का सिपाही "जाने" का संकेत करे तो इसका अर्थ होगा "दायें से जाओ।" इंग्लैण्ड में ऐसे संकेत का अर्थ होगा—"बायें से जाओ।" इसी प्रकार फ्रायड का विद्यार्थी खुली पुस्तक सपने में देखकर उसका अर्थ "स्त्री की योनि" समझेगा। भारत का नागरिक उसे "विद्या" अथवा "कर्म का लेखा" का प्रतीक समझेगा। प्रतीक का अर्थ अज्ञात मानस के विकास पर निर्भर करता है।

१. Wilhelm Stekel—The Interpretation of Dreams—1943—Vol. I—page 64.

अनेक विद्वानों के विचार

१३ अक्टूबर, १६६० को न्यूयार्क में राष्ट्र-परिषद् की बैठक हो रही थी। उसमें काफ़ी उपद्रव हुए। बहुत गरमा-गरमी हुई। अध्यक्ष ने शान्ति स्थापित करने के लिए अध्यक्षीय दण्ड को मेज़ पर कई बार पटका पर कुछ फल न निकला। दण्ड मेज़ पर पटकते-पटकते टूट गया। सोवियत रूस के प्रधान मंत्री तुरत बोल उठे—"यह राष्ट्र-परिषद् का प्रतीक है।" उनका तात्पर्य यही था कि जिस प्रकार अध्यक्ष का दण्ड टूट गया है, उसी प्रकार राष्ट्र-परिषद् भी टूट रही है। दण्ड के साथ परिषद् के भविष्य को नत्थी कर देना अनुचित भी नहीं था। पर ऐसे प्रतीक की कल्पना क्यों हुई? दण्ड के टूटने से ऐसी बात क्यों मुंह से निकली? निश्चयतः यह बात सोवियत प्रधान मंत्री के आंतरिक भाव को व्यक्त करती है। उनकी बात परिषद् नहीं मान रही थी। इस पर उन्हें क्रोध आया होगा। उन्होंने परिषद् की समाप्ति की बात सोची होगी और अध्यक्ष का दण्ड टूटना उनके लिए एक प्रतीक बन गया जो उनकी आन्तरिक भावना का द्योतक था। किन्तु, उस घटना को सबने उसी प्रतीक के रूप में क्यों नहीं देखा जैसा सोवियत प्रधान मंत्री ने?

यदि हम कहते हैं कि प्रतीक वास्तविकता का बोध कराता है तो ऊपर लिखा प्रतीक यदि प्रतीक है तो सोवियत प्रधान मंत्री ने जो बात कही, उस वास्तविकता का बोध सबको होना चाहिए। पर ऐसा तो नहीं हुआ। जब उन्होंने दण्ड टूटने को "प्रतीकात्मक" कहा तो दर्जनों व्यक्तियों ने उनका उपहास किया। उनकी बात को गलत कहा। तब तो यह स्पष्ट है कि प्रतीक वास्तविकता का बोध कराते हैं, पर यह वास्तविकता स्वयं सबके लिए एक समान नहीं है। कैसिरेर ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि किसी वस्तु की निश्चित यथार्थता या वास्तविकता मान लेना भूल है। भिन्न प्राणियों के लिए भिन्न वस्तु की भिन्न वस्तुस्थिति होती है। जल की सत्ता हमारे लिए जिस रूप में है, जलचर प्राणी के लिए उस रूप में नहीं है। मक्खी के संसार में और हमारे संसार में बड़ा भारी अंतर है। हमें जो चीज़ सबसे अधिक घृणास्पद मालूम होती है मक्खी के लिए वही सबसे अधिक प्रिय है। वस्तु वही है, उसकी यथार्थता का दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हो जाता है। भिन्न प्रकार के जीवों के अनुभव भी भिन्न होते हैं। इसी लिए

कैसिरेर लिखते हैं कि "यथार्थता (वास्तविकता) न तो कोई अद्वितीय वस्तु है और न सजातीय अथवा सम भाववाली।"[१] जितने प्रकार के प्राणी हैं उतने प्रकार की विभिन्नता वास्तविकता की भी होती है। प्रसिद्ध दार्शनिक लीबनिज का मत था कि हर प्राणी स्वयं अपनी एक इकाई है। कैसिरेर भी इसी मत के थे। हर प्राणी का अपना अलग संसार होता है। दार्शनिक उक्षकूल[२] का भी यही मत था। पर अन्य जीव-जन्तुओं में और मानव जीव में एक बड़ा अन्तर है।

हर देहधारी जीव की शारीरिक रचना उसकी आवश्यकता के अनुसार सम्पूर्ण है। सर्प के कान नहीं होते, पर वह उसकी कमी कभी महसूस नहीं करता। उसकी स्पर्शेन्द्रिय उसे कान की आवश्यकता नहीं महसूस होने देती। संगीत के स्वर भी उसे स्पर्श कर लेते हैं। मक्खी, जोंक, कीट, पतंग, सभी की शरीर-रचना उनकी जरूरत भर पूरी है। ठीक है, हर एक की शरीर-रचना ऐसी है कि उससे एक ओर तो बाहरी चीजों से सब कुछ यानी रूप, रस, गंध आदि ग्रहण किया जा सके। दूसरे, अपने शरीर द्वारा दूसरे पर प्रभाव डाला जा सके। बिच्छू का शरीर अपना पोषण भी कर सकता है और दूसरे को डंक भी मार सकता है। जानवर आदि सभी के दो ही काम हैं—ग्रहण और विसर्जन। पर मानव ही ऐसा प्राणी है जो अपने शरीर को इतने संक्षिप्त तथा साधारण उपयोग में नहीं लाता। उसमें जो विवेक है, बुद्धि है, उससे उसने अपना एक तीसरा महान् कार्य बना लिया है—वह है उसके द्वारा निर्मित प्रतीक-प्रणाली। इस प्रणाली द्वारा उसने अपने लिए यथार्थता का, वास्तविकता का अधिक व्यापक क्षेत्र ही नहीं बना लिया है बल्कि अपनी यथार्थता का अधिक विस्तृत घनत्व तथा आयतन भी बना लिया है।[३] इसी लिए मनुष्य के कार्य की गतिविधि अन्य प्राणियों की तुलना में बहुत ढीली हो गयी है। पशु को भूख लगी, जहाँ मिला, जो रुचिकर हुआ, खा लिया। मल-विसर्जन करना हुआ, कहीं भी खड़ा-खड़ा कर देगा। कामवासना को वह अन्य सभी पशुओं के सामने शान्त कर लेगा। पर, मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता। वह सोच-समझकर हर काम करता है, कौन काम एकान्त में करना है, कौन सबके सामने, वह जानता है। उसके पास विचार है, विवेक है। इसके द्वारा वह सोचता ज्यादा है, काम कम करता है। चेतन तथा अचेतन, ज्ञात तथा अज्ञात मानस की विचार तथा विवेकशक्ति से ही प्रतीक पैदा होते हैं। विचार तथा विवेक के कारण ही मनुष्य जीवों में श्रेष्ठ समझा जाता

१. Ernest Cassirer—"An Essay on Man"—Doubleday & Co., New York—1953—page 41.

२. Uexkull.

३. वही, पृष्ठ ४३।

है। पर उसका विचार तथा विवेक उसे पतन की ओर भी ले जा रहा है। अपने विचार तथा विवेक से उसने सभ्यता का इतना बड़ा मायाजाल बना रखा है कि कई प्राचीन दार्शनिकों का यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि पशु का जीवन अधिक स्वाभाविक है, सही है; विचारशक्ति से मानव का पतन ही हुआ है। प्रसिद्ध दार्शनिक रूसो का भी यही मत था।[१]

किन्तु, मनुष्य अपनी प्रगति तथा सफलताओं से अब बच नहीं सकता।[२] उसे अपने जीवन के वातावरण में रहना ही होगा। मनुष्य अब भौतिक जगत् में नहीं रहता। वह प्रतीकात्मक जगत् में रहता है। उसने भाषा को प्रतीक बनाया है। उसके विचारों को व्यक्त करनेवाला प्रतीक भाषा है। उसने अपने मन की बात इतिहास के साथ मिलाकर कहने के लिए पौराणिक गाथाओं की रचना कर डाली। हज़रत मूसा की कहानी है कि उन्होंने सूई की आँख के बीच से ऊँट के निकल जाने की बात कही थी। यह कथा केवल ईश्वर की प्रभुता को बतलाने के लिए है। दुर्गा सप्तशती में काम और क्रोध को नष्ट करनेवाली भगवती दुर्गा द्वारा शुम्भ तथा निशुम्भ राक्षसों के संहार की कथा है। काम तथा क्रोध के प्रतीक वे दोनों राक्षस थे। इसी प्रकार अपने अज्ञात मानस, यानी अन्तर्मानस में वर्तमान मूल रूप तथा यथार्थ भाव को व्यक्त करने के लिए उसने कला को जन्म दिया, जिसके प्रतीकात्मक होने का वर्णन हम पिछले अध्यायों में कर आये हैं। कला ही प्रतीकात्मक नहीं है। धर्म भी प्रतीकात्मक है। अपनी आस्था, अपनी कल्पना, अपने विश्वास के आधार पर मनुष्य ने उस अज्ञात शक्ति को, जिसे ईश्वर कहते हैं, बोधगम्य बनाने के लिए, समझ के दायरे में आने के लिए, प्रतीक-रूप में रच डाला है। मूर्त्तिपूजा हो, गिर्जाघर में पूजा हो, मस्जिद में नमाज़ पढ़ना हो—जो कुछ है वह प्रतीकात्मक ही है। इस प्रकार मनुष्य के विचार-विवेक ने, उसके मन तथा बुद्धि ने उसे इन प्रतीकों के जादू में जकड़ दिया है। पशु-जगत् ऐसे बंधनों में नहीं है। मनुष्य उन्हें भी खींचकर अपने प्रतीकों के बंधन में डाल देता है, जैसे भोजन करने के समय की सूचना यदि घंटी देती है तो वह केवल मनुष्य के लिए ही भोजन करने का प्रतीक नहीं है, उस घर का पालतू कुत्ता भी उस प्रतीक या संकेत को समझ गया है। खाने के लालच से उसके मुख से भी पानी गिरने लगता है।

सभ्यता की प्रगति क्या है? केवल इन प्रतीकों का ही परिमार्जन है। भाषा में परिमार्जन, कला में परिमार्जन, धर्म में परिमार्जन—इसी प्रकार की बातों को सभ्यता

१. L'homme qui medite, est un animal deprave"—Rousseau.
२. कैसिरेर, पृष्ठ ४३।

में प्रगति कहते हैं। पर प्रतीकात्मक प्रगति से मनुष्य का जीवन अधिक सुखी तथा संयत नहीं हो रहा है। वह अपने ही जाल में और भी जकड़ता जा रहा है। आज उसकी बुद्धि इतनी शिथिल हो गयी है कि वह संकल्प-विकल्प के बीच डूबता-उतराता रहता है। काल्पनिक भावनाएँ, काल्पनिक भय, काल्पनिक आशंकाएँ उसे उत्तेजित तथा आन्दोलित करती रहती हैं। अत्यधिक प्रतीकात्मक हो जाने के कारण वह अत्यधिक विकल्पात्मक भी हो गया है।

यह कहना भी भूल होगी कि मनुष्य लाख बुरा सही, पर पशु-पक्षी से अच्छा ही है। मनुष्य को यह उच्चता प्रतिपादित करने के लिए हम कह देते हैं कि मनुष्य में धर्मबुद्धि है, भले-बुरे की पहचान है, उसमें विवेक है। किन्तु मनुष्य में पशु से अधिक यह सब कुछ भी नहीं है। प्राकृतिक तथा साधारण जीवन के जो मूल तत्त्व हैं, उनसे मनुष्य दूर चला जाता है।

पशु-पक्षी केवल ऋतुकाल में ही स्त्री-संसर्ग करते हैं किन्तु मनुष्य के लिए दिन-रात और हर दिन बराबर है। पशु गर्भवती के निकट नहीं जाता, मनुष्य के लिए यह रोक नहीं है। नर पशु-पक्षी एक मादा पशु-पक्षी के साथ सम्पर्क हो जाने पर जीवन भर साथ निभाता है। मनुष्य यह नहीं कर पाता। ये सब सर्वसाधारण के लिए कही गयी बातें हैं, व्यक्तिविशेष या अपवाद के लिए नहीं। दैहिक तथा भौतिक विपत्तियों की सूचना जितनी जल्दी तथा जितने पहले पशु-पक्षी को मिलती है, मनुष्य को कदापि नहीं। रोग की चिकित्सा या निदान जितना अच्छा पशु कर सकता है, उतना मनुष्य नहीं। आज भी हम बन्दरों से हजारों दवाएँ सीख रहे हैं। उनकी चिकित्सा को चुपचाप देखकर उनके द्वारा उपयुक्त जड़ी-बूटियों को अपने काम में लाना सीख रहे हैं। हम नित्य अनुसंधान करके नित्य नयी चीज़ों को पैदा कर रहे हैं, ताकि हमारा जीवन अधिक सुखी तथा सम्पन्न हो। पशु अपने जानने भर समूची विद्या पेट से लेकर आया है। असल में ज्ञान की कमी हममें है, पशु में नहीं। हर एक पशु-पक्षी की अनुभूति, ज्ञान, बुद्धिमत्ता समान होती है। मनुष्य में तो यह हो गया है कि कुछ लोग सोच-विचारकर काम करते हैं और आदेश देते हैं तथा अधिकांश उनका पालन करते हैं। हरा सिगनल देखकर रेलवे ट्रेन चली जायगी। रेल की पटरी पर सिगनल देनेवालों का अलग संगठन है। ट्रेन चलानेवाले तथा ट्रेन पर बैठनेवालों का अलग सिगनल है। सिगनल यानी **चिह्नक प्रतीक** नहीं हो सकता। भौतिक जगत्, यानी दिखाई पड़नेवाली दुनिया में विशेष को निर्दिष्ट करनेवाली वस्तु को चिह्नक कहते हैं, पर प्रतीक तो मानव-जगत् की वस्तु है। चिह्नक कार्य-वाहक वस्तु है, प्रतीक विचारात्मक होता है। चार्ल्स मौरिस ने इन दोनों के

भेद की अच्छी व्याख्या की है।[१] वे भी स्वीकार करते हैं कि पशु-पक्षी में **व्यावहारिक** कल्पनाशक्ति तथा बुद्धिमत्ता है, पर मनुष्य में **प्रतीकात्मक** कल्पनाशक्ति तथा बुद्धिमत्ता है।

नाम-प्रतीक

मानव-मस्तिष्क में इतनी विभिन्नता है कि उसकी गति का निश्चित निरूपण सम्भव नहीं है। एक ही बात की भिन्न व्यक्तियों पर भिन्न प्रतिक्रिया होती है। किसी को रोते देखकर कोई दु:खी होता है, कोई हँस देता है। हमारे मन का ज्यों-ज्यों विकास होता गया, हमने व्यावहारिक दृष्टिकोण के स्थान पर प्रतीकात्मक दृष्टिकोण ग्रहण करना शुरू किया। किसी पर क्रोध आने पर हम मार बैठते थे। अब आँख से घूर देते हैं। पहले हम उसे गाली देते थे। अब मन फेर लेना भी एक रोष-चिह्न है। मनुष्य ने अपने लिए जानकारी का एक सबसे सरल साधन ढूँढ़ निकाला—नामकरण। हर वस्तु का एक नाम रख दिया गया। पानी उस तरल चीज़ का नाम है जिसे गले के नीचे उतार देने से तृष्णा शान्त होती है। उस चीज़ को यदि मांगना हो तो हम "पानी" कहेंगे। **पानी** शब्द उस चीज़ का प्रतीक बना। इस प्रकार हर चीज़ का प्रतीक नामकरण द्वारा बना दिया गया। बिना **नाम-प्रतीक** के हम अब कुछ नहीं समझ सकते। पशु-जगत् में नामकरण ऐसी कोई चीज़ नहीं है। अतएव उनके सामने ऐसे कामों में समय नष्ट करने की जरूरत नहीं है। नाम को याद करने में बड़ा समय लगता है। कोई व्यक्ति हर शब्द को नहीं रट सकता। जितने अधिक नाम याद हैं, उतना अधिक विद्वान् होगा। चीनी लोगों ने अक्षर नहीं बनाये। हर वस्तु का चित्र बना दिया। हर चित्र का अपना नाम है। अतएव उनकी भाषा में जितने अधिक नाम बनते जायेंगे, उतने अधिक चित्र बनते रहेंगे। इसे प्रतीक नहीं तो और क्या कहेंगे? हमने "क", "ख", "ग" को कभी नहीं, देखा परक की ध्वनि का प्रतीक बना दिया। उसी प्रकार हमने एक चिड़िया को देखकर उसका नाम "तोता" रख दिया। उस "तोता" नामधारी चिड़िया का चित्र बना दिया। चीनी भाषा में एक शब्द जुड़ गया—एक अक्षर भी जुड़ गया। ऐसे पाँच हजार प्रतीकों को जानने-वाला चीन में विद्वान् समझा जाता है।

किन्तु नाम-प्रतीक में एक बड़ा भारी दोष है। बचपन में हमने सीखा था कि एक शब्द का निश्चित अर्थ होता है। मार्जार माने बिल्ली, जल—पानी, अग्नि माने आग।

१. Charles Morris—Article on "The Foundation of the Theory of Signs"—Encyclopaedia of the Unified Sciences—Pub. 1938.

पर ज्यों-ज्यों हम बड़े होते जाते हैं, हम यह अनुभव करने लगते हैं कि नाम की रचना हमने की है। अतएव अपनी रचना का हम अपने मन के अनुसार उपयोग भी कर सकते हैं। अगर कोई कहता है कि "मैं पानी-पानी हो गया" तो इसका यह अर्थ यह नहीं हुआ कि मैं जल हो गया। जिस प्रतीक-रूप में यहाँ **पानी-पानी** हो जाना या लज्जा या संकोच से गड़ जाना—अर्थ हो गया, इसी प्रकार अन्य शब्दों की भी व्याख्या हो सकती है।

शब्द-प्रतीक

शब्द-प्रतीक के समान वस्तु-प्रतीक तथा ध्वनि-प्रतीक भी अनेक अर्थवाले हो सकते हैं। घंटी केवल भोजन करने के लिए नहीं बजती। खतरे की घंटी भी होती है। प्रार्थना की घंटी भी होती है। प्रतीक वही है, उपयोग भिन्न हो गया। इसी लिए कैसिरेर ने लिखा है कि मानव-प्रतीक की यह विशेषता नहीं है कि उनका "सम-भाव" होता है, बल्कि उनमें परिवर्तनशीलता होती है।[१] विभिन्न रूप से उनका प्रयोग हो सकता है। एक आदमी किसी को बुलाने के लिए ताली बजाता है। दूसरा चिड़िया उड़ाने के लिए ऐसा करता होगा। अनेक भाषाओं का उपयोग कर हम एक ही बात कह सकते हैं और एक ही भाषा में हम अनेक बातें कह सकते हैं। एक ही बात को अनेक ढंग से कहा जा सकता है और अनेक बातों को एक ही ढंग से कहा जा सकता है। "घर जाना है"—इस बात को अनेक ढंग से कह सकते हैं—"कुटिया पर जायेंगे, अपने बसेरे पर चलेंगे, चौराहे के बाद बायीं तरफवाले पहले मकान में जायेंगे।" यह सब ढंग हो सकते हैं। यदि यह कहना हो कि घर जाकर स्नान करके, खाना खाकर, पूजा करके सो रहेंगे—तो इसको संक्षेप में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि "निवृत्त होकर सो रहेंगे।" किन्तु भाषा का प्रयोग दूसरे को अपनी बात समझाने के लिए होता है। जिसकी जैसी समझ होगी, उससे वैसी बात कही जायगी। गूढ़ अर्थवाले प्रतीक गूढ़ अर्थ समझनेवाले के ही काम में आ सकते हैं। कमसमझ के लिए उनका अर्थ कमसमझी का होगा।

बुद्धि केवल बचपन या बुढ़ापे पर निर्भर नहीं करती। यह अपने संस्कार तथा विकास पर निर्भर करती है। जानवर का बच्चा बहुत-सी ऐसी बातें पेट से ही सीखकर आता है जिन्हें इंसान को सीखने में काफ़ी समय लगता है।[२] अधिकांश जानवर पेट से तैरना सीखकर

• कैसिरेर की पुस्तक पृष्ठ ५७।

२. Sir Willim Stern—' Psychology of Early Childhood"—(Translation by Anna Barwell-2nd Edition—Holt & Co., New York—1930 114.

आते हैं। मनुष्य को तैरना सीखने में काफ़ी समय लगता है। मनुष्य के बच्चे की तुलना में चूहे का बच्चा ३० गुना तीव्र गति से चैतन्य होता है। पर मनुष्य तथा पशु की बुद्धि में एक बड़ा अन्तर है। मनुष्य व्यावहारिक ज्ञान से संतुष्ट नहीं होता। उसे सैद्धान्तिक आदर्श भी बनाना आता है। इस सैद्धान्तिक आदर्श के सहारे ही वह मानसिक विकास की ऊँची-से-ऊँची सीढ़ी पर पहुँच जाता है। अपने सैद्धान्तिक विचार के कारण ही वह सैद्धान्तिक प्रतीक बनाता है।

मनुष्य की सैद्धान्तिक गवेषणा तथा तर्कबुद्धि से उत्पन्न बातें केवल सांसारिक रूप से हर एक बात पर विचार करने वाले की समझ में नहीं आ सकतीं। कांट ऐसे विद्वान् पश्चिम में कम पैदा हुए हैं जिन्होंने दृश्य जगत् के परे, उससे आगे बढ़कर दृष्टि डालने की चेष्टा की हो। प्लेटो के "रिपवलिक" ग्रंथ की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा है कि "हम लोगों को उसकी बातों पर विचार कर अपने अनुभव के द्वारा उसकी समीक्षा करनी चाहिए। उसे एक स्वप्न-द्रष्टा की कल्पना समझकर अव्यावहारिक नहीं समझना चाहिए। आजकल के दार्शनिकों की यह सबसे भद्दी भूल है कि वे प्राचीन दर्शन तथा विचार को हेय समझते हैं।"[१] कांट के विचार का यह सारांश है। आज के दर्शनशास्त्री प्राचीन दर्शन शास्त्र या विचारधारा को महत्त्व नहीं देते। अपनी इसी ओछी भावना के कारण हमारे अधिकांश पश्चिमीय दार्शनिक प्रतीक सम्बन्धी हमारी प्राचीन परिभाषा को महत्त्व न देकर उसे कोरी भौतिकता की कसौटी में कसने लगते हैं और तभी वे मनुष्य या पशु-पक्षी की मानस-समता करने लगते हैं। कैसिरेर ने स्वीकार किया है कि सैद्धान्तिक गवेषणा ही मानव की विशिष्टता है। यह गवेषण वह तभी करेगा जब उसकी आत्मा इस संसार के उस पार, यानी अध्यात्म के निकट होगी। मनुष्य परमात्मा के अधिक निकट है। इसी लिए वह अन्य जीवों से श्रेष्ठ है। इसी लिए वह अपने ज्ञान के लिए प्रतीकों का निर्माण कर रहा है। उनके बंधन में बँधता भी जा रहा है। पर जो ज्ञान बाँधता है, वह गाँठ खोलता भी है।

ऐतिहासिक तथा भौतिक में भेद

जो लोग अज्ञात मानस की सैद्धान्तिक गवेषणा की शक्ति को न तो समझते हैं, न उसमें विश्वास करते हैं, वे प्रतीक की वास्तविक मर्यादा को नहीं समझ सकते। वे हर चीज़ का ठोस तथा आँखों से समझ में आनेवाला प्रमाण मांगते हैं। पर प्रतीक-विद्या भौतिक विज्ञान की विद्या नहीं है। भौतिक विज्ञान का पंडित आँकने योग्य तथा तौलने योग्य

१. Kant—"Critique of Pure Reason."

हर वस्तु को नाप-तौल लेता है और जो चीज़ आंकने तथा नापने योग्य नहीं होती, उसे भी इसके योग्य बनाकर चैन लेता है। उसकी हर एक बात की छानबीन प्रत्यक्ष रूपसे तुरत की जा सकती है। उसने संसार की आणविक शक्ति को भी, अणु-परमाणु को भी, नाप-तौल लिया है और उनसे काम लेकर उनकी सत्ता सिद्ध करदी है। हमारी-आपकी शंकाओं का समाधान वह अपनी प्रयोगशाला में ले जाकर कर देगा। किन्तु इतिहासकार क्या करेगा? उसे अतीत की बातें बतलानी हैं, वे बातें बतलानी हैं जो प्रत्यक्ष में कभी आ नहीं सकतीं, जिनका प्रत्यक्ष में कोई प्रमाण नहीं है। प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति, युद्ध तथा संघर्ष की अब कहानी रह गयी है। कुछ पुराने दस्तावेज़ हैं, पुराने हस्तलिखित या काठ-पत्थर पर लिखित ग्रंथ हैं या शिलालेख हैं या फिर पुराने खंडहर या प्राचीन मूर्त्तिकला, शिल्पकला आदि हैं। उन्हीं के आधार पर अतीत का चित्र सामने खींचना है। भौतिक विज्ञान के पंडित का काम जितना सरल है, इतिहासकार का काम उतना ही कठिन है। बिखरे ईंटों पर इतिहास की इमारत खड़ी करनी है। उसके आधार प्राचीन शिलालेख या भग्नावशेष या शिल्पकला हैं। अतएव यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ये सब चीज़ें अतीत के प्रतीक हैं। गुज़रे हुए ज़माने का इतिहास प्रतीकात्मक है।[1] शिलालेख या भग्नावशेष पर जो कुछ लिखा है, उसके अक्षर या दीवाल की पच्चीकारी स्वतः प्रतीक नहीं है। जब उन लिखावटों का अर्थ समझा जाय, जब उन पच्चीकारियों का भाव समझा जाय, तभी वे चीज़ें प्रतीक बन जाती हैं, क्योंकि उनके समय की सभ्यता की रूप-रेखा खड़ी हो जाती है। जब तक अर्थ में न लाया जाय, बात की तह में न जाया जाय, प्रतीक की मर्यादा समझ में नहीं आती।

वाक्य प्रतीकात्मक

यदि किसी शिलालेख में, जो मिस्र में प्राप्त हुआ हो, यह लिखा हो कि "वाराणसी के समान तिकोनिया मंदिर बनवाया" तो इस वाक्य का बहुत बड़ा अर्थ हो गया। इतिहासकार सिद्ध करेगा कि यह वाक्य इस बात का प्रतीक है कि मिस्र के लोगों ने तिकोनिया मंदिर बनाना भारत से सीखा, वाराणसी से उनका घना सांस्कृतिक सम्बन्ध था तथा दोनों देशों की सभ्यता एक थी। फिर और आगे बढ़कर इतिहासकार कहेगा कि तिकोनिया "पिरामिड" (शव-गृह) भी भारत के देवालयों की रचना से सीखी गयी कला का परिणाम है तथा त्रिकोण में ही मानव-जीवन की सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न है। एक शिलालेख इतने बड़े ऐतिहासिक सिद्धान्त का प्रतीक बन गया। किन्तु जिसने शिलालेख के उस वाक्य पर ध्यान नहीं दिया, उसके लिए उस लेख का कोई भी महत्त्व नहीं है।

१. कैसिरेर की पुस्तक, पृष्ठ २२१।

एक दूसरी बात भी ध्यान में रखनी चाहिए। उस लेख को पढ़ा सभी ने, पर उसकी गहराई में पैठकर असली अर्थ निकाल लेने का प्रयत्न उसी ने किया जो अतीत की सत्ता पर, अतीत की आध्यात्मिकता पर विश्वास रखता था तथा जो यह मूल रूप मन में लेकर चला है कि अतीत का मानव आज के समान ही एक-दूसरे की सभ्यता तथा शिष्टता पर प्रभाव डालता था। अत एव मन में बना मूलरूप ही उसे उस खोज की ओर ले गया। यही बात हमारे देश के दर्शनशास्त्री भी कहते हैं। वे कहते हैं कि अध्ययन तथा सत्संग से मन में सही धारणाओं तथा मूल रूप बनने लगते हैं जो हमको सच्ची खोज तथा सच्ची पहचान की ओर ले जाते हैं।

अंकगणित

आज जो चीज़ सीधी, सरल मालूम होती है, वह हज़ारों वर्ष पूर्व विचार की पकड़ में नहीं आ सकती थी। हजारों वर्ष पूर्व हमने यह सत्य समझा कि सृष्टि में जो कुछ प्राकृतिक रूप से हो रहा है, वह एक निश्चित क्रम से हो रहा है। सूर्य की गति भी नियमित है, भारतीय आर्यों ने सबसे पहले प्रकृति के तत्त्वों को समझने तथा समझाने के अंक-प्रतीक बनाये, जिससे अंकगणित का महान् शास्त्र बना। हमने संख्या बनायी। गिनना सीखा। एक-दो-चार की गिनती बनी। अंकों के सहारे हमने ज्योतिष-विद्या ईजाद की। पश्चिमी पंडितों का कहना है कि अंकशास्त्र सबसे पहले यूनान में बना तथा ज्योतिष-विद्या का प्राथमिक ज्ञान ईसा से ३८०० वर्ष पूर्व बैबिलोनियन लोगों को हुआ।[१] उन्होंने पहले पहल यह पहचाना कि अपनी १२ राशियों सहित सूर्य की गति-विधि तथा तारकमण्डल की गति-विधि में बड़ा अन्तर है। उन्होंने इन विचित्रताओं को समझाने के लिए अंक-शास्त्र यानी गणित तथा पौराणिक भाषा के प्रतीक का उपयोग किया। ज्योतिषशास्त्र प्रतीकात्मक है, क्योंकि अंकशास्त्र स्वयं प्रतीकात्मक है। एक चीज़ को एक देखकर एक इकाई बनाना उस एक चीज़ का **प्रतीक** हुआ। भाषा के प्रतीक से कहे गये प्रत्येक शब्द या वाक्य के तात्पर्य—अर्थ का "एक क्षेत्र" होता है "जिसमें उस कही जानेवाली वस्तु के क्षेत्र के पहले इस भाग पर, फिर दूसरे भाग पर प्रकाश की रेखा फैल जाती है।"[२] हमारे मुख से "लड्डू" शब्द निकलते ही उस गोल मिठाई के हर कोने पर बुद्धि का प्रकाश फैल जाता है। पर, इतना ही कह देने से उस चीज़ का पूरा प्रतीक नहीं बन पाया। हमारे मन में शंका हो जाती है कि एक मिठाई है या अनेक या कितनी। तब हम उस शंका को दूर करने के लिए तथा पूर्ण सत्य बतलाने के लिए उसके साथ संख्या जोड़ देंगे—पाँच

१. वही, पुस्तक पृष्ठ २६५-२६६।
२. S. Gardiner—"The Theory of Speech and Language"—page—51.

लड्डू। अब पाँच कहते ही बुद्धि पाँच जगह पर उसी लड्डू को रखकर उस पर "अर्थ" का प्रकाश डाल देगी। बिना अंक-प्रतीक का सहारा लिये कोई चीज़ स्पष्ट नहीं हो सकती। इसी लिए गणित, ज्यामिति, बीजगणित, गणित-ज्योतिष, संगीतशास्त्र—सभी का एक ही आधार है। एक ही नींव पर हैं, वह नींव है अंक। इसी लिए कैसिरेर कहते हैं कि गणित विश्व-व्यापी प्रतीकात्मक भाषा है। इस प्रतीकात्मक भाषा के द्वारा चीज़ों का वर्णन नहीं किया जाता बल्कि उनका एक-दूसरे से सम्बन्ध समझाया जाता है।[१]

गणित प्रतीक

गणितात्मक प्रतीकत्व को सबसे पहले, कैसिरेर के मतानुसार लीबनिज़ नामक दर्शन शास्त्री ने पहचाना था। गणिततात्मक प्रतीक से हर एक चीज़ समझी जा सकती है। गणित के द्वारा प्रतीकों की व्यापकता को समझा जा सकता है। गणित-प्रतीक का इतिहास अन्य सभी प्रकार के प्रतीकों के इतिहास के साथ मिला-जुला हुआ है।

इसके साथ नार्थ्राप की कही गयी एक बात मिला देनी चाहिए। उनका कहना है कि भाषा तथा गणित दोनों को बिना एक साथ मिलाये कोई प्रतीक स्पष्ट नहीं हो सकता। वे लिखते हैं कि मनुष्य की साधारण बुद्धि से उत्पन्न भाषा विशिष्ट पदार्थों का अर्थ बता सकती है, वह विशिष्ट पदार्थों का अर्थ-प्रतीक बन सकती है, जैसे नीलाकाश, सिर में दर्द, फूल की महँक। पर, कई बातों का एक-दूसरी के साथ सम्बन्ध स्थापित कर निश्चित प्रतीक बनाने के लिए गणित-प्रतीक का सहारा लेना पड़ेगा। इसलिए प्रतीक को गणित से पृथक् नहीं कर सकते।[२] "भाषा द्वारा व्यक्त, गणित-प्रतीक तथा गणितात्मक तर्क ही आदर्श प्रतीक है।"[३] नार्थ्राप यहाँ तक लिख गये हैं कि "आज के भाषा-पंडितों के भाषा-प्रतीक द्वारा साधु-जीवन तथा उसे जानने के तरीके भ्रष्ट किये जा रहे हैं। साधारण भाषा में व्याकरण की गूढ़ता तथा उपमालंकार की भरमार के कारण जीवन के तथा वस्तु के वास्तविक सौन्दर्य की जानकारी नहीं हो सकती। साधारण भाषा में कर्त्ता तथा कर्म को इतना अलग कर दिया जाता है कि दोनों का सम्बन्ध समझ में नहीं आ सकता। शायद इसी लिए आधुनिक युग की वर्तमान आवश्यकता की तुलना में मानव की नैतिकता निर्बीज,

१. कैसिरेर—पृष्ठ २७३।
२. "Symbols and Society"—"Fourteenth Syomposium of the conference of Science, Philosophy and Religion." Conference office, New York, 1955—Article by F. S. L. Northrop—page 61-62.
३. वही, पृष्ठ ६३।

नीरस तथा प्रभावहीन हो गयी है।"[१] नार्थ्राप ने यहाँ तक लिख दिया है कि बिना तर्कात्मक रीति से परस्पर-सम्बन्ध पहचाने प्रतीक समझ में नहीं आ सकता।

परस्पर सम्बन्ध

परस्पर सम्बन्ध की बात भी ध्यान देने योग्य है। वस्तु के एक-दूसरी के साथ सम्बन्ध को समझने से ही इस महान् सृष्टि में अन्तर्व्याप्त एकता तथा एक-स्वरिता का अनुमान लग सकता है। इसी लिए दार्शनिक कांट कहते हैं कि हर एक दार्शनिक विचार में इस "अधिकतम एकता" को सामने रखना चाहिए। पर आज का विज्ञान आदतन "अनेकवादी" हो गया है। उसे सीधी-सादी व्याख्या भी पसन्द नहीं है। वह हर चीज़ को उलझा देता है। पुराने ज़माने में नैतिकता के सिद्धान्त सीधी-सादी जबान में कह दिये जाते थे: "सत्यं वद", "धर्मं चर"। आज हम इसी को दूसरे ढंग से कहेंगे—"सच बोलने से अपना जीवन सुखी होता है। समाज में व्यवस्था कायम रहती है। इसलिए सच बोलो।" अब हमको सोचने, तर्क करने की काफ़ी गुन्जाइश हो गयी है। सच बोलने से अपना जीवन सुखी क्यों होता है? समाज में व्यवस्था कैसे क़ायम रहती है? इत्यादि बातें मन में उठने लगेंगी।

अर्नेस्ट कैसिरेर[२] के समूचे दर्शन-सिद्धान्त पर विवेचन करते हुए डेविड बामगार्ड ने इस कथन को सही नहीं माना है कि सीधे ढंग से कही हुई पुरानी बात आज की उलझन भरी भाषा की तुलना में कहीं उत्तम है। वे कहते हैं कि कोई एक बात सीधे कह देने से ही उसका महत्त्व समझ में नहीं आ सकता। हमने कह दिया कि चोरी मत करो। पर इससे यह कहाँ मालूम हुआ कि "तुमको चोरी कभी नहीं करनी चाहिए। किसी भी दशा में चोरी मत करो।" इतनी बात समझाने के लिए वाक्य को लम्बा करना पड़ेगा। "झूठ मत बोलो।" यह कह देना बहुत सही है, पर ऐसे भी अवसर आते हैं जब इस आदेश का अपवाद करना पड़ता है, जैसे किसी का प्राण बचाने के लिए झूठ बोलना जरूरी हो सकता है। तलवार लेकर कोई व्यक्ति किसी का पीछा करता चला आ रहा हो। वह व्यक्ति भागकर किसी मकान में छिप जाय। उसका पीछा करनेवाला यदि मकान-

१. वही, पृष्ठ ६३।

२. डॉ० अर्नस्ट कैसिरेर का जन्म २८ जुलाई, १८७४ को जर्मनी के ब्रेसला नगर में हुआ था। उनकी मृत्यु १३ अप्रैल, १९५४ को हुई। उनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ ERVENNTNISPROBLEM—Problem of Knowledge—सन् १९०४ में प्रकाशित हुआ था। कैसिरेर पश्चिम के दार्शनिकों में "प्रतीक का रूप" का सिद्धान्त प्रतिपादित करनेवाले पहले पंडित समझे जाते हैं।

मालिक से पूछे—"क्या इसमें अमुक व्यक्ति छिपा है ?"—तो क्या उत्तर दिया जाएगा? उस समय सत्य काम न देगा। ऐसे अवसरों पर धार्मिक आदेशों की अवज्ञा करने को हमारे यहाँ आपद्धर्म कहते हैं। कैसिरेर के दर्शन पर आलोचना करते हुए डेविड बामगार्ड ने ऐसे आदेशों को इतनी सरलता से कह देने को "सरलता का अतिक्रमण"[१] कहा है। प्रतीक को "सरलता के अतिक्रमण" के दायरे से बाहर निकालने पर ही वह ठीक से समझ में आ सकेगा।

मानव-बुद्धि की सीमा

कांट ने एक बड़े मार्के की बात कही थी। उनका कथन था कि "मानव-बुद्धि से वस्तु की जानकारी पैदा होती है, स्वयं वस्तु नहीं पैदा होती।" कैसिरेर इस सिद्धान्त से पूर्णतः सहमत थे। उन्होंने **बुद्धि द्वारा वस्तु की जानकारी** के सिद्धान्त को ही प्रतिपादित करते हुए यह सिद्ध किया था कि जो वस्तु हमारे सामने है, उसकी सत्ता हमारी बुद्धि तक ही है। उसने जिस चीज़ को जिस रूप में समझा, उसका वैसा नाम रख दिया। इसलिए हमारे सामने जो कुछ भी है, वह मानसिक प्रतिबिम्ब है, कल्पना मात्र है। जो कुछ दृश्य है वह 'प्रतीकात्मक रूप"[२] मात्र है। रील ऐसे लोगों ने कैसिरेर की इस बात का घोर विरोध करते हुए लिखा था कि "जो सामने आँख से दिखाई पड़ रहा है, उसे मानसिक प्रतिबिम्ब या कल्पना कैसे मान लें ?" पर अंधा आदमी हाथी का पैर छूकर उसे खम्भ क्यों समझता या कहता है ? आकाश में वर्षा के जलकणों पर सूर्य की किरणों को रंग-बिरंगे ढंग से खेलते देखकर हम लोग उसे भगवान् इन्द्र का धनुष क्यों समझते हैं ? बुद्धि का आइना जितना तथा जैसे होगा, वैसी परछाईं पड़ेगी। वैसे ही विचार दार्शनिक विद्वान् वारवर्ग तथा उनके अनेक अनुयायियों के थे। वारबर्ग कला, धर्म, भाषा तथा विज्ञान—हर चीज में **प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति** मानते थे। इतिहास को भी वे प्रतीकात्मक समझते थे।[३]

ज्ञान भी प्रतीकात्मक है

वारबर्ग की यह बात कैसिरेर ने और आगे बढ़ायी। उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि ज्ञान भी प्रतीकात्मक होता है। ज्ञान वह माध्यम है जिसके द्वारा हम "वास्तव में वास्त-

१. "The Philosppty of Ernest Cassirer"—Edited by Paul—Arthur Schilpp—Library of Liviing Philosophers, Illinois. Pub. 1949—Article by David Baumgardt—page 582.

२. वही पुस्तक, Dimitry Gawronsky का लेख, पृष्ठ १७।

३. वही—F. Saxl का लेख, पृष्ठ ४८-४९।

विकता" को पहुँचने का प्रयास करते हैं।[1] तो फिर जब "वास्तव में वास्तविकता" का पता नहीं है तो कैसे और किस प्रकार माध्यमवाली वस्तु, यानी ज्ञान को प्रतीकात्मक से अधिक ऊपर उठी वस्तु कहा जाय ? संसार में जो कुछ हमारी मन-वचन-कर्म सम्बन्धी इन्द्रियों से सम्बन्ध रखनेवाला या उस पर प्रभाव डालनेवाला है उसका इन्द्रिय-ज्ञान करने का हम सतत प्रयत्न करते रहते हैं और इन्द्रिय सम्बन्धी तथा इन्द्रिय-ज्ञान ये दोनों एक-दूसरे से इतना घना सम्बन्ध रखते हैं कि इनकी जानकारी भी प्रतीकात्मक होगी। असली जानकारी हो गयी, यह दावा कोई नहीं कर सकता। इसलिए यही मानना पड़ेगा कि प्रतीकात्मक जानकारी है। इसका प्रमाण भी मौजूद है। यह विश्व एक नियम, एक व्यवस्था में बंधा हुआ है। आरम्भिक काल में मनुष्य इसके तत्त्वों से अधिक निकट था। वह भाषा आदि प्रतीकों का सहारा लेकर नहीं चलता था। जो कुछ देखता या अनुभव करता था, उसके अनुसार इशारों से काम चला लेता था। ऐसी दशा में प्रकृति से उसका सीधा सम्पर्क था। किन्तु ज्यों-ज्यों भाषा बनती गयी, मानव ने प्रतीक के सहारे बात को समझना तथा समझाना शुरू किया, वह प्रकृति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध तोड़ता गया। आज हम अखबारों से वर्षा का तथा मौसम का अनुमान लगाते हैं। आज हम आँकड़ों के सहारे यह समझने का प्रयास करते हैं कि कितने व्यक्तियों के भोजन भर खाद्य सामग्री है। पिछली सभ्यता समझने के लिए पिछली कला के प्रतीक का सहारा लेना पड़ेगा। ऐसे सहारे में यह दोष भी हो सकता है कि हमने ठीक से सही बात को भाषा में व्यक्त न किया हो या आँकड़ों को उचित ढंग से न तैयार किया हो। कैसिरेर का मत था कि ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती गयी, भाषा, साहित्य, कला, विज्ञान, सबने मिलकर एक प्रतीकात्मक सभ्यता बना दी है जिसमें जो कुछ है, वह प्रतीक के रूप में है, असली नहीं है।[2] इसका अर्थ तो यह हुआ कि प्रतीक के विकास के साथ हम वास्तविकता से दूर होते जा रहे हैं। हमको ज्ञान के स्थान पर ज्ञान का प्रतीक प्राप्त हो रहा है।

किन्तु, बिना बुद्धि के ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। बुद्धि ही मनुष्य का सबसे बड़ा सम्बल है। यूनानी दार्शनिक अरस्तू मनुष्य को "विवेक-युक्त सामाजिक पशु" कहते थे। कैसिरेर भी मानव-पशु को इसी प्रकार का जन्तु मानते हैं, पर "भाषा, कला, धर्म, विज्ञान आदि के द्वारा वह पशु से अधिक ऊँचे ढंग के समाज में रहता है।"[3] यह सही हो सकता है, पर मानव स्वयं पशु-प्रतीक है, यह भी स्थापित हो गया। मनुष्य ने जो दर्शन-शास्त्र तथा धर्मशास्त्र बनाया है, उसका भी केवल एक ही कारण है। वह "मैं और तू"

१. वही, Hendrik J, Pos का लेख, पृष्ठ ७८—"Sense in the Sensuous."
२. वही, पृष्ठ ६६। ३. वही, Franz Kaufmann, पृष्ठ ८४४-४५।

"मनुष्य तथा ईश्वर" के घनिष्ठ सम्बन्ध को जानने का प्रयास है।[1] चूँकि ये दोनों चीज़ें माध्यम हुईं, अतएव इनको भी प्रतीकात्मक मानना पड़ेगा। इसलिए, यह भी मानना पड़ेगा कि धर्म स्वतः मानवता के परे वस्तु नहीं है बल्कि उसकी सीमा के भीतर है। चूँकि पूर्ण ब्रह्म तथा मनुष्य में कोई अन्तर नहीं है, अतएव मनुष्य का धर्म-प्रतीक मनुष्य के बाहर नहीं हो सकता।[2] ईश्वर ने मनुष्य को जो सबसे बड़ी वस्तु दी है, वह है सोचने की शक्ति। इस शक्ति से ही उसने धर्म-प्रतीक बनाया है। उसका लक्ष्य है अपनी अनन्त सत्ता को पहचानना। अपनी अनन्त सत्ता को पहचानने के लिए अपने से बाहर नहीं जाना है। अपने ही भीतर प्रवेश करना है। इसलिए धर्म-प्रतीक के द्वारा अपने ऊपर, अपने अज्ञान के ऊपर विजय प्राप्त करनी है। यह विजय अपने से बाहर जाकर नहीं, अपने आत्म-समर्पण से होगी।[3] धर्म ही एकमात्र ऐसा प्रतीक है जो आत्म-समर्पण से लक्ष्य तक ले जाता है। धर्म की इसी लिए इतनी मर्यादा है। मनुष्य का जो कुछ प्रयत्न है वह आध्यात्मिक मुक्ति के लिए है। वह जो कुछ कर रहा है, अपने बंधनों से अपना छुटकारा प्राप्त करने के लिए। अपनी अभिव्यक्ति के लिए तथा "क्रमागत आत्म-मुक्ति" के लिए उसने भिन्न प्रकार के प्रतीकों की रचना की है, रचना करता जा रहा है। पर, इन बातों को समझने के लिए आवश्यक यह है कि 'हम अपने जीव-विज्ञान को आध्यात्मिक जीव-विज्ञान बना दें," अपने दर्शनशास्त्र को मानवता के अधिक निकट ला दें।[4]

दूरी का कारण प्रतीक

हम ऊपर लिख आये हैं कि प्रतीक एक माध्यममात्र है। ज्ञान स्वतः भी माध्यम है। बीच के आदमी की तब ज़रूरत होती है जब ख़ुद मुलाकात न हो। जब प्रत्यक्ष सम्बन्ध न हो तभी माध्यम की आवश्यकता पड़ती है। यदि माध्यम ठीक मिल गया तो असलियत को पहुँचा देता है, प्राप्त करा देता है। जिसने जितना अच्छा माध्यम बनाया वह उतनी ही जल्दी सही मार्ग पर, सही परिचय को प्राप्त करेगा। पर, जिसने जरा भी भूल की, वह ठोकरें खाता रहेगा। प्रतीक की यही सबसे बड़ी कठिनाई है। यदि उचित प्रतीक बने तो उचित मार्ग-प्रदर्शन होगा। यदि अनुचित तथा भ्रमात्मक प्रतीक बने तो मनुष्य ठोकर खाता रहेगा।

जब हमने यह मान लिया कि प्रतीक एक माध्यम है तो हमको फ्रीडरिक थियोडोर विशेर[5] के विचार को अपना लेने में क्या आपत्ति हो सकती है। उनका कहना था कि

१. वही, पृष्ठ ८४६। २. पृष्ठ, ८४८। ३. वही, पृष्ठ ८५२।
४. वही, David Bidney का लेख, पृष्ठ ५४१।
५. Friedrick Theodor Vischer.

प्रतीक तभी बनते हैं जब आदमी अपने को प्रकृति से दूर करना सीखता है। तब वह अपने आशय को प्रकट करने के लिए प्रकृति से भिन्न संदेश-वाहकों का प्रयोग करता है। प्रतीकात्मक वस्तु आशय को प्रकट करनेवाली एक क्रियाशील वस्तु है, जिसने इन्द्रिय-जन्य पदार्थ को बौद्धिक रूप दे दिया है। प्रतीक की महत्ता उसके माध्यम बनने की शक्ति में है। किन्तु जहाँ भी प्रतीक होगा, उसका मूलतः निश्चित आशय होगा। उसमें ध्रुवीयता होगी, ध्रुवत्व होगा। किन्तु उसके द्वारा एक-दूसरी से भिन्न वस्तुओं का एकीकरण भी होगा। प्रतीक के द्वारा ही इन्द्रियों को प्रभावित करनेवाली वस्तु तथा उनका ज्ञान, दोनों की जानकारी हो सकेगी। विचार तथा कार्य, ज्ञाता तथा ज्ञेय, प्रकृति और मनुष्य, मानव की आवश्यकताएँ तथा दैवी-तत्त्व, इन भिन्न चीजों की एकता स्थापित कर उनकी जानकारी करानेवाली वस्तु प्रतीक है।[१]

कला का माध्यम

कैसिरेर सभी प्रतीकों में ललित कला का प्रतीक श्रेष्ठ मानते थे, क्योंकि उसके नीचे धार्मिक प्रतीक का पुट है और उसमें विज्ञान की मर्यादा शामिल है। ललित कला सभी को समान रूप से आकृष्ट कर लेती है। पर, यह तभी वस्तुतः मुखरित और ललित होती है, जब इसकी तह में आध्यात्मिकता, धार्मिकता हो। कला के द्वारा मनुष्य ने अपने अभिमान, अपने दोष, अपनी इच्छा, अपनी महत्त्वाकांक्षाएँ—सबको साकार रूप दे दिया है। प्रकृति में उसने जो रूप-रंग देखा, जो कुछ सीखा तथा समझा, उनकी अपनी कूँची से नकल कर अपने चित्र या अपनी मूर्त्तियों में उतार देता है। अन्ततोगत्वा मानव के विचार, उसकी भावनाएँ, उसकी पीड़ाएँ या उसके अभिमान एक समान हैं। अतएव ललित कला की भाषा से हर प्रकार का मानव एक दूसरे के निकट आ जाता है। अतएव ललित कला का प्रतीकात्मक माध्यम श्रेष्ठ है।[२] पर कला जिसने दृश्य वस्तु की कोरी नकल करने का साधन बनाया, वह कभी भी सफल कलाकार नहीं हो सकता।[३] बहती हुई नदी को देखकर उसकी तस्वीर खींच देने का नाम कला नहीं है। उस नदी के प्रवाह में जो अन्तरात्मा है, जो आध्यात्मिकता है, जो मौलिकता है, वह भी कलाकार की पकड़ में आनी चाहिए। ऐसे गुण से हीन कला-प्रतीक से समाज की हानि होती है। ऐसी हीन कला के द्वारा इतिहास का अध्ययन भ्रमात्मक हो जाता है।

१. वही पुस्तक, Katharine Gilbert का लेख, पृष्ठ ६०९-१० "The opposites that are reconciled by the offices of symbols are many."

२. वही, पृष्ठ ६१२।

३. वही, पृष्ठ ६१३।

भाषा का प्रयोग

भाषा भी तो एक कला है। पर भाषा की कला मनुष्य ने बहुत बाद में सीखी। प्रारम्भ में भाषा का उदय उसी समय हुआ जिस समय मानव के मस्तिष्क का प्रभात-काल हुआ होगा। मनुष्य के मस्तिष्क की सबसे पहली तथा महती उपज भाषा है।[१] भाषा और कुछ नहीं, केवल नामकरण ही तो है। क की ध्वनि का **क** नाम रख दिया, इत्यादि तथा जो वस्तु सामने आयी उसका एक नाम रख दिया। व्याकरण तो बहुत बाद की चीज़ है। इसलिए भाषा और कुछ नहीं, नाम-प्रतीक है। पर सब प्रतीकों में सबसे सरल उपयोगी प्रतीक यही है, क्योंकि जब कभी, जिस समय आवश्यकता पड़ी, यह सरलता से उपलब्ध है। हमें प्यास लगी है। पानी का प्रतीक जल का चित्र भी हो सकता है। पर हम उसकी तस्वीर ढूँढ़ने कहाँ जायें? हम तो "पानी लाओ" कहकर छुट्टी पा जाते हैं। हमारा काम चल जाता है। किन्तु, गले के नीचे पानी जाना चाहिए और उस चीज़ को पानी कहना चाहिए, इतना भी सीखने में मनुष्य को बहुत काफ़ी समय लगा होगा। मन में "बाह्य तथा दृश्य जगत् तथा अन्तर और अदृश्य संसार" को पहचानने की अद्भुत क्षमता होती है।[२] इसी क्षमता के कारण उसने हजारों वर्षों में धीरे-धीरे अपने प्रतीक बनाये हैं। भाषा-प्रतीक सबसे प्राचीन तथा मौलिक है। प्रतीकात्मक रूप के सिद्धान्त के जन्मदाता कैसिरेर ने इस बात को स्वीकार कर हमारे नाद-ब्रह्म तथा शब्द-सिद्धान्त को मान लिया है। हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि प्रणव-नाद ॐ सृष्टि का प्रथम नाद था जिससे भाषा का, भाषा-प्रतीक का, जन्म हुआ है।

मन का उद्देश्य

बाह्य तथा अन्तर्जगत् का स्वामी, ज्ञाता तथा सूत्रधार मन हुआ जो भीतर और बाहर का सब कुछ जानता है। यह मन ज्यों-ज्यों विकसित होता जाता है, त्यों-त्यों उसके प्रतीक भी विकसित और परिपक्व होते रहते हैं। ज्यों-ज्यों वह अपने को सांसारिक बन्धनों से ऊपर उठाता चलता है, त्यों-त्यों उसका प्रतीकात्मक व्यवहार, उसका प्रतीक अधिक उन्नत होता चलेगा।[३] जिस मन में भीतर और बाहर की चीजों को ग्रहण करने की जितनी अधिक शक्ति होगी, उसके प्रतीक उतने ही अधिक व्यापक, अर्थ-युक्त तथा बाह्य-जगत् तथा अंतर-जगत् से सम्बन्धित होंगे। वही प्रतीक वास्तविक प्रतीक है, जो दोनों का सम्मिलित प्रतीक होता है। आवश्यकता इस बात की है कि

१. वही पुस्तक, Susanne K. Langer का लेख, पृष्ठ ३९१—९२।

२. वही, पृष्ठ ३९३।

३. वही, Robert S. Hartman का लेख, पृष्ठ ३०५।

प्रतीक को ठीक रूप में समझा तथा पहचाना जाय। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति किसी दूसरे के कंधे पर अपना हाथ रखता है। इसका क्या अर्थ होगा? जिस समय वह हाथ उसके कंधे पर गया, वह अपने इस शरीर का नहीं रहा जिसमें से निकलकर वह दूसरे के कंधे पर चला गया है। जिस समय वह अपने वास्तविक शरीर से अलग न होते हुए भी अलग होकर दूसरे के कंधे पर जा लगा, उस समय न वह अपने शरीर का रहा, न उसका वह रूप ही रह गया, जो हम समझते थे।[1] वह केवल एक प्रतीक रह गया— उसका अर्थ लगाना होगा। किसी के कंधे पर हाथ रखना प्रेम का प्रतीक हो सकता है, आत्मीयता का प्रतीक हो सकता है या सोते हुए आदमी को जगाने का प्रतीक हो सकता है। इस प्रकार प्रकट में जो आँख से दिखाई पड़ा, वह तो इतना ही था कि एक हाथ किसी दूसरे के कंधे पर गया। इस क्रिया ने क्या प्रतीक बनाया, यह मन के समझने की चीज़ हो गयी, पर केवल भाषा द्वारा इतना कह देने से कि "अमुक ने अमुक के कंधे पर हाथ रखा," बात साफ नहीं हुई। भाषा के माध्यम से प्रतीक का माध्यम स्पष्ट नहीं हुआ। पर यह भाषा का दोष हुआ। प्रतीक का नहीं। भाषा अपनी उच्च सीमा पर पहुँच कर सब कुछ कह सकती है, पर साधारण तौर पर भाषा मन के साधारण विचारों का "झूला" या "पालना" मात्र है।[2] मनुष्य में बुद्धि के विकास के समय से ही भाषा का उपयोग हर समय उठनेवाले साधारण विचारों को व्यक्त करने के लिए होता है, पर मन केवल साधारण विचारों की रंगभूमि नहीं है। मन तथा बुद्धि केवल भाववाचक वस्तु नहीं हैं। उनके सामने विश्व का व्यापक क्षेत्र नापने तथा आँकने के लिए है। अतः वे अपने विचार व्यक्त करने के लिए साधारण उपयोग की चीज़ से काम न लेकर एक नयी भाषा की रचना कर लेते हैं। वह वस्तु है प्रतीक। प्रतीकों में भी गणितात्मक प्रतीक बहुत ही सटीक तथा सार्थक होते हैं। गणित के प्रतीक अर्थ-रहित नहीं हैं।[3] संख्याओं का भी अपना अर्थ होता है। गणित के द्वारा जो कुछ भी सोचा या समझा जाता है, वह बहुत ही स्पष्ट अर्थ रखता है। सृष्टि के गूढ़तम रहस्य गणित के द्वारा हल हो जाते हैं। फलित ज्योतिष गलत हो सकता है, पर गणित ज्योतिष नहीं। अतएव अंकों की भाषा में प्रतीक बहुत ही शुद्ध तथा सार्थक होते हैं।

किन्तु गणित हो अथवा भाषा, दोनों का एक ही गुण प्रतीक में होता है। कई अंकों के मिलाने से एक संख्या प्राप्त होती है। यदि हमने कहा "दस" तो इसका अर्थ यह होगा

१. वही, पृष्ठ ३०५।
२. वही पुस्तक, Susanne K. Langer का लेख, पृष्ठ ४००।
३. वही पुस्तक, Harold R. Smart का लेख, पृष्ठ २६६।

कि दस इकाई मिलकर, पाँच दो मिलाकर या दो पाँच मिलकर यह संख्या बनी। यानी दस के प्रतीक में उसके विभाजन योग्य सभी अंक समाविष्ट हो गये। उसमें प्रवेश करके एक रूप को प्राप्त हो गये। इसी प्रकार संगीत-प्रतीक भी है। चाहे किसी भी भाषा में हो, ध्वनि तथा स्वर, शब्द तथा उनका चुनाव जब एक साथ मिलकर स्वर-लहरी उत्पन्न करते हैं, हम उसे संगीत कहते हैं। हमको उस संगीत की भाषा भले ही न समझ में आये, हमारा मन उसका आनन्द प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार बहुत-से शब्द मिलकर एक वाक्य बनता है। जब सब शब्दों का अर्थ एक में जोड़ दिया जाता है, तब समझ में आने योग्य अर्थ प्राप्त होता है। शब्दों का ऐसा संकलन कर, एक ही अर्थ समाविष्ट करनेवाले वाक्य एक बच्चा या दूसरे की भाषा न जाननेवाला नहीं बना सकता। इसी लिए उनको बात समझ में नहीं आती। इस एकता को उत्पन्न करनेवाला मन होता है।[१] अपने विकास के अनुसार मन स्वर-लहरी, अंक अथवा भाषा का एक-रसत्व तथा एक-अर्थत्व पैदा करता या निर्माण करता रहता है। कुछ शब्द रख देने से वाक्य नहीं बनते। हमने कह दिया कि "हम, खाना, गया हूँ, जब"—तो इसका कोई अर्थ नहीं बनता। यदि हमको यह प्रतीक बनाना है कि हमने खाना खा लिया तो कहना पड़ेगा—"मैं भोजन कर चुका।" अब, इतने शब्द मिलकर एक निश्चित परिणाम पर पहुँचना सम्भव हुआ। पर इस परिणाम पर पहुँचाया मन ने। प्रतीक बनाया मन ने। अतएव मन की मर्यादा को भुला देने से हम प्रतीक की गहराई तक नहीं पहुँच सकेंगे।

इसलिए घूम-फिर कैसिरेर तथा उनके समान विचार करनेवाले इसी नतीजे पर पहुँचे कि प्रतीक का मन तथा बुद्धि से, आध्यात्मिक पहलू से इतना घना सम्बन्ध है कि उसे समझने के लिए अध्यात्म-विद्या से सहायता लेनी पड़ेगी। जब यह तय हो गया कि बुद्धि अपने अनुभव के अनुसार प्रतीक बनाती है तो फिर बचा क्या समझने में। जितना अनुभव होगा, उतना ही समझ में आवेगा। पर यदि अपना अनुभव कम है तो दूसरे का सहारा तो है। जो दार्शनिक हैं, उनके अनुभव से काम लेना पड़ेगा। अनुभव हमारा बड़ा भारी सहारा है। पर कोरे भौतिकवाद के अनुभव से काम नहीं चलेगा। काम तो चलेगा कैसिरेर द्वारा वर्णित "अनुभव की अध्यात्म-विद्या" से।[२] उससे हम जो कुछ समझ सकेंगे, वही हमारा सहारा, वही हमारा ज्ञान होगा।

१. वही, पुस्तक Willian H. Werkmeister का लेख, पृष्ठ ७९६-९७।
२. वही पुस्तक—Carl H. Hamburg का लेख, पृष्ठ ११५—"Metaphysics of Experience,"

राजनीतिक प्रतीक

पिछले अध्यायों से यह स्पष्ट हो गया कि प्रतीक की रचना केवल प्रेरणावश नहीं होती। वह निश्चित आवश्यकता की पूर्ति करता है, जिसे उर्दू में "इलहाम" कहते हैं या जिसे हम आत्म-प्रेरणा कहते हैं। उसका तार्किक विश्लेषण नहीं हो सकता। हमारे ऋषि "मंत्र-द्रष्टा" कैसे हुए, वैदिक ऋचाओं की स्वतः प्रेरणा उन्हें कैसे हुई या हज़रत पैग़म्बर साहब को कुरान शरीफ़ का 'इलहाम' कैसे हुआ, ये सब बातें तर्क से साबित नहीं की जा सकतीं। जो बात तर्क से साबित नहीं होती, उसे पश्चिम के अनेक विद्वान् "बुद्धि-भ्रम" या "प्रमाद" तक कह बैठते हैं। इसी लिए बहुत-से पश्चिमी वैज्ञानिकों ने इलहाम या प्रेरणा की सत्ता ही अस्वीकार कर दी थी। उनका कहना था कि जिस चीज़ का विश्लेषण न हो सके, उसकी सत्ता ही क्योंकर मानी जाय।

प्रेरणा तथा विश्लेषण

किन्तु विश्लेषण द्वारा हम हर पदार्थ के भिन्न तत्त्वों को अलग-अलग कर देते हैं, उन तत्त्वों की छानबीन कर लेते हैं जो अन्य पदार्थों में भी समान रूप से पाये जाते हैं। हम अपने जिस दृष्टिकोण से किसी तत्त्व को जानते या पहचानते हैं, उसी दृष्टिकोण से हम अन्य तत्त्वों के साथ अपने जाने हुए तत्त्व का मिलान करते हैं। विश्लेषण की व्याख्या की जाय तो वह भिन्न तत्त्व-प्रतीकों में उस वस्तु का अनुवाद है। चूँकि हर सांसारिक वस्तु स्वतः में सम्पूर्ण नहीं है, अतः उसकी व्याख्या भी पूर्णतः सन्तोषजनक नहीं हो सकती। विशेष कर जब वह केवल अपने दृष्टिकोण से तत्त्वों का, तत्त्व-प्रतीकों का प्रतिनिरूपण हो। इसी लिए विश्लेषण के भीतर विश्लेषण, पुनः विश्लेषण, तर्क के भीतर तर्क चलता रहता है। हम सैकड़ों वर्षों से यह सोचते और कहते चले आ रहे हैं कि प्रकाश सीधी रेखा में यात्रा करता है। चाहे सूर्य का प्रकाश हो या बिजली की बत्ती का, प्रकाश की रेखा सीधी यात्रा करती है। ६० वर्ष पूर्व आइंस्टीन ऐसे विद्वान् पैदा हुए जिन्होंने आज के तीस वर्ष पूर्व यह साबित कर दिया कि जिसे हम सीधी रेखा कहते हैं, वह सीधी कैसे हुई ? उनके कथनानुसार इस गोल दुनिया में सीधी रेखा की व्याख्या ही ग़लत है।

तत्त्वों के विश्लेषण में ऐसा झगड़ा हमेशा लगा रहेगा, पर अन्तःप्रेरणा की बात

म ऐसा तर्क लागू नहीं हो सकता । अन्तःप्रेरणा एक सीधा-सादा कार्य है ।[1] इसके द्वारा हमारी बुद्धि किसी वस्तु के दृश्यात्मक या विश्लेषणात्मक तत्त्वों को छोड़कर उनके भीतर प्रवेश कर जाती है और उनकी प्रत्यक्ष जानकारी हासिल कर लेती है । हम अपने नित्य के जीवन में प्रेरणावश न जाने कितने काम किया करते हैं । प्रेरणावश काम करने से हम अनगिनत विपत्तियों तथा चिन्ताओं से बच जाते हैं । अन्तःप्रेरणा की बात अनसुनी करके मनुष्य अनगिनत विपत्तियों में जकड़ जाता है ।

बुद्धि का विषय

इसलिए प्रतीक के विद्यार्थी को अन्तःप्रेरणा तथा अन्तर्ज्ञान के भेद को नहीं भुलाना चाहिए । ज्ञान बुद्धि का विषय है । प्रेरणा आत्मा का विषय है । बुद्धि सदैव चिन्तन-शील रहती है । उसका चिन्तन दो प्रकार का होता है । एक चिन्तन में इच्छा होती है । हम जानते हैं कि किसी वस्तु की इच्छा कर रहे हैं । दूसरे प्रकार के चिन्तन में ज्ञान होता है । हम **जानते हैं** कि **जान** रहे हैं। ज्ञान अपने ज्ञान प्राप्त करने की समूची क्रियाओं पर ज्ञान प्राप्त करता रहता है ।[2] ज्ञाता तथा ज्ञेय का माध्यम बुद्धि है । इसी प्रकार जब मन में किसी चीज़ की इच्छा होती है तो उस इच्छा को वह साकार कर लेता है । उसकी मूर्त्ति खड़ी कर लेता है । स्त्री की इच्छा हुई । जैसी इच्छा हुई, वैसी स्त्री की मूर्त्ति मन के सामने खड़ी हो जाती है । इच्छा ने मूर्त्ति की रचना की । अब उस मूर्त्ति को जानने का काम हुआ । यानी चिन्तन के प्रथम भाग इच्छा ने मूर्त्ति की रचना। दूसरे भाग ज्ञान ने उसकी जानकारी हासिल की । स्पष्ट है कि मन द्वारा प्रतिमा की, मूर्त्ति की उत्पत्ति हुई । मूर्त्ति द्वारा मन की उत्पत्ति नहीं हुई । मूर्त्ति की जानकारी हासिल करके उसे प्राप्त करने का प्रयत्न प्रारम्भ होता है । इच्छा की पूर्त्ति की चेष्टा होती है । इससे यह स्पष्ट हुआ कि मूर्त्ति स्वयं न तो इच्छा है, न ज्ञान है, न क्रिया है । वह तो मन द्वारा उत्पन्न एक निरपेक्ष पदार्थ है । यह भी स्पष्ट हुआ कि मन के दो रूप हैं—इच्छा तथा ज्ञान । इन दोनों को मिलाकर क्रियाशक्ति सञ्चारित होती है । इच्छा और ज्ञान से मूर्त्ति बनती है । यह मूर्त्ति ही प्रतीक है ।

इच्छा-वैचित्र्य

इच्छा और ज्ञान से हर दिशा में प्रतीक बनते हैं । इच्छा-वैचित्र्य के अनुसार

१. H. Bergson—"An Introduction to Metaphysics"—T. E. Hume's Translation—Pub. 1912—page 8.
२. Josiah Royce—"The World and the Individual"—Pub. 1901—Vol. II—page 509.

प्रतीक-वैचित्र्य होता है। मानव-जीवन के हर पहलू में भिन्न-भिन्न प्रतीक होते हैं। समाज, राजनीति, विज्ञान, हर एक के अपने-अपने प्रतीक होते हैं, पर ये प्रतीक तत्सम्बन्धी इच्छा तथा ज्ञान की अभिव्यक्ति करते हैं। आज के ढाई सौ वर्ष पूर्व अमेरिकन सरकार में, लोगों के जान-माल की हिफ़ाज़त करनेवाली घुड़सवार सेना की वीरता तथा दृढ़ता के लिए बड़ी ख्याति थी। इसलिए घुड़सवारों के लम्बे जूते तथा घोड़े की ज़ीन, इन दोनों चीज़ों को "वीरता के कार्य" का प्रतीक माना जाता था। कहीं पर ज़ीन तथा जूता की तस्वीर बना देने से घुड़सवार सेना की वीरता का इतिहास अंकित हो जाता था। इन दोनों चीज़ों को देखने से ही देश भर के वीर घुड़सवारों की वीरता अंकित हो जाती थी। किन्तु हर देश में ये चीज़ें वीरता का प्रतीक नहीं थीं। जिस देश में वीरता के कार्य के लिए घोड़े की इच्छा होती थी तथा घुड़सवारों की वीरता का ज्ञान होता था, वहीं पर ऊपर लिखे प्रतीक काम देते थे।

राष्ट्रीय ध्वज

हमारे देश में सूर्यवंशी नरेशों की वीरता प्रसिद्ध है। पराक्रम का उदाहरण सूर्य से बढ़कर और क्या हो सकता है, जिसके तेज से पृथ्वी में अन्न, जल सब कुछ होता है। प्रकृति के प्रत्येक तत्त्व पर सूर्य विजयी होता है। अतएव "विजय की इच्छा करनेवाले, सूर्य के समान पराक्रमी बनने की कामना करनेवाले तथा सूर्यवंशी नरेशों के समान इतिहास बनाने की इच्छा रखनेवाले लोगों ने" अपनी पताका पर सूर्य का चित्र बना दिया था। संसार की माया-ममता छोड़कर मोक्ष की साधना करनेवाले साधु-संन्यासी जिस रंग का वस्त्र पहनते हैं, उसी रंग का झण्डा बनाने का अर्थ है "संसार की सब कुछ ममता त्यागकर हम अपने राज्य के लिए होम होने को तैयार हैं।" भारतवर्ष में सबसे अधिक संख्या हिन्दुओं की है। हिन्दू जाति का प्रिय रंग केसरिया है। मुसलमानों का प्रिय रंग हरा है। ईसाई आदि अन्य जातियों का प्रतीक श्वेत रंग है। समूचे भारतवर्ष का हित—इन सब जाति, धर्म, सम्प्रदाय को एक में मिलाकर चलने में है, इनके हित-साधन में है। इन सबकी समान रूप से सेवा करने की, संगठित रखने की इच्छा तथा ज्ञान का प्रतीक हमारा तिरंगा झण्डा है। इन सबके हित-साधन के लिए ग्रामीण तथा कुटीर उद्योग का सहारा लेकर, ग्रामों के जीवन को ऊँचा उठाने का प्रतीक चर्खा है। अतएव कांग्रेस ने तिरंगे के ऊपर चर्खा बना दिया।

जनता की आवश्यकता

कम्यूनिस्ट लोग जनता की समूची शक्ति हाथ से काम करनेवाले किसान तथा कल-कारखाने के मजदूर को मानते हैं। देश का सर्वस्व यही दो वर्ग हैं। इन दो वर्गों को

राष्ट्र का प्रतीक माननेवालों ने किसान का प्रतीक खेत काटनेवाली हँसिया तथा मज़दूर का प्रतीक हथौड़ा बना दिया। यह बात दूसरी है कि हमारे तिरंगे झण्डे की तरह या सर्व-व्यापक चर्खे की तरह यह प्रतीक राष्ट्र की आत्मा की अभिव्यक्ति न हो। पर अपने दृष्टिकोण के अनुसार उत्पन्न हुई इच्छा तथा ज्ञान का प्रतीक हँसिया-हथौड़ा अवश्य है। पूर्वी देशों का अपने को सिरमौर माननेवाले तथा अपने नरेशों को सूर्य का प्रतिनिधि—अपने देश को सूर्य के समान प्रबल तथा तेजस्वी माननेवाले जापानियों ने अपने झण्डे पर सूर्य रखा था। इंग्लैण्ड, स्काटलैण्ड तथा वेल्स के तीन राज्य जब एक छत्र के नीचे आ गये तो इनका एक सम्मिलित झण्डा बना जिसे हम "यूनियन जैक" कहते हैं। इसमें लाल, सफेद तथा नीला रंग तीनों राज्यों के पताका-प्रतीक का सम्मिलित प्रतीक बन गया। इंग्लैण्ड के ही निवासी अमेरिका जाकर बसे थे। वे अपने साथ अपने झण्डे की कल्पना भी लेते गये और उन्होंने अपनी पताका में भी लाल, नीला तथा सफ़ेद रंग रखा। हर एक देश की पताका आरम्भ से अन्त तक एक नहीं रहती। पहले मुसलिम पताका पर यूनानी "बाज" पक्षी बना रहता था। बाद में द्वितीया का चन्द्रमा तथा सितारे बनने लगे। जब किसी देश की राजनीतिक भावना बदल जाती है, जब किसी देश की भौगोलिक सीमा बदल जाती है तो अपनी सीमा के भीतर सबकी इच्छा तथा ज्ञान को क्रियात्मक साधना का रूप देने के लिए पताका-प्रतीक भी भिन्न हो जाता है। सोवियत रूस की पताका आज वह नहीं है जो पचास वर्ष पहले थी। उस देश की राजनीतिक विचार-धारा के बदलते ही उसके मन के सामने इच्छा, इच्छा से उत्पन्न प्रतिमा, प्रतिमा से उत्पन्न ज्ञान भी बदल गया। अतएव रूस के सम्राट् जार की पताका भी बदल गयी। राष्ट्रीय पताका-प्रतीक के बारे में एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। ऐसे प्रतीक विगत स्मृतियाँ तथा जनसमूह की वर्तमान जीवन-परिस्थिति को मिलाकर बनते हैं[1] इसलिए हर देश की पताका उसके जनसमूह की राजनीतिक इच्छा का प्रतीक होती है।

अधिकांश का प्रतीक

पर सबकी इच्छा की ठीक से जानकारी करना बड़ा कठिन है। कोई नहीं कह सकता कि सोवियत रूस का हर व्यक्ति "हँसिया-हथौड़ा" के सिद्धान्त को मानता है। कोई नहीं कह सकता कि हर भारतीय कांग्रेस के चर्खा का सिद्धान्त मानता है। पर ऐसे

१. Symbols and Society—Pub. Conference on Science, Philosophy and Religion, New York-Pub. 1955—Article on "Symbols of of Political Community"—by Karl. Deutsch—page 39.

मामले में केवल एक ही कामचलाऊ सिद्धान्त मान लेना चाहिए ; वह यह कि अधिकांश की इच्छा का वही प्रतीक है। भारतीय राष्ट्रीय पताका पर अशोक का चक्र है। वह चक्र बौद्धकालीन "धर्म-चक्र-परिवर्तन" का प्रतीक है। उस समय वह चक्र धार्मिक क्रान्ति का प्रतीक था। आज हमारा अशोकचक्र नैतिक तथा सामाजिक पुनःसंगठन का प्रतीक है। पर चक्र के साथ पुरानी स्मृति जुड़ी हुई है। चक्र के साथ परिवर्तन की परिकल्पना संयुक्त है। चक्र के साथ भारतीय जनता की अपनी वर्तमान परिस्थिति में आमूल परिवर्तन करने की भावना सन्निहित है। अतः इतनी इच्छा तथा इतने ज्ञान के साथ संयोग होने पर हमारे राष्ट्रीय ध्वज की रचना हुई है।

विश्व-प्रतीक

ईसाई "क्रास" का ज़िक्र हम पिछले अध्यायों में कर आये हैं। ईसा के त्याग तथा बलिदान की उस अमर कहानी में बड़ा बल है। स्विट्जरलैण्ड के छोटे-छोटे राज्यों का जब संघ बना, नवीन स्विट्जरलैण्ड की रचना हुई, उसने 'क्रास' के प्राचीन प्रतीक को अपने झण्डे पर रखकर प्राचीन स्मृति तथा साहस की प्राचीन गाथा को हर एक नागरिक के मनःपटल पर अंकित कर दिया। इसी प्रकार मित्र राष्ट्रसंघ ने अपने ध्वज पर विश्व का गोल मानचित्र बना रखा है ताकि "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना वह अपने हर सदस्य के मन पर अंकित करते रहे। विश्व-बंधुत्व का प्रतीक विश्व का मानचित्र नया प्रतीक नहीं है। अनेक अंतरराष्ट्रीय अवसरों पर इसका उपयोग हो चुका है। राष्ट्रसंघ के वर्तमान प्रतीक के साथ प्राचीन स्मृति अंकित है। इस स्मृति से राजनीतिक दल या नेता या राजा लाभ भी उठाना चाहते हैं। इसी लिए इतिहास साक्षी है कि नये राज्य के विस्तार पर नरेश लोग उस देश की पताका को समाप्त नहीं करते, अपने देश की पताका में सम्मिलित कर लेते हैं या उसी पताका को अपना लेते हैं। कई प्रतीकों को मिलाकर जो प्रतीक बनते हैं उन्हें सम्मिलित प्रतीक कहते हैं और ऐसे प्रतीकों के ज्वलन्त उदाहरण पचासों राष्ट्रीय ध्वज हैं। ये ध्वज सम्मिलित इच्छा तथा सम्मिलित संकल्प, सम्मिलित ज्ञान तथा सम्मिलित क्रिया के प्रतीक होते हैं। लोग इनके आकर्षण में ऐसा बँध जाते हैं कि पताका के झुकते ही वे समझ जाते हैं कि अब सम्मिलित इच्छा, ज्ञान, क्रिया में शिथिलता आ गयी या वह समाप्त हो गयी। इतिहास में ऐसे सैकड़ों महायुद्धों की कथाएँ मिलेंगी जिनमें जीती हुई सेना यकायक हतोत्साह और पराजित हो गयी, क्योंकि जिसके हाथ में ध्वज था, वह किसी कारणवश गिर गया। शत्रु भी इस बात की चेष्टा करता है कि राजा का झंडा ले चलनेवाला पहले मारा जाय ताकि लोगों का उत्साह समाप्त हो जाय। सामूहिक इच्छा के प्रतीकीकरण में जितना लाभ है, उतना ही ख़तरा भी है। सामूहिक

इच्छा यदि एक साथ जागती हैं तो एक साथ ही सो भी जाती है। यदि वह एक साथ सचेष्ट होती है तो एक साथ निश्चेष्ट भी हो सकती है। इसलिए सामूहिक प्रतीक बनानेवालों को ऐसे प्रतीक में अधिक से अधिक प्राचीन स्मृति तथा वर्तमान आकांक्षाओं को प्रकट करना होगा ताकि प्रतीक सामने न रहने पर भी उसका प्रभाव अन्तर्मानस पर बना रहे। सामने राष्ट्रीय पताका न भी दिखाई पड़े, पर उसकी भावना मन में इच्छा तथा ज्ञान को सचेष्ट करती रहे। मन की स्थिति ऐसी रहे कि प्रतीक का कलेवर आँख से न दिखाई पड़ने पर भी उसका विचार, उसका संकल्प बना रहे। ऐसी ही अनुभूति के कारण सेनाएँ शत्रु के हाथ में पड़ी हुई अपनी पताका छीनने के लिए प्राण उत्सर्ग कर देती हैं।

राजनीतिक प्रतीक के द्वारा एकता

ऐसे राजनीतिक प्रतीकों को समझने के लिए हमको हर एक देश की राजनीतिक विचारधारा को भी समझना चाहिए। राजनीति है क्या वस्तु? समाज पर लागू किये जानेवाले आदेशों को बनाना या बिगाड़ना—इसी का नाम राजनीति है।[१] राजनीतिक वर्ग उस व्यक्ति-समूह को कहते हैं जिसमें कुछ आदेशों को लोग स्वत: या आदतन मानते हैं तथा पालन करते हैं तथा कुछ को सम्भवत: बाध्य होकर उनका पालन करना पड़ता है। सामाजिक अनुभव तथा शिक्षा से ऐसा राजनीतिक वर्ग बनता है जिसमें स्वेच्छया आदेश माननेवाले या बाध्य होकर आदेश माननेवाले एक-दूसरे को शक्ति प्रदान करते रहते हैं। राजनीति का अध्ययन केवल इतना ही है कि उस समाज में आदेशों को पालन कराने का क्या तरीक़ा है—विधानसभा द्वारा, शासन द्वारा, सेना द्वारा, प्रजातंत्र द्वारा या निरंकुश शासन द्वारा। आदेशों को पालन कराने की जैसी राजनीतिक विधियाँ होंगी, वैसा ही प्रभाव सामाजिक शिक्षा पर पड़ेगा। प्रजातंत्रीय समाज तथा निरंकुश शासनवाले समाज की राजनीतिक शिक्षा पर इसी प्रकार प्रतीकों का भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है और जनता के मन तथा बुद्धि का विकास तदनुरूप होता रहता है।[२]

राजनीतिक वर्ग की सीमा बदलती रहती है। जितने अधिक लोग एक ही आदेशक (चाहे वह विधानसभा हो, नरेश हो, सेना हो इत्यादि) के आदेशों के अन्तर्गत होते हैं उतना ही बड़ा राजनीतिक कुनवा या वर्ग होगा। ऐसे कुनबे में वृद्धि के साथ उसका कार्यक्षेत्र भी व्यापक तथा विस्तृत होता जायेगा। यदि एक ही भाषा के लोगों का राज-

१. वही, पृष्ठ ३७।
२. इस विषय पर निम्नलिखित विद्वानों की रचनाएँ पढ़नी चाहिये—
S. A. Burrell, R. A. Kann—M. Du P. Leejr, P. Loewenheim. Richard Wan Wagenan, इत्यादि।

नीतिक वर्ग बहुभाषा-भाषियों का वर्ग बन गया तो उसकी समस्याएँ भी बढ़ जायेंगी। ऐसे कई समाज एक ही राजनीतिक आदेश के भीतर आ सकते हैं जिनके रहन-सहन में बड़ा अन्तर हो। ऐसे विभिन्न लोगों को एक सूत्र में मिलाकर रखना बड़ा ही कठिन काम है। हर एक की आशाओं तथा महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति कठिन हो जाती है। कोई ऐसी भी दृढ़ तथा शक्तिशाली वस्तु है जो छोटे-छोटे राजनीतिक वर्गों को एक में मिलाकर, बड़े वर्ग में शामिल कर देती है, उनको एक सूत्र में बाँध देती है। कोई ऐसी भी दुर्बलता है जिसके कारण बड़े-बड़े राजनीतिक वर्गों के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। किसी ऐसी दुर्बलता के कारण ही प्राचीन रोमन साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया। किसी ऐसी दृढ़ता के कारण ही प्राचीन ब्रिटिश साम्राज्य आज भी छिन्न-भिन्न नहीं हुआ। वह वस्तु है प्रतीक। जिस राजनीतिक वर्ग का प्रतीक इतना व्यापक तथा प्रभावशाली हुआ कि सबकी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति कर सके, प्रकट कर सके, वह वर्ग एक साथ चलता रहेगा। जिसका प्रतीक इसमें असफल रहा, उसे मैदान छोड़ना पड़ेगा। प्राचीन रोमन साम्राज्य ने चारों ओर अपनी पताका फहरा दी। बाज पक्षी बना हुआ उनका झण्डा चारों ओर गाड़ा गया। पर रोमन दिग्विजयी होकर गये थे। अपने में मिलाने के लिए नहीं गये थे। ब्रिटिश साम्राज्य जब टूटने लगा तो बड़ी सावधानी तथा चतुराई के साथ उसका नाम 'ब्रिटिश साम्राज्य' से बदलकर 'ब्रिटिश कामनवेल्थ'—"सर्व साधारण की सम्पत्ति" घोषित कर दिया गया। रोम साम्राज्य के लिए उनकी पताकामात्र ही प्रतीक थी। ब्रिटिश साम्राज्य का प्रतीक यूनियन जैक नहीं रहा। कामनवेल्थ के हर एक राज्य की पताका भिन्न-भिन्न है। "सर्व-साधारण की सम्पत्ति को एक सूत्र में पिरोनेवाले, गूथनेवाले हैं उनके नरेश। महारानी एलिज़बेथ आज ब्रिटिश कामनवेल्थ की 'प्रतीक' हैं। सब प्रतीकों में व्यक्ति-प्रतीक श्रेष्ठ होता है। वह सजीव, सचेष्ट, हमारी आत्मा से निकटतम तथा हमारे सुख-दुःख का प्रतिबिम्ब होता है। भारत की राष्ट्रीय एकता, भारतीय संघ के अन्तर्गत सभी प्रदेशों की एकता का प्रतीक हमारा राष्ट्रपति है। संयुक्त राज्य अमेरिका की राष्ट्रीय एकता का प्रतीक उनका 'प्रेसिडेंट' है। किन्तु, राष्ट्रपति का पद ऐतिहासिक पद-महत्त्व नहीं रखता। इस पद की उत्पत्ति प्रजातंत्रीय शासन-विधान से हुई है। हजार वर्ष पुरानी ब्रिटिश नरेश की परम्परा की स्मृति अपना अद्भुत ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। नरेश के साथ ही ब्रिटिश प्रजातंत्रीय प्रणाली का विकास, देश के शासन में नरेश का कोई भी हस्तक्षेप न होना, नरेश के होते हुए भी ब्रिटिश पार्लमेण्ट की स्वतंत्रता—इस समूचे इतिहास की छाप ब्रिटिश नरेश पर है। आज ब्रिटिश कामनवेल्थ में ब्रिटिश नरेश को "कामनवेल्थ के सदस्यों की एकता का प्रतीक" मानने में इसलिए आपत्ति नहीं हो सकती कि जिस प्रकार वह नरेश स्वयं अपने

राज्य के शासन में दखल नहीं देता, यद्यपि समूचा शासन उसी के नाम पर होता है, उसी प्रकार वह अपने कामनवेल्थ के सदस्यों के राज्य के शासन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता। वह इतिहास की पुरानी स्मृति तथा जनता की वर्तमान स्वतंत्र इच्छा का सम्मिलित प्रतीक है। इसी लिए सन् १९४९ में २७ अप्रैल को, लन्दन में एकत्रित, ब्रिटिश कामनवेल्थ प्रधान मंत्रियों के खुले अधिवेशन में भाषण करते हुए भारत के प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—[१]

"भारत सरकार ने यह घोषणा की है और स्वीकार किया है कि राष्ट्रों के इस 'कामनवेल्थ' की उसकी सम्पूर्ण सदस्यता बनी रहेगी और वह यह भी स्वीकार करती है कि उसके सदस्य, स्वतंत्र राज्यों के इस स्वाधीन संगठन का प्रतीक ब्रिटिश नरेश है और इस प्रकार वह नरेश इस कामनवेल्थ का 'प्रधान' है।" पं० जवाहरलाल नेहरू ने यह घोषणा करने के बाद भारतीय विधानपरिषद् में यह स्पष्ट कर दिया था कि जहाँ तक ब्रिटिश नरेश का सम्बन्ध है, भारतवर्ष उनकी अधीनता स्वीकार नहीं करता, पर "ब्रिटिश कामनवेल्थ के स्वतंत्र सदस्यों के इस संगठन का, ब्रिटिश सम्राट्के पद के कारण, 'प्रतीक' तथा प्रधान मानता है।" इस प्रकार नरेश की सत्ता नरेश के रूप में नहीं, एक स्वतंत्र संस्था के प्रधान के रूपमें, तथा संगठनमात्र के प्रतीक के रूप में रह गयी।[२] इस प्रकार भारतीय जनता की स्वतन्त्रता की इच्छा भी पूरी हो गयी और एक स्वतंत्र संगठन को एक साथ मिलाकर रखनेवाला प्रतीक भी प्राप्त हो गया। ब्रिटिश कामनवेल्थ की पताका, उसका ध्वज, उसका स्तम्भ, उसका एकीकरण ब्रिटिश नरेश हो गया।

राजनीतिक विचारधारा नित्य प्रति बदलती जा रही है। इस बदलती विचारधारा का ही प्रतीक ऊपर लिखा ब्रिटिश कामनवेल्थ है जो 'स्वतन्त्र देशों का स्वतंत्र संगठन" कहा जाता है। राजनीतिक सिद्धान्त के अनुसार किसी राज्य के अन्तर्गत ऐसा कोई संगठन नहीं हो सकता जो निश्चित नियम अथवा आदेशों से बाध्य न हो। कई स्वतंत्र राज्यों का गुट कतिपय अंतरराष्ट्रीय संधि, परम्परा या अन्तरराष्ट्रीय नियमों से बनता है। कामनवेल्थ न तो कोई स्वतंत्र राज्य है, न उनमें परस्पर संधि का ही कोई नियम है। कामनवेल्थ के भीतर सभी राज्य स्वतंत्र हैं। फिर भी, यदि वे एक साथ मिलकर बैठते हैं, परस्पर विचार करते हैं तथा एक नरेश को अपना प्रधान बनाये हुए हैं तो यह उनकी

१. Final Communique—27th April, 1949.

२. भारतीय विधानपरिषद् में पं० जवाहरलाल नेहरू का भाषण, १६ मई, १९४९—"Indian Constituent Assembly Debates—Vol. 8—page 2—10.

उस स्वतंत्र इच्छा तथा ज्ञान का परिणाम है जो एक साथ मिलकर चलने का परामर्श देता है और जिस परामर्श के प्रतीकस्वरूप नरेश को प्रधान बना लिया गया है या मान लिया गया है। 'प्रधान' के पद की मर्यादा ही यह होती है कि वह सबके पद को मिलाकर रखे, जो ऐसी देखरेख रखे कि एक-दूसरे से अलग होने की भावना पनपने न पाये। अतएव सिद्धान्तरूप से कामनवेल्थ की रचना कर मनुष्य की एक साथ मिलकर चलने की प्रवृत्ति को प्रश्रय दिया गया है। जबसे मनुष्य ने सामाजिक प्राणी बनना सीखा, उसने यह भी सीखा कि संगठित रूप से चलने में ही उसका कल्याण है। विश्व के संगठन को एक दूसरे सूत्र में सँभालकर रखनेवाली 'ईश्वर' की भावना है। एक वर्ग को एक सूत्र में रखने-वाली वस्तु समान महत्त्वाकांक्षा तथा संकल्प है। प्रजातन्त्र की कल्पना तथा स्वतंत्र रूप से अन्य देशों के साथ सहचार का साधन कामनवेल्थ है और उनकी इस प्रवृत्ति को जाग्रत तथा सचेष्ट रखनेवाली वस्तु का नाम है 'नरेश"। किन्तु यह नरेश ऐसा कोई अधिकार नहीं रखता कि अपनी संस्था के कार्यों में कोई हस्तक्षेप कर सके, वह हस्तक्षेप नहीं कर सकता। पर हस्तक्षेप के अधिकार का प्रतीक अवश्य है। परिवार में जिस प्रकार बड़ा-बूढ़ा लोगों के काम में हस्तक्षेप न करते हुए भी उनका मुखिया बना रहता है, उसका एक प्रभाव तो रहता ही है, वह परिवार के इतिहास तथा संस्कृति का सजीव उदाहरण अवश्य है। परिवार के सदस्य बालिग़ हो गये हैं। वे अपना इन्तजाम स्वयं कर रहे हैं। पर अपने बुजुर्ग का भी ध्यान रखते हैं। उसी प्रकार बुजुर्ग को भी भय रहता है कि परिवारवाले भी उसके कामों पर निगाह रखते होंगे। सम्राट् एडवर्ड अष्टम ने जब श्रीमती सिम्पसन से विवाह करना चाहा, उन्हें कामनवेल्थ के सदस्यों से कोई सहानुभूति न प्राप्त हो सकी। उनको राज्य छोड़ना पड़ा।

राजनीतिक प्रतीकों का कार्य

क्विंसी राइट ने[१] राजनीतिक प्रतीकों को 'रेगुलेटर्स'—नाज़िम, क़ायदे में रखने-वाला या ठीक रास्ते पर लगानेवाला कहा है। बात सही भी है। ऐसे प्रतीकों का अध्ययन दो दृष्टियों से होता है—उनसे क्या सीखा जा सकता है तथा उनको नियंत्रण में रखने से क्या लाभ हो सकता है। राजनीतिक प्रतीकों से यह पता चलता है कि राजनीतिक गुटों या संगठनों, राज्य, देश, क्षेत्र, जनता, विशिष्ट वर्ग आदि को इनसे क्या संदेश प्राप्त हो रहा है या किन सन्देशों का आदान-प्रदान हो रहा है। ऐसे प्रतीकों को किसके माध्यम से दूसरों के पास सन्देश भेजने का काम लिया जा रहा है—विधानसभा के द्वारा,

१. Quincy Wright—in "Symbols of Internationalism—" Stanfoud University Press—Stanford, Pub, 1951—Introduction.

समाचारपत्रों के द्वारा, व्याख्यानों के द्वारा—कोई-न-कोई माध्यम तो होगा ही। हमें यह भी देखना होगा कि कौन-कौन-से राजनीतिक प्रतीक एक-दूसरे के निकट हैं, एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं या बार-बार दुहराये जा रहे हैं। ऐसे ही अध्ययन से हम भिन्न युग, भिन्न वर्ग, भिन्न समुदाय के तत्कालीन जीवन के राजनीतिक दृष्टिकोण को समझ सकते हैं, उन देशों तथा उस काल के राजनीतिक इतिहास को जान सकते हैं। पर, राजनीतिक प्रतीकों की जानकारी कभी भी पूरी नहीं हो सकती। इसलिए कि राजनीतिक इतिहास तो जाना जा सकता है। राजनीतिक दृष्टिकोण का बदलता हुआ पट आसानी से नहीं पहचाना जा सकता। राजनीतिक विचारधारा बदलती रहती है और नये-नये प्रतीक बनाती रहती है। अतीत के राजनीतिक प्रतीक आज पुनः जाग्रत किये जा सकते हैं। अतीत काल से चले आनेवाले प्रतीक आज दफ़नाये जा सकते हैं। अन्य प्रतीकों के समान राजनीतिक प्रतीक भी शून्य मस्तिष्क से नहीं समझे जा सकते। राजनीतिक प्रतीक भी, अन्य प्रतीकों के समान, हमें आदेश देते हैं कि अपनी याददाश्त को टटोलो।[1]

राजनीनीतिक प्रतीकों के तीन मुख्य कार्य हैं :—

(१) इनके द्वारा किसी ख़ास समुदाय, क्षेत्र, घटना या आचरण की जानकारी होती है अथवा इनके सम्बन्ध की अनेक घटनाओं की स्मृति जाग्रत होती है जो सब मिलकर एक विशिष्ट वर्ग, समुदाय या देश की भावना पैदा करते हैं, जैसे भारतीय कहने से भारत के रहनेवालों की बहुत-सी बातें एक साथ सामने आ जाती हैं, राष्ट्रपरिषद् कहने से मित्र राष्ट्रसंघ की समूची समस्या सामने आ जाती है या पश्चिमी यूरोप कहने से उनकी सब बातें स्मृति के सामने नाच उठती हैं।

(२) वे ऐसी स्मृतियों की ओर ले जाते हैं जो पहलेवाली बात से जो भावना पैदा हुई है, उसके सम्बन्ध में और अधिक सोचने, समझने या निर्णय करने में सहायक होती हैं, जैसे 'पराक्रमी राजदूत', 'दुर्बल राष्ट्रपरिषद्' इत्यादि। राष्ट्रपरिषद् के साथ दुर्बल शब्द लगते ही उस संस्था के प्रति भावना ही दूसरी हो जायगी तथा हमारा विचार-क्रम बदल जायगा। विशेषणात्मक-प्रतीक की बड़ी मर्यादा है।

(३) ऐसे प्रतीक जो ऊपर लिखी दोनों प्रकार की बातों का एक साथ प्रतिनिधित्व

१. Susanne K. Langer—"Philosophy in a New Key," New American Library, New York, 1948 में इसकी अच्छी व्याख्या की गयी है।

करते हों, उनको प्रकट करते हों, जैसे अशोक-चक्र। इसके भीतर भारतीय धर्म, भारतीय इतिहास, उसका नैतिक आधार, उसकी परम्परा, उसका लक्ष्य, सब कुछ स्पष्ट हो जाता है। यह चक्र जो सन्देश दे रहा है, उसे अन्य राजनीतिक वर्ग ग्रहण करें या न करें, पर अपना सन्देश तो वह सुनायेगा ही। भारत के राष्ट्रीय झण्डे पर अशोक-चक्र देखकर जिसे भी उसका अर्थ जानने का कौतूहल होगा, उसे अनायास हमारे उस सन्देश को ग्रहण करना पड़ेगा।

भाषा में राजनीतिक प्रतीक

राजनीतिक प्रतीक केवल रूपात्मक ही नहीं होते, वे भाषात्मक भी होते हैं। जैसे 'स्वतंत्रता' या 'सुरक्षा' शब्द को लीजिए।[१] हमने जहाँ 'स्वतंत्रता' शब्द का उपयोग किया, उसके उपयोग के साथ हमारे सामने समूचा स्वतन्त्रता-संग्राम, अपने देश या अन्य देशों का इतिहास, हमारी राजनीतिक स्मृति के अनुसार, खड़ा हो जाता है। उसके साथ ही 'सुरक्षा' शब्द भी है। हमने तत्काल समझ लिया कि स्वतंत्रता की रक्षा के लिए सुरक्षा कितनी आवश्यक है तथा अपनी रक्षा के लिए, अपनी आत्मा की रक्षा के लिए स्वतंत्रता कितनी आवश्यक है। हम स्वतंत्रता इसलिए चाहते हैं कि हमारी महत्त्वाकांक्षाएँ पूरी हो सकें, हमारा आत्म-विकास हो सके और हम उस सन्देश को पूरा कर सकें जो बुद्धि हमें दे रही है। जो शासन-प्रणाली, जो शासक, जो देश हमारी इन कामनाओं या भावनाओं की पूर्ति में बाधक होता है, हम उससे स्वतंत्र होना चाहते हैं। राजनीतिक स्वतंत्रता स्वतः कोई मूल्य नहीं रखती, यदि वह मानव के लिए आवश्यक उच्चतम जीवन की पूर्ति न करती हो। यदि स्वतंत्र होने पर भी शासन उस पूर्ति के योग्य नहीं साबित होता तो उस शासन से भी स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है।[२] प्रजातंत्र में इसी लिए राजनीतिक दल बनते हैं जो ऐसी ही भावनाओं को जाग्रत कर अपने दल की महत्ता स्थापित करते हैं। इस भावना का सदुपयोग तथा दुरुपयोग भी हो सकता है। स्वतंत्रता होते हुए भी मनुष्य की आत्मा को कुचला जा सकता है, उसे पंगु बनाया जा सकता है। ऐसी दशा में क्रान्ति हो जाती है। अतएव 'स्वतंत्रता' शब्द कहते ही हमारे मन में पराधीनता के अभिशाप की गाथा तथा स्वाधीनता की उच्चता अनायास तथा आपसे आप पैदा हो जाती है। बंधन-रहित जीवन की मानव की प्राकृतिक

१. Symbols & Society, page 25.
२. Herbert A. Simon—"Administrative Behaviour"—Macmillan & Co., New York, 1947—page 198—219.

इच्छा तथा बन्धन-युक्त जीवन की जटिलता का समूचा इतिहास जाग उठता है। अतएव 'स्वतंत्रता' उस स्थिति का प्रतीक है जिसमें मानव अपने मनुजत्व को प्राप्त करता है।

शक्ति की भूख

परम शक्तिशाली भगवान् का अंश मानव अपने को शक्तिहीन नहीं देख सकता। शक्ति की उसमें सहज तथा स्वाभाविक भूख होती है। कोई भी मनुष्य अशक्त नहीं रहना चाहता। कोई भी मनुष्य निरवलम्ब नहीं रहना चाहता। वह अपना बल, अपना अधिकार बढ़ाना चाहता है। राजनीतिक शक्ति भी इसी भूख का परिणाम है। इस भूख के कारण अनगिनत उपद्रव होते रहते हैं और हो रहे हैं। इसी से परस्पर द्वेष भी पैदा होता रहता है। पर किसी भी दशा में द्वेष अकेले नहीं चलता। जहाँ राग होगा, वहीं द्वेष होगा। जो दूसरे से लड़ता है, वह कुछ से मेल भी रखता है। आज के युग में लड़ते-लड़ते मनुष्य थक गया है। अतः वह मेल की बात भी सोच रहा है। क्षुद्र राष्ट्रीय विचार को कल तक सब कुछ समझा जाता था। अब वही मानव फिर से अपनी सार्वभौम सत्ता तथा सार्वभौम बन्धुत्व की बात भी सोच रहा है। प्राचीन भारतीय आदर्श 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की ध्वनि अब फिर से कानों में गूँजने लगी है। इसी लिए राष्ट्रसंघ की भावना जड़ पकड़ती जा रही है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की परिकल्पना विश्व-बन्धुत्व की भूमिका है।

राजनीतिक आँकड़े

विश्वबन्धुत्व के हामी चाहे कितना भी प्रयत्न करें, पर द्वेष-विद्वेष के बीच से परस्पर की दूरी बढ़ रही है। इसका भी प्रतीक मौजूद है। यह प्रतीक अंक-प्रतीक के रूप में है। आँकड़ों में है। इन आँकड़ों का बड़ी सावधानी के साथ, पर बड़े परिश्रम से संकलन श्री इथील पूल ने किया था।[१] पहले तो उन्होंने बड़े राष्ट्रों के परस्पर बढ़ते हुए विद्वेष की तालिका दी है। उन्होंने उन देशों के पाँच प्रमुख समाचारपत्रों की सम्मतियाँ एकत्र की हैं कि उन्होंने एक-दूसरे देश के प्रति कितना ज़हर उगला। सन् १८९० से १९४९ के पचास वर्षों के बीच में जो कुछ लिखा गया है, उसका हिसाब लगाया गया है। इसके अनुसार 'अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध' की बात सबसे अधिक उन दिनों होती है जब महायुद्ध छिड़ा होता है। उसके बाद 'परस्पर का द्वेष बढ़ता ही जाता है। बढ़ता ही जा रहा है।'[२]

१. Ithiel de Sola Pool in "Symbols of Internationalism"—Published by Board of Trustees of Leland Stanford Junior University—See-Symbols & Society—page: 27-30. २. Pool—pages 60-63.

आलोच्य पचास वर्षों में यानी सन् १८९० से सन् १९४९ तक संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन तथा फ्रांस के पाँच प्रमुख पत्रों ने ३०० बार में से ११५ बार एक-दूसरे के विरुद्ध मत प्रकट किया था। संयुक्त राज्य, ब्रिटेन तथा जर्मनी के तीन राष्ट्रों के गुट में परस्पर अविश्वास प्रकट करने की सूचक संख्या २०२ है। संयुक्त राज्य, फ्रांस तथा जर्मनी के तीन के गुट में यह संख्या २१६ है। संयुक्तराज्य, फ्रांस तथा ब्रिटेन के तीन राष्ट्रों के गुट में विरोध-सूचक संख्या १७६ है। ब्रिटेन, फ्रांस, रूस के तीन गुट में १७७ है तथा संयुक्त राज्य-रूस-फ्रांस का तीन गुट अलग करके आँकड़ा देखें तो विरोध-सूचक संख्या १८४ होगी। सब मिलाकर देखा जाय तो रूस तथा जर्मनी की परस्पर विद्वेष की भावना-सूचक संख्या सबसे अधिक थी, यानी २४२ से २४९ के बीच में। द्वितीय महायुद्ध ने इस बात को साबित कर दिया। इस प्रकार ऊपर दिये गये अनुसूचक[1] अंक-प्रतीक से राजनीतिक विचार स्पष्ट प्रकट हो गये।

अंकों द्वारा राजनीतिक विद्वेष की भावना को आँकने का प्रयत्न क्विंसी राइट तथा क्लिंगबर्ग ने भी किया है। क्लिंगबर्ग ने इस इतिहास-सिद्ध बात को साबित कर दिया है कि फ्रांस तथा जर्मनी मनोवैज्ञानिक रूप से एक दूसरे के शत्रु हैं।[2] इनका आर्थिक-व्यापारिक सम्बन्ध भी टूटता जा रहा है। सन् १८८० से लेकर १९५२ के आँकड़े से यह बात प्रकट हो जायेगी। सन् १८८० में जर्मनी तथा फ्रांस के समूचे आयात-निर्यात के व्यापार में से एक-दूसरे के साथ ९.४ प्रतिशत व्यापार होता था। सन् १९१३ में ९.१ प्रतिशत, सन् १९२८ में ७.३ प्रतिशत। सन् १९३७ में, महायुद्ध के पूर्व ५.५ प्रतिशत तथा सन् १९५२ में ६.६ प्रतिशत यानी सन् १८८० का एक-तिहाई। इन दोनों देशों से जो विदेशी डाक जाती थी, विदेशों के साथ पत्र-व्यवहार होता था, उसमें परस्पर की विदेशी डाक का प्रतिशत सन् १८८८ में १५.२ था। सन् १९३७ में ३.७ प्रतिशत तथा सन् १९५२ में ४.४ प्रतिशत था। इसके विपरीत, एक-दूसरे से अधिक निकट स्वेडन, नार्वे, डेनमार्क तथा फिनलैण्ड में सन् १८८८ में ३१.१ प्रतिशत तथा १९४९ में ३९.१ प्रतिशत विदेशी डाक थी। इससे भी अधिक औसत था आयरलैंड से इंगलैण्ड, स्काटलैण्ड तथा वेल्स यानी यूनाइटेड किंगडम को आनेवाली विदेशी डाक का, यानी आयरलैण्ड की समूची विदेशी डाक का ७७.५ प्रतिशत सन् १९२८ में और ८३.३ प्रतिशत सन् १९४९ में था।

१. Index.

२. Frank L. Klingberg—"Studies in the Measurements of the Relations among Sovereign States"— Vol. VI—pages 335-352—Pub. 1941.

अपनी-अपनी

जो देश विश्व-बन्धुत्व की बहुत अधिक बात करते हैं तथा संसार को यह बतलाना चाहते हैं कि वे सबके कल्याण के लिए, सबको मिलाकर काम करना चाहते हैं, वे स्वयं अन्तरराष्ट्रीय प्रगति तथा चिन्ता से वस्तुत: अधिकतम मुख मोड़ते जा रहे हैं। इन सबको अपना घर सँभालने की अधिक चिन्ता हो गयी है । यह चिन्ता यानी क्षुद्र राष्ट्रीय भावना इनमें बढ़ती ही जा रही है । अन्तरराष्ट्रीय डाक संघ[1] के अनुसार सन् १९२८ में सोवियत रूस में यदि एक पत्र विदेश भेजा जाता था तो १७ पत्र देश के भीतर । सन् १९३७ में फी एक विदेशी पत्र पर ९६ देश के भीतर भेजे गये पत्रों का औसत था । इसके बाद के आँकड़े रूस ने नहीं प्रदान किये हैं । संयुक्त राज्य अमेरिका में सन् १८८० में फ़ी विदेशी पत्र पीछे २५ देशीय पत्र-व्यवहार होता था । सन् १९२८ में २८ का औसत हो गया और सन् १९५१ में एक विदेशी पत्र पीछे ७० देशी पत्र-व्यवहार का औसत था ।

अमेरिका ने अपना विदेशी व्यापार भी काफी सिकोड़ लिया है । सन् १८७९ में संयुक्त राज्य को विदेशी व्यापार से यदि एक डालर (पाँच रुपया) की आमदनी होती थी तो स्वदेशी, घरेलू व्यापार से पाँच की आय थी । सन् १९१३ में १ और ७ का औसत हो गया था । सन् १९५१ में यदि विदेशी व्यापार से एक की आमदनी होती थी तो स्वदेशी (घरेलू) व्यापार से ११ की—यानी ग्यारह गुना अधिक आमदनी होती थी । विदेशी मामलों में उस देश की रुचि भी घटती जा रही है । अन्तरराष्ट्रीय प्रेस समिति[2] ने सन् १९५२-५३ में एक गणना करके पता लगाया था कि वहाँ के (संयुक्त राज्य के) समाचार-पत्रों में जो स्थानीय समाचार छपते थे, उनका १।६ भाग पाठक पढ़ते थे । राष्ट्रीय समाचार का १।७ भाग पाठक पढ़ते थे, पर अन्तरराष्ट्रीय समाचार का १।८ भाग ही पढ़ा जाता था । विदेशी समाचारों में भी वही ज्यादातर पढ़े जाते थे जिनमें "अमेरिकन या संयुक्त राज्य" का समाचार के शीर्षक में ज़िक्र हो । सन् १९५३ में वहाँ पर एक मतगणना की गयी कि "आप अमेरिका के समाचारपत्रों में और अधिक विदेशी संवाद चाहते हैं या नहीं", तो केवल ८ प्रतिशत लोगों ने उत्तर भेजा कि "हाँ" और ७८ प्रतिशत ने उत्तर भेजा "जी, नहीं ।" और भी ज्वलंत प्रमाण लीजिए । सन् १९३४-१९४९ के बीच में अमेरिकन हाई स्कूलों में विदेशी भाषा की कक्षाओं में नाम लिखानेवाले विद्यार्थियों की संख्या में ५२ प्रतिशत की कमी हो गयी तथा अमेरिकन कालेजों में विदेशी भाषा पढ़नेवालों की संख्या सन् १९३६ से १९५३ के बीच में ४३ प्रतिशत घट गयी थी ।[3] ये

१. Universal Postal Union. २. International Press Institute.
३. Symbols and Society—page 35.

आँकड़े अमेरिकन या रूसी वर्तमान राजनीतिक गति के प्रतीक नहीं हैं तो क्या हैं ? अर्नेस्ट रेनन ने सही लिखा है कि "राष्ट्रीय समुदाय नित्य-प्रति के जीवन की मतगणना का परिणाम है।"

भावना तथा प्रतीक

राजनीतिक समाज अपनी भावना तथा कल्पनाओं को बनाता, बिगाड़ता तथा उनसे उलझता चलता है। राजनीतिक अंक-प्रतीक से ऐसी भावनाएँ बनतीं-बिगड़ती रहती हैं। उदाहरण के लिए यदि हम यह कहें कि सन् १९५३ में प्रतिसहस्र जीवित पैदा होनेवाले शिशुओं के पीछे वार्षिक शिशु-मृत्यु का औसत १२१.५४ था; सन् १९५६ में १०५.२४ तथा सन् १९५७ में ९७.२९ और सन् १९५८ में ९० से ९५ के बीच में[१] हो गया, तो उसका यही अर्थ होगा कि प्रदेश में शिशु-रक्षा पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है तथा प्रदेश का स्वास्थ्य सुधरा है। यदि हम यह कहें कि उत्तरप्रदेश में सन् १९५४-५५ में २४९ पशु-चिकित्सालय थे तथा मई, १९६० में ३९९ तो पशु-चिकित्सा में राज्य की बढ़ती हुई रुचि का यह प्रतीक है। यदि हम यह कहें कि सन् १९५५-५६ में प्रदेश में हाथ-करघे से १.७ लाख गज वस्त्र तैयार हुआ तथा मार्च, १९६० में ५.१ लाख गज़ तो वह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रतीक होगा।

ऐसे प्रतीकों से एक राजनीतिक भावना बनती है जो तत्कालीन शासन के पक्ष में होती है। राजनीतिक प्रतीकों की भावना का इतना महत्त्व होता है कि उनसे कल्याण तथा अकल्याण दोनों ही हो सकते हैं। यदि यह भावना बन जाय कि राष्ट्र-परिषद् के अन्तरराष्ट्रीय बल से हमारी राष्ट्रीयता को कोई ठेस नहीं पहुँचेगी, हमारे झण्डे की मर्यादा को संयुक्त राष्ट्रपरिषद् के झण्डे के सामने अप्रतिभ नहीं होना पड़ेगा तो हम राष्ट्रपरिषद् की ओर अधिक झुक सकते हैं। पर आज राष्ट्रीयता की रक्षा का आतंक ऐसा छाया हुआ है कि हम अन्तरराष्ट्रीयता से भयभीत हैं। जिन चीज़ों से हमारा प्रत्यक्ष स्वार्थ सिद्ध होता है, उनको तो हम अपना लेते हैं, जैसे अन्तरराष्ट्रीय द्रव्य-कोष[२], संयुक्त राष्ट्रपरिषद् की स्वास्थ्य, शिक्षा, समाज-कल्याण तथा खाद्य-सम्बन्धी शाखा। पर इसके आगे बढ़ने का हमारा साहस नहीं होता। यह कादरता ही, यह भय ही आज विश्व-बन्धुत्व के मार्ग में बहुत बड़ा रोड़ा है, काँटा है।

राजनीतिक कल्याण और प्रतीक

राजनीतिक सुधार तथा उद्धार के लिए राजनीतिक प्रतीक बहुत बड़ा काम कर

१. Monthly Bulletin of Statistics, July, 1960—U. P. Govt. page 747.
२. International Monetary Fund.

सकते हैं। झण्डे पर बना हुआ प्रतीक देखकर लोग सोच सकते हैं कि हमारी आंकाक्षाओं की यही अभिव्यक्ति है। इसी झण्डे के नीचे चलना चाहिए। वह ऐसी अभिव्यक्ति है अथवा नहीं, यह दूसरी बात है। इसका अनुभव बाद में होगा। ऐसे प्रतीक से, जिससे बहुत-से लोग आकर्षित हों, अन्य बहुत-से लोग भयभीत भी हो सकते हैं तथा उससे भाग भी सकते हैं। पाकिस्तान का एकदम मुसलिम प्रतीकी झण्डा देखकर हिन्दू भयभीत हो सकता है तथा यह सोच सकता है कि वहाँ पर उसका कोई स्थान नहीं है। भारत का तिरंगा झण्डा देख कर हरएक धर्म तथा विचार का व्यक्ति सोच सकता है कि उसके नीचे सबको शरण मिलेगी, बराबर अधिकार मिलेगा। गलत राजनीतिक प्रतीकों से कितने ही देश तथा राज्य छिन्न-भिन्न हो गये तथा सोच-समझकर बनाये गये राजनीतिक प्रतीक जैसे "यूनियन जैक" के नीचे युगों तक परस्पर युद्ध करनेवाले स्काटलैण्ड तथा इंग्लैण्ड प्रेम तथा सुख के साथ रह सकते हैं और रहते हैं।

यूरोप के इतिहास में धार्मिक तथा राजनीतिक युद्ध की कहानी बड़ी करुण है। सैकड़ों साल तक धर्मगुरु तथा राजा में प्रभुता के लिए संघर्ष चलता रहा। लाखों के प्राण गये। घोर अशान्ति छायी रही। राष्ट्र दो प्रतीकों के बीच में पिसता रहा—धर्म-प्रतीक (पोप का झण्डा) तथा राष्ट्र-प्रतीक। राजसत्ता ने धर्मसत्ता पर विजय प्राप्त की। राज्य की पताका ऊँचे उठी। एक बार राज्य की दृढ़ता स्थापित होने के बाद राज्य के झण्डे की गुरुता बढ़ी। बिस्मार्क ने जर्मनी की बिखरी शक्तियों को एक में मिला दिया। गैरिबाल्डी तथा मेज़िनी ने इटली को एकच्छत्र राज्य बना दिया।

राजनीतिक प्रतीक का मानव के उत्थान तथा पतन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस प्रतीक की मर्यादा न समझना गहरी भूल होगी।

समाज तथा प्रतीक

मानसिक आयु

पिछले अध्याय में हमने मन के दो भेद बतलाये हैं—दो अंग बतलाये हैं । एक तो इच्छा करनेवाला, दूसरा ज्ञान प्राप्त करनेवाला । इच्छा तथा ज्ञान के संयोग से क्रिया की उत्पत्ति होती है । मन के दो स्वरूप हैं । एक है ज्ञात मन तथा दूसरा है अज्ञात मन । इसी को चेतन या अचेतन मन भी कहते हैं । मन से ही बुद्धि उत्पन्न होती है । जिस व्यक्ति तथा समाज की बुद्धि का जितना विकास होगा, वह उतना ही प्रतीकात्मक कार्य करेगा । मनोविज्ञान ने बुद्धि का माप-दण्ड बना लिया है । बुद्धि-मात्रा[१] का अनुसूचक चिह्न १०० मान लेने से व्यक्ति की तीव्र या मन्द बुद्धि का पता चलता है । बुद्धि-मात्रा को जानने के लिए एक विधि का पालन करना पड़ता है । हर एक व्यवित की मानसिक उम्र (वय) तथा पैदायशी उम्र में अन्तर होता है । हमारे यहाँ तो कहते हैं कि "पेट में दाढ़ी है"—यानी यह बच्चा बचपन में ही बुजुर्गों के समान बुद्धिमान् है । ऐसे भी होते हैं कि बूढ़े हो गये, पर निरे मूर्ख बने रहते हैं । इसलिए बुद्धि-मात्रा प्राप्त करने के लिए मानसिक वय को वास्तविक वय से भाग करके १०० गुना कर दिया जाता है—

$$\frac{\text{मानसिक वय}^{2}}{\text{वास्तविक वय}^{3}} \times १०० = \text{बुद्धिमान}$$

जब यह मात्रा १०० से ऊपर होती है तो व्यक्ति को प्रखर बुद्धि तथा १०० से नीचे मन्द बुद्धि का समझते हैं । १०० के आस-पास को साधारण बुद्धि का समझते हैं । यह मात्रा १५-३० तक जड़[४] बुद्धि की, ४० से ७० तक निर्बल बुद्धि की, ७०—९० तक मन्द बुद्धि[५] की समझी जाती है । इसी को बुद्धि-भागफल[६] भी कहते हैं । साधारण बुद्धि का मनुष्य समाज के नियम, परम्परा, प्रणाली के अनुकूल व्यवहार करता है तथा उसमें संवेग तथा भावना का सामान्य रूप ही रहता है । वह जिस परिस्थिति में रहता है, उसमें निभाये जाता है ।

१. I. Q.
२. Mental Age.
३. Chronological Age.
४. Idiot.
५. Moron.
६. I. Q.

वह समायोजित रहता है। तीव्र बुद्धि का व्यक्ति अति संवेगी[1] तथा उत्तेजित हो जाता है। ज़रा-सी बात का उस पर असर हो जाता है। उससे किसी ने मज़ाक में भी कोई बात कह दी तो उसे चुभ जाती है। सामान्य बुद्धि के लोग सामाजिक बुद्धि अधिक रखते हैं। सामाजिक बुद्धि तथा सामान्य बुद्धि का परस्पर सम्बन्ध है। सामान्य बुद्धि के लोगों का व्यवहार तथा लोकाचार सामान्य होता है, पर मन्द बुद्धि का व्यवहार विकृत[2] हो जाता है। जिस व्यक्ति में सामाजिक बुद्धि अधिक होगी, वह बहिर्मुखी हो जाता है, यानी वह अपनी, अपने परिवार की सेवा से आगे बढ़कर समाज की सेवा की ओर भी प्रवृत्त होता है। मन्दबुद्धि व्यक्ति में प्रेरणा तथा संवेग का अभाव हो जाता है। उसमें मानसिक हीनता आ जाती है। किसी समाज के व्यवहार तथा कार्य को देखकर उसके अधिकांश व्यक्तियों की बुद्धि-मात्रा का अनुमान लगाया जा सकता है। इस प्रकार सामाजिक प्रगति उस समाज की **बुद्धि-मात्रा** का **प्रतीक** हुई।

मन के रोग

मन कोई स्थिर वस्तु नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन ने कहा है कि "चञ्चलस्तु मनः कृष्ण"—हे कृष्ण, मन चञ्चल है। उसकी चंचलता के ही कारण उसमें संवेगात्मक हलचल बराबर होती रहती है। उसकी भावना, इच्छा, ज्ञान आदि में बराबर उथल-पुथल होती रहती है।[3] ऐसी ही हलचल से उसे मनोदौर्बल्य[4] तथा विक्षेप[5] का रोग हो जाता है। मानसोपचार के विज्ञान के जन्मदाता फ्रेञ्च विद्वान् डॉ० पीनेल[6] ने मन के इन रोगों को दैवी प्रकोप नहीं, बल्कि संवेगात्मक प्रकोप सिद्ध किया था। अब हम यह समझ गये हैं कि मनोदौबर्ल्य का रोगी अपने दोष तथा अपनी दुर्बलताओं को समझता है, पर अपने ऊपर नियंत्रण नहीं रख सकता। जैसे, कोई व्यक्ति यह भली प्रकार समझता हो कि चोरी करना बुरी बात है, पर चोरी करने की अपनी आदत से मजबूर हो जाता है। किन्तु विक्षेप के रोगी को समय, स्थान तथा अपने व्यक्तित्व का भी ज्ञान नहीं रहता। विक्षेप के रोग से देहजात[7] तथा मनोजात[8] बीमारियाँ पैदा हो जाती हैं। कल्पनाग्रह, हठप्रवृत्ति, भीति (डर) चिन्ता तथा उन्माद[9] इत्यादि पैदा हो जाते हैं।

१. Emotional Sensitirity. २. Abnormal.
३. Disturbances in Emotional Aspect of Life.
४. Psychoneuroses. ५. Psychoses.
६. जन्म सन् १७४५—मृत्यु सन् १८२६।
७. Organic. ८. Functional.
९. Obsession, Compulsion, Phobia, Anxiety, Hysteria etc.

समाज में इन रोगों की वृद्धि उसके मानसिक ह्रास का प्रतीक होती है। सभ्य समाज ने अब इस सम्बन्ध में काफ़ी सावधानी बर्तना शुरू किया है। इसलिए कि अब विज्ञान ने यह साबित कर दिया है कि बहुत-से शारीरिक रोग, जैसे उदर-विकार या हृदय का रोग मानसिक संवेगों का परिणाम हैं। मन का प्रभाव शरीर के अंग-अंग पर तथा समाज के अंग-अंग पर पड़ता है। समाज की प्रचलित व्यवस्था का मन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। मान लीजिए कि समाज में बड़ी बेकारी है। इस बेकारी से नवयुवकों में जो निराशा उत्पन्न होगी उससे उनमें मानसिक रोग बढ़ेगा। इस प्रकार व्यापक रोग या प्रचलित आर्थिक व्यवस्था समाज की वस्तु-स्थिति का आवश्यक **प्रतीक** है। इन प्रतीकों के द्वारा समाज के प्राकृतिक वातावरण, दैहिक सीमाओं,[१] सामाजिक वातावरण तथा मानसिक अवस्था की जानकारी हो जाती है।

ज्ञात तथा अज्ञात मन

पिछले अध्यायों में, विशेषकर स्वप्न के अभ्याय में, हमने मन की दो अवस्थाओं पर प्रकाश डाला था। एक तो मन का वह भाग है जो जाग्रत अवस्था में क्रियाशील रहता है, वातावरण तथा परिस्थिति से प्रेरित होकर, उनके प्रभाव से काम करता है—यानी सोचता है, विचार करता है, ऐसी परिस्थितियों को देखकर जो इच्छा उत्पन्न होती है, उस पर विचार के अनुसार, ज्ञान के अनुसार कार्य करने का आदेश देता है। किन्तु इसको असली तथा मुख्य मन नहीं समझना चाहिए। सम्पूर्ण मन का तीन-चौथाई भाग अज्ञात या अचेतन मन है। यह एक अनुभवात्मक, संस्कारात्मक मानसिक शक्ति है। यही शक्ति हमारी शारीरिक और मानसिक चेष्टात्मक, बोधात्मक और संवेगात्मक[२] क्रियाओं का सञ्चालन करती है। मन के इस भाग का प्रभाव हमारे व्यवहार और विचारों पर परोक्ष रूप से सदैव पड़ता रहता है। इसी पर हमारे व्यक्तित्व का विकास आश्रित है। जिस व्यक्ति के अज्ञात मन में विरोधी भावों के द्वन्द्व से जितनी ही अधिक भावना-ग्रंथियाँ पड़ जाती हैं, उतना ही जटिल और संघर्षमय उसका जीवन हो जाता है।[३]

अज्ञात मन गतिशील है। इसमें सदा विरोधी इच्छाओं तथा विचारों का संघर्ष चलता रहता है। हमको उस संघर्ष की चेतना नहीं होती। जब बाह्य-जगत् का मन

१. Biological Limitations.
२. Cognative, Cognitive and Emotive.
३. डॉ० पद्मा अग्रवाल—"विकृत मनोविज्ञान", प्रका० मनोविज्ञान प्रकाशन, ५६, २३, गोविन्दपुरा, चौक, बाराणसी। सन् १९५९, पृष्ठ, ५१।

हो जाता है, जब बाह्य जगत् का हमें ज्ञान नहीं रहता, हम स्वप्न देखते हैं और समूचा व्यवहार करते हैं। कोई-न-कोई अव्यक्त शक्ति यह सब कराती अवश्य है। ज्ञात तथा अज्ञात मन में एक बड़ा भारी अन्तर यह है कि ज्ञात मन वास्तविक परिस्थिति इत्यादि के अनुसार विचार करके काम करता है, पर अज्ञात मन "ऐन्द्रिक-वासना-तृप्ति-सिद्धान्त" पर चलता है। वह सामाजिक नियमों से बँधा नहीं है। अज्ञात मन पर संस्कार की छाप है, अनुभूतियों की छाप है, ज्ञात मन में जिन बातों को तर्कवश, भयवश, सामाजिक प्रतिबन्धवश दबा दिया या छोड़ दिया जाता है, अज्ञात मन उसे संचित करके रखता है। यद्यपि ज्ञात और अज्ञात मन के विचारों में सामंजस्य नहीं है तथापि ज्ञात मन को अज्ञात मन से अपने विचार-विनिमय में बड़ी सहायता मिलती है। किसी ने यदि कभी एक कुत्ते को मार दिया और वह काटने दौड़ा तो उस समय ज्ञात मन ने शरीर को आदेश दिया कि भाग जाओ। वह व्यक्ति कुत्ते से बचकर भाग गया। पर दुबारा कुत्ते को देखकर जब मारने की इच्छा हुई तो उसे मारने के लिए सब कुछ परिस्थिति अनुकूल होने पर भी अज्ञात मन की अनुभूति तथा स्मृति से कुत्ते के काटने की घटना का बोध हो जाता है और तब ज्ञात मन उस विचार को छोड़ देता है। पर ज्ञात मन की इस अतृप्त इच्छा को अज्ञात मन बटोरकर रख लेता है और संज्ञाहीन अथवा निद्रा की अवस्था में स्वप्न में किसी चूहा या बिल्ली को ही मारकर अपनी वासना की तृप्ति करा लेता है। यह चूहा या बिल्ली वास्तव में उस कुत्ते का प्रतीक है। स्वप्न में देखी गयी जो बहुत-सी बातें निराधार कल्पना प्रतीत होती हैं, उनका वास्तविक आधार ज्ञात मन की अतृप्त इच्छा में मिलेगा। काम-शक्ति[१] हो या बाह्य-वस्तु से प्रेम, मन का अज्ञात भाग उनका सञ्चालन कर रहा है।

मानसिक संघर्ष का परिणाम

फ्रायड हों अथवा उनके मत के विरोधी डॉ० जुंग, सभी ने यह स्वीकार किया है कि ज्ञात मन में इच्छा की उत्पत्ति, ज्ञान, फिर क्रिया का कार्य अनवरत रूप से चल रहा है। फ्रायड के सिद्धान्त के अनुसार मानसिक रोगों का प्रमुख कारण अन्तर का संघर्ष और दमन है। जब कभी ज्ञात मन में संघर्ष उठता है, वह तर्क-वितर्क द्वारा शान्त कर लिया जाता है। इसके लिए मस्तिष्क में कुछ आवश्यक सूझ-सुझाव आ ही जाते हैं, क्योंकि संघर्ष के विषय, यानी वस्तु का हमें बोध होता है। उसकी लाभ-हानि पर हम विचार कर लेते हैं। परन्तु अज्ञात मन का संघर्ष भयंकर होता है। हमें चेतना नहीं होती कि हम क्या चाहते हैं। इच्छा की वस्तु-प्रकृति का ज्ञान ही नहीं होता। विश्लेषण करने

१. Libido.

पर इतना जान पड़ा है कि यह हमारी प्रकृति-मूल इच्छा और आदर्श का द्वन्द्व है। इस द्वन्द्व से किसी के भी जीवन की जय-पराजय हो सकती है। कभी अज्ञात मन की प्रकृत इच्छाएँ विजय पाती हैं, कभी वातावरण से बना हुआ जीवन-आदर्श। प्रायः प्रकृत इच्छाएँ ही पराजित होती हैं और उनका दमन कर दिया जाता है। किन्तु यह प्रत्यक्ष सत्य है कि किसी भी इच्छा को दबाने के लिए उसका दमन यथेष्ट नहीं होता। दमन से इच्छाएँ नष्ट नहीं होतीं। उलटे अभिव्यक्ति के लिए और भी उत्सुक तथा सबल हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त दमन का यह भी परिणाम होता है कि मनोजगत् में अनेक भावना-ग्रंथियाँ[1] बन जाती हैं जो मनोविच्छेद[2] का कारण बनती हैं और अन्ततोगत्वा अनेक मानसिक रोग भी हो जाते हैं।"[3]

मन में संघर्ष तथा दमन का प्रतीकात्मक रूप बन जाता है, जिसको समझने की जरूरत होती है। उसी प्रकार समाज के मानसिक रोग के प्रतीक से पूरे समाज का ही अध्ययन हो जाता है।

मन की वास्तविकता की बात

घूम-फिरकर सब बात मन पर ही आती है। अपने इस ग्रंथ के हर अध्याय में हमको मन पर ही विवेचन करना पड़ा है। उसकी वास्तविकता को समझाना पड़ा है ताकि मन से उत्पन्न प्रतीक समझ में आ सके। अपने निजी सुधार के लिए मन की गति को ठीक रखना है। अपने समाज के सुसंगठन के लिए सबके मन को एक समान बनाना है। वेद-वाक्य है :—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्

"एक साथ मिलकर चलो, संवाद करो, तुम्हारे मन एक ज्ञानवाले हों।"

इस मन को ही अपने में सब कुछ शक्ति तथा ज्ञान का भण्डार भरना है। तभी हम अपना कल्याण कर सकते हैं। वेदवाक्य है—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि, वीर्योऽसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि, ओजोऽसि ओजो मयि धेहि॥

"भगवन्, तू तेज है, मेरे अन्दर तेज स्थापित कर। तू जीवनी-शक्ति है, मेरे अन्दर यह शक्ति स्थापित कर। तू बल है, मुझे बल दे। तू ओज है, मुझे ओज दे।"

१. Mental Complexes, २. Mental dissociations.

३. वही, डॉ० पद्मा अग्रवाल की पुस्तक—"विकृत मनोविज्ञान"—पृष्ठ ११८।

ये सब चीजें मेरे अन्दर स्थापित होनी हैं। मेरी आत्मा में स्थापित होनी हैं। इनका भण्डार मुझे अपने मन में भरना है। यह 'मैं'-मेरा मन है।

किन्तु मैं क्या हूँ? मैं उसी परमात्मा का स्वरूप हूँ। मनुष्य ईश्वर का प्रतीक है। परमात्मा के अतिरिक्त, ब्रह्म के अतिरिक्त, और कहीं कुछ भी नहीं है। ईशोपनिषद् में शुरू में ही कह दिया है कि

सर्वं खल्विदं ब्रह्म

यह सारा जगत् ईश्वर से आच्छादित है। छान्दोग्य उपनिषद् (३:१४:१) ने लिखा है कि "निश्चय यह सब ब्रह्म है, उससे उत्पन्न होता है, उसमें लीन होता है।" श्वेताश्वतर उपनिषद् (६:११) कहती है कि वह एक देव सब भूतों में छिपा है, सर्व-व्यापी है। पश्चिमी विद्वान् स्पिनोजा का भी यही मत है। मुंडक उपनिषद् (३:१:१) के अनुसार "द्वासुपर्णा"—एक ही वृक्ष यानी प्राकृत जगत् पर दो पक्षी—जीव और परमात्मा बैठे हैं। एक पक्षी वृक्ष के फल को खाता है, यानी भोगता है और दूसरा खाता नहीं, केवल देखता है। यह दूसरा पक्षी चेतन आत्मा है—ब्रह्म है—साक्षी है। मनुष्य का जीव ही सब कुछ है। पर उस मनुष्य में तीन चीजें हैं। ऋषि आरुणि ने श्वेत-केतु से कहा था कि "मनुष्य में मन अन्नमय है, प्राण जलमय है, वाणी तेजोमय है। मन ही मनुष्य का राजा है। इसी को मनुष्य का सञ्चालन करना है। मनुष्य में चेतना धारा के रूप में "निरन्तर बहती रहती है। यह सदा आगे जाती है। कभी पीछे नहीं लौटती. . .कोई अवस्था किसी बीती हुई अवस्था की नकल नहीं होती। कोई और भेद न हो तो इतना भेद तो होता ही है कि इनमें एक वर्तमान अनुभव है और दूसरी किसी बीते हुए अनुभव की स्मृति। वर्तमान में हम बाहरी पदार्थों के सम्पर्क में आते हैं। स्मृति में वह सम्पर्क विद्यमान नहीं होता। पहले प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। दूसरे प्रकार के ज्ञान में उपलब्धों के चित्र या बिम्ब हमारे सम्मुख आते हैं। जागरण में ये दोनों बोध मिले-जुले होते हैं। हम पदार्थों को देखते हैं, उन्हें छूते हैं, उसके साथ ही अनेक अनुभवों को स्मरण भी करते हैं। चित्र की अपेक्षा प्रत्यक्ष का प्रभाव अधिक तीव्र होता है। हमारे जीवन का अच्छा काल निद्रा में गुजरता है। निद्राकाल में हम स्वप्न भी देखते है। स्वप्न-अवस्था में बाह्य वस्तुओं से सम्पर्क तो टूट जाता है परन्तु चित्र विद्यमान रहते हैं। प्रत्यक्षीकरण के अभाव में चित्रों को तीव्रतम रूप में प्रकट होने का अवसर मिलता है। हम चित्र और प्रत्यक्ष में भेद नहीं कर सकते. . .।"[१]

किन्तु अनुभव की, अनुभूति की तीन अवस्थाएँ होती हैं। प्रश्नोपनिषद् में गार्ग्य

१. डॉ० दीवानचन्द्र—"दर्शनसंग्रह"—सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, १९५८—पृष्ठ १७—१८।

ने पिप्पलाद से पूछा कि "कौन देव स्वप्नों को देखता है, जिसे सुख अनुभव होता है ? और जिसमें ये सब प्रतिष्ठित हैं ?" (४:१) लिप्पलाद ने उत्तर दिया—

"स्वप्न अवस्था में यह देव अपनी महिमा को अनुभव करता है । जो कुछ देखा है, उसे फिर देखता है । जो सुना है, उसे फिर सुनता है, जो कुछ देशों में और दिशाओं में अनुभव किया है, उसे फिर अनुभव करता है । दृष्ट के साथ अदृष्ट को भी देखता है, सुने हुए के अतिरिक्त, जो नहीं सुना है, उसे भी सुनता है । अनुभूत के साथ उसे भी अनुभव करता है जो पहले नहीं अनुभव किया । सत् को देखता है और असत् को भी देखता है ।"

किन्तु "प्राण कभी नहीं सोते । जागरण में इन्द्रियाँ बाह्य जगत् से हमारा सम्पर्क बनाये रखती हैं । इन्द्रियाँ मन के संयोग में ही काम करती हैं । परन्तु मन उनके संयोग के बिना भी काम कर सकता है । निद्रा में इंद्रियाँ सो जाती हैं । मन नहीं सोता । प्रत्यक्षीकरण तो नहीं होता, परन्तु पिछले अनुभवों के चित्र स्वप्न में प्रस्तुत होते जाते हैं । स्वप्न में कभी स्मृति काम करती है । मन सत् को भी देखता है और असत् को भी देखता है ।"[१]

निद्रित अवस्था में स्वप्न का होना अनिवार्य नहीं हैं । "कुछ लोग स्वप्न-रहित निद्रा के बाद कहते हैं—'खूब आनन्द से सोये ।' उनके शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें उस आनन्द की अवस्था का स्मरण है । परन्तु यह ठीक नहीं मालूम होता कि उस आनन्द की अवस्था का स्मरण है । वास्तव में वे इतना ही कहते हैं कि उन्हें उस समय की बाबत कुछ याद नहीं है । इस प्रश्न का दार्शनिक पहलू है । चेतना मन या आत्मा का चिह्न है । जैसे कोई प्राकृतिक पदार्थ विस्तार-विहीन नहीं हो सकता, उसी तरह कोई मन चेतना-विहीन नहीं हो सकता ।"[२]

बात फिर मन की ग्रहण-शक्ति की रही । सोने या जागने से कुछ अन्तर नहीं पड़ता । योगी लोग देखते हैं और सुनते हैं—उन बातों को भी जो दूसरों के लिए विद्यमान नहीं होतीं । इसका अर्थ यही है कि उनकी ग्रहण-शक्ति अति तीव्र हो जाती है ।[३] मन की यह ग्रहण-शक्ति मनुष्य की तीनों अवस्थाओं में बनी रहती है—"जाग्रत, निद्रित तथा सुषुप्ति' की अवस्था । जाग्रत अवस्था में आत्मा या मन 'बहिष्प्रज्ञ" रहता है । बाहरी चीजों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है । आरुणि ने श्वेतकेतु से कहा था कि "सारी प्रजाएँ (जो कुछ दृष्ट जगत् में है) सत् पर आश्रित हैं और सत् में प्रतिष्ठित हैं । प्रथम सत् में तेज उत्पन्न हुआ, तेज से जल और जल से अन्न उत्पन्न हुआ ।" मन ही अन्नमय है । प्राण जल-

१. वही, पृष्ठ १९ । २. वही, पृष्ठ १९ ।

३. वही, पृष्ठ, ९८—"अभ्यास उसके तन्तुजाल और मस्तिष्क को अति सूक्ष्मग्राही बना देता है ।"

मय है। वाणी तेजोमय है। अतएव वाक् की सत्ता मन के ऊपर हुई। मन का सहारा वाक् है। प्राण है। निद्रा में स्वप्न-अवस्था सदा बनी रहती है। पिप्पलाद के अनुसार जागरण तथा स्वप्न-अवस्था के अलावा तीसरी अवस्था सुषुप्ति की है। इसमें चेतना बनी रहती है, परन्तु बाह्य पदार्थों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। माण्डूक्य उपनिषद् ने एक चौथी अवस्था बतलायी है। उसके अनुसार—

"चौथी अवस्था में न आन्तरिक अवस्थाओं का ज्ञान रहता है, न बाह्य वस्तुओं का। यह अवस्था सुषुप्ति की ज्ञानमय अवस्था भी नहीं। यह अलक्ष्य, अद्वैत, अचिन्त्य रूप है।"

इस चौथी अवस्था में मन मर जाता है। यह अवस्था समाधि की होती है, जो योगी जनों को ही सुलभ है। मन की गति पहले केवल जागरण-निद्रा-सुषुप्ति-अवस्था तक ही है। वैद्यक ने सुषुप्ति-अवस्था का जो वर्णन किया है वह स्वप्न के अध्याय में लिख आये हैं। मन की इन तीनों अवस्थाओं को हम कैसे प्रकट करें—कैसे पहचानें, कैसे समझें? इसके लिए एकमात्र उपाय **प्रतीक** है या कैसिरेर के शब्दों में 'प्रतीकात्मक रूप हैं।' कैसिरेर ने मन के विचित्र अनुभवों तथा गतियों के कारण ही मनुष्य को 'प्रतीकात्मक पशु'[१] कहा था।

संकेत का त्रिकोण

मन की ऊपर लिखी तीन अवस्थाओं के द्वारा ही हम वास्तव में जो कुछ इस जगत् में है, उसे जान या पहचान सकते हैं। हम जो कुछ जानते या पहचानते हैं और उससे हमारे मन में जो विचार उठते हैं उसको व्यक्त करने का साधन ही प्रतीक है।[२] इस व्यक्त करने के साधन को लेखक मॉरिस ने 'चिह्न' माना है। मॉरिस के अनुसार चिह्न अथवा संकेत उस वस्तु का नाम है जो ऐसे कार्य के लिए प्रेरित करता है जिसकी उस समय प्रेरणा ही होती।[३] जैसे, हम कोई बात कहने जा रहे हों पर दूसरा आँख से इशारा करके मना कर दे। किन्तु यदि यह कहा जाय कि जो संकेत है, वह संकेत देखनेवाले के मन से भिन्न है, तो यह भी ठीक नहीं है।[४] संकेत को समझनेवाले के मन में यदि सांके-

१. "Animal symbolicum."
२. Alfred North Whitehead—"Symbolism, its Meaning and Effect—"Macmillan & Co., London, 1927, Chapt. I.
३. Charles Morris—"Signs, Language and Behaviour"—Prentice Hall 1, New York, 1946—page 365.
४. C. J. Ducasse in two articles on "Philosophy and Phenomenological Research"—Vol. III, 1942—page 43.

तिक भाषा की कोई जानकारी नहीं है तो वह उसको समझेगा भी नहीं। पश्चिमी उत्तर-प्रदेश के कुछ भाग में 'हाँ' का अर्थ स्वीकृति तथा 'हूँ-अ' का अर्थ अस्वीकृति है। यदि हम 'हूँ-अ' को नहीं समझते तो ऐसे संकेत को हम पकड़ न सकेंगे। इसी लिए यह कहा जाता है कि संकेत की भाषा सार्वभौम नहीं हो सकती या नहीं होती।

प्रतीक हो या संकेत—और दोनों में अन्तर है—दोनों की एक ख़ास बात ध्यान में रखनी चाहिए। दार्शनिक बर्गसन के अनुसार संकेत अथवा प्रतीक त्रिकोणात्मक होते हैं—

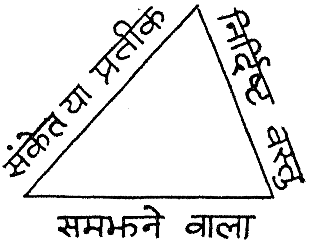

एक तो है समझनेवाला संकेत या प्रतीक का रूप। दूसरा हुआ इनके द्वारा निर्दिष्ट वस्तु और तीसरा हुआ वह जो इन दोनों बातों को समझता या पहचानता है। बिना किसी संकेत या प्रतीक की व्याख्या किये निर्दिष्ट पदार्थ को बुद्धि में कैसे लाया जायेगा? इसी लिए प्रतीक अन्त:प्रेरणा का ही विषय न बनकर ज्ञान का विषय हो जाता है। जितना जिसका बोध होगा, जितनी जिसकी जानकारी होगी, उसी के हिसाब से प्रतीक न केवल जाना जायगा बल्कि बनाया भी जायगा। मनोवैज्ञानिक विलियम जोंस ने लिखा है कि हमारा ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक तो किसी चीज़ के बारे में जानकारी का होना और दूसरे किसी चीज़ के बारे में जानकारी को हासिल करना। जहाँ अंध-विश्वास या अज्ञान होता है, वहाँ इस प्रकार की जानकारी हासिल नहीं की जाती। इसलिए ज्ञान का क्षेत्र मन के क्षेत्र पर निर्भर करेगा। हमने अपनी दुनिया जितनी बना रखी है, उसके भीतर ही यदि हम रहते हैं तो हमारे ज्ञान की उतनी ही सीमा बनी रहेगी। यदि हम अपने ज्ञान को विस्तृत करेंगे तो हमारी दुनिया भी उतनी ही बड़ी होती चली जायगी।[१] किन्तु ज्ञान के विस्तार में भी एक बाधा है।

संसार में ऐसी कोई चीज़ नहीं है जो किसी ओर **इंगित** न करती हो। एक वस्तु दूसरी वस्तु की ओर इशारा करती नज़र आती है। किसी वृक्ष की ओर देखा। पत्ते से

१. William Jones—"Principles of Psychology"—Henry Holt & Co. New York, 1890, Vol. I, Page 221.

ध्यान फूल की ओर, फूल से फल की ओर, फल से उसके स्वाद की ओर—फिर स्वाद से उसकी इच्छा की ओर, इच्छा से संकल्प, संकल्प से प्रेरणा, प्रेरणा से कार्य, कार्य में सफलता या फिर विफलता—इत्यादि एक पर एक वस्तु इंगित होती रहती है। हमारा नित्य प्रति का जीवन इसी प्रकार एक-दूसरी से सम्बद्ध वस्तुओं में लगा-लिपटा चल रहा है। इस सम्बन्ध की हम जितनी अधिक पहचान प्राप्त कर लेते हैं, हमारा सामाजिक जीवन उतना ही अधिक सुसम्बद्ध होता है। जो लोग आत्मा, परमात्मा, अन्तर्ज्ञान आदि की बात नहीं मानते, वे ऊपर लिखी वस्तुओं की "वस्तु से सम्बद्धता" के आधार पर यह मानते हैं कि एक आदमी दूसरे के मन की बात घटनाओं तथा संकेत या प्रतीकों के माध्यम से जान जाता है। हुसेर्ल[१] ऐसे मनोवैज्ञानिक के अनुसार दूसरे की मन की बात आदमी तभी समझ सकता है, जब वह प्रतीकात्मक भाषा को समझता हो। उन्होंने उदाहरण देकर यह साबित किया है कि बाहर से जो कुछ दिखाई देता है, उससे बात स्पष्ट नहीं होती। वह तो एक प्रतीक है, जिसके भीतरी अर्थ में पैठना होगा। यह भीतरी अर्थ ही उस वस्तु का, प्रतीक का आध्यात्मिक अर्थ है। हम एक पुस्तक देखते हैं। उसकी आकृति या जो कुछ उसमें लिखा है वह दूर से देखने में एक बाह्य पदार्थ है। मैं देख रहा हूँ कि पुस्तक है। मेरी मेज़ पर दायीं ओर रखी हुई है। पर ज्यों ही मैंने उसे खोलकर पढ़ना शुरू किया, मैं उसकी ओर एक बाहरी पदार्थ के रूप में आकर्षण से उठकर उसके भीतरी अर्थ में पहुँच गया और तब उस पुस्तक का समूचा रूप ही मेरे लिए बदल गया। यही चीज़ हर वस्तु के लिए लागू होती है। सामने बहुत-से मकान बने हैं। पर जब हम किसी मकान के भीतर जाते हैं, उसके भीतर रहनेवाले से हमारा परिचय होता है, उस समय उस मकान का महत्त्व ही बदल जाता है। इस घर में गोस्वामी तुलसीदास जी रहते थे—यह कहते ही उस घर को देखते ही हमारा मन रामायण तथा राम की कथा तक पहुँच जाता है। इसी प्रकार शब्दमात्र का कोई प्रयोजन नहीं होता, उनके अर्थ में शब्दों की सार्थकता है। एक-दूसरे का 'अर्थ' अथवा 'आशय' समझने से ही सामुदायिक भावना पैदा होती है और वैसी ही भावना से समाज का संगठन दृढ़ होता है। एक-दूसरे का आशय समझना तथा उसके प्रति सहानुभूति का होना ही मन का मिलना कहा जाता है।

१. Husserl—quoted by Alfred Schutz in "Symbols and Society"—Page—161, —"The physical object" "the other's body", events occurring on this body, and his bodily move-ments are apprehended as expressing the other' s "Spiritual I" towards whose motivational meaning context I am directed."

जिस समाज में अधिक से अधिक लोगों का मन मिला रहता है, वही बलवान् होता है और उसका बल उसके प्रतीकात्मक रूप के कारण होता है। जहाँ सामाजिक प्रतीक अधिकतम उन्नत होंगे, वह अधिकतम सभ्य समाज होगा। यह प्रश्न दूसरा है कि आज के समाज के प्रतीक अधिक उन्नत हैं या सभ्यता के आदिकाल के। यह बात तो वैसी समस्यामय है जैसा कि यह निर्णय करना कि आज का व्यक्ति अधिक सभ्य है या प्राकृतिक जीवन बितानेवाला आदिकाल का व्यक्ति।

हर एक का सीमित संसार

किन्तु मनुष्य चाहे किसी युग का हो, किसी सभ्यता का हो, हर एक का संसार उसके चारों ओर की सीमा तथा वातावरण में ही केन्द्रित रहता है। ऐसा हो सकता है कि ऐसी अपनी-अपनी दुनिया का क्षेत्र एक-दूसरे के क्षेत्र में पड़ता हो। पिता तथा पुत्र का अपना अलग संसार होते हुए भी क्षेत्र एक हो सकता है, पर क्षेत्र एक होने पर भी दृष्टिकोण में भेद हो सकता है। संसार की स्थिरता, समाज की दृढ़ता इसी बात पर निर्भर करती है कि अधिकतम लोगों का क्षेत्र भी एक ही हो और दृष्टिकोण भी एक ही हो। परिवार की प्रगति के लिए आवश्यक है कि पिता-पुत्र का दृष्टिकोण एक हो। समाज की प्रगति के लिए भी यही आवश्यक है। जितना ही अधिक सहचार तथा सहयोग एक-दूसरे के कार्य में होगा, उतनी ही अधिक सभ्यता तथा सामाजिक मर्यादा की वृद्धि होगी। जो लोग ऐसे सहयोग तथा सहकारिता के प्रतिकूल काम करेंगे, वे समाज में दोषी होंगे। "मैं" के स्थान पर "हम" की भावना हर एक समाज में बढ़नी ही चाहिए। "मेरे" हित की बात के स्थान पर "हमारे" हित की बात सोचनी चाहिए। आज समाज में "मेरे" हित के विरुद्ध काम करना उतना बड़ा अपराध नहीं है जितना "हमारे हित" के विरुद्ध काम करना। मेरे मकान के सामने कूड़ा-करकट फेंक देना कानूनन अपराध न हो, पर समाज का आदेश है कि जो व्यक्ति एक के मकान के सामने गन्दगी कर सकता है, वह सबके मकान के सामने कर सकता है। कूड़ा फेंकने के लिए समाज ने एक स्थान निश्चित कर रखा है। जो उस स्थान के अलावा दूसरे स्थानों पर फेंकता है, वह बीमारी फैलाने का काम करता है। अतएव यह बात "हमारे हित" के विरुद्ध है, इसलिए अपराध है। हर एक का अलग संसार उसके मन के भीतर है, पर बाह्य जगत् में अपना संसार दूसरे के साथ मिला देना होगा। तभी समाज चल सकेगा। समाज अपना हित किन बातों में समझता है, इसका प्रकट प्रतीक उस समय का कानून है, विधान है। सामाजिक विचारधाराएँ भिन्न होती हैं, इसका निर्देशक तो भिन्न देश के भिन्न कानून होते हैं। कहीं पर बलात्कार करने पर प्राणदण्ड होता है, कहीं पर उस पर सज़ा भी नहीं होती। कहीं पर चोरी के लिए हाथ

काट लिया जाता है। कहीं पर साधारण क़ैद की सज़ा होती है। किन्तु समाजों के अधिकतम समान नियमों को मिलाकर, उनका "अधिकतम सहयोग तथा सहचार" करानेवाली संस्था संयुक्त राष्ट्रसंघ, सबके अपने-अपने संसार को एक "संसार" बनाने का प्रतीक भारतीय सिद्धान्त कि 'विश्वबन्धु' बनो, भी मनुष्य की सार्वभौमिक, लौकिक, पारलौकिक एकता तथा आध्यात्मिकता का प्रतीक है।

संकेतों के तीन रूप

किन्तु प्रतीकों की इस दुनिया में प्रतीकों को समझना भी चाहिए। उनकी व्याख्या तथा उनका अर्थ भी जानना चाहिए, तभी विश्व में एकता स्थापित हो सकेगी। प्रतीक को यदि संकेत के रूप में मान लें, तो ब्रूनो स्नेल नामक विद्वान् के कथनानुसार[1] संकेत तीन प्रकार के होते हैं। पहली श्रेणी में तो निश्चित उद्देश्यात्मक कार्य होते हैं, जैसे सिर हिलाना, इशारा करना, इंगित करना, उंगली उठाना या मुँह से बोलना। दूसरी श्रेणी में भीतरी अनुभव या मन की बात को अपनी आकृति से व्यक्त करते हैं। ऐसे कार्य में निश्चयात्मक कार्य नहीं होता। वैसा करने की नीयत होती है। जैसे आँख मटकाना, जीभ निकाल देना या आँख बन्द कर लेना। कोई चीज़ देखने में बुरी लगी। आँख बन्द कर ली। तीसरी श्रेणी में नकल करते हैं, कार्य करनेवाले दूसरे पात्र का रूप हम कुछ समय के लिए स्वयं अपना लेते हैं। जैसे, यह बतलाने के लिए कि अमुक व्यक्ति काना है, हम अपनी एक आँख बन्द कर लें या रंगमंच पर हम अकबर, जहाँगीर, प्रताप, शिवाजी आदि का अभिनय करें। किन्तु दूसरी तथा तीसरी श्रेणी की चीज ही वास्तव में संकेत है, प्रतीक नहीं। इनके द्वारा ही प्रतीक की उत्पत्ति हो सकती है, पर प्रतीक तो इशारेबाज़ी की चीज़ नहीं है। वह निश्चयात्मक कार्य है। किसी गन्दी वस्तु को देखकर आँख बन्द कर लेने से यह तो प्रकट हो गया कि वह चीज़ हमें पसन्द नहीं है। पर इस संकेत से प्रतीक नहीं बना। सम्भव है कि जिस समय हमने गन्दी चीज़ को देखा हो, हमारे नेत्रों में कंकड़ी भी पड़ गयी हो और इसी लिए आँखें बन्द हो गयी हों। निश्चयात्मक कार्य या प्रतीक तो तब होगा जब हम मुँह से कहें कि इस चीज़ को यहाँ से हटा दो या हम हाथ बढ़ाकर इशारा करें कि "हटाओ, हटाओ"। इसलिए यह समझ लेना चाहिए कि **संकेतों** से समाज की सभ्यता नहीं आँकी या जाँची जा सकती। उसके लिए **प्रतीक** की आवश्यकता होती है। प्रतीक की भाषा प्रौढ़ होती है, संकेत की शैशवी।

१. Symbols and Society, page 167.

सत्य और असत्य

संकेत से प्रतीक तक पहुँच भी गये तो यह सोचना पड़ेगा कि हम जिसे प्रतीक समझ रहे हैं, वह सत्य है या असत्य । टॉमस हाब्ज़[१] ने लिखा था कि "सत्य तथा असत्य, ये वाणी के गुण हैं, वस्तु में नहीं. . .किसी वस्तु का सही ढंग से नाम बतलाना ही सत्य है ।" इसका अर्थ तो यह हुआ कि सच्चा ज्ञान वही है जिसमें सही अर्थ समझा या लगाया जाय । जिस वस्तु-स्थिति के वास्तविक रूप का प्रतीक होगा, वही सच्चा प्रतीक होगा । विश्वास या अविश्वास ऐसे प्रतीक की सत्यता या असत्यता को नहीं बदल सकते । यदि प्रतीक किसी वस्तु के सही अर्थ में है तो फिर वह अकाट्य है और उसकी सत्ता अक्षुण्ण है । सच और झूठ की विश्वास से स्वतंत्र सत्ता है । कोई भी विचार सही या गलत हो सकते हैं, सच या झूठ हो सकते हैं । पर किसी वस्तु का अर्थ निश्चित हो जाने पर उसकी सच या झूठ की परिभाषा भी निश्चित हो जाती है । और, यह निश्चित अर्थ ही प्रतीक है । सत्य तथा असत्य, ये दोनों प्रतीक की सम्पत्ति हैं । वह प्रतीक सत्य है जो किसी निश्चित वस्तु के लिए है । वह प्रतीक असत्य है यदि वह किसी निश्चित पदार्थ का बोधक नहीं है । डॉ० ईटन लिखते हैं कि "यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रतीक चिह्न, संकेत या ध्वनि या मूर्त्ति से अधिक बड़ी चीज़ है । प्रतीक इनमें से कोई भी चीज़ है और उसके अतिरिक्त वह मन पर पड़नेवाला प्रभाव भी है । यानी, उसके साथ जो मनोवैज्ञानिक गति उत्पन्न होती है, वह भी है । प्रतीक धारणाएँ हैं, इसलिए यह कहना कि सत्य प्रतीक की सम्पत्ति है, वास्तव में यह कहना है कि सत्य धारणाओंवाली वस्तु है ।"[२]

डॉ० ईटन आगे चलकर लिखते हैं कि बिना किसी वास्तविकता या सत्ता का हवाला दिये सत्य की समीक्षा नहीं की जा सकती । यह वास्तविकता विचार के रूप में, भावना आदि के रूप में हो सकती है । सत्य तो उस चीज़ को बतलाता है जो है । सत्य को समझने के लिए जिस चीज़ से हमारा तात्पर्य है, उसे समझना पड़ेगा । अतः ज्ञान प्रारम्भ से ही वास्तविकता की ओर ले जाया जाता है । उसका आध्यात्मिक लक्ष्य होता है । किन्तु आध्यात्मिकता की दिशा में विनम्रता से बढ़ना होगा । पहले तो वास्तविक की सीमित धारणा बनानी होगी । उसके बाद जितनी जानकारी बढ़ती जाय, अपनी धारणा का विस्तार उतना ही बढ़ाते जाना होगा ।

१, Thomas Hobbes—"Liviathan", Part I, Chapt 4, quoted by Dr. Eaton—"Symbolism and Truth"—page 149.

२. Eaton—Symbolism and Truth—page 149-50

धर्म की धारणा

उदाहरण के लिए धर्म की धारणा को लीजिए। अगर हम यह निश्चय कर लें कि बिना निश्चित प्रमाण मिले कि ईश्वर है, ईश्वर की सत्ता है, ईश्वर सत्य है, हम ईश्वर के प्रतीक, मूर्त्ति या प्रतिमा में आस्था नहीं रखेंगे अथवा धार्मिक प्रतीकों को नहीं मानेंगे, तो हमें शायद ईश्वर की सत्ता की कभी जानकारी न हो सके। सर्वसत्तावान्, सर्वशक्तिमान् प्रभु की जानकारी के लिए हमको उस दिशा में अपने मन का क्रमागत विकास करना होगा। हमको उन प्रतीकों का सहारा लेना होगा जो हमें उस वास्तविकता की ओर ले जा रहे हैं। यानी हमको पहले सीमित धारणा से चलना होगा। कला के द्वारा, चित्रों के द्वारा, मूर्त्ति के द्वारा, साहित्य के द्वारा, पौराणिक कथाओं के द्वारा हमको ईश्वर का प्रतीक भरा पड़ा मिलता है। उनके द्वारा हमको "उपासना के योग्य ईश्वर" तथा "दार्शनिकों के ईश्वर" की जानकारी शुरू होती है। संसार के बड़े-बड़े धर्म, हिन्दू, मुसलिम ईसाई, यहूदी, सभी धर्म उस ईश्वर की ओर "इंगित" करते हैं, संकेत करते हैं। यदि ईश्वर को धार्मिक रूप में समझना है तो पौराणिक रूप से उसकी व्याख्या करनी होगी, यदि ऐतिहासिक रूप से समझना है तो धार्मिक या राजनीतिक इतिहास के प्रतीक के माध्यम से समझना होगा, यदि अनैतिहासिक रूप से ही समझना है तो उसके प्रतीकात्मक रूप से समझना होगा। पर यह ध्यान में रखना होगा कि यदि धार्मिक प्रतीकों को धार्मिक रूप में काम करना है तो चाहे वैज्ञानिक दृष्टि से यह बात कितनी ही दूर क्यों न हो, उनको **वास्तविकता का अंकन** मानना पड़ेगा। श्री वाइल्डर लिखते हैं—

"पौराणिक गाथाएँ वास्तविकता का संवाद देती हैं। उनमें व्यक्त सत्य का महत्त्व अथवा उनमें सत्य का कितना अनुपात है यह उस गाथा के बनानेवालों के अनुभव तथा बुद्धिमता पर निर्भर करता है। बाइबिल (ईसाई धर्मग्रंथ) के एक-दूसरे से मिले-जुले प्रतीक वास्तविक अर्थ रखते हैं और उनमें बोधात्मक अन्तर्दृष्टि है। वे महँगे नैतिक अनुभव से पैदा हुए हैं और यदि उन अनुभवों में कोई त्रुटि होगी तो उनमें भी त्रुटि हो सकती है। उनके रचयिता वे प्रवक्ता या पैग्रम्बर लोग हैं जिनकी अन्तर्दृष्टि उनके जीवन से ही प्रमाणित है. . .इन कारणों से हम ईसाई धर्म की चित्र-रूपी भाषा को सत्यता का मूल्य प्रदान करेंगे ही।"[१]

१. Amos N. Wllder—"—Myth and Symbol in the New Testament"—Chapt. VIII—page 145.

किन्तु धार्मिक तथ्य इतनी आसानी से ही पकड़ में नहीं आ जाते । ज्ञात तथा अज्ञात मानस किस प्रकार इन्हें ग्रहण करता है, यह वैज्ञानिक विवेचन से स्पष्ट न होगा । ईसाई पादरी गालाघेर ने लिखा है[१] कि "अदृश्य के त्वरित अनुभव या उसकी आध्यात्मिक वास्तविकता की अनुभूति (जो वास्तव में दुर्लभ वस्तु है) के अतिरिक्त मैं इन धार्मिक वस्तुओं को स्वत: उनके द्वारा पूरी तरह से नहीं जान सकता । शब्दों में उनको ठीक तरह से व्यक्त नहीं किया जा सकता । उन्हें समझने के लिए सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है । इन्हीं बातों से धर्म में प्रतीकवाद की आवश्यकता उत्पन्न हुई । धर्म के तथ्यों को बुद्धि सरलता से ग्रहण नहीं कर सकती । धर्म इतनी गूढ़ तथा रहस्यमय वस्तु है कि शब्दों के द्वारा उसको प्रकट नहीं किया जा सकता, इसी लिए प्रतीक की आवश्यकता पड़ी, उसके माध्यम की आवश्यकता हुई ।"

जो बात या विचार या वस्तु शब्दों द्वारा व्यक्त न की जा सके, उसी को व्यक्त करने की कला का नाम प्रतीक है । बोक्सर ने लिखा है:—[२]

"ईश्वर का तत्त्व हमारी पकड़ के बाहर है. . .प्राचीन धर्मग्रन्थ हमको ईश्वर से इतना दूर तथा मानव-जीवन के लिए दुर्भेद्य बना देते हैं कि धर्म का वह लक्ष्य ही समाप्त हो जाता है कि मनुष्य अपने मालिक के निकटतम आता रहे । इस उलझन में हमको केवल प्रतीकों के द्वारा मार्ग मिलता है. . .ईश्वर से निकटता केवल शब्दों के द्वारा नहीं हो सकती । इसके लिए हमको कार्यात्मिक प्रतीकों से काम लेना पड़ता है. . .शब्द से अधिक क्रिया का हमारे ऊपर प्रभाव पड़ता है. . .इसके द्वारा गूढ़ धार्मिक बातें भी समझ में आ सकती हैं ।"

बोक्सर ने जिन कार्य-प्रतीकों का जिक्र किया है, वही है उपासना का कर्मकाण्ड, पूजन-विधि, अर्चन का तरीका—तंत्र, मंत्र, हवन, जप, तप इत्यादि । ऐसे उपायों का सहारा आदि युग का आदमी भी लेता था, आज भी लेता है । धार्मिक प्रतीक पहले भी थे, अब भी हैं । केवल उन प्रतीकों के प्रति दृष्टिकोण में अन्तर हो गया है । प्रारम्भिक मनुष्य जादू-टोना के प्रतीक में भी विश्वास करता था, सभ्य मनुष्य उनमें विश्वास नहीं करता । दोनों दृष्टिकोणों में जो अन्तर है, ब्राइज़न ने बड़े अच्छे ढंग से समझाया है । वे लिखते हैं:—[३]

१. Eugene Gallagher, S,J. "The Value of Symbolism"—in "Symbols and Values, an Initial Study"—Chapt VI—page 116-17.
२. Ben Zion Bokser—"Symbolic Knowledge and Religious Truth". in "Symbols and Values"—Chapt. XI—page 173.
३. Lymon Bryson—"The Quest for Symbols"—in Symbols and Values"—Chapt I, page 4.

"प्रारम्भिक लोगों का "मन" प्रतीकों का उपयोग प्रकृति पर प्रत्यक्ष रूपेण नियंत्रण प्राप्त करने के लिए करता है। उसका विश्वास था कि भौतिक जगत् की घटनाओं पर नियंत्रण की शक्ति उनमें है। पर सभ्य मन का विश्वास है कि प्रतीक प्रकृति को स्पष्टतः प्रकट कर देते हैं। बाह्य जगत् पर उनका और कोई वश नहीं। हाँ, उनका वश यह अवश्य है कि मनुष्य के आचरण पर उनका जो प्रभाव पड़ता है, उससे आगे की बात, यानी नियंत्रण की बात सम्भव होती है। सीधे-सादे ढंग से तात्पर्य यह है कि प्रारम्भिक मनुष्य प्रतीकों को बाह्य जगत् पर अधिकार प्राप्त करने के उपयोग में लाता था, सभ्य मनुष्य इनका उपयोग मानव पर नियंत्रण या प्रभाव डालने के लिए करता है। इससे यह बात निकली कि जब आधुनिक मनुष्य भगवान् की प्रार्थना करता है, वह घटनाओं को बदलने के लिए नहीं, पर अपने में ही परिवर्तन के लिए ऐसा करता है।"

किन्तु ब्राइज़न ने इसके साथ यदि यह भी जोड़ दिया होता कि प्रार्थना से मनुष्य में परिवर्तन हो सकता है तो घटनाओं का चक्र भी बदल सकता है, सर्वशक्तिमान् ईश्वर सब कुछ कर सकता है। प्रार्थना के बल पर मृत्यु भी टाली जा सकती है। आज के युग में प्रार्थना को केवल वैज्ञानिक दृष्टि से देखने से काम नहीं चलेगा। प्रकृति, मनुष्य तथा ईश्वर, तीनों की सत्ता को ठीक से समझना होगा। यह बात सही है कि प्राचीन काल का मनुष्य प्रकृति तथा प्राकृतिक बातों का बहुत गलत अर्थ लगाता था। उसकी ऐसी वैज्ञानिक जानकारी नहीं थी कि वह प्रकृति को ठीक से पहचान सके। पर इस गैर जानकारी से एक लाभ भी था। वह प्रकृति तथा प्राकृतिक बातों के प्रति बड़ा आदरशील था। उसमें "प्राकृतिक पवित्रता" भी थी। आज का मानव प्रकृति से बहुत कुछ परिचित है। अपनी इस जानकारी के कारण वह प्रकृति के प्रति अवज्ञाशील तथा उच्छृंखल भी हो गया है। आज का मानव दिन-प्रतिदिन अप्राकृतिक भी होता जा रहा है। आज मनोविज्ञान आदि के सहारे हम मानव-स्वभाव से अधिक परिचित हो गये हैं। पर इससे सभ्य जगत् में कल्याण से अधिक अकल्याण हुआ है। अपने ज्ञान का हम दुरुपयोग कर रहे हैं। मानव-स्वभाव की जानकारी से लाभ उठाकर हम मानव का अपहरण कर रहे हैं। अतएव यह कहना बड़ा कठिन है कि धार्मिक या सामाजिक दृष्टि से सभ्य जगत् की प्रतीकात्मक नैतिकता तथा धार्मिकता से समाज का अधिक उत्थान हो रहा है या होगा या असभ्य जगत् की प्रतीकात्मक नैतिकता या धार्मिकता से। इस बात का निर्णय करना बड़ा कठिन है। यह कहने में कोई बाधा नहीं है कि जहाँ तक प्रतीक का सम्बन्ध है, कल का तथा आज का धार्मिक प्रतीक, दोनों ही सत्य हैं। प्रारम्भिक प्रतीकों को झूठा मानने का कोई कारण नहीं दीख पड़ता।

किसी प्राचीन प्रतीक की आज भले ही आवश्यकता न हो, पर इससे प्रतीक की सत्ता

तथा सत्यता को आघात नहीं पहुँचता । हमारे नित्य प्रति के जीवन में जो वस्तु-स्थिति है, जो घटना है, जो पदार्थ है उसके साथ जब ऐसे विचार का मेल हो जाता है जो नित्य प्रति के जीवन के हमारे अनुभव से परे है—तब वह प्रतीक बन जाता है, प्रतीक कहलाता है । हम किसी चीज़ का अर्थ समझाने के लिए जिन बहुत-सी विधियों का सहारा लेते हैं, उनमें संकेत हैं, चित्र हैं, मूर्त्ति है, उपमा है, उदाहरण है—मिसाल है । किन्तु किसी वस्तु के लौकिक और आध्यात्मिक अर्थ में बड़ा अन्तर यह है कि जो प्रतिमा हमने जिस अर्थ में खड़ी कर दी है वह निर्दिष्ट पदार्थ को स्पष्ट करती है, यानी जो वस्तु है, उस वस्तु का प्रतिबिम्ब मात्र है या वह वस्तु किसी और उपाय से समझ में नहीं आ सकती, इसलिए प्रतिमा के रूप में समझा दी गयी । दूसरे शब्दों में, प्रतिमा के रूप में जो चीज़ व्यक्त की गयी है, वह प्रत्यक्षत: किसी और ढंग से भी व्यक्त की जा सकती है या उसको व्यक्त करने का उस मूर्त्ति के अलावा और कोई उपाय ही नहीं है ? यदि उसे प्रकट करने का और कोई उपाय नहीं है, तभी वह प्रतीक कहलायेगी । यह नहीं भूलना चाहिए कि किसी भी प्रतीक को समझाने के लिए दूसरे प्रतीकों का ही सहारा लेना पड़ेगा । प्रतीक की व्याख्या प्रतीक ही कर सकते हैं । इसलिए प्रतीक केवल तर्कपूर्ण या बौद्धिक रूप से समझने योग्य चीज़ नहीं है । उसकी वास्तविकता का अनुभव करना पड़ेगा । जहाँ पर समझाने की सीमा समाप्त हो जाती है, वहीं से उसका अर्थ प्रारम्भ होता है । प्रतीक तो प्रतीकात्मक इच्छा से ही बनते हैं ।[१]

वास्तविकता तथा सत्य का समन्वय

इस संसार में कोई वस्तु अर्थ-हीन नहीं हो सकती, सार-हीन हो सकती है । संसार में अर्थ-रहित वस्तु की तुलना की सत्ता ही नहीं हो सकती । परम सत्य तथा वास्तविक सत्ता तो ईश्वर की है । पर हमारे लिए सत्ता उन सभी चीज़ों की है जो इन्द्रिय-जन्य हों तथा जिनको हम नित्य प्रति के जीवन में वास्तविक कह सकें । मनुष्य के भीतर बैठी आत्मा सर्व-द्रष्टा तथा सर्व-साक्षी है, पर अपने ज्ञान तथा अपने अनुभव को वह तभी प्रकट कर सकती है जब उसे किसी भौतिक वस्तु का, मन के अतिरिक्त हाथ-पाँववाले शरीर का माध्यम मिले ।[२] अनगिनत घटनाएँ हम देखते तथा सुनते रहते हैं । आज हमारे सामने जो कुछ है, वही वास्तविक बात है । पर इसके साथ ही हमारा अनुभव भी लगा हुआ है । वह अनुभव कल का हो या युगों से संचित संस्कार के रूप में हो । जो है, जो था और जो होनेवाला है, तीनों बातें ज्ञात और अज्ञात मानस

१. Symbols and Society—page 178. २. वही, पृष्ठ १८७ ।

के मन:पटल पर अंकित हैं । इन तीनों को मिलाकर ही मन किसी वस्तु का अर्थ निश्चित करता है । अर्थ का निश्चय हो जाने पर उस वास्तविक वस्तु में स्थायित्व आ जाता है । उसकी सत्ता तथा सत्यता दोनों हो जाती हैं । यदि जो दिखाई पड़ता है, उसी को वास्तविक मान लें तो अर्थ पूरा नहीं होता । हमारे सामने एक जानवर खड़ा है । हमने कहा "घोड़ा" । कल भी यह जानवर घोड़ा था, आज है और कल भी रहेगा । उसमें कुछ ऐसे गुण हैं जो और चार पैरोंवाले जानवरों में नहीं हैं । उसमें कुछ ऐसी विशिष्टता है कि हमने उसके चार पैर देखकर उसे "गधा" नहीं कहा । 'घोड़ा' शब्द कहते ही घोड़े के समूचे गुण, उसकी चाल, उसकी उपयोगिता, सब स्पष्ट हो गया। उस प्रकार के गुण-वाले जानवर का नाम—प्रतीक "घोड़ा" हुआ । अब यदि कोई कहे कि 'घोड़ा' नाम-प्रतीक की व्याख्या करो तो हमें गतिशील तथा शक्तिशील जानवर या वस्तु का प्रतीक ढूँढ़ना पड़ेगा । हम कहेंगे कि "बहुत तेज चलनेवाला, चार पैरवाला, परिश्रमी इत्यादि ।" ये सभी शब्द अपने-अपने अर्थ में "घोड़ा" शब्द के प्रतीक बन गये । उस जानवर का हमने सही नामकरण किया । इसलिए हाबेज़ ऐसे लेखक भी सन्तुष्ट होंगे कि हमने सही प्रतीक बनाया । यह "सत्य" हुआ । पर हम उसी गुणवाले जानवर को "गधा" कह दें तो "असत्य" प्रतीक हुआ, क्योंकि वास्तविकता के विपरीत बात हुई । जिस पशु के लिए घोड़ा अर्थ सही होता है, उस पशु के लिए गधा अर्थ सही न होगा । पर्यायवाची, समानार्थक शब्द हो सकते हैं । पर एक वस्तु का एक ही अर्थ होगा । हर एक चीज़ के मानी अलग-अलग हैं । इसी प्रकार हर एक वास्तविकता का प्रतीक भी भिन्न होता है । एक के अर्थ से दूसरा अर्थ समझाया जा सकता है । एक प्रतीक दूसरे प्रतीक को समझा सकता है । पर दोनों मिलकर एक नहीं हो सकते । प्रतीक की सत्यता उनकी विभिन्नता में है ।

हमें अपनी आँखों से जो दिखाई देता है, वह वास्तव में वही है जैसा हमारे नेत्रों ने समझा—यह कोई नहीं कह सकता । अंधेरे में देखा कि एक बड़ा लम्बा आदमी पैर बढ़ाता चला आ रहा है । निकट आने पर समझ में आया कि एक आदमी उंट पर बैठा चला आ रहा है । बात रही "दिखाई पड़ने" की, दृष्टिगोचर पदार्थ की, आकार की, बनावट की ।[१]

पदार्थ और प्रस्थापना

संसार में हम अपनी आँखों से जो कुछ देख रहे हैं वह केवल वाह्य रूप से दृष्टिगोचर पदार्थ है, केवल आकार है, बनावट है । यदि हम किसी मनुष्य को देखते हैं तो वह केवल

१. Appearance.

आँख, कान, नाक, हाथ-पैरवाला एक आकार मात्र है। किन्तु इस आकार के भीतर उस मनुष्य के मन, बुद्धि, स्वभाव, विचार, धारणा, इच्छा, विकार आदि ऐसी बहुत-सी चीज़ें हैं जो बाहर से दिखाई नहीं पड़ रही हैं। हर एक आकार के साथ उसका आध्यात्मिक, यानी आधिभौतिक पहलू भी छिपा हुआ है। मन से इस पहलू की जानकारी को अलग नहीं किया जा सकता। जब कोई आकार हमारे नेत्रों के सामने आता है, बुद्धि तुरत उसके भीतर भी पैठ जाती है और उसकी वास्तविकता को आंकने लगती है। जो वस्तु किसी आकार तथा उसके भीतरी पहलू को जितना अधिक हमारे निकट ला सके, वह उसका प्रतीक हुई। किन्तु किसी वस्तु का परिचय स्वयं वह वस्तु है। अन्य किसी प्रकार का परिचय तो उसकी व्याख्या मात्र है। व्याख्या एक सीमा तक हो सकती है। सर्वांगीण व्याख्या तो वह वस्तु स्वयं है।[१] किसी वस्तु के आकार तथा उसके भीतरी स्वरूप को अधिक से अधिक निकट रूप में व्यक्त करनेवाली वस्तु का नाम प्रतीक है और यह अधिक से अधिक निकटता ही "सत्य" है। व्याख्या की सीमा होती है। सत्य की भी सीमा होती है। परम सत्य तो स्वयं वह भगवान् है जिसने सब चीजों की रचना की। और कोई वस्तु परम सत्य नहीं हो सकती। अज्ञात काल से मनुष्य मनुष्य को पहचानने की चेष्टा कर रहा है। ग्रन्थ पर ग्रन्थ लिख डाले गये पर आजतक उसकी पहचान तो नहीं मिली। एक मनोवैज्ञानिक कोई व्याख्या करता है, दूसरा और कुछ। इसलिए कौन व्याख्या सही है, सत्य है, कौन ग़लत या झूठ है, यह कहना भी सापेक्षिक होगा। अपने दृष्टिकोण में जितना समझ में आया, वह सत्य है, इतनी बात तो कही जा सकती है। इस प्रकार सत्य तथा असत्य, यह सापेक्षिक वस्तु बन जाते हैं। जो हमको सही जँचे वही सत्य है।

यहाँ पर एक शंका उठ सकती है। मान लीजिए कि हमने किसी घोड़े की तस्वीर बनायी। अब यह तस्वीरवाला घोड़ा वास्तव में घोड़ा नहीं है। असली घोड़े में जो गति है, जो ज्ञान है, वह इसमें कुछ भी नहीं है। पर उस असली घोड़े की पूरी नकल ज़रूर की गयी है। बनावट इतनी सही है कि उस घोड़े के भीतर का ज्ञान भी चेहरे से इंगित हो रहा है। यह चित्र घोड़े का प्रतीक हुआ। किन्तु क्या यह सत्य है? घोड़ा भी नहीं है, उसका ज्ञान भी नहीं है, उसकी गति भी नहीं, फिर भी क्या वह चित्र सत्य है? इसलिए कुछ लोगों का कहना है कि सत्य न तो प्रतीक है और न वास्तविक वस्तु। वास्तविक

१. इस सम्बन्ध में देखिए—A. N. Whitehead—"The Concept of Nature"—1920—Chapt. I

२. "Proposition"—"Symbolism and Truth," page 151.

की हमारी जानकारी सदैव अधूरी रही है और रहेगी। अतएव वह भी सत्य नहीं हो सकती। तो फिर सत्य क्या है ?

इसका एक ही उत्तर हमारी समझ में आता है। डॉ० ईटन ने इसका नामकरण किया है—"प्रस्थापना"। हमने उस चित्र में घोड़े की 'प्रस्थापना" कर दी है। प्रस्थापना में न तो प्रतीक है और न उसके द्वारा मन में कोई विचार उत्पन्न करने का प्रयोजन या संकल्प होता है। किसी वस्तु की किसी रूप में प्रस्थापना केवल अर्थ-बोधक होती है। बच्चों की वर्णमाला-पुस्तक में "घ से घोड़ा" प्रतीकात्मक नहीं है। केवल घ अक्षर की प्रस्थापना मात्र है। अर्थ के रूप में कही गयी वस्तु स्वतः मन के लिए विचार का विषय नहीं बन जाती। वह केवल इतना ही कर सकती है कि विचार करने के द्वार पर थपथपा दे, ताकि विचार का काम आप चाहें तो चालू हो जाय। घोड़े की तस्वीर देखकर घोड़ा-सम्बन्धी विचार के द्वार पर थाप लग गयी। अब यदि मन को अवकाश है तो वह अपना काम शुरू करेगा, वरना यदि वह मन किसी और तरफ़ लगा हुआ है तो दूसरी दिशा की ओर मुड़ जायगा। हम उस तस्वीर को उठाकर रख देंगे, हटा देंगे। इस प्रकार यह भी मालूम हुआ कि केवल सत्य की प्रस्थापना से ही मन की प्रतिक्रिया नहीं शुरू होती। उस प्रस्थापना में कितना वेग है, कितनी गतिशीलता है, इस पर भी बात निर्भर करेगी। किसी ने कहा कि "राम ने सत्य बात कही है"—अब यह ठोस बात कह दी गयी। हमने सुन लिया। अब यह वाक्य हमें किसी सत्य घटना की ओर ले जाता है। किसी अकाट्य सत्य की ओर ले जाता है—किसी वस्तु की ओर ले जाता है। ये सब बातें बाद में आती हैं। यह जरूरी नहीं है कि कोई प्रस्थापित समस्या हमें किसी वस्तु की ओर ले ही जाय। वह हमें केवल किसी सिद्धांत की ओर भी ले जा सकती है। किन्तु यदि कोई बात न तो हमें किसी वस्तु की ओर ले जाय, न किसी सिद्धान्त की ओर ले जाय, न किसी प्रयोजन को इंगित करे तो बात सत्य की परिभाषा में नहीं आ सकती। वह निश्चयतः असत्य है। अतः प्रस्थापना यदि उद्देश्यहीन है, तो असत्य है।

सत्य की रचना मन या बुद्धि के तत्त्वों से नहीं होती। जो चीज है, जिसकी जैसी सत्ता है, जिसकी जैसी वास्तविकता है, उसको सही ढंग से व्यक्त कर देना सत्य है। सच-झूठ की पहचान केवल विचार की क्रिया से नहीं हो सकती। कौन धार्मिक सिद्धान्त सत्य है, कौन पौराणिक कथा सत्य है, कौन देवता वास्तव में वर्तमान हैं, इन सब बातों का अंतिम निर्णय कौन करेगा ? मन-बुद्धि के निर्णय सदैव दोषपूर्ण इसलिए होंगे कि मन-बुद्धि अपने संस्कारों से बंधे हुए हैं। असली ज्ञान तो अन्तरात्मा को होता है जो मन-बुद्धि, दोनों के ऊपर है।

हवा में कोई वस्तु प्रस्थापित नहीं होती। श्री जी० ई० मूर ने पते की बात लिखी है

कि जिस वस्तु की सत्ता नहीं है, जो है ही नहीं, उसका न तो आकार बन सकता है और न उसके सम्बन्ध में विचार उठ सकते हैं।[१] जिन चीज़ों की सत्ता जिस व्यक्ति के लिए नहीं है, वह उनका आकार नहीं बनायगा, न उनके बारे में सोचेगा। दक्षिण अफ्रीका के घोर जंगलों में रहनेवाला व्यक्ति रेडियो से एकदम अपरिचित है। उसे कोई जानकारी नहीं है कि ध्वनि-निक्षेप कैसे होता है। अतएव उसके लिए रेडियो का न तो आकार सत्य है, न रेडियो का विचार सत्य है। ज्यों-ज्यों मनुष्य का ज्ञान बढ़ता जाता है, सत्य तथा वास्तविक से उसका परिचय बढ़ता जाता है। आदिकाल से मानव इसी प्रकार सत्य का पता लगाता चल रहा है। इसे हम कहते हैं "सत्य की शोध"। हम उस चीज़ के बारे में सोच ही नहीं सकते जो कि नहीं है। शून्य में कोई नहीं सोचता। सत्य वास्तविकता की सत्ता की प्रस्थापना करता है। अस्तित्व को प्रकट करता है। बाकी उसके बाद सोच-विचार, निरूपण, प्रतीकीकरण आदि कार्य मन-बुद्धि का है। आवश्यकता है अस्तित्व को समझने की। किसी वस्तु की सत्ता प्रकट रूप में ही नहीं होती—सत्य प्रकट सत्ता तक ही सीमित नहीं है। प्रकट सत्ता न होते हुए भी अस्तित्व हो सकता है। यदि प्रकट सत्ता पर ही सत्य निर्भर करे तो ईश्वर भी सत्य नहीं रह जायगा। वास्तविकता स्वयं, अन्ततोगत्वा इतनी सूक्ष्म वस्तु हो जाती है कि उसका अस्तित्व ही संदिग्ध हो जाता है। इस सूक्ष्म तत्त्व का ज्ञान आसानी से नहीं हो सकता। इसके अस्तित्व की प्रस्थापना सत्य द्वारा हो गयी। पर उसका ज्ञान तथा उसका उपयोग भी होना ही चाहिए। अतः प्रस्थापित सत्य प्रतीक का रूप धारण कर लेता है। पिछले अध्यायों में हमने धार्मिक तथा तांत्रिक प्रतीकों की व्याख्या की है। तांत्रिक प्रतीकों के बारे में हमने थोड़ा-बहुत विस्तार से ही लिखा है। परम सूक्ष्म अस्तित्व के प्रस्थापित सत्य को बोधगम्य बनानेवाले तथा परम सत्य की ओर ले जानेवाले तथा गूढ़ रहस्यों को समझानेवाले तांत्रिक प्रतीक हैं।

धारणा तथा सत्य

अपने नित्य प्रति के जीवन में हम सत्य तथा असत्य से खेलते चलते हैं। जो बात नहीं हुई, उसके कहने का अर्थ है झूठ बोलना। किन्तु ऐसे झूठ में भी किसी वस्तु की सत्ता वर्तमान है, वह कल्पना में ही हो सकती है पर बुद्धि अस्तित्व-हीन वस्तु की कल्पना नहीं कर सकती। मैंने कहा कि "आज सींगवाला हाथी देखा"। संसार में सींग की भी सत्ता है। हाथी की भी। पर हाथी में सींग को प्रस्थापित कर उसमें असत्य की प्रस्थापना हो गयी।

१. G. E. Moore—"The Conception of Reality"—in the "Philosophical Studies"—1922—page 215.

हाथी के सम्बन्ध में हमारी धारणा ने उसमें से सींग को निकाल दिया। इस प्रकार विवेक ने सत्य-असत्य का बँटवारा कर दिया। विचारों में सत्य तथा असत्य के प्रस्थापन से ही वास्तविक जगत् से सम्बन्ध स्थापित होता है, सम्बन्ध सम्भव होता है। इसलिए यह मान लेना पड़ेगा कि सत्य का व्यावहारिक मूल्य है। सत्य के द्वारा हम वास्तविकता को पहचान लेते हैं और सत्य के द्वारा स्वयं सत्य को जान जाते हैं। एक सत्य दूसरे सत्य से सम्बद्ध होता है। सत्य मार्ग पर चलने से सत्य का अस्तित्व मालूम होने लगता है। सत्य से ही परम सत्य का पता चलता है। सत्य का लक्ष्य है परम सत्य और परम सत्य को प्राप्त करना ही मानव-जीवन का लक्ष्य है। इस सत्य तथा परम सत्य को व्यक्त करने वाली चीज़ का नाम प्रतीक है।

सत्य हमें सही रास्ते पर ले जाता है। असत्य हमको भटका देता है। अज्ञानवश असत्य को भी हम सत्य समझ लेते हैं। स्वप्न में देखनेवाला जब तक स्वप्न देख रहा है, उसके लिए वह सपना सत्य है। सपने में असत्य होने की बात भी उसके दिमाग़ में नहीं आती। किसी बात पर जमकर विश्वास करनेवाले के लिए उसका विश्वास सत्य है, वह अपने विश्वास को छोड़ नहीं सकता।

विश्वास धारणा से बनता है। किन्तु विश्वास तथा धारणा में बड़ा अन्तर है। जब विश्वास जम जाता है तो बुद्धि काम करना बन्द कर देती है। जिनको झाड़-फूँक में विश्वास हो जाता है वे डाक्टर के आश्रित नहीं रहते। उनको यदि समझाया भी जाय कि बीमारी झाड़-फूँक से अच्छी नहीं होती तो वे मानने को तैयार न होंगे। किसी वस्तु की सत्ता के बारे में हमको विश्वास होते ही हम धारणा की अनिश्चित दशा को समाप्त कर विश्वास के द्वारा उस वस्तु की शंकाशील सत्ता को समाप्त कर देते हैं। हमारे लिए उस वस्तु की सत्ता स्थापित हो गयी है। हमारे मन में यह धारणा हो सकती है कि रामचन्द्र अवतारी पुरुष थे, भगवान् के अवतार थे। पर विश्वास ने रामचन्द्र को भगवान् मानकर अब धारणा के लिए कोई काम बाकी नहीं छोड़ा। विश्वास निश्चयात्मक होता है। धारणा तथा विश्वास के बीच की दो सीढ़ियों को एक ही छलांग में पार कर देनेवाली चीज़ विश्वास है। धारणा के बाद बुद्धि निर्णय करती है। निर्णय पर पहुँचकर तार्किक विवेचन करती है।[1] बुद्धि ने धारणा बनायी, किसी परिणाम पर पहुँची, फिर उस परिणाम का तार्किक विवेचन किया, तब जाकर वह निश्चित विश्वास पर पहुँची। यदि वह तुरत विश्वास कर बैठी तो उसे ही "अंध-विश्वास" कहते हैं। जिस विश्वास के साथ निर्णय तथा तार्किक विवेचन न हो, उसे अंध-विश्वास

१. D. Hume—"Treatise on Human Nature," Vol. I. Part III, Sec. 7.

कहते हैं। किन्तु अति सूक्ष्म अस्तित्ववाली चीजें स्थूल तथा बाहरी विवेचन से सिद्ध नहीं हो सकतीं, इसलिए कि तर्क भी सीमित है। तर्क बुद्धि का विषय है। बुद्धि की पहुँच सीमित होती है। बुद्धि के आगे बढ़कर जो कार्य होता है वह बाहरी इन्द्रियों से, चाहे वाणी हो या प्रतीक, दोनों से परे हो जाता है। वहाँ पर केवल आत्मा का अनुभव काम देता है। इसलिए हमारे शास्त्र कहते हैं कि ईश्वर अनुभवगम्य है, बोध-गम्य नहीं। वह तर्क से सिद्ध नहीं होता। तर्क उसके सम्बन्ध में अनुभव को सिद्ध कर सकते हैं। हम अपनी धारणाओं के दास तब तक हैं जब तक हम उनके द्वारा निर्णय या परिणाम पर पहुँचने तथा विवेचन करने का काम न लें। स्मरण रहे कि विवेक की चलनी में छानने पर धारणा का मैल निकल जाता है। उसका रूप बदल जाता है। सत्य के मार्ग से निकली हुई धारणा सत्य तक पहुँचा देती है। सत्य निश्चितता की ओर ले जाता है। केवल 'ईश्वर' या 'राक्षस' कह देने से बात पूरी नहीं होती। 'ईश्वर है', 'राक्षस है'—कहना पड़ेगा।

विश्वास तथा अविश्वास प्रत्यक्षत: एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। इनमें ज़मीन-आसमान का अन्तर है। पर हैं दोनों एक ही वस्तु—सापेक्षिक रूप से। जिस धुरी पर ये दोनों घूमते हैं, वह एक ही है। एक ही वस्तु के बारे में दोनों ही चीजें लागू होती हैं। ईश्वर तो एक है, कोई उस पर विश्वास करता है, कोई अविश्वास। इसलिए अविश्वास होना भी उस वस्तु की सत्ता को ही सिद्ध करता है। हमने जादू-टोना को अंध-विश्वास कहा है। हम इस निर्णय पर तर्क द्वारा पहुँचे हैं, पर जादू-टोना की उपयोगिता में अविश्वास हो सकता है, किन्तु उनकी सत्ता, उनके अस्तित्व को कैसे काटा जा सकता है? इसलिए विश्वास का विरोधी अविश्वास को नहीं मानना चाहिए। अविश्वास वास्तव में विश्वास का ही एक रूप है, एक श्रेणी है। मनुष्य विश्वास से अविश्वास को या अविश्वास से विश्वास को पहुँचता है। विश्वास का विरोधी अविश्वास नहीं है। उसका विरोधी है शंका, समीक्षा।[१] अन्यथा जिसे हम अविश्वास कहते हैं वह विश्वास ही है। एक ने कहा—"ईश्वर है।" वह ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता है। दूसरा कहता है—"ईश्वर नहीं है"—तात्पर्य यह कि वह ईश्वर के न होने में विश्वास करता है। विश्वास दोनों ही दशा में है और शंका तथा समीक्षा दोनों के लिए ही लागू होते हैं। मनुष्य को अपने विश्वास पर भी शंका हो सकती है और अविश्वास पर भी। शंका और समीक्षा हर चीज़ में होती रहती है। ईश्वर की सत्ता पर शंका पग-पग पर होती है। फिर समीक्षा मन-ही-मन होती है। जहाँ पर मन तथा बुद्धि थक जाती है वहाँ अनुभव काम देता है।

१. W. James—"Psychology"—Vol. II, Chapter 21, Page 284.

एक प्रकार के ऐसे भी लोग होते हैं जिनकी बुद्धि ऐसी हो जाती है कि वे किसी चीज़ को धारण ही नहीं कर सकते । वे शंका और समीक्षा भी नहीं कर सकते । पर यह तो बुद्धि का रोग हुआ या जड़ता हुई । जहाँ शंका तथा समीक्षा सो जाती है, वहीं जड़ता का प्रादुर्भाव होता है, जड़ता से ही अंध-विश्वास उत्पन्न होता है । इसके विपरीत एक और दशा होती है, जिसे शंकितमना[१] कहना चाहिए । ऐसे लोगों को सत्य की खोज तथा वास्तविकता की जानकारी की ऐसी धुन होती है कि वे किसी भी बात पर टिकना नहीं जानते । रात-दिन इधर-उधर की उधेड़बुन बनी रहती है । उनका मन इतना चंचल तथा अस्थिर हो जाता है कि उनके विश्वास को कभी स्थिरता नहीं प्राप्त हो सकती । इस प्रकार की बुद्धि से बड़ा अकल्याण होता है । ऐसी बुद्धि मनुष्य को बहुत ही बेचैन तथा निकम्मा बना देती है ।

सारांश यह कि विश्वास तथा अविश्वास सत्य की प्रस्थापना है । सत्य को प्रस्थापित कर प्रतीक बनता है । प्रतीक की आवश्यकता इसलिए भी है कि वह शंकाशील तथा शंकितमना को स्थिर होने में सहायता दे । प्रतीक बनाकर हम उसको स्थिरता से सोचने का अवसर देते हैं । प्रतिमा का प्रतीक ईश्वर के प्रति स्थिर भाव से सोचने का अवसर देता है । यदि प्रतीक न होता तो अस्थिर मन और भी अस्थिर हो जाता । विश्वास तथा अविश्वास की दुनिया में प्रतीक ही ऐसा स्तम्भ है,जो बुद्धि का एकमात्र अवलम्ब है, सहारा है ।

निषेध की मर्यादा

जो लोग किसी धार्मिक या आध्यात्मिक तत्त्व की सत्ता अस्वीकार करते हैं, जो कहते हैं कि "नहीं है," यानी जो निषेध करते हैं, उनकी बातों को भी समझने का प्रयत्न करना चाहिए । यह हम लिख चुके हैं कि जो चीज **है** नहीं, वह **नहीं** भी नहीं हो सकती । **हाँ** और **नहीं** वस्तु के अभाव में **नहीं** हो सकते । जिस चीज की सत्ता ही नहीं है उसके लिए न तो "अस्ति"'होगा और न "नास्ति" । **हाँ** और **नहीं** में अन्तर केवल इतना ही है कि पहलेवाले की बात तो निश्चित होती है, दूसरे की अनिश्चित हो जाती है । यदि मैं यह कहूँ कि "मैं घर जा रहा हूँ" तो एक निश्चित बात का प्रतिपादन हो गया । सबको मालूम हो गया कि मैं कहाँ जा रहा हूँ, कुछ समय बाद मैं कहाँ पर मिलूँगा तथा इस समय मेरा कार्यक्रम क्या है । पर यदि मैं निषेधात्मक रूप में कहूँ—"मैं घर नहीं जा रहा हूँ" तो इससे केवल इतना ही पता चला कि अपने घर पर मैं नहीं मिलूँगा । पर मैं कहाँ

१. "Sceptic"—Symbolism and Truth, Page 185.

मिलूँगा, मेरा क्या कार्यक्रम है और मैं किस स्थान पर मिलूँगा—यह सब अस्पष्ट है। मेरी इस **नहीं** के भीतर कोई ऐसी बात है जो कि हाँ है, पर वह क्या बात है, यह कुछ भी तय नहीं है। मान लीजिए कि मैंने कहा कि "सूरज नहीं चमक रहा है" तो इससे इतना तो पता चला कि इस समय धूप नहीं है, पर न चमकने का कारण बदली है, रात है, आकाश में गर्द छा जाना है—यह सब अनिश्चित दशा की बात हो गयी।[१] अतएव निषेधात्मक बात से बहुत-सी बातें पैदा हो गयीं, जिनके बारे में हमारी जिज्ञासा पैदा हो गयी। यदि मैंने किसी बात का खण्डन करते हुए कह दिया कि "ऐसा नहीं हो सकता" तो इसका मतलब तो केवल इतना ही हुआ कि जितना किसी दूसरे ने कहा है और जैसा कि किसी दूसरे के कथनानुसार होना चाहिए, वैसा नहीं हो सकता। पर इसके अलावा और क्या होगा, कैसा होगा, यह तो मेरी बात से स्पष्ट नहीं हुआ। यदि मैंने यह कहा कि "अब और कुछ नहीं हो सकता" तो उससे तो मतलब यही निकला कि जो हुआ है, जो हो गया है, उसकी सत्ता बनी रहेगी। निषेध तथा खण्डन से बात समाप्त नहीं हो गयी, अस्तित्व नहीं समाप्त हो गया। केवल अनिश्चितता ही बढ़ी। और कुछ नहीं। "सूरज नहीं चमक रहा है" कहने से जो बहुत-सी बातें सोचनी पड़ीं उनसे बुद्धि का काम बढ़ गया। बुद्धि वहीं तक कारण निकाल पाती है जहाँ तक उसकी पहुँच है। सूरज के न चमकने का कारण सूर्यग्रहण भी हो सकता है। जिसको यह कारण नहीं मालूम है वह "बदली", "रात्रि" या "गर्द"—इन तीन कारणों को बतलायेगा। यदि इन तीनों में से कोई कारण नहीं है तो ये सभी कारण "असत्य" हुए। इसलिए कि सूर्य के न चमकने की घटना की सत्यता का **प्रस्थापन** ठीक से नहीं हो सका है। ये तीनों बातें सूर्य के न चमकने का कारण हो सकती हैं, पर चूँकि वास्तविक घटना, यानी सूर्य-ग्रहण से भिन्न हैं, अतएव असत्य हैं। सच और झूठ घटना की सत्ता पर निर्भर करता है। निषेधात्मक बात केवल तात्पर्य प्रकट करती है। तात्पर्य से निश्चित अर्थ पर पहुँचने में देर लगती है। निषेधात्मक बात तभी असत्य होती है जब उसमें एक भी असत्य का प्रस्थापन होता है।[२]

मैंने कहा कि "मैं घर नहीं गया था"—और मेरे साथी को मालूम है कि मैं घर से आ रहा हूँ। पर, जब मैं कह रहा हूँ कि "मैं घर नहीं जाऊँगा"—और मैं अपने दफ्तर की ओर चल पड़ा तो मेरी इस निषेधात्मक बात में सत्यता है। अनिश्चित बात भी सत्य हो सकती है।

१. Symbolism and Truth—Pages 197-199.
२. वही, पृष्ठ २१२।

हर बात के सच तथा झूठ का अन्दाज़ा बराबर लगा करता है। यदि किसी ने कहा है कि "मैं पढ़ा-लिखा व्यक्ति नहीं हूँ" तो इस बात की छानबीन तुरन्त हो सकती है। यदि छानबीन में बात सही उतरी तो वह सत्य कहलायेगी। मैंने कहा कि "कल रास्ते में मेरे दो मित्र मिले थे।" पर ये दोनों मित्र कौन हैं, कहाँ से आये, यह स्पष्ट नहीं है। यदि पता लगाने से यह मालूम हो जाय कि दोनों "मित्र" थे—यह बात सही नहीं है, दोनों ही हमारे शत्रु थे, तो इन सब बातों से यह साबित हो गया कि मैं झूठ बोल रहा था। किन्तु यदि मैं यह कहूँ कि "कल मार्ग में मेरे मित्र सत्यदेवनारायण सिंह मिले थे' तो किसी के लिए छानबीन की बात ही नहीं रह गयी। हमारी बुद्धि को मालूम है कि कौन मेरा मित्र है, कौन शत्रु, अतएव बात निश्चित हो जाने से उसकी सत्यता तुरन्त प्रकट हो जाती है। यह तो रोज के अनुभव की बात है कि झूठ बोलनेवाला गोल जवाब देता है। निर्देशात्मक बात को गोल ढंग से कहकर उसमें अनिश्चितता पैदा करता है। असत्य बात कभी स्पष्ट नहीं हो सकती। किसी एक बात को छिपाने के लिए अनेक बातें जोड़नी पड़ती हैं। सत्य का मार्ग सीधा होता है।

स्मृतिरूपी प्रतीक

प्रतीक सीधे मार्ग पर ले चलता है। यों तो हम जो कुछ कर रहे हैं, प्रतीकात्मक है, पर वाणी, इच्छा, संकल्प, बुद्धि द्वारा जो प्रतीक बने हैं उनका लक्ष्य ही है सीधी, साफ़ बात कह देना। जो लोग प्रतीक की सत्ता को ही नहीं मानते उनके निषेध से भी लाभ होता है। वे कहते हैं कि प्रतीक नहीं हैं। तो फिर क्या है? चिह्न है, संकेत है, है तो कुछ। वे कह सकते हैं कि किसी वस्तु का आध्यात्मिक महत्त्व नहीं होता। पर आध्यात्मिक न सही, कोई महत्त्व तो होगा ही। जो प्रतीक समझ में न आये, उसे प्रतीक न मानने से कैसे काम चलेगा? जिन प्रतीकों की व्याख्या नहीं की जा सकती, वे व्याख्या के अभाव में प्रतीक नहीं हैं, ऐसा कहने से काम नहीं चल सकता। डॉ० ईटन के कथनानुसार ऐसे प्रतीकों का अर्थ **होता है** और विभिन्न तार्किक रीति से इनको **सिद्ध किया जा सकता** है। प्रतीक को सिद्ध करने के लिए जिस तार्किक आधार की आवश्यकता है, वह स्वयं उन प्रतीकों में वर्तमान है।[१] आवश्यकता है, उनका अध्ययन करने की। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो जिज्ञासा से परे हो। ऐसी कोई चीज नहीं है जिसके बारे में कम या बेश जिज्ञासा न होती हो, जिज्ञासा न पैदा होती हो। "क्या" और "क्यों" तो हर चीज़ के साथ लगा हुआ है। हम किसी भी वस्तु को देखते हैं तो "यह क्या है"—"यह क्यों है"—

१. वही, पृष्ठ २६१।

का प्रश्न हमारे मन में उठता है । सड़क पर हजारों आदमी चले जा रहे हैं । हम आँखें फाड़-फाड़कर उनकी ओर देख रहे हैं । हर एक के बारे में "यह कौन है" का सवाल उठता है । यह सवाल उठते-उठते जिसको हमने पहचान लिया या जान लिया, वह इसलिए नहीं कि उसने आकर बतलाया कि "मैं अमुक व्यक्ति हूँ; आपसे अमुक दिन भेंट हुई थी", बिना उस परिचित व्यक्ति के कहे ही हमने पहचान लिया । यह पहचान क्या है ? मन के प्रश्न का मन द्वारा ही उत्तर है । मन को उत्तर दिया हमारी या मन की स्मृति ने, याददाश्त ने । ज्ञान की स्वतः कोई ठोस व्याख्या करके समझना कठिन है । ज्ञान के साथ अनुभूति होती है । ज्ञान में पिछला अनुभव भी मिला रहता है । ज्ञान के साथ बुद्धि के संस्कार का भी योग है । ज्ञान केवल भौतिक पदार्थ नहीं है । आधिभौतिक पदार्थ है । उसी प्रकार स्मृति या याददाश्त भी आध्यात्मिक महत्त्व रखती है । युग-युग की बातें हमारे मन में स्मृति के रूप में संचित रहती हैं । स्मृति को आकाश-पाताल की बातें याद रहतीं हैं । स्मृति अनुभव से होती है । दस वर्ष पहले जो देखा है, वह आज भी याद है । इसी स्मृति के सहारे हम हर चीज़ को जानते तथा समझते रहते हैं । नित्य के अनुभव से स्मृति का कोष बढ़ता रहता है । जो जितना ही पढ़ा-लिखा होगा, उसकी जानकारी भी उतनी ही ज्यादा रहेगी । स्मृति के सहारे ही निषेध, खण्डन, मण्डन, प्रस्थापन होता रहता है । अनन्त काल से मानव को याद है कि जब बादल उमड़कर आता है तो वर्षा होती है । आकाश में बादल देखते ही स्मृति हमें आगे होने-वाली बात को बतला देती है । हमको सावधान कर देती है । हम आगे का प्रबन्ध कर लेते हैं । बाहर घूमने जा रहे थे । बादल देखा । छाता भी ले लिया । स्मृति को, याद-दाश्त को, स्मरणशक्ति को ताजा करते रहने के बहुत-से उपाय हैं । जो बात भूल रही है, उसे पढ़कर फिर से याद कर लिया । जो घटना भूल गयी थी, दूसरी घटना के सहारे फिर से याद हो गयी । पुस्तक की पंक्तियाँ स्मृति के लिए प्रतीक बन गयीं । सड़क में गढ़ा देखकर स्मृति ताजी हो गयी कि गढ़े में पैर पड़ने से पैर टूटता है । अतएव गढ़ा प्रतीक का काम कर रहा है । गढ़ा पैर टूटने की घटना का प्रतीक हो गया । प्रतीक का बहुत बड़ा काम तथा उपयोग है स्मरणशक्ति को जाग्रत करते रहना, स्मरण को विस्मरण होने से बचाते रहना । प्रतीक की इस दुनिया में प्रतीक स्मृति है, संस्मरण है, चेतावनी है । संकेत का काम क्षणिक होता है । इशारा कर दिया, कर दिया, याद याद दिला दी, दिला दी । पर, निरन्तर याद दिलानेवाली वस्तु प्रतीक है । सड़क पर पुलिसवाले की हरी रोशनी मार्ग के प्रशस्त होने की याद दिलाती है । पर किसी दूकान की हरी रोशनी यह नहीं बतलाती कि रास्ता साफ़ है, घुस पड़ो । यों हरे रंग को जल तथा आकाश का प्रतीक बना दिया गया है । किसी चित्र में वह रंग भरा हो तो

आसानी से उसका अर्थ समझ में आ सकता है। एक संकेत को कई अर्थों में उपयुक्त किया जा सकता है, पर एक प्रतीक अपने स्थान पर अचल रहता है। चार पैरवाले जिस जानवर को व्यक्त करने के लिए वाणी ने "घोड़ा" शब्द-प्रतीक बना दिया, वह किसी भी दशा में गधे को व्यक्त नहीं कर सकता। यह हो सकता है कि घोड़े के गुण का वाचक वह प्रतीक बन जाय, जैसे, "आदमी क्या है, घोड़ा है"—पर वह प्रतीक घोड़े का दायरा छोड़ नहीं सकता।

यह सही है कि हर प्रकार की बात समझने के लिए उस समय की परिस्थिति भी जाननी चाहिए। कोई कहे कि "सोने से सर में दर्द हो गया"—तो उस दर्द का कारण जानने के लिए यह पूछना पड़ेगा कि रात को या दिन को सोये, सिर के नीचे तकिया था या नहीं, सिर के ऊपर पंखा तो नहीं चल रहा था, इत्यादि। प्राणिमात्र के जीवन के दो अंग हैं—मन तथा शरीर। बहुत-से ऐसे अवसर आते हैं जब दोनों में मेल नहीं खाता। मन चाहता है कि काम न करें। पर परिस्थिति काम कराती रहती है। मन हो रहा है कि मिठाई खायँ, पर डाक्टर ने मना कर रखा है, क्योंकि शरीर में मधुमेह की बीमारी है। मन चाहता है कि नहा-धोकर पूजा-पाठ करें, शरीर है कि ज्वर में बिस्तर पर पड़ा हुआ है। मन और शरीर में जितना अधिक मेल हो सकेगा, जीवन उतना ही अधिक आश्वस्त तथा सुखी होगा। परिस्थिति के अनुकूल मन तथा शरीर, दोनों को बनाने से मनुष्य का सामाजिक जीवन सुधर जाता है। जिन तत्त्वों को लेकर परिस्थिति बनती है, उनमें से एक भी तत्त्व निकाल देने से वह बदल जाती है।[1] बाग में बड़ी गन्दगी है, क्योंकि पतझड़ का मौसम है। पत्तियाँ झड़ रही हैं। यदि पत्तियों के झड़ने की बात निकाल दी जाय तो समूची परिस्थिति बदल जाती है। इसलिए हर एक बात की अपनी परस्थिति होती है। हर एक प्रतीक अपनी परिस्थिति के भीतर होता है। परिस्थिति से पृथक् करके कोई बात समझी नहीं जा सकती, चाहे वह बात 'ईश्वर है'– इतनी सही ही क्यों न हो। परिस्थिति का दायरा विश्वासमात्र का हो सकता है, इस लोक और उस लोक का भी हो सकता है। जो प्रतीक को पहचानता है, वह परिस्थिति को भी पहचानता है। प्रतीक का क्षेत्र यदि व्यापक है तो उसकी परिस्थिति का क्षेत्र भी व्यापक है। यदि समाज बिना परिस्थिति के नहीं होता तो परिस्थिति भी बिना प्रतीक के नहीं होती। किन्तु वास्तविकता के भौतिक तत्त्व के भीतर पैठने पर, ब्योरे की चीजों में जाने पर अनन्त प्रकार की बातें तथा विभिन्नता मिलेगी।[2] इस विभिन्नता में मन को

१. वही, पृष्ठ २९८।
२. वही, पृष्ठ ३१२।

भटकने से बचाकर, उसे खींचकर मौलिक तत्त्व की ओर ले जाने की क्रिया का नाम ही चित्त की साधना है। मन भटक गया तो मौलिक तत्त्व तक पहुँच नहीं पायेगा। मन को भटकने से बचाना हर एक समाज का धर्म है, हर एक सभ्यता का कर्तव्य है।

समाज और प्रतीक

समाज के सुचारु संचालन के लिए आवश्यक है कि मन अपनी सही गति से चले, बुद्धि का सही ढंग पर विकास हो, चित्त का संस्कार बने, मनुष्य सुसंस्कृत हो, असंस्कृत नहीं। पर, कैसिरेर के शब्दों में, मनुष्य "प्रतीकात्मक पशु" है। अतएव समाज की हर अच्छाई या बुराई का कारण प्रतीक होगा। जो कुछ यहाँ है, अभी है, प्रकट है, उतने से ही मन तथा बुद्धि की आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती। जो कुछ विशिष्ट वास्तविकता है, इनके ऊपर उठकर भी जो कुछ है, उसको प्रतीक-रूप में बनाना, जानना, पहचानना होगा। प्रतीकात्मक क्रिया का बोध करना होगा।[१] ईश्वर की प्रतीकात्मक सत्ता से सामाजिक सत्ता का एकीकरण करना होगा। भूख, प्यास, काम-वासना, यह सब तो नित्य की, अभी की समस्याएँ हैं। यदि समाज केवल इनका ही हल निकालता रहे तो साहित्य, कला, विज्ञान, इनकी आवश्यकता ही न रहे। मनुष्य की आध्यात्मिक भूख, आध्यात्मिक माँग तथा हर एक प्राणी के साथ सम-सामञ्जस्य नहीं स्थापित होगा। प्रकृति अपने नियमों के अनुसार काम कर रही है। पर वह इतना ही नहीं व्यक्त कर रही है। उसका कार्य नियम और व्यवस्था तथा समयानुसार कार्य करने का प्रतीक है। उस प्रतीक को यदि नहीं पहचाना गया तो प्रकृति का वरदान हमारे लिए लाभदायक सिद्ध न हो सकेगा। स्त्री केवल भोग की इच्छा पूरी करने के लिए नहीं होती। उसका उपयोग आत्मा के एकीकरण के लिए, मातृत्व की व्यापकता के लिए, मातृ-शक्ति को जाग्रत करने के लिए है। विवाह का अर्थ केवल एक स्त्री को अपनाकर रखने के लिए नहीं है। विवाह का लक्ष्य भोग-साधना भी नहीं है। हिन्दू शास्त्र ने स्पष्ट लिखा है, विवाह सन्तानोत्पत्ति के लिए, पितृ-ऋण से उऋण होने के लिए, अपनी आत्मा को अनेक रूप में प्रकट करने के लिए है। अतएव स्त्री भोग का प्रतीक नहीं है, मातृ-शक्ति का प्रतीक है। इस प्रतीक को पहचानना होगा।

हर एक मनुष्य का जीवन निश्चित परिस्थिति में होता है, पैदा होते ही उसके साथ उसका कुल, धर्म, कुल का इतिहास, समाज, सामाजिक संस्कार तथा सामाजिक प्रणाली

१. Alfred Schutz, "Concept and Theory Formations in the Social Sciences"—in the Journal of Philosophy"—Vol. I. 1954, Pages 257-273.

उसकी हो जाती है।[१] वह अपनी सामाजिक परिस्थिति तथा सामाजिक संस्कार का दास हो जाता है। समाज ने जिस प्रकार की विद्या, जिस प्रकार का रहन-सहन, जिस प्रकार का जीवन 'स्वीकार' कर रखा है, उस नवजात बच्चे को भी स्वीकार करना पड़ता है। अतएव वह जिस परिस्थिति में पैदा होता है, उस परिस्थिति को कायम रखने की नसीहत उसे मिलती है। उसकी जिम्मेदारी हो जाती है। अपनी जिम्मेदारी को, अपने इस ज्ञान को वह पहले तो वाणी-प्रतीक के द्वारा प्राप्त करता है, फिर अन्य सभी प्रतीक उसे इसी दिशा की ओर ले जाते हैं। वह पिता-माता का चरण स्पर्श करते-करते गुरुजनों का आदर करना सीखता है। पूजा-पाठ, उपासना का तत्त्व समझता है।

किन्तु परिस्थिति अपना काम करती रहती है। हर एक व्यक्ति अपनी भिन्न परिस्थिति में उत्पन्न होता है। किसी ने अध्यापक के घर में जन्म लिया, किसी ने बढ़ई, लोहार, चमार, शिकारी आदि के। हर एक के कर्तव्य तथा कार्य की सीमा पृथक् हो गयी, भिन्न हो गयी। समाज का जो ज्ञान है, वह भिन्न वर्गों में बँट गया, बँट जाता है। हर एक को अपने-अपने वातावरण तथा कर्तव्य-परिधि के भीतर की जानकारी रहती है। इस प्रकार समाज में गुट बन जाते हैं। उम्र के गुट बन जाते हैं। जवानों की टोला अलग होती है। बूढ़ों का अलग गुट बन जाता है। भिन्न पेशेवालों की टोली अलग हो जाती है। समाज के भीतर समाज बन जाता है। परिस्थिति के भीतर परिस्थिति पैदा होती रहती है। एक-दूसरे के स्वार्थ में संघर्ष भी होता है। समाज की कलह भी पैदा हो जाती है। उसकी एकता छिन्न-भिन्न हो जाती है।

किन्तु समाज का विघटन रोकने के लिए सबसे बड़ी वस्तु भाषा-प्रतीक है। भाषा समाज को एक सूत्र में बँधे रखने का महान् कार्य करती है। भाषा उसे मिलाकर रखने का बड़ा भारी सम्बल है। इसके अलावा वेश-भूषा आदि भी एकता के अनेक तथा अनगिनत प्रतीक हैं, जिनसे समाज बँधता है। पर हमको हर एक की भिन्न रुचि तथा विचार को भी समझते रहना चाहिए। जब हम इन चीजों को समझते रहेंगे, तभी हम एक-दूसरे के निकट आते रहेंगे। धर्म के द्वारा, साहित्य तथा कला के द्वारा, संगीत तथा शृंगार के द्वारा सामाजिक एकता का विकास होता है। और साहित्य तथा कला के माध्यम से एक समाज दूसरे समाज को समझने तथा पहचानने लगता है। उसका बोध होता है। साहित्य तथा कला के प्रतीक के माध्यम से विश्व-बंधुत्व स्थापित होता है।

सामाजिक जीवन एक-दूसरे के साथ इतना नत्थी तथा सम्बद्ध है कि जिसने इसको पृथक् करने का प्रयास किया, वह गहरी भूल करता है। शासन से लेकर शासित तक,

१. Symbols and Society, Page 193-194.

मालिक से लेकर नौकर तक, परिवार में, पड़ोस में, जीवन के हर पहलू में हम एक-दूसरे से बँधे हुए हैं। जो समाज के बन्धन को तोड़ता है, वह इस एक में मिलानेवाली कड़ी को तोड़ रहा है। भिन्न देश, भिन्न समाज, भिन्न वर्ग को प्रकट करने के लिए, व्यक्त करने के लिए हम उसका नाम-प्रतीक बना लेते हैं। जैसे इंगलैण्ड, अमेरिका, रूसी, चीनी, जापानी इत्यादि। पर इन सबके भीतर एक तत्त्व है—मनुष्य। सब देशों के मनुष्य एक हैं। सब देशों की मानवीय आवश्यकताओं का मौलिक आधार भी एक ही है। जो कुछ अन्तर है, वह परिस्थिति का है। जिसने परिस्थिति की अवज्ञा की, वह भूल कर रहा है। गर्म मुल्क का रहनेवाला एक धोती-दुपट्टा में काम चला सकता है। पर ठंढे मुल्क का रहनेवाला सिर से पैर तक कपड़ों से ढँका रहता है। यदि ठण्ढे मुल्क का व्यक्ति पूर्वी लोगों की वेश-भूषा देखकर उन्हें असभ्य समझे तो उसकी भूल होगी। यदि भारतीय पंडित तिब्बत के रहनेवालों को नित्य प्रातः स्नान का उपदेश दे तो उसकी भूल होगी। परिस्थिति की अवज्ञा नहीं करनी चाहिए।

समाज का विकास केवल परिस्थिति में जकड़े रहने से भी नहीं हो सकता। समाज को जागरूक रहना होगा। हर एक को अपनी बुद्धि से वर्तमान परिस्थितियों से ऊपर उठकर नयी परिस्थिति—और भी अनुकूल परिस्थिति—बनानी होगी। जितना ही जाग्रत समाज होगा, वह उतने ही अधिक प्रतीकों की रचना करता चलेगा। प्रतीक जाग्रति तथा चेतनता के प्रमाण हैं। प्रतीक समाज की एकता की व्याख्या हैं। प्रतीक यदि न हों तो समाज की सत्ता ही नहीं रहती। जंगली जातियों में हो या सभ्य समाज में, उनके प्रतीक ही उन्हें एक साथ ले चल रहे हैं, चाहे वे जादू-टोना के प्रतीक हों या धर्म के प्रतीक हों, हर एक आदमी हर एक के सामने जाकर बात नहीं कर सकता। हर एक व्यक्ति हर एक से मिलकर प्रत्यक्ष जानकारी हासिल नहीं कर सकता। हर एक व्यक्ति हर दूसरे व्यक्ति की भाषा समझ नहीं सकता। सब की भाषा, सब के विचार, सब की भावना को तो परम ज्ञानी योगी ही जानता होगा। पर, समाज की तथा विश्व की एकता के लिए ऐसी अधिक से अधिक परस्पर जानकारी होनी चाहिए, ऐसी अधिक से अधिक निकटता आनी चाहिए। आदि काल से ही ज्ञात तथा अज्ञात मानस, चेतन तथा अचेतन बुद्धि, इस आवश्यकता को समझती रही है। इसलिए उसने प्रतीक की रचना की है। प्रतीक की भाषा से हम घर बैठे संसार को जान सकते हैं, पहचान सकते हैं, समझ सकते हैं। हर देश की सभ्यता तथा विचार से परिचित हो सकते हैं।

आज की सभ्यता इतनी विषम हो गयी है कि मनुष्य को प्रतीकों को पहचानने का तथा समझने का अवकाश नहीं मिल रहा है। यदि वह प्रतीकों के अध्ययन में अधिक

समय दे तो वह अपनी बहुत बड़ी रक्षा कर सकता है। देखने में हम पहले से बहुत अधिक सभ्य हैं, पर प्रतीकों की अवहेलना के कारण हम एक-दूसरे से कहीं अधिक पृथक् होते जा रहे हैं। विज्ञान ने वायुयान आदि के द्वारा हमारी एक-दूसरे से दूरी समाप्त कर दी है। पर प्रतीकों के प्रति उदासीनता तथा अज्ञान ने हमें एक-दूसरे से काफ़ी दूर कर दिया है। विश्व-संकट का यही कारण है।

उपसंहार

कार्त्तिक की पूर्णिमा के दिन से जैन-धर्मावलम्बी अपनी तीर्थ-यात्रा प्रारम्भ करते हैं। तीर्थयात्रा की योजना बना ली जाती है। वर्षा की समाप्ति के बाद मार्गशीर्ष (अगहन) का महीना न तो घोर शीत का रहता है, न गर्मी का; अतएव यात्रा के लिए यह आदर्श ऋतु होती है। यात्रा में जिन तीर्थों का दर्शन करना होता है, उनकी सूची तैयार हो जाने पर एक मानचित्र बना लिया जाता है। यात्रियों के लिए यह मानचित्र या नक्शा मार्ग-प्रदर्शक होता है। पूर्णिमा के दिन यह मानचित्र प्रमुख स्थान पर रख दिया जाता है। जिनको यात्रा नहीं करनी होती वे भी इसका "दर्शन" करने जाते हैं। इस दर्शन से ही उन्हें तीर्थों के दर्शन का आनन्द आता है, उनके विश्वास के अनुसार तीर्थयात्रा का फल मिलता है।

अब यह मानचित्र क्या है? न तो वह स्वयं तीर्थस्थान है, न उसमें कोई प्राण है और न उसमें देवता की ही प्रस्थापना की गयी है। पर यह जैन देवताओं तथा तीर्थस्थानों की ओर "इंगित" अवश्य करता है। अतएव यह मानचित्र स्वयं निर्जीव होते हुए भी सजीव की व्याख्या कर रहा है, निर्देश कर रहा है। यह मानचित्र समूचे जैन-धर्म, जैनी यात्रा-विधि, तीर्थस्थान, जैनी विश्वास तथा जैनी इतिहास का प्रतीक है। एक ही प्रतीक में इतनी सब चीजों की एकता तथा धारणा सन्निहित है।

पशु तथा मनुष्य में अन्तर

समाज तथा सभ्यता के भौतिक एवं आधिभौतिक विचार तथा विषय के एकीकरण और एकता का काम प्रतीक करता है। संसार में कोई भी प्राणी, जिसमें बुद्धि है, विना प्रतीक के रह नहीं सकता। समाज की सभ्यता के अनुसार प्रतीक की प्रौढ़ता तथा परिपक्वता में कमी-बेशी हो सकती है, पर प्रतीक का रहना अनिवार्य है। मनुष्य प्रतीकात्मक पशु है। प्रतीक पशु के लिए तथा मनुष्य के लिए, दोनों के लिए होते हैं। खाने की घण्टी कुत्ते तथा आदमी दोनों के लिए भोजन करने की सूचना देती है तथा भोजन का प्रतीक बन जाती है। भोजन की परिकल्पना से कुत्ते के मुख से पानी टपकने लगता है। मनुष्य को भी भूख मालूम होने लगती है। पर पशु तथा मनुष्यों में एक ही महान् अन्तर है, जिस अन्तर के कारण आज मनुष्य अपनेको पशु से बड़ा समझता है। पशु प्रतीक

बना नहीं सकता । मनुष्य प्रतीक बनाता है । बनाता रहता है । मनुष्य द्वारा निर्मित प्रतीक पशु के लिए चिह्न अथवा संकेत का काम देता है, प्रतीक के रूप में नहीं, खाने की घण्टी कुत्ते के लिए भोजन का प्रतीक नहीं है, सूचक है, संकेत है ।

संकेत और प्रतीक में अन्तर

संकेत तथा प्रतीक का अन्तर हमने बार-बार समझाने का प्रयास किया है । अंग्रेजी में चिह्न या संकेत को "साइन" (Sign) कहते हैं । प्रतीक को सिम्बल (Symbol) कहते हैं । अंग्रेजी शब्दकोष में "साइन" को "वह रूढ़िगत प्रतीक जो किसी विचार को व्यक्त करता हो" कहा है तथा "सिम्बल" को "किसी अदृश्य वस्तु का दृश्य संकेत (चिह्न)" लिखा है । अब ये दोनों शब्द एक दूसरे से इतने निकट हैं कि इनका अन्तर समझना बड़ा कठिन हो जाता है । यदि हम यह कहें कि दृष्टि-विषयक एक पदार्थ की ओर संकेत करने-वाली चीज़ का नाम संकेत है तो उदाहरण के लिए गणित के विद्यार्थी ने जोड़ के लिए + का संकेत बना रखा है । इसका केवल इतना ही अर्थ है कि— — में — यानी दो चीज़ों को जोड़ना है ।[१] गणित का विद्यार्थी जब कभी + का उपयोग करेगा, उसका तात्पर्य जोड़ से होगा । पर मनुष्य की बुद्धि इतनी व्यापक, चपल तथा चतुर है कि एक संकेत का उपयोग एक के लिए दूसरा हो जाता है तो दूसरे के लिए भिन्न । ईसाई पादरी के गले में यदि + लटकता रहता है तो इसका तात्पर्य जोड़ नहीं है । वह तो प्रभु ईसा के सूली पर लटकने का प्रतीक है, "क्रास" है । भाषा के लिए भी यही है । अगर लन्दन में कोई कहे कि "सड़क" पर मिलेंगे तो उसका अर्थ होगा राजपथ पर, मुख्य सड़क पर, भारत में गली में भी जो मार्ग होता है, उसे "सड़क" कहते हैं । शाब्दिक संकेत भी अपने अर्थ में बदल जाते हैं । मनुष्य का स्वभाव इतना प्रतीकात्मक है कि वह अपनी धारणा के अनुकूल हर एक संकेत को प्रतीक में बदलता रहता है । गणितज्ञ ने जिस चीज़ को अपने काम के लिए बनाया, दूसरे ने उससे दूसरे प्रतीक का काम ले लिया । प्रतीकात्मक स्वभाव तथा बुद्धि का ही परिणाम है कि साहित्यकार तथा कलाकार ऊँची से ऊँची कल्पना कर लेता है । कमल-पुष्प को आँख का प्रतीक बना दिया जाता है । नीलाकाश में छिटके हुए तारों को हृदय पर लगे हुए घाव साबित कर दिया जाता है । खाने की घंटी की आवाज सुनकर कुत्ते की आँखों या मन के सामने घंटी नहीं आती, भोजन आ जाता है । घण्टी के बजाने के संकेत ने भोजन का प्रतीक उत्पन्न कर दिया, इसी प्रकार संकेत एक दृश्य-विषयक पदार्थ होता है, पर बुद्धि प्रतीकों की निरन्तर आवश्यकता के कारण उसे प्रतीकात्मक बना लेती है । प्रतीक अदृश्य पदार्थ को व्यक्त करनेवाला दृश्य संकेत है ।

१. Symbols and Society—Page 538.

संकेत दृश्य पदार्थ का बोधक है। सड़क पर हरी बत्ती मार्ग साफ और जाने लायक होने की निशानी मात्र है, पर हरा रंग रास्ता साफ़ होने का प्रतीक है। सड़क पर स्कूलों के पास "लड़का दौड़ रहा है" ऐसा चित्र बनाकर बोर्ड पर लगा देते हैं। यह संकेत इस बात की चेतावनी मात्र है कि इस रास्ते में अक्सर लड़के सड़क आर-पार किया करते हैं, सावधानी से मोटर चलाओ, पर किसी भी दशा में उस संकेत का यह अर्थ नहीं है कि यहाँ पर स्कूल चल रहा है। पढ़ाई हो रही है। लड़के पढ़ रहे हैं और खेल रहे हैं। उस बोर्ड को देखकर इतनी ढेर-सी बातें हमारे दिमाग़ में आ गयीं तो हमने उस साइनबोर्ड को "निकट में स्कूल होने का प्रतीक" बना लिया। यह कार्य हमारी चेतन-शक्ति ने, हमारे ज्ञात मानस ने अज्ञात मानस की सहायता से किया। अज्ञात मानस का संस्कार जैसी प्रेरणा देता है, अपने अनुभव के कोष से ज्ञान निकाल कर देता है, उसी के सहारे ज्ञात मानस हर एक "तिल का ताड़" किया करता है। हर एक प्रतीक को संकेत तथा संकेत को प्रतीक बनाता रहता है।

अज्ञात मानस की सहायता इसलिए जरूरी है कि बिना अनुभव तथा जानकारी से काम लिये संकेत या प्रतीक दोनों ही समझ में नहीं आते। जिसे जानकारी नहीं है वह आकाश में बादल देखकर कैसे अनुमान लगा सकेगा कि इस ऋतु में, इस अवसर पर, आकाश में बादल का घिर आना बर्फ गिरने का प्रतीक है? बिना अनुभव के यह कैसे पता चलेगा कि आकाश में अमुक प्रकार के बादलों का घिर आना वर्षा की निशानी नहीं है। यह बादल नहीं, धूल की आँधी है। बिना मेघगर्जन के भी बिजली चमकती है, इत्यादि। इस प्रकार प्राकृतिक संकेत भी तभी प्रतीक का रूप धारण करेंगे जब उनकी जानकारी हासिल की जाय। जब उनको सीखा-समझा जाय, तभी प्रतीकात्मक रूप बनता है। हमने एक शब्द कहा—"प त्त ल"। जिसने पत्तल नहीं देखा, जिसके मन में पत्तल की कोई धारणा नहीं है, वह कैसे समझेगा कि यह अक्षरों में पत्तों से बनी थाली का प्रतीक है। जो पत्तल का उपयोग समझता ही नहीं, अगर उसके सामने पत्तल दिखा दी जाय तो भी वह कुछ नहीं समझेगा। इससे तो यह सिद्ध हुआ कि बिना जानकारी हासिल किये हुए, बिना समझे हुए, दृश्य पदार्थ का तथा दृश्य संकेत का कोई महत्त्व नहीं है। इसी प्रकार बिना किसी वस्तु का गुण तथा स्वभाव जाने आँखों से दिखाई पड़नेवाली वस्तु कोई महत्त्व नहीं रखती। सब कुछ ज्ञान तथा अनुभव पर, चेतन तथा अचेतन मानस के विकास तथा संस्कार पर निर्भर करता है। जो लोग गूढ़ प्रतीकों को देखकर उन्हें तुच्छ तथा हेय समझकर टाल देते हैं, वह प्रतीक का दोष नहीं है, उनकी बुद्धि का दोष है।

शब्द का कार्य

यदि प त्त ल शब्द का कोई अर्थ न हो तो वह प्रतीक बन नहीं सकता। केवल अक्षरों को मिला देने से शब्द नहीं बनते। ध्वनि बनती है। बिना अर्थ का शब्द नहीं होता। बिना अर्थ का प्रतीक नहीं होता। स्वतः प त्त ल शब्द में कोई जान नहीं है, कोई भावना नहीं है। पर हमारे सामने यदि पत्तल रख दी जाय तो तुरन्त निश्चित हो जाता है कि भोजन परसा जायेगा, जैसे थाली सामने रखने पर। तो फिर, यदि कोई पुकारकर कहे—"लोग बैठ गये हैं। पत्तल लाओ" तो, इसका मतलब यह हुआ कि अब भोजन आनेवाला है। अतएव पत्तल शब्द के साथ हमारी कई धारणाएँ तथा इच्छाएँ जाग्रत हो गयीं। दृश्य पदार्थ पत्तल का कई अदृश्य पदार्थों से संयोग मन ने करा दिया। इसलिए यदि हमने "कुर्सी" कहा तो उस कुर्सी के शब्द ने हमको बैठनेवाली विशेष चीज़ और बैठने की क्रिया का, दोनों का बोध करा दिया। किन्तु, "कुर्सी लाओ" कहने के पहले बैठने की इच्छा, बैठनेवाली किसी चीज़ की इच्छा हुई। उसके बाद मन ने बैठनेवाली एक विशेष चीज़, जिसे कुर्सी कहते हैं, ढूँढ़ निकाली और शब्दों द्वारा प्रकट कर दिया। इसलिए बैठने की चीज़ चाहिए—यह तो अवर्णित अनुभव हुआ। उससे एक विशिष्ट चीज़ की माँग की गयी, जो "व्यक्त या वर्णित अनुभव" हुआ। अतः शब्द "वर्णित अनुभव" है।[१]

जिस शब्द का अर्थ है, वह स्थायी तथा सर्वव्यापक प्रतीक बन गया। जिसके पेट से पैदा हुए अथवा जो पेट से पैदा करनेवाली के समान ममता रखती है, उसका प्रतीक है शब्द "माता"। अब "माता" सर्वव्यापक तथा स्थायी प्रतीक बन गया। माता शब्द का अर्थ जिसे भी मालूम हुआ, उसके लिए वह समूची ममता, स्नेह, दया, मातृ-शक्ति आदि का सम्मिलित प्रतीक बन गया। अपनी इस धारणा तथा भावना को समझाने के लिए हर एक से बहुत लम्बा-चौड़ा व्याख्यान देने की जरूरत नहीं है। केवल इतना कहा कि "माता है"—या "माता समान है"—और सब बातें साफ हो गयीं। शब्द-प्रतीक इसलिए सर्वोपरि माने जाते हैं कि वे सर्वव्यापक होते हैं। सर्वव्यापक परब्रह्म है, इसीलिए तो नाद से, ध्वनि से, परब्रह्म का प्रतीक सर्वव्यापक शब्द बना—ॐ इत्येत-दक्षरमिदं सर्वम्। ॐकार ही हर तरफ व्याप्त है।"

अनेक प्रकार के प्रतीक

प्रतीक के अनेक रूप हो सकते हैं। इशारा भी प्रतीक का काम कर सकता है। केवल इशारा प्रतीक नहीं है। पहले तो वह संकेत है, पर व्यक्ति के साथ प्रस्थापन के

१ F. S. C. Northrop—"Linguistic Symbols and Legal Norms"—Chapt. IV देखिए।

बाद वह प्रतीक का काम करता है। वेश्या के इशारे तथा पत्नी के इशारे में, माता के इशारे में तथा अध्यापक के इशारे में काफी अन्तर होता है। इसी प्रकार आकृति भी प्रतीक का रूप धारण करती है। जिसका मुँह टेढ़ा है, उसकी आकृति में तथा जिसका मुँह किसी मौके पर टेढ़ा दिखाई पड़ता है, दोनों में बड़ा अन्तर हो जाता है। क्रोधपूर्ण चेहरा हमें बतला देता है कि हमारे अमुक कार्य से अमुक व्यक्ति को क्रोध आ गया है। इमारत की बनावट उसमें रहनेवालों या उसमें पूजा करनेवालों का धर्म तथा पेशा तक बतला देती है। यह मुसलिम निर्माण-कला है, यह मस्जिद है, यह गिर्जा है, यह मन्दिर है—यह हम उस इमारत को देखकर समझ जाते हैं। पतली छड़ी कमर का प्रतीक बना दी जाती है। मछली सुन्दर नेत्रों का प्रतीक बन जाती है। जिस प्रतीक के साथ जितनी अधिक अदृश्य बातें सम्बद्ध होंगी, जो जितना अधिक व्यापक होगा, वह उतना ही अधिक उपयोग में आयेगा। साहित्यकार ऐसे ही व्यापक प्रतीकों से काम लेता है। अधिकांश प्रेमी विरह-पीड़ा से दुःखी होते हैं। अतएव साहित्यकार कहता है कि प्रेम का प्रतीक है विरह। संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति का मकान एकदम श्वेत है। उसका नाम है "ह्वाइट हाउस।" आजकल समूचे अमेरिकन शासन तथा उसकी नीति का बोधक है "ह्वाइट हाउस।" हम कहते हैं "ह्वाइट हाउस न जाने क्या करे।" ह्वाइट हाउस समूचे अमेरिकन प्रजातन्त्र तथा उसकी शासन-प्रणाली का प्रतीक हो गया। इसी प्रकार सर्वव्यापक प्रभु की सत्ता को, उसकी अदृश्य शक्तियों को, प्रतिभा तथा वैभव को जो प्रतीक अधिक से अधिक स्पष्ट कर सके, वह धार्मिक प्रतीक कहलायेगा। उस अज्ञात शक्ति को पहचानने की मनुष्य में सबसे पहले इच्छा होती है, क्योंकि "अपने को पहचानना" सभी चाहते हैं। इसलिए धार्मिक प्रतीक सबसे प्रबल होते हैं। पर जिस शक्ति की जानकारी निकट से लेशमात्र भी नहीं है, जो केवल धारणा तथा भावना-प्रधान है, उसके सम्बन्ध में हम जो प्रतीक बनाते हैं, वह हमारे अज्ञात मानस तथा ज्ञात मानस के संस्कार और विकास के अनुसार उतना ही अधिक भाव-प्रधान या कल्पना-प्रधान भी हो सकता है। इसी लिए सभ्यता तथा संस्कृति के अनुसार धार्मिक प्रतीक ऊँचे उठते जाते हैं। भारतीय मंत्र तथा तंत्र-शास्त्र के प्रतीक धार्मिक प्रतीकों की उच्चतम अभिव्यक्ति हैं। जिन्हें हम "यंत्र" कहते हैं, उनमें ज्ञान तथा अनुभव का पांडित्य भरा पड़ा है।

भावना-प्रधान

किन्तु, भौतिक या आधिभौतिक, किसी प्रकार का तर्क हो, यदि वह सांसारिक दृष्टि तथा तर्क और जिज्ञासा—इनकी सन्तुष्टि नहीं कर सकता तो उसे अपना लेने में कठिनाई होती है। यों अज्ञानवश हम किसी प्रतीक को न मानें, उससे प्रतीक निष्क्रिय

नहीं होता । पर, ज्ञान तथा तर्क के द्वारा भी जिसे नहीं समझाया जा सकता, ज्ञान की सीमा के भीतर से जिस प्रतीक के बारे में प्रकाश नहीं उपलब्ध होता, वह प्रतीक नहीं है ।[१] अनुभव तथा अन्तर्दृष्टि से बननेवाले प्रतीक साधारण ज्ञान की परिधि में नहीं आते, पर एक ऐसी रेखा अवश्य है जहाँ पर कि उनसे कुछ प्रकाश मिलता ही है । यह जरूर है कि प्रतीक, विशेषतः साहित्य, कला या धर्म के प्रतीक सांसारिक रूपेण समझने तथा समझाने योग्य वस्तु की ओर ही मूलतः निर्देश नहीं करते । साहित्य का काम है हमारे मन की सुन्दर भावनाओं को जाग्रत कर देना । कला का कार्य है हमारी सत्यं-शिवम्-सुन्दरम् की प्रवृत्ति में हिलोर पैदा कर उसे उनकी ओर उन्मुख कर देना । इन्द्रिय-जन्य पीड़ा या सुख स्वतः अपने में ही समाप्त नहीं हो जाते । एक अनुभव से दूसरा, एक भावना से दूसरी भावना जाग्रत होती है । दरवाजा छोटा है, सिर में चोट लग गयी । अब दरवाजे को उखाड़कर मकान की इमारत को ही बदलने का संकल्प हो जाता है । इसी प्रकार साहित्य तथा कला दृश्य पदार्थों का प्रतीकीकरण नहीं करती, वे मानव की भावना तथा प्रेरणा को जाग्रत करती हैं । जो कला जितनी ही सजीव होगी, वह उतनी ही भावुक होगी । जो साहित्य जितना ही जाग्रत होगा, वह उतना ही भाव-प्रधान होगा । जो मन जितना ही चंचल होगा, वह उतना ही अधिक स्वप्न देखेगा । जो अज्ञात मानस ज्ञात मानस की दबायी हुई इच्छाओं के बोझ से जितना दबा होगा, वह उतना ही अधिक स्वप्न देखता रहेगा तथा अपनी इच्छा की पूर्ति करता रहेगा ।

मन ने अपने अनुभव से पहचाना है कि जो सत्य है, वही शिव है । जो शिव है, वही सुन्दर है । इसी लिए वह हर एक अच्छी तथा प्रिय वस्तु को उसी रूप से देखना चाहता है कि सत्यं-शिवं-सुन्दरम् का बोध हो । किन्तु सत्य तथा प्रिय के विषय में भी हर एक की अपनी भावना तथा धारणा होती है । किसी को चिपटी नाक अच्छी लग सकती है, किसी को सुडौल नाक । इसी प्रकार साहित्य में वर्णित प्रतीक अपनी धारणा के अनुसार ही ग्रहण किये जा सकते हैं । शायद इसी लिए श्री टिंडल को शंका हुई थी कि साहित्यिक प्रतीक अनिश्चित[२] होते हैं, अतएव अनिश्चित होने के कारण उनकी कोई व्याख्या नहीं हो सकती ।

पर, प्रतीक की निश्चितता "आमने-सामने का सम्बन्ध"[३] यानी "एक-दूसरे को सामने

१. Wilbur M. Urban—"Language and Reality"—Macmillan & Co., New York. 1939. इस पुस्तक में तर्क तथा प्रतीक का अच्छा विवेचन है ।
२. William Y. Tindall in "Symbols and Society"—Page 345.
३. Charles H. Cooley—"Social Organizations"—Scribner, New York, 1909—इस पुस्तक का तीसरा से पाँचवाँ अध्याय पढ़ना चाहिये ।

खड़ा करके जो सम्बन्ध स्थापित होता है"—उससे नहीं आँकी जा सकती। अदृश्य वस्तु को प्रकट करनेवाली वस्तु ऐसे सम्बन्ध को स्थापित करने का प्रयत्न कर सकती है, सफलता शायद ही मिले। भावना तथा धारणा का क्षेत्र इतना व्यापक है कि जितना पकड़ में आ जाय, उतना ही पर्याप्त समझना पड़ेगा।

प्रतीक मन तथा बुद्धि की वस्तु है। मन तथा बुद्धि आत्मा की सम्पत्ति है। आत्मा अनन्त तथा चिरन्तन सत्य है। प्रतीक उस चिरन्तन सत्य का प्रतीकमात्र है। प्रतीक से परमात्मा का बोध होता है।

—:०:—

सहायक ग्रन्थ

१. अर्थववेद
२. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र
३. आर्यों का आदि देश—डॉ० सम्पूर्णानन्द
४. आयुर्वेदीय विश्वकोष
५. कुण्डलिनी योगतत्त्व
६. कुलमूलावतारतंत्र
७. काव्यादर्श
८. कौटिल्य अर्थशास्त्र
९. कूर्मपुराण
१०. कुरान शरीफ—अनु० नजीर अहमद
११. काशीखण्ड
१२ गोभिलसंहिता
१३. गोरक्ष-पद्धति
१४. चरकसंहिता
१५. छान्दोग्योपनिषद्
१६. तर्कसंग्रह गुणग्रन्थ
१७. तैत्तरीयोपनिषद्
१८. तंत्रालोक—अभिनवपाद गुप्त (८ भाग)
१९. देवीभागवत
२०. दुर्गार्चनस्तुतिः—आगरा
२१. दुर्गासप्तशती
२२. दर्शनसंग्रह—डॉ० दीवानचन्द्र
२३. न्यायदर्शन-टीका—दर्शनानन्द सरस्वती
२४. निरुक्त
२५. न्यायप्रदीप
२६. परशुराम-कल्पसूत्र
२७. पातंजलि महाभाष्य
२८. ब्रह्माण्डपुराण
२९. ब्रह्मसूत्र-शंकरभाष्य
३०. बृहदारण्यक उपनिषद्
३१. भरत नाट्यशास्त्र
३२. मनुस्मृति
३३. महानिर्वाणतंत्र
३४. महाभारत
३५. मुण्डकोपनिषद्
३६. मीमांसा-दर्शन
३७. मातृकाचक्र—विवेक
३८. मत्स्यपुराण
३९. यजुर्वेद
४०. यास्कीय निरुक्त
४१. याज्ञवल्क्यस्मृति
४२. यजुर्वेदसंहिता—जयदेव शर्मा
४३. योगिनीहृदयदीपिका
४४. पातञ्जलि योगदर्शन
४५. ललितापरिशिष्टतंत्र
४६. लोकविश्वास और संस्कृति—श्यामाचरण दूबे
४७. वेदान्तदर्शन-भाष्यकार—दर्शनानन्द सरस्वती
४८. वाल्मीकिरामायण

४९. वामकेश्वरतंत्र
५०. वात्सायन-कामसूत्र
५१. वायुपुराण
५२. विकृत मनोविज्ञान—डॉ० पद्मा अग्रवाल
५३. विष्णुपुराण
५४. श्वेताश्वतरोपनिषद्
५५. शुक्रनीति
५६. शंखस्मृति
५७. शिवपुराण
५८. शतपथब्राह्मण
५९. शार्ङ्गधर-संहिता —तत्वदीपिका
६०. साहित्यदर्पण
६१. सेतुबंध-टीका—भास्कर राव
६२. सौन्दर्यलहरी—शंकराचार्य
६३. हलायुध कोश
६४. हिरण्यकेशिनीसंहिता
६५. ऋग्वेद
६६. ऋग्वेदादि-भाष्य—स्वामी दयानन्द

1. **A. Hofstodter**—Subjective Theology.
2. **A. A. Brill**—The Universality of Symbols.
3. **Arthur Avelon (Sir John Woodroffe)**—Tantra-Raj-Tantra, A Short Analysis.
4. **Arthur Avelon**—The Serpent Power.
5. **A Christian Brother**—Edmund Ignatuis Rice and Christiau Brothers.
6. **Alakh Nirajan Pande**—Role of the Vedic Gods in the Grihya Sutra.
7. **A. C. Mukjerjee**—The Nature of Self.
8. **Anagarika B,. Govinda**—Psychological Attituto of Early Buddhist Philosophy.
9. **Adam Smith**—Theory of the Moral Sentiment.
10. **Alexander Bein**—Mental aud Moral Science.
11. **A. B. Kieth**—History of Sanskrit Literature.
12. **A- N. Whitehead**—Science and the Modern World.
13. **A. N. Whitehead**—Symbolism, its meaning and effect.
14. **A. K. Coomarswami**—History of India and Indian Art.
15. **A. K. Coomarswomi**—Dance of Sive.
16. **A. C. Dass**—Rig. Vedic India.
17. **August Comte**—Positive Polity.
18. **Arthur Symons**—The Symbolic Movement in Litorature.
19. **A. N. Wilder**—Myth and Symbol in the New Testament.
20. **Baldwin**—Thoughts and Things.
21. **B. K. Malik**—The Real and the Negative.

22. **B. A. Gupta**—Hindu Holidays and Ceremonials.
23. **Charles Sanders Pierce**—Collected Papers.
24. **C. L, Wolley**—The Excavations at Ur and Hebrew Records.
25. **C. L. Wolley**—Sumerians.
26- **C. A. F. Rhys Davids**—Buddhist Psychology.
27. **Count Goblet D' Alirella**—Migration of Symbols.
28. **C. Singh**—A Short History of Medicine.
29. **C. G. Jung**—Psyopathology of Every-day live.
30. **C. G. Jung**—Collected Papers on Analytical Psychology.
31. **C. G. Jung**—Psychology and Religion.
32. **C. G. Jung**—Essays on Contemporary Events.
33. **C. G. Jung**—The Integration of Personality.
34. **C. G. Jung**—Psychology of the Un-conscious.
35. **Conference Publication**—Symbols and Society.
36. **Charles Morris**—Science, Language and Behaviour.
37. **Charles H. Conley**—Social Organizations.
38. **Dora and Erwin Panofasky**—Pandora's Box.
39. **David Hume**—A Treatise on Human Nature.
40. **Duncan Greenland**—Gospel of Narad.
41. **Earnest Jones**—The Theory of Symbolism.
42. **E. Jones**—Papers on Psycho-Analyais.
43. **E. Roer**—The Twelve Principles of Upanishads—Vol. I
44. **E. B. Holt**—The Freudian Wish.
45. Encylopaedia of the Social Soiences.
46. Encylopaedia of Religion and Ethics, Edited by James Hastings.
47. **E. Joffrey**—Antiquarian Repertory.
48. **Edward Clodel**—Animism.
49. **Ernest Cassirer**—An Essay on Man.
50. **F. O. Schroedar**—Introduction to Pancaratra and Ahir-Buddnya Samhita.
51. **F. C. Crookshank**—Influenza.
52. **F. W. Farrar**—Language and Languages.
53. **F. Clarke**—Essays in the Politics of Education.
54. **F. R. Klingberg**—Studies in the Measurements of the Relations-among Sovereign States.
55. **G. H. Mead**—Concerning Animal Perception.

56. **G. H. Mead**—Mind, Self and Society.
57. **Grunwedel and Burgess**—Buddhist Art in India.
58. **G. K. Ogden**—The Meaning of Psychology.
59. **George Herbert Betty**—The Mind and its Education.
60. **George Birdwood**—Industrial Arts of India.
61. **G. Puttanham**—Arts of English Poesie.
62. **G. Simpson Marr**—Sex in Religion.
63. **G. Macmunn**—Secret Cults of India.
64. **Grant Allan**—Evolution of the Idea of God.
65. **G. E. Moore**—The Conception of Reality.
66. **Harnach**—History of Dogmas Vol. I
67. **H. Cutner**—A Short History of Sex Worship.
68. **Hans Licht**—Sexual Life in Ancient Greece.
69. **Henderson**—Folk-lore of Northern Counties of England.
70. **H. S. William**—Historians History of the World.
71. **H. Bergson**—An Introduction to Metaphysics.
72. **Herbert A Simon**—Administrative Behaviour.
73. **Jitendra Nath Bannerjea**—The Development of Hindu Iconography
74. **J. H. Leuba**—Psychology of Religious Mysticism.
35. **J. G. Frazer**—The Golden Bough.
76. **J. G. Frazer**—Psyche's Task.
77. **James**—The Varieties of Religious Experiences.
78. **Joseph Myer and D. Appleton**—The Seven Seals of Sciences.
79. **J. B. Hannay**—Christianity—The Source of its Teaching and Symbolism.
80. **J. Gardner Wilkinson**—Ancient Egyptians.
81. **J. J. Putnam**—Addresses on Psycho—Analysis.
82. **Josiah Royce**—The World and the Individual.
83. **K. Sausanne Langer**—Philosophy in a New Key.
84. **Kant**—Anthropoligia.
85. **L. R. Fernell**—Cults of the Greek State.
86. **Mc. Taggart**—Some Dogmas of Religion.
87. **Mrs. Murray Aynsley**—Symbolism of the East & West.
88. **Mohd. Iqbal**—The Development of Metaphysics in Persia.
89. **Nalinikant Bhattasali**—Iconography of Buddhist and Brahmanical Sculptures in the Dacca Museum.

90. **N. Macnicoll**—Indian Theism.
91. **Otto Kiefef**—Sexual Life in Ancient Rome.
92. **Padma Agarwal**—A Psychological Study in Symbolism.
93. **P. C. Bose**—Introduction to Juristic Psychology.
94. **P. P. S. Shastri**—Mahabharat. (Editor)
95. **P. S. Schilpp**—The Philosophy of Ernest Cassirer.
96. **Robert M Yerkes and Henry W. Nassen**—Chimpanzees Laboratory Colony.
97. **R. E. W. Wheeler**—Five Thousand Years of Pakistan.
98. **Robertson Smith**—Religion of the Semites.
99. **R. B. Havell**—A Handbook of Indian Art.
100. **R. E. Eaton**—Symbolism and Truth.
101. **S. Freud**—Interpretation of Dreams.
102. **S. Freud**—Introductory Lecture on Psychoanalysis.
103. **S. Freud**—Psychology of Everyday life.
104. **S. Freud**—Collected Papers.
105. **S. Freud**—Totem and Taboo.
106. **Sohrab H. Suntook**—More About Egg Symbol—Theosophy in India.
107. **S. F. Mason**—A History of the Sciences.
108. **Sir William Onsely**—Travels in the East, more Particularly Persia.
109. **S. Stevenson**—The Rites of Twice Born.
110. **S. Gardiner**—The Theory of Speech and Language.
111. **Stanford University**—Symdols of Internationalism.
112. **T. S. Forbal**—The Travels and Settlments of Early man.
113. **T. A. G. Rao**—Elements of Hindu Iconography.
114. **Tilak**—Arctic Home of the Vedas.
115. **Thomas Inman**—Ancient Faith Embodied in Ancient Names.
116. **Thomas Inman**—Modern Christian Symbolism Exposed and Explained.
117. **Vincent Smith**—Akbar the Great Moghal.
118. **William Cecil Dampier**—A History of Sciences and its Relations with Philosophy and Religion.
119. **W. H. Grant**—An Experimental Approach to Psychiatry.
120. **Waddell**—Buddhism of Tibet.

121. **Whittaker**—The Neo-Platonists.
122. **Westropp**—Primitive Symbolism.
123. **Worsaacs**—Danish Art.
124. **W. J. Perry**—Origin of Magic and Religion.
125. **Wall**—Sex and Sex Worship.
126. **William Stern**—Psychology of Early Childhood.
127. **William Jones**—Principles of Psychology.
128. **W. James**—Psychology.
129. **W. M. Urban**—Language and Reality.
130. **E. B. Hold**—The Freudfan Wish.
131. **E. Moor**—Hindu Pantheon.

REPORTS

1. Athenaeum—1892.
2. A Review of the Tenth Edition of Encyclopaedia Britannica.
3. Encyclopaedia Britannica.
4. Encyclopaedia of Unified Sciences.
5. Journal of Philosophy.
6. Numismatic Chronicle—1860.
7. Philosophy and Phenomenological Research Journal.
8. Report of the U. S. National Museum—1894.
9. Inscriptions from the Cave Temples of Western India—1881.

—oo—

हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला—९७

प्रतीक-शास्त्र

लेखक

श्री परिपूर्णानन्द वर्मा

हिन्दी समिति, सूचना विभाग

उत्तर प्रदेश, लखनऊ